वी० वी० गिरि

भारतीय मजदूरों की श्रम समस्याएं

ए शि या प ब्लि शिं ग हा उ स

बम्बई ० कलकत्ता ० नई दिल्ली ० मद्रास

लखनऊ ० लंदन ० न्यूयार्क

अपनी प्राणप्यारी पत्नी
वी० सरस्वती
को

जिसके ऐच्छिक त्याग ने मुझे मजदूरों
एवं देश की सेवा के योग्य बनाया

भूमिका

भारत की श्रम समस्याओं पर लिखने का दावा श्री वी० वी० गिरि से अधिक बहुत ही कम लोग कर सकते हैं। मजदूर आंदोलन से गहरा संपर्क रखते हुए वे कुछ समय बाद भारत सरकार के श्रममंत्री नियुक्त हुए। इस प्रकार दो विभिन्न रूपों में उन्हें श्रम संबंधी प्रमुख प्रश्नों को सुलझाने का अवसर मिला। सौभाग्यवश मैं उन्हें मजदूर नेता के रूप में जानता आया हूं। बाद में वे मेरे मंत्रिमण्डल के सदस्य बने और मैंने उनकी सहायता एवं सम्मति की बड़ी उपयोगिता समझी।

भारत में हमने औद्योगीकरण की एक विस्तृत योजना का समारम्भ किया है। उद्योगों के विकास के कारण विभिन्न उद्योगों में लगे मजदूरों की संख्या में और भी अधिक विकास होगा। उद्योग तभी संतोषजनक रूप से चल सकेंगे जब मजदूर और मालिक में अच्छे एवं सहयोगपूर्ण संबंध रहेंगे। इसी कारण भारत में श्रम संबंध का प्रश्न बड़े महत्त्व का है। इस बात पर तो कोई भी असहमत नहीं होगा कि यह प्रश्न किसी भी प्रकार से सरल नहीं और बड़ा पेचीदा है। किंतु यदि मूल उद्देश्य को लेकर चलें तो जैसे-जैसे समस्याएं उठें वैसे-वैसे उनका सुलझाना भी कठिन नहीं होना चाहिए।

भारत तथा अन्य देशों के अतीत के अनुभवों से हमें सहायता तो मिलती है किंतु अतीत वर्तमान अथवा भविष्य के लिए एक अच्छा पथ-प्रदर्शक नहीं हुआ करता, क्योंकि परिस्थितियां तेजी से बदलती रहती हैं। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि भारत में हमने मजदूर और मालिक के बीच सहयोग की भावना को मान्यता दी है। मुझे आशा है कि यह भावना बढ़ेगी। पूरे सहयोग तथा साझेदारी की भावना से ही आज की समस्याओं का कुछ समाधान हो सकता है। मेरा सुझाव है कि जो श्रम समस्याओं का अध्ययन करना चाहते हैं वे यह पुस्तक पढ़ें।

दार्जीलिंग — जवाहरलाल नेहरू

२७ दिसम्बर, १९५७

प्राक्कथन

अपने देश के मजदूर संघ नेता, उसके केंद्रीय श्रम मंत्री तथा रचनात्मक सामाजिक शक्तियों के इतिहासज्ञ के रूप में एक साथ कार्य करने का सुअवसर बहुत कम लोगों को मिलता है। श्री गिरि ने इनमें से पहले दो कार्यों को सुन्दर रूप में निभाया है। आज इन कार्यों से अवकाश लेने पर—अब भी वे संसद सदस्य हैं—उन्होंने तीसरे कार्य पर समय लगाया है, और वह कार्य है इतिहासज्ञ का।

श्री गिरि ने अपनी इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखने के लिए कह कर मेरा सम्मान बढ़ाया है। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय सचिवालय के अध्यक्ष होने के नाते लेखक के विचारों एवं निष्कर्षों से सहमत होना या न होना मेरे लिए आवश्यक नहीं, तथापि मैंने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर इस अवसर का स्वागत कई कारणों से किया है। एक कारण तो यह कि जब मैं लगभग दो दशक पूर्व अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय से महानिदेशक के रूप में संबंधित था तब श्री गिरि ने अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में भारत की ओर से मजदूरों के प्रतिनिधि के रूप में मुझे बहुत प्रभावित किया था। इस अवसर पर उन्होंने यह प्रस्ताव रखा था कि एशिया के "संघ" से संबंधित राष्ट्रों को आपस में मिलकर एक प्रादेशिक सम्मेलन में अपनी अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के अन्तर्गत आनेवाली समान समस्याओं पर विचार करना चाहिए। बीस साल बाद उनका यह प्रस्ताव फलीभूत हुआ। नई दिल्ली में १९४७ में हुए एशिया प्रादेशिक सम्मेलन में श्री गिरि ने इस बार भारतीय प्रतिनिधियों की ओर से सम्माननीय अतिथि के रूप में प्रतिनिधियों को यह चेतावनी दी कि वे इस भ्रम में न रहें कि प्रादेशिक गतिविधियां विश्वव्यापी अथवा सामूहिक गतिविधियों का स्थान ले सकती हैं। केवल विश्वव्यापी अथवा सामूहिक गतिविधियां ही अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के उद्देश्य की पूर्ति कर सकती हैं।

दूसरे, अंतर्राष्ट्रीय श्रम दफ्तर का महानिदेशक होने के कारण कई जिज्ञासु तथा उत्साही प्रश्नकर्ता मुझसे अक्सर यह पूछते हैं कि "संघ" वास्तव में क्या कर सकता है? इस प्रश्न का पूर्ण रूप से उत्तर देने के प्रयास का अर्थ होगा "संघ" का एक विस्तृत इतिहास लिखना, और वह भी अपने समय का इतिहास। सामान्यतः ऐसा समझा जाता है कि आज भारत का आर्थिक एवं सामाजिक

विकास एक प्रकार से सारे संसार के लिए कुछ न कुछ महत्त्व रखता है। श्री गिरि ने इस संबंध में विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का प्रभाव स्पष्ट करना उचित समझा है। यह अपने आप में महत्त्वपूर्ण है और किसी न किसी रूप में यह इस प्रश्न का आंशिक उत्तर भी हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ का विश्व के कार्यव्यापार में क्या स्थान है।

अंतिम कारण यह है कि जब मुझे अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की प्रबंधकारिणी की एशिया में हुई एकमात्र सभा में भाग लेने के लिए १९५० में भारत आने का अवसर प्राप्त हुआ तब से मेरे मन में न केवल भारतवासियों के प्रति गहरा अनुराग हो गया वरन् भारत के भविष्य पर भी विश्वास जम गया। इस देश में नियुक्त "दफ्तर" के कर्मचारियों तथा सहायक तकनीकी विशेषज्ञों के जो विवरण, जो विभिन्न समस्याओं के किसी न किसी पहलू से संबंधित थे, मेरे पास आए जिनसे मेरा यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया है कि इन समस्याओं की पेचीदगी भारत की सामाजिक चेतना का एक ऐसा संकेत है जिससे आज के भारत की विशेषता का ज्ञान होता है और यही इस बात का एक निश्चित प्रमाण है कि भारत का सामाजिक मूल्यों के स्तर पर उत्थान हो रहा है। कल्याण की दिशा में होने वाले इस परिवर्तन में योगदान देनेवाले अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम न लेकर मैं इस क्षेत्र में परिचित श्री एन० एम० जोशी तथा श्री गिरि के ही नाम लूंगा। अपने कार्यकाल में इन दोनों का अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ से सीधा संपर्क रहा और इन्होंने इसकी प्रगति में महान् योग दिया। श्री जोशी अब नहीं रहे किंतु यह अच्छा है कि उनके ही मित्र से इधर कुछ वर्षों में भारत में श्रमिकों के लिए किए गए कार्यों का विवरण मिल रहा है।

जेनीवा

डेविड ए० मोर्स

१० जनवरी, १९५७

लेखक की ओर से

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के संबंध में लेखक का स्पष्टीकरण अपेक्षित भी है और आवश्यक भी। सौभाग्यवश शुरू से ही भारत के मजदूर संघ आंदोलन से मेरा संपर्क विविध रूपों में रहा है—इस क्षेत्र के एक सजग कार्यकर्ता के रूप में, और इसके बाद भारत सरकार के श्रममंत्री के रूप में, मद्रास के संघटित राज्य में सहयोग, उद्योग, योजना एवं श्रममंत्री के रूप में, तथा भारत की ओर से लंका में हाई कमिश्नर के रूप में। अतः इसी पृष्ठाधार पर मैं इस विषय के व्यावहारिक एवं शास्त्रीय पक्ष पर विचार प्रकट करने का विनम्र दावा करता हूं।

भारतीय मजदूरों की श्रम समस्याएं नामक पुस्तक को प्रस्तुत करने के मेरे कई उद्देश्य हैं। पहला तो यह कि मैंने अधिक से अधिक समस्याओं के समन्वय का प्रयास इस एक ही पुस्तक में किया है। भारत में विश्वविद्यालयों के छात्र भारतीय एवं अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ आंदोलन से पूर्णतया अवगत नहीं और उधर विदेशों में भी लोग यहां के मजदूरों की परिस्थितियों से पूर्णतया परिचित नहीं। यद्यपि कुछ अध्यायों में उन दोनों बातों पर ध्यान दिया गया है किन्तु जो अध्याय इस समस्या के अंतर्राष्ट्रीय पक्ष से संबंधित हैं वे भारतीय छात्रों के लिए विशेष उपयोगी हैं। मैंने अध्यायों को छोटे से छोटा रखने का प्रयास किया है, अधिक विस्तृत नहीं होने दिया, किन्तु यह भी ध्यान रखा है कि श्रमिक विधान एवं दूसरी पंचवर्षीय योजना से संबंधित सभी आवश्यक एवं अधुनातन सूचनाओं का समावेश हो जाय।

यदि इस पुस्तक से श्रम समस्याओं के विद्यार्थियों को आवश्यक ज्ञान प्राप्त होगा तथा इस विषय के अध्ययन में आगे सहायता मिलेगी तो मैं अपने उद्देश्य की सफलता मानूंगा।

मैं कई प्रसिद्ध विद्वानों का आभारी हूं। उनकी श्रम-अर्थव्यवस्था संबंधी पुस्तकों से मुझे अपनी पुस्तक की रचना में अत्यधिक सहायता मिली है। मेरे इस उपक्रम की पूर्ति में इस विषय से संबंधित विभिन्न विदेशी तथा भारतीय सरकारी समितियों एवं आयोगों के विवरण, विदेशी तथा भारतीय नियोजक एवं कार्यकर्ता संघ तथा अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के लेखपत्रों का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

मैं अपने उन सभी सहयोगियों का कृतज्ञ हूं जिन्होंने मेरे सरकारी या गैर-सरकारी पदों पर रहते हुए मेरे साथ कार्य किया और सामग्री एकत्र करने में अपरिमित सहायता की, जिसके फलस्वरूप मेरा व्यापक अध्ययन सहज हो गया। मैं विशेष तौर पर अपने श्रद्धेय नेता पंडित जवाहरलाल नेहरू का इसलिए आभारी हूं क्योंकि उन्होंने इस पुस्तक की भूमिका लिखी है। इसके अतिरिक्त प्राक्कथन के लिए मैं अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ, जेनीवा, के महानिदेशक श्री डेविड मोर्स का भी आभारी हूं।

लखनऊ
२६ जनवरी, १९५८

वी० वी० गिरि

दूसरा संस्करण

पहले संस्करण की उत्साहवर्धक प्रतिक्रिया लेखक के लिए परम संतोष का विषय है। इस दूसरे संस्करण में संपूर्ण पुस्तक के संशोधन तथा अधुनातन सामग्री के समावेश के अतिरिक्त मैंने इसमें दो नए अध्याय, कामगारिनों तथा बाल-श्रम, जोड़ दिए हैं। संशोधन करते समय मैंने अपने समालोचकों तथा मित्रों के कई सुझावों को ध्यान में रखा है। इन सबका मैं कृतज्ञ हूं।

वी० वी० गिरि

विषय सूची

अध्याय १

मजदूर संघ आंदोलन
(Trade Union Movement)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मजदूर संघ (Trade Union) *का प्रारंभिक इतिहास*—मजदूर संघ क्या हैं ? ये श्रमिकों के संगठन हैं। इनमें कामगार स्वेच्छापूर्वक सम्मिलित होते हैं। इनका उद्देश्य है कि श्रमिक अपनी सामूहिक काररवाई द्वारा अपनी उन्नति का मार्ग बनाते और अपने हितों का बचाव करते रहें। भारत के प्राचीन इतिहास में मजदूर संघ का बीज-रूप देखने को मिल सकता है। उस समय इस देश के गांव-गांव में व्यावसायिक **श्रेणियां** और **पंचायतें** थीं, जो अपने सदस्यों और मालिकों के बीच विवाद उठने पर उसका निबटारा किया करती थीं। यदि किसी धोबी या नाई या किसी कारीगर को अपनी उजरत और सेवा-संबंधी शर्तों के बारे में अपने मालिक के विरुद्ध कोई शिकायत होती थी तो संबंधित व्यवसाय के लोगों की पंचायत उसको दूर करने का उपाय ढूंढ़ती थी। सबसे पहले मालिक का ध्यान शिकायत की ओर खींचा जाता था। बाद में, आवश्यकता पड़ने पर सीधी काररवाई भी की जाती थी। कामगार सेवा-योजक या मालिक का काम करना बंद कर देता था। इस दशा में, कामगारों की मांगें जितनी न्यायपूर्ण होती या उनकी पीठ पर जितनी दंडात्मक शक्ति होती थी उतनी ही सफलता उन्हें अपने झगड़े में मिल जाया करती थी। ऐसा न होने पर, उनकी कोशिशें बेकार जाना स्वाभाविक था। पंचायत के सदस्यों को अनिवार्य रूप से उसकी आचार-संहिता का परिपालन करना पड़ता था। उसका उल्लंघन करने पर उन्हें भारी दंड मिलता था, यहां तक कि उन्हें समाज या बिरादरी से निकाल दिया जाता था। पंचायत के सदस्यों की एकता देखने लायक थी।

आजकल हम मजदूर संघ आंदोलन का जो अर्थ लगाते हैं वह सबसे पहले बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में भारत में आकर हमारे कानों में पड़ा। किंतु इसका बीजारोपण इस भूमि में उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में ही

हो चुका था। १८७०-८० के दशक में, भारत में फैक्टरियों की स्थापना हुई; और तभी इस देश में संगठन के रूप में मजदूर संघ (श्रमिक संघ) का एक स्वरूप हमारे सामने आया। १८७५ में सोराबजी सपूरजी के नेतृत्व में कुछ समाज-सुधारकों और लोकोपकारियों ने बंबई की फैक्टरियों के कामगारों, विशेषकर मजदूर स्त्रियों और बच्चों, की दुरवस्था के विरुद्ध आंदोलन आरंभ किया और प्राधिकारियों से उनकी कार्यावस्थाओं में सुधार करने की अपील की।

१८७७ में, नागपुर के एम्प्रेस मिल में मजदूरी की दरों के विरुद्ध हड़ताल होने का उल्लेख मिलता है। इसी शताब्दी के ९वें दशक में भी कई हड़तालें हुईं। किंतु इन हड़तालों का रंगढंग वर्तमान शताब्दी के पिछले चार दशकों के औद्योगिक झगड़ों से नितांत भिन्न था। इन आरंभिक हड़तालों के जमाने में यह देखने में आया कि कामगार अथवा कामगारों की टोलियां काम छोड़कर अन्य औद्योगिक केंद्रों को चली गयीं या अपने-अपने गांवों को लौट गयीं। उन्होंने अपनी शिकायतें दूर कराने के लिए न तो मिलजुलकर कोई ठोस कदम उठाने की चेष्टा की और न सामूहिक सौदाकारी की दिशा में ही कोई प्रयत्न किया।

मजदूर संघ आंदोलन (श्रमिक संघता) की प्रथम आधारशिला—भारत में संगठित मजदूर (श्रमिक) आंदोलन का जन्मदाता एन. एम. लोखंडे को माना जाता है। वह स्वयं एक फैक्टरी के कामगार थे और १८८४ में उन्होंने एक मजदूर आंदोलन का श्रीगणेश करते हुए बंबई में कामगारों का एक सम्मेलन बुलाया था जिसका उद्देश्य फैक्टरी कमीशन (कारखाना आयोग) के सामने कामगारों की शिकायतें पेश करना था। यह फैक्टरी कमीशन उन्हीं दिनों नियुक्त हुआ था। कामगारों ने कमीशन को जो ज्ञापन दिया था उसमें उन्होंने अपनी परिवेदनाओं (शिकायतों) की ओर उसका ध्यान खींचने की कोशिश की थी। किन्तु जब सरकार ने उन परिवेदनाओं को दूर करने के लिए कोई प्रभावशाली पग नहीं उठाया तब लोखंडे ने २४ अप्रैल १८९० को बंबई में एक विराट सार्वजनिक सभा बुलायी जिसमें लगभग दस हजार कामगार उपस्थित थे। इस सभा ने जो अभ्यावेदन (memorial) स्वीकार किया उसमें काम के घंटे निश्चित करने, साप्ताहिक छुट्टी और दोपहर को विश्रामकाल देने तथा चोट लगने की हानिपूर्ति करने की मांगें सम्मिलित थीं। इस अभ्यावेदन के बाद बंबई के मिल-मालिकों ने कामगारों को साप्ताहिक छुट्टी देना मंजूर कर लिया। इस सफलता से उत्साहित होकर लोखंडे ने बंबई मिल-हैंड्स असोसियेशन (Bombay Mill-hands Association) का संगठन किया। वह स्वयं उसके अध्यक्ष चुन गये। उन्होंने श्रमिक वर्ग का पहला समाचारपत्र निकाला जिसका नाम 'दीनबंधु' था। इसका ध्येय अधिकारियों और मालिकों के सामने कामगारों की वैध शिकायतें प्रस्तुत करना था।

हड़तालें—१८८२ और १८९० के बीच बंबई और मद्रास प्रांतों में २५ हड़तालें हुईं। ज्यों ही उनका उद्देश्य पूरा हो गया त्यों ही मजदूरों का तत्कालीन असंतोष काफूर हो गया। जैसी श्रमिक आंदोलन की प्रारंभिक कहानी अन्य देशों में सुनने को मिलती है, वैसी ही भारत में भी देखने में आयी। अपने प्रारंभिक चरण में, यह आंदोलन इस देश में भी शिथिल पड़ गया; और १९ वीं शताब्दी के अंत में अकाल और प्लेग के प्रकोप तथा व्यापार में मंदी के कारण लोग उसे भूल गये।

कामगारों के काम के घंटों का प्रश्न—जब १९०४ में रुई का व्यापार फिर जोर पकड़ने लगा तब देश में सूती कपड़े की अनेक मिलें खुल गईं। काम के घंटों के बारे में कोई कानूनी प्रतिबंध न होने के कारण, कामगारों को इन मिलों में देर-अबेर तक काम करना पड़ता था। कामगारों में इस अवस्था के प्रति असंतोष पैदा होना स्वाभाविक था; किन्तु फिर भी मांचेस्टर के व्यापारियों तथा भारत में सन्निहित विदेशी स्वार्थों ने आंग्ल-भारतीय समाचारपत्रों द्वारा इन कामगारों की अनर्हताओं के पक्ष में आवाज उठानी आरंभ की। इसका कारण यह था कि भारतीय मिलों में कम मजदूरी पर अधिक घंटों तक कामगारों के काम करने से ब्रिटिश तथा अन्य विदेशी हितों को एक भीषण प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा था। भारतीय सस्ती मजदूरी के कारण ब्रिटिश और विदेशी कामगारों के वेतनों में कमी होने लगी थी। इस कटौती ने उनके जीवन-निर्वाह के स्तर पर गहरी चोट की और ब्रिटिश तथा अन्य विदेशी उद्योगपतियों की बैंकों में जमा होने वाली धन-राशि में कमी आ गयी। इससे स्पष्ट है कि भारतीय कामगारों की चीख-पुकार से नहीं, बल्कि विदेशी सन्निहित स्वार्थों के विरोध के कारण, भारत सरकार को १९११ का विधि-विधान पास करना पड़ा जिससे कपड़ा मिलों में प्रौढ़ों के लिए काम के १२ घंटे तथा बच्चों के लिए छह घंटे नियत हो गये।

संगठनात्मक विकास—फिर भी १९०४ और १९११ की अवधि में श्रमिक (मजदूर) आंदोलन के संगठन में मार्के की प्रगति हुई। इन वर्षों में, जो महत्त्वपूर्ण हड़तालें हुईं उनमें, काम के घंटों में बढ़ोतरी के विरुद्ध बंबई के मिलों की हड़ताल, रेलवे हड़ताल—विशेषकर ईस्टर्न बंगाल स्टेट रेलवे की हड़ताल, रेलवे कारखानों की हड़ताल, कलकत्ते के गवर्मेंट प्रेस की हड़ताल के नाम बताना आवश्यक है। इस प्रसंग में, १९०५ के स्वदेशी आंदोलन का वर्णन करना भी ठीक होगा। यह आंदोलन बंगाल से चला और इससे कामगारों में विकट उत्साह फूट पड़ा। बंगाल के कुछ नेताओं ने मुद्रणालयों के कामगारों का एक संघ बना लिया। मद्रास, बंबई और कलकत्ता में डाक कर्मचारियों ने डाक कर्मचारी संघ बनाकर उनका डाक कर्मचारी क्लब नाम रखा। जब १९०८ में

लोकमान्य तिलक को राजद्रोह के अभियोग में छह वर्ष के कारावास का दंड दिया गया तब बंबई में जो सामूहिक हड़ताल छह दिन तक चलती रही उसमें इस देश के श्रमिक-आंदोलन का विकट रूप पहली बार हमारी आंखों के सामने आया। बंबई के लोकसेवकों ने १९१० में कामगार हितवर्धक सभा की स्थापना की जिसका उद्देश्य सरकार के सामने याचिकाएं प्रस्तुत करना और मालिकों तथा कामगारों के आपसी झगड़ों को निपटाना था। इसके बाद प्रथम महायुद्ध की चिनगारी फूट पड़ी। इस अवधि में जीवनोपयोगी वस्तुओं के मूल्य चढ़ने के कारण जीवन-निर्वाह अधिक खर्चीला होने तथा कारखानों में मजदूरों की संख्या बढ़ने से श्रमिक-आंदोलन की जड़ें इस भूमि में और गहरी धंस चलीं। निदान आधुनिक मजदूर संघ आंदोलन का असली रूप हमें प्रथम महायुद्ध खत्म होने पर ही देखने को मिलता है।

यह आंदोलन भारतीय मजदूर संघ आंदोलन के इतिहास का आरंभिक चरण माना जायगा।

आन्दोलन की प्रगति में योगदान

प्रथम महायुद्ध—यद्यपि भारत में श्रमिक-आंदोलन का श्रीगणेश अब से आठ दशक पहले हुआ था फिर भी इसके संगठित रूप का इतिहास प्रथम महायुद्ध के बाद आरंभ होता है। महायुद्ध के बाद से, श्रमिक-आंदोलन ने अपना आधुनिक चोला धारण करना शुरू किया। आर्थिक और राजनीतिक, दोनों प्रकार की परिस्थितियों ने समान रूप से इस अभिनव जागरण में अपना योगदान किया। युद्ध-काल में वस्तुओं के मूल्य आसमान पर चढ़ गये थे और उनको देखते हुए मजदूरी में कोई आनुपातिक अभिवृद्धि नहीं हुई थी हालांकि कारखानेदारों अथवा मालिकों ने बेहद मुनाफा कमाया था। राजनीतिक क्षेत्र में नये विचारों की सृष्टि हो रही थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) ने ब्रिटिश शासकों से अविलंब स्वशासन देने की मांग की थी। इन परिस्थितियों की झलक तत्कालीन श्रमिक-वर्ग के असंतोष में मिलती थी जो आगे चलकर इस शताब्दी के तीसरे दशक में रंग पकड़ गया। इन्हीं परिस्थितियों ने बेरोकटोक इस देश में कितने ही संघों को जन्म दिया।

प्रथम महायुद्ध की एक और देन यह थी कि उसने भारतीय मजदूरों में एक नयी चेतना पैदा कर दी। श्रमिक-वर्ग के कितने ही लोग सेना में भरती होकर पश्चिमी देशों में गये जहां उन्होंने यह अनुभव किया कि पूरबियों और पछांहियों में कोई भारी अंतर नहीं है। सचमुच वे सभी मनुष्य हैं जिनमें योग्यता, बुद्धि, शक्ति और दुर्बलताओं की सामान्य प्रवृत्तियां मिलती हैं। पछां-

हियों का रहन-सहन इसलिए समुन्नत है क्योंकि वे अपेक्षाकृत अधिक संगठित हैं और उन्हें अधिक अवसर प्राप्त हैं।

राजनीतिक नेताओं का प्रभाव—राजनीतिक नेताओं ने मजदूर संघों की रचना और विकास में बहुत-कुछ हाथ बटाया है। लोकमान्य तिलक, श्रीमती एनी बेसेंट तथा महात्मा गांधी ने समय-समय पर जिन जन-आंदोलनों को चलाया उनके कारण मजदूर संघ आंदोलन में नयी-नयी स्फूर्ति आती रही। महात्मा गांधी ने १९१९-२१ में जिस असहयोग आंदोलन का बिगुल बजाया था और उन्होंने किसानों तथा कारखानों के मजदूरों के उद्धार का जो बीड़ा उठाया था उसका कामगारों की विशाल संख्या पर गहरा प्रभाव पड़ा। महात्मा गांधी ने अहमदाबाद टैक्सटाइल लेबर असोसियेशन की स्थापना करके आंदोलन को एक नये सांचे पर ढाल दिया। इस संगठन का उद्देश्य यह था कि सीधी काररवाई करने से पहले किसी भी श्रम-संबंधी झगड़े को बातचीत तथा शांतिपूर्ण तरीके से निबटाने की कोशिश करनी चाहिए।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ (International Labour Organisation)—भारत में मजदूर संघों की रचना का एक बड़ा कारण यह था कि अब अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय स्थापित हो चुका था जिसके संस्थापकों में स्वयं भारत भी सम्मलित था। भारत को वार्षिक अंतर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलनों में अपने मनोनीत प्रतिनिधि भेजने पड़ते थे। इनके चुनाव के लिए सरकार कामगारों और मालिकों के संगठनों से परामर्श करती थी। अतएव उसे अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (All India Trade Union Congress) की स्थापना करनी पड़ी जिसे अब कामगारों की केंद्रीय संस्था माना जाता है और जिससे विभिन्न मजदूर संघ आबद्ध हैं।

सोवियत क्रांति—सोवियत क्रांति ने रूस में जार शासकों का अंत कर दिया; और देश में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। इससे भारतीय श्रमिकों को नयी प्रेरणा मिली।

प्रगति के मार्ग के रोड़े

तदर्थ संघ (Ad hoc Associations)—उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में कारखानेदार मनमानी करते थे तब मांग और पूर्ति (Demand and Supply) के पुराने सिद्धांत का बोलबाला था। उन दिनों वे कामगारों पर काम की शर्तें, मजदूरी की दरें, आदि लादने में कम स्वच्छंद न थे। निदान बड़े पैमाने पर उद्योगों का विकास होने लगा और उनके साथ ही कामगारों के संघ भी बनने लगे। उस समय कामगारों को अपने संघों की रचना में किसी नयी सूझबूझ,

किसी सिद्धांत या किसी चुनौती-का-उत्तर-देने-की-भावना से प्रेरणा नहीं मिली थी। वे तो समय की गति के साथ चलने और आत्मरक्षा के लिए संगठित होने में ही संतुष्ट थे। संघों की ओर अ-कुशल कामगारों का ध्यान अधिक गया क्योंकि संगठित होने की स्वतंत्रता के विचार ने उनके मस्तिष्कों को झकझोर दिया था। आरंभ में उन्होंने जो संगठन बनाये उनका उद्देश्य अस्थायी था। यह स्वाभाविक भी था। किंतु आगे चलकर जब उन्हें इस दिशा में अनुभव प्राप्त हो गया और वे इन संगठनों की उपयोगिता से परिचित हो गये, तब वे समझ गये कि अस्थायी संगठन या तदर्थ संघों की रचना पर्याप्त नहीं है; और तब उन्होंने स्थायी संगठन अर्थात् मजदूर संघ बनाने आरम्भ कर दिये। मजदूरों के संगठन बनने से कहीं पहले कारखानेदारों या मालिकों के कान खड़े हो गये। वे अपने हितों की रक्षा के लिए कब पीछे रह सकते थे? इसलिए उन्होंने समय रहते अपने स्थायी संघ स्थापित कर लिये।

संघटन के अधिकार को मान्यता—मजदूर संघों और मालिकों में शुरू से ही संघर्ष छिड़ गया क्योंकि कामगार मजदूरी और सुविधाएं बढ़ाने तथा कार्यविस्थाओं में सुधार करने की मांग करते थे। सरकार से भी उनकी टक्कर होने लगी क्योंकि काम-बंदी के कारण कानून-व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा हो जाती थी जिसकी गारंटी राज्य ने जनता को दे रखी है। दंड देने के बावजूद, अनेक देशों में हड़तालों और तालेबंदी की इतनी घटनाएं होने लगीं कि राज्य को धीरे-धीरे यह मान लेना पड़ा कि कामगारों को अपने संगठन बनाने का अधिकार प्राप्त है। जिस लोकतंत्र में जनता के संघटन का अधिकार स्वीकार किया गया है वह फिर अपनी जनसंख्या के एक अंग अर्थात् श्रमिक वर्ग को उस स्वतंत्रता से कैसे वंचित कर सकता है? इसलिए राज्य को, अंत में स्वीकार करना पड़ा कि जहां किसी औद्योगिक कामगार द्वारा किसी विशेष कारखाने में काम करने या न करने का निर्णय करना उसकी अपनी स्वतंत्र इच्छा पर छोड़ा जा सकता है वहां फिर वैसा ही अधिकार उन अनेक कामगारों को भी देना उचित है जो आपस में मिलकर किसी विशेष कारखाने या मालिक की सेवा करने से इनकार कर सकते हैं। यद्यपि पहले अनेक देशों में सरकार की सहायता से कामगारों के उक्त अधिकार का प्रतिरोध किया गया और उसके विरुद्ध कानून भी बनाये गये किंतु अंत में उन कानूनों का विखंडन कर दिया गया। इस प्रकार का एक विखंडन १८२४ में ब्रिटेन में हुआ। अधिकांश यूरोपीय देशों ने वैसे ही कानून उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विखंडित कर दिये और रूस में ऐसे कानून बीसवीं शताब्दी में रद्द किये गये।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के समझौतों (समयों) से कामगारों को संगठन बनाने की स्वतंत्रता तथा उनके अधिकार की रक्षा करने में काफी सहायता मिली है।

भारतीय मजदूर संघ अधिनियम (Indian Trade Union Act) *१९२६*—भारतीय मजदूर संघ अधिनियम १९२६ में पास हुआ। इससे पहले भारतीय कामगार संगठन बनाने की स्वतंत्रता के मूल अधिकार से वंचित थे। इस दशा में, मजदूर संघ आंदोलन के विकास को ठेस पहुंचाना स्वाभाविक था। ठेके की शर्तों के उल्लंघन तथा मालिकों के अधिकार में हस्तक्षेप करने के कारण, व्यापार को जो क्षति पहुंचती थी, तत्कालीन कानून के अनुसार उसकी भरपाई के लिए न्यायालय में दावा किया जा सकता था और उसके लिए मजदूर संघों के अधिकारी जिम्मेदार माने जाते थे। इसके अतिरिक्त इन अधिकारियों पर फौजदारी के मुकदमे भी चलाये जा सकते थे और उनके विरुद्ध अभियोग साबित होने पर उन्हें दंड दिया जा सकता था।

१९२१ में, मद्रास में इसी प्रकार की एक घटना हुई। मद्रास उच्च न्यायालय ने मद्रास मजदूर संघ (Madras Labour Union) के नेताओं के नाम बकिंघम एंड कर्नाटक मिल्स के काम में हस्तक्षेप न करने की एक निरोधाज्ञा जारी की। इससे संघ छिन्न-भिन्न हो गया और जनता ने समझ लिया कि संगठन की स्वतंत्रता का अधिकार न होने पर कामगारों की क्या दशा हो सकती है। निदान, भारत में आधुनिक मजदूर संघ आंदोलन के जन्मदाता एन. एम. जोशी ने भारतीय विधान सभा में एक मजदूर संघ विधेयक (Trade Union Bill) प्रस्तुत किया। यद्यपि यह विधेयक शीघ्र स्वीकृत नहीं हो सका फिर भी आगे चलकर पांच वर्षों के लगातार प्रयत्न से उसने भारतीय मजदूर संघ अधिनियम, १९२६ का रूप धारण कर लिया।

हड़ताल और तालेबंदी—हड़ताल करने का अधिकार इस सिद्धांत पर स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक कामगार अपने श्रम का प्रयोग अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कामगार चाहे तो काम बिल्कुल बंद कर सकता है अर्थात् अपना श्रम देने से इन्कार कर सकता है। उसके इस अधिकार की सीमाएं विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की हैं। उदाहरण के लिए, कुछ देशों में खेतिहर कामगारों को हड़ताल करने का अधिकार प्राप्त नहीं है और उन्हें हड़ताल करने पर या तो दंड मिलता है या आरक्षी उन्हें पकड़ कर अपने काम पर ले आती है। यात्रा-काल में समुद्री जहाज के नाविक हड़ताल नहीं कर सकते। इसी प्रकार कुछ अन्य आवश्यक सेवाओं में यातो हड़ताल करने पर प्रतिबंध लगा हुआ है या उनका निषेध है। यदि यहां कोई हड़ताल होती है तो उसके खतरे को दूर करने के लिए या तो आपातकालीन स्थिति घोषित की जाती है या सेना को काम पर लगा दिया जाता है। जब हड़तालियों से समझौता हो जाता है तब सेना हटा ली जाती है। सारांश यह है कि कुछ व्यवसायों में हड़ताल करने का अधिकार

अनुशासन और सुरक्षा के महत्त्व की तुलना में गौण है। किन्हीं-किन्हीं देशों में राजनीतिक उद्देश्य से उकसायी जाने वाली हड़तालों की मनाही है और सहानुभूति प्रदर्शित करने वाली हड़तालों पर भी प्रतिबंध है।

जब मालिक मजदूरों की न्यायोचित मांगें न मानने पर अड़ जाते हैं और आपसी समझौते की सब सूरतें खत्म हो जाती हैं तब मजदूर अपना अंतिम हथियार उठाता है। यह अंतिम हथियार हड़ताल (Strike) है, इसी प्रकार मालिक के हाथ में भी एक अंतिम हथियार होता है। जब वह देखता है कि कामगार उसके साथ ठीक व्यवहार नहीं कर रहे हैं और मनमानी करने पर तुल गये हैं, तब वह तालेबंदी (Lockout) घोषित कर देता है। इस तरह सेवायोजक के लिए एक द्वार सदा खुला रहता है कि वह तालेबंदी द्वारा कामगारों का काम छीन ले। दूसरी ओर, यदि कोई मजदूर संघ अच्छी तरह संगठित है तो वह हड़ताल करके चालू कारखाने का काम ठप्प कर सकता है।

अधिकांश देशों के कानूनों की दृष्टि में हड़ताल और तालाबंदी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। सेवायोजकों द्वारा काली सूची में नाम लिखने तथा बायकाट करने और मजदूरों द्वारा सत्य-व्यवहार सूची में नाम लिखने तथा संघ-नामपत्र देने की विभिन्न कार्रवाइयों का अभिप्राय यही होता है कि विवादग्रस्त पक्षों पर दबाव पड़ सके।

श्रमिक विवाद अधिनियम (Trade Dispute Act) १९२९—पहले भारत में हड़ताल और तालेबंदी का अधिकार मान्य न था। सबसे पहले भारतीय श्रमिक विवाद अधिनियम (Indian Trade Dispute Act) १९२९ के अंतर्गत उक्त अधिकार को मान्यता दी गयी। किंतु बिना पूर्वसूचना के सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं में हड़तालें और तालेबंदियां करना अवैध और दंडनीय घोषित किया गया। फिर सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं तथा अन्य सेवाओं में हड़ताल तथा तालेबंदी के बारे में अधिक पाबंदियां लगा दी गयीं और इसके बारे में औद्योगिक झगड़ा अधिनियम (Industrial Dispute Act) १९४७ बनाया गया। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य था औद्योगिक झगड़ों को शांतिपूर्ण ढंग से हल करने की व्यवस्था करना।

मान्यता—मालिक द्वारा मजदूर संघ को मान्यता दिलाने के अधिकार का अर्थ क्या है? इसका अर्थ यही है कि मजदूरों को अपने संगठन बनाने की स्वतंत्रता दी जाए। यदि कोई मालिक मजदूर संघ को मान्यता नहीं देता है और आपसी सामान्य हित के प्रश्नों पर मजदूरों के साथ विचार-विमर्श करने को राजी नहीं होता है तो फिर कामगारों द्वारा संघ की रचना से क्या लाभ हो सकता है? ऐसे संघ का बहुधा कोई उद्देश्य ही नहीं रह जाता है। मालिक की मान्यता के अभाव में, कामगारों के सामने एक ही मार्ग रह जाता है कि

वह उससे टक्कर लें। किंतु इसका परिणाम औद्योगिक झगड़े और असंतोष के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

मालिक कामगारों को उक्त अधिकार सरलता से देने को तैयार नहीं होते हैं क्योंकि उनका कहना है कि उन्होंने कारखानों में पूंजी लगायी है; इसलिए वे किसी का हस्तक्षेप स्वीकार करने को तैयार नहीं, यहां तक कि कारखानों के मजदूरों का हस्तक्षेप भी सहन नहीं कर सकते हैं। फिर भी, जमाने की हवा को देखकर उन्होंने भी अपना रुख बदल दिया है और कामगारों और उनके संगठनों के कुछ अधिकार मान लिये हैं। कुछ मालिकों ने मजदूर संघों को उचित रूप से मान लिया है।

मजदूर संघ और औद्योगिक लोकतंत्र—मजदूर संघ प्रत्येक औद्योगिक संगठन का एक आवश्यक अंग बन गया है। यदि कामगार, मालिक, सरकार और जनता सभी उसके महत्त्व को ठीक प्रकार से स्वीकार नहीं करते और राष्ट्रीय जीवन में उनको उचित स्थान नहीं देते हैं तो किसी भी देश में औद्योगिक लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता है। कामगारों का कर्त्तव्य है कि वे अपने संघ को दृढ़, उत्तरदायी और लोकतंत्रात्मक बनाएं। साथ ही, मालिकों को भी चाहिए कि वे मजदूर संघों को मान्यता प्रदान करें और यह बात भलीभांति गांठ बांध लें कि ऐसे सुदृढ़ संघों से उद्योगों की भलाई होती है।

राजनीति का रंग—इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि एक उद्योग में एक ही मजदूर संघ होना चाहिए। किंतु भारत में मजदूर संगठनों पर राजनीतिक रंग चढ़ा हुआ है। वे भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों से नत्थी हैं। राजनीति की घुसपैठ तथा राजनीतिक नेताओं के नियंत्रण के कारण मजदूर संघ आंदोलन की शक्ति तथा एकता को गहरी ठेस पहुंची है। वह छिन्न-भिन्न-सी हो गयी है। दूसरे शब्दों में, भारत का मजदूर संघ आंदोलन एक संस्था के रूप में कमजोर पड़ गया है और वह कामगारों के हितों की अच्छी तरह रक्षा करने तथा उनको ऊंचा उठाने में असमर्थ है।

मजदूर संघ के विकास की कहानी

प्रथम महासमर के बाद के मजदूर संघ आंदोलन (श्रमिक संघता) के इतिहास को चार भागों में बांटा जा सकता है : १९१९-३०, १९३०-३९, १९३९-४६ और १९४६-५६।

(१) १९१९-३० की अवधि

प्रथम महायुद्ध के बाद, भारत के श्रमिक-वर्ग को हड़ताल के अस्त्र की शक्ति का ज्ञान हुआ। वे जान गये कि रियायतें लेने, मजदूरी बढ़वाने और कार्यावस्था

सुधरवाने की कितनी शक्ति इसमें छिपी हुई है। प्रथम महायुद्ध में एक ओर उद्योगपतियों ने भारी लाभ कमाया था और दूसरी ओर उपभोक्ता माल के मूल्य भी आसमान पर चढ़ गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मूल्य की दृष्टि से मजदूरों की आनुपातिक मजदूरी न बढ़ने के कारण १९१८-१९ में हड़तालों का तांता बंध गया। मद्रास के बकिंघम एंड कर्नाटक मिल की हड़ताल ने दक्षिण के मजदूर संघ आंदोलन में रूह फूंक दी। हड़ताल की अवधि में कामगारों को जिस कठिनाई का सामना करना पड़ा उससे कामगारों के ध्येय को नयी स्फूर्ति मिली और अंत में उनकी कार्यावस्थाओं में सुधार करना पड़ा। १९१९-२० के शिशिर-काल में बंबई के कपड़ा मिलों की एक जबर्दस्त हड़ताल हुई जिसमें १५ लाख मजदूरों ने हाथ बंटाया। काम के अधिक घंटों, रहने के मकानों की तंगी, सुविधाओं के अभाव तथा पर्यवेक्षक-वर्ग द्वारा कामगारों को परेशान करने की प्रवृत्ति ने इस हड़ताल को भड़काया था। १९२१ में देश को एक के बाद दूसरी हड़ताल का सामना करना पड़ा जबकि ३९६ बार काम-काज बंद रहे और छह लाख मजदूरों ने इनमें भाग लिया।

केंद्रीय मजदूर संघ संगठन—उक्त हड़तालों के कारण भारतीय फैक्टरी अधिनियम (Indian Factories Act) में संशोधन करना पड़ा और कामगारों की कितनी ही मांगें स्वीकार कर ली गयीं ...। भारत सरकार ने डाक कर्मचारियों का वेतन बढ़ाने और उनकी सेवा की अवस्थाओं और शर्तों में संशोधन करने की मांगों की जांच के लिए डाक जांच समिति (Postal Enquiry Committee) नियुक्त की। देशव्यापी हड़तालों के कारण लोगों में जो असंतोष बढ़ा उससे नेताओं और संगठनकर्ताओं का माथा ठनक उठा और उनका ध्यान सामान्य जनता से हटकर श्रमिक-आंदोलन की ओर चला गया। अब उनकी देखरेख में, विभिन्न उद्योगों में स्थायी रूप से अनेक मजदूर संघ बन गये। देश के विभिन्न भागों में मजदूर संघ बिखरे हुए थे, और वे एक-दूसरे से अलग-थलग थे। इससे उनकी शक्ति केंद्रित न थी और उनका प्रभाव भी अधिक न था। अब नेताओं और संगठनकर्ताओं का ध्यान उनकी हलचलों को केंद्रित तथा श्रम-विषयक कार्यक्रमों के लिए एक सामान्य नीति निर्धारित करने की ओर गया। १९२० में, इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (All India Trade Union Congress) स्थापित हुई। भारत सरकार को अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के सम्मेलनों में जो मजदूर प्रतिनिधि भेजने पड़ते थे, उनके चुनाव के लिए उसे मजदूर प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं से परामर्श करना आवश्यक था। इससे भारत में ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Trade Union Congress) की रचना को बढ़ावा मिला। इसके अतिरिक्त १९१९ के भारत सरकार अधिनियम

(Government of India Act) में केंद्रीय विधान सभा तथा प्रांतीय विधान मंडलों में मजदूरों के कुछ प्रतिनिधियों को स्थान देने की जो व्यवस्था की गयी उससे भी श्रमिक-आंदोलन को बल मिला।

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के उद्देश्य (All India Trade Union Congress)—अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने, प्रारंभ से, ब्रिटेन की ट्रेड्स यूनियन कांग्रेस (Trades Union Congress) के पदचिह्नों का अनुसरण किया है। जब जैसी आवश्यकता पड़ी तब, उसने कामगारों के आर्थिक, सामाजिक, और राजनीतिक हितों का प्रतिनिधित्व किया। इसका एक मुख्य उद्देश्य यह था कि वह इस देश के सभी श्रमिक संगठनों में सहयोग की रुझान पैदा करे और यथासंभव उनको एक धागे में पिरो दे; तथा जहां कहीं मजदूर संघ की भावना न हो वहां उसका बीजारोपण करे। प्रांतों के मजदूर संघों को निर्धारित शुल्क देने पर कांग्रेस का सदस्य बना लिया गया। उनका यह आबद्धीकरण कांग्रेस द्वारा उनके सदस्यों की वैधता की जांच के बाद ही किया गया था। प्रांतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेसें कामगारों की सामान्य मांगों तथा परिवेदनाओं को स्थानीय सरकारों, मालिकों तथा व्यापार-मंडलों के सामने प्रस्तुत करती थीं। आबद्धित मजदूर संघों को स्थानीय हितों के मामलों पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने की छूट थी; किंतु सीधी काररवाई अथवा हड़ताल करने की दशा में आर्थिक तथा अन्य प्रकार का अनुसमर्थन उन्हें तभी मिल सकता था जब वे उस विषय पर ट्रेड यूनियन कांग्रेस की अनुमति पहले से प्राप्त कर लेती थीं।

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस समिष्ट रूप से संगठित कामगारों की सामान्य राजनीतिक और आर्थिक प्रगति की चौकसी करती थी; किंतु वह विभिन्न उद्योगों के विभिन्न श्रमिक-वर्गों की व्यक्तिगत और सामान्य परिवेदनाओं तथा शिकायतों पर बहुत बारीकी से ध्यान देने में सक्षम नहीं थी। इस कारण, विभिन्न उद्योगों के विभिन्न संधान (Federation) बन गये जो अपने संबंधित कामगारों के हितों की रखवाली करने लगे। यद्यपि ये संधान (फेडरेशन) कांग्रेस के सदस्य नहीं बन सके और अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रति निष्ठावान् भी नहीं थे फिर भी उनके घटक संघ कांग्रेस का सदस्य बन गये थे। उदाहरण के लिए कपड़ा मिलों, जूट मिलों और सीमेंट कारखानों के मजदूर संघों ने ऐसा किया। रेलवे कर्मचारी संघों ने अखिल भारतीय रेल कर्मचारी संघ (All India Railwaymen's Federation) के नाम से उसी समय अपना एक संधान अलग बना लिया जब अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई थी।

भारत सरकार श्रमिक विधान बनाने में प्रायः अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस से

सलाह लिया करती थी। यह कांग्रेस संसार के अन्य भागों के श्रमिक-संगठनों से सम्पर्क जोड़े रहती थी। धीरे-धीरे उसने कामगारों के हित-साधन के लिए उनसे गठजोड़ कर लिया। "संसार के मजदूरो एक हो जाओ"—इस नारे ने मजदूरों में नया जोश पैदा कर दिया और वे अंतर्राष्ट्रीय एकता और नीति में विश्वास करने लगे।

मजदूर संघों का विकास—१९२० में अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस की संस्थापना से देश भर में श्रमिकों के सामान्य हितों की ओर एकाएक जनता का ध्यान खिच गया। इसके बाद देश के सभी छोटे और बड़े उद्योगों में मजदूर संघ बनने लगे। १९२५ तक, केवल पांच वर्षों में, देश में संघों की संख्या लगभग चौगुनी, तथा उनकी सदस्य-संख्या चौगुनी से भी अधिक हो गयी। इस अवधि में, श्रमिक-आंदोलन में एक अभूतपूर्व एकता और श्रमिक-वर्ग के विभिन्न अंगों के बीच एक अश्रुतपूर्व सहयोग की भावना देखने को मिली।

मजदूर संघ अधिनियम (Trade Unions Act) *१९२६*—इस देश के मजदूर संघ आंदोलन के इतिहास में, भारतीय मजदूर संघ अधिनियम (Indian Trade Unions Act) के पास होने से एक महत्त्वपूर्ण अध्याय का श्रीगणेश होता है। पंजीबद्ध मजदूर संघों को विधि-विहित पद प्राप्त होने के अतिरिक्त इस अधिनियम के अंतर्गत संघों के सदस्यों को दीवानी दावों तथा फौजदारी मुकदमों से छुटकारा मिल गया। पंजीकरण से मालिकों और जनता की आंखों में संघों का महत्त्व बढ़ गया। अधिक क्या, अपंजीबद्ध संघों तक में आत्मविश्वास की एक अपूर्व भावना पैदा हो गयी। इस अधिनियम के अंतर्गत १९२९ तक जिन संघों को पंजीबद्ध किया गया उनकी संख्या ८७ थी और उनके सदस्यों की संख्या १,८३,००० थी। यद्यपि इन पंजीबद्ध संघों की संख्या तत्कालीन संपूर्ण संघों की संख्या के आधे से भी कम थी, किंतु फिर भी इनमें अधिकांश शक्तिशाली और क्रियाशील संगठन सम्मिलित थे।

नेताओं में संघर्ष—इस अवधि के द्वितीय चरण को मजदूर संघ आंदोलन की विचारधाराओं तथा अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के विकास की कहानी माना जायगा। ज्यों ही यह आंदोलन तगड़ा पड़ने लगा त्यों ही रूस, अपने घरेलू मोरचे को दृढ़ करने के बाद, उसकी पीठ थपथपाने लगा। जो कामगार क्रांतिकारी ढंग अपनाते थे, रूस उनकी सहायता को सदा तैयार रहता था। १९२७ तक भारतीय मजदूर संघ आंदोलन में दो दल पैदा हो गये। कुछ लोगों ने उनके नाम दक्षिणपंथी और वामपंथी रख दिये थे और उन्हें कुछ "मोस्कोवाइट" और "जेनेवा तथा एम्स्टर्डम ग्रुप" कहने लगे। इन दिनों कांग्रेस के जलसे बड़े रंगीन हुआ करते थे। इनके अधिकांश प्रस्ताव श्रमिक-वर्ग-आंदोलन की अंतर्राष्ट्रीय रीति-नीतियों और विचारधाराओं से संबंध रखते थे। उदाहरण

के लिए जेनेवा अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के भाग लेने के, मास्को के तीसरे अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद दल संघ (Third International) से* ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Trade Union Congress) के आबद्ध होने के, तथा एम्सटर्डम के अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ फेडरेशन (International Federation Of Trade Unions) से संपर्क करने से इन्कार करने के, प्रश्नों पर गर्मागर्म बहस हुई थी। कांग्रेस के विभिन्न अधिवेशनों में उक्त दोनों गुट अपनी-अपनी ओर से शक्ति हथियाने की कोशिश करते रहे। देश की नयी-नयी राजनीतिक हलचलों का मजदूरों के विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ता रहा और इन दोनों गुटों के नेता लोग भी उसकी लपेट से अछूते नहीं रहे।

संघर्ष का परिणाम—भारतीय श्रमिकों पर इस संघर्ष का बुरा प्रभाव पड़ा। कानपुर और बंबई के कपड़ा मिलों की हड़तालों, तथा खड़गपुर, गोल्डन रॉक, बंबई और कुछ अन्य स्थानों की तालेबंदी ने मजदूर नेताओं में एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी उत्पन्न कर दिये और उनकी आपसी कलह ने श्रमिकों को नयी उधेड़बुन में फंसा दिया। इस कारण कितनी ही हड़तालें विफल हो गयीं। इन हड़तालों के कारण लगभग छह महीनों तक बबई के कपड़ा मिलों में गड़बड़-झाला फैला रहा। भला मालिक इन मजदूर नेताओं के मतभेदों से लाभ उठाने में कैसे चूक सकते थे।

अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फूट—इस स्थिति ने आंदोलन में फूट के बीज बो दिये। ट्रेड यूनियन कांग्रेस का १९२९ का अधिवेशन नागपुर में पं. जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुआ। १९२८ के अंत में, प्रमुख कम्युनिस्टों के विरुद्ध एक षड़यंत्र का मामला चल पड़ा जो लगभग दो वर्ष लंबा खिंच गया और जिसके कारण उनको दंड मिला। ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नागपुर-अधिवेशन के समय एक राजकीय श्रम आयोग (Royal Commission On Labour) नियुक्त हुआ था जो अब देश का दौरा कर रहा था। देश का राजनीतिक लोकमत उस आयोग का बायकाट करने पर तुला हुआ था और मजदूर संघ भी उसकी हां में हां मिलाने को कमर बांधकर खड़े हो गये। बामपंथी तत्त्वों ने तो आरंभ से ही उसको आड़े हाथ लिया था। उन दिनों सर्व-प्रशांतीय महासभा (Pan-Pacific Congress) का अधिवेशन सान्फ्रांसिस्को में होनेवाला था। ट्रेड यूनियन कांग्रेस उसमें अपने प्रतिनिधि भेज रही थी। इन प्रतिनिधियों के चुनाव तथा अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के प्रतिनिधि मंडल के चुनाव में विकट खींचतान देखने में आयी। संयोगवश इन चुनावों में विजयश्री ने बामपंथियों के गले में जयमाला डाल दी; और उन्होंने

* कमिंटर्न

ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर कब्जा कर लिया। लाचार होकर अल्पमत को कांग्रेस का साथ छोड़ना पड़ा। उसने अब अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन (All India Trade Union Federation) की रचना की जिसके पास अपना एक ठोस कार्यक्रम था। यह फेडरेशन (संधान) श्रमिक-वर्ग की रचनात्मक नीति में अधिक आस्था रखता था। यद्यपि इस फूट पर सबको खेद होगा; किंतु संसार के अनेक प्रगतिशील आंदोलनों को अपने पथ पर आगे बढ़ने के लिए इस प्रकार के धक्के खाने ही पड़े हैं और अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस की कहानी भी उससे भिन्न नहीं है।

मालिकों की रीति-नीति—भारत में मालिक मजदूर संघ आंदोलन को फूटी आंख भी न देखना चाहते थे। उसके प्रति उनका रुख सदा ही वैमनस्यपूर्ण बना रहा। उनका कहना था कि वे अपने उद्योग-व्यापार को मनमाने ढंग से संचालित करने के अधिकारी हैं और उसमें किसी को हस्तक्षेप न करना चाहिए। उनमें से एक मालिक ने तो अपना दावा न्यायालय के सामने प्रस्तुत कर दिया जिससे न्यायालय को मजदूर संघ के अधिकारियों के विरुद्ध समादेश जारी करना पड़ा। फिर क्या था, अधिकांश मालिकों ने कामगारों के संगठनों को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। कितने ही मालिक मजदूर संघों की गतिविधि पर आंख रखने लगे और उनकी शक्ति कुचलने में जुट गये। मजदूर संघों में भाग लेने के कारण कामगारों पर दमनचक्र चल पड़ा; और कितनों को दंड भोगना पड़ा, यहां तक कि कुछ मालिकों ने तो गुंडागर्दी करने के लिए अलग मजदूर संघ तक बनवा दिये।

कुछ मालिकों ने मजदूर संघों को मान्यता देने तक से इन्कार कर दिया: उनका कहना था कि उनकी मान्यता न देने की नीति उचित है क्योंकि मजदूर संघों के जो लोग नेता बन बैठे हैं वे स्वयं मजदूर नहीं हैं—वे बाहर से घुसेड़ लिये गये हैं। उन्होंने बताया कि नौकरी से हटाये जाने पर कितने ही मजदूर संघ बनाकर नेता बन बैठते हैं। उन्होंने इस हरकत का विरोध भी किया।

इस देश में फैक्टरियां खुलने से हालत इतनी बिगड़ गयी थी कि स्वयं मजदूरों द्वारा मिलजुलकर कोई कदम उठाना दूभर हो गया था। आये दिन बुराइयां बढ़ रही थीं। इस दशा में श्रमिक-आंदोलन को ऐसे योग्य नेताओं की आवश्यकता थी जो उसका पथ प्रदर्शन कर सकें। निःसंदेह ऐसे नेता बाहर से ही मिल सकते थे। वास्तव में, उन दिनों आंदोलन को जो थोड़ी-बहुत सफलता मिली थी उसका श्रेय उन बाहरी नेताओं को ही देना पड़ेगा जिन्होंने प्राण-पण से श्रमिक-वर्ग को मार्ग दिखाया था। यद्यपि भारतीय ट्रेड यूनियन अधिनियम (Indian Trade Unions Act) १९२६ ने मजदूर संघ

की कार्यसमिति में बाहरी लोगों को लेने की नीति को वैध करार दे दिया किन्तु फिर भी उसके विषय में मालिकों के दृष्टिकोण में कोई विशेष हेरफेर नहीं हुआ।

सरकार की नीति—उस समय सरकार ने श्रम-समस्याओं के बारे में अहस्तक्षेप की नीति अपना रखी थी। वह केवल कानून और व्यवस्था भंग न होने-देने के लिए जब-तब उधर ध्यान देती थी। वह प्रायः औद्योगिक विवादों को निबटाते समय मालिकों का पक्ष लिया करती थी। जब कभी औद्योगिक विवाद से गंभीर स्थिति पैदा हो जाती थी तब वह जांच-आयोग अथवा जांच-समितियां भले ही नियुक्त कर देती थी। इस प्रकार के आयोगों में जुलाई १९२९ में नियुक्त राजकीय श्रम-आयोग का उल्लेख करना अभीष्ट है। इस आयोग को यह काम सौंपा गया था कि वह भारतीय उद्योगों तथा ब्रिटिश भारत के चायबागों में काम करने वाले मजदूरों की कार्यावस्थाओं की जांच करके अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करे। मजदूरों के स्वास्थ्य, उनकी कार्यक्षमता और उनके जीवन-निर्वाह के स्तर तथा मालिकों और कामगारों के आपसी संबंधों के बारे में जांच करने तथा उनमें सुधार के लिए उचित सिफारिशें पेश करने का भार भी इस आयोग के ऊपर डाला गया था। उसने अप्रैल १९३१ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया।

निःसंदेह इस अवधि में श्रमिक हानिपूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act) १९२३, और भारतीय मजदूर संघ अधिनियम (Indian Trade Unions Act) १९२६ राजकानून बन गये थे। यह कदम अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के अभिसमयों के अंतर्गत उठाया गया था। साथ ही उन दिनों मजदूर आंदोलन भी जोर पकड़ गया था। महत्त्वपूर्ण उद्योगों में, आये दिन हड़तालों और तालेबंदी का बाजार गर्म रहता था। इस दशा में, सरकार हाथ पर हाथ धरे कैसे बैठी रह सकती थी। वह केवल इतने पर ही संतोष नहीं कर सकती थी कि कानून और शांति भंग नहीं हो रही है। इसलिए सार्वजनिक असंतोष की धधकती आग को ठंडा करने के लिए उसे भारतीय श्रमिक विवाद अधिनियम १९२९, बनाना पड़ा। इस अधिनियम में ब्रिटिश प्रणाली को सामने रखा गया था। इसलिए लोकमत को मान्यता देते हुए, जांच-न्यायालय (Courts of Enquiry) तथा सुलह-बोर्ड (Boards of Conciliation) स्थापित कर दिये गये।

कामगारों की नीति—कामगारों की आंखें मालिकों और सरकार की वैमनस्यपूर्ण और अनुत्साहवर्धक नीति की ओर से बंद न थीं। वे जान गये कि अपने उद्धार के लिए उन्हें अपनी शक्ति संगठित करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। इसलिए उन्होंने अपने संघ बनाये और मजदूर अधिका-

धिक संख्या में उनके सदस्य बनने लगे। उन्होंने संघों की रचना में बाहरी लोगों की मदद ली। वे पर्दे के पीछे से उनकी सलाह लेते रहे। मजदूरों के पास संग्रह की गुंजाइश कहां होती है ? इसलिए हड़ताल के कारण उन्हें बहुधा कष्ट झेलने पड़ते और जी मसोसना पड़ता है। फिर भी उस समय की परिस्थितियों में उन्होंने अपनी अवस्था सुधरवाने के लिए हड़ताल करने से कभी मुख नहीं मोड़ा। अपनी एकता और दृढ़ता के कारण उन्हें अनेक हड़तालों में सफलता प्राप्त हुई; किंतु इस सफलता के लिए प्रायः उन्हें भारी मूल्य चुकाना पड़ा। आगे चलकर हम देखेंगे कि उनकी यह एकता और दृढ़ता बहुत दिनों तक नहीं टिक सकी। उनकी पंक्ति में विचार-संघर्ष और विभिन्न विचारधाराओं ने अपनी घुस-पैठ आरंभ कर दी जिससे श्रमिक-आंदोलन की गति में धीरे-धीरे रुकावट आने लगी।

(२) १९३०-३९ की अवधि

प्रतिकूल परिस्थितियां—इस अवधि का वातावरण मजदूर संघ आंदोलन की प्रगति के लिए अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ। महात्मा गांधी के १९३० के सत्याग्रह ने देश के राजनीतिक नेताओं का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। मेरठ षड़यंत्र केस में कम्युनिस्ट नेताओं के मुकदमें तथा १९२९ में बंबई की कपड़ा मिलों की हड़ताल निष्फल हो जाने से मजदूर संघ आंदोलन को गहरी ठेस पहुंची और फिलहाल सन्नाटा छा गया। इसके अतिरिक्त देश में मंदी ने भयंकर रूप धारण कर लिया जिससे आंदोलन में फूट के अंकुर फूटने लगे।

मालिकों ने इस बहती गंगा में हाथ धोने आरंभ कर दिये। बड़े पैमाने पर मजदूरों की छंटनी होने लगी; मजदूरी में कटौती की गयी; और कितने ही कर्मचारियों के वेतन-मान घटा दिये गये। कामगारों ने इस चुनौती का उत्तर देने के लिए हड़तालें कर दीं; किंतु अधिकांश हड़तालें असफल हो गयीं। देश की तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों में मजदूरों की आपसी फूट को देखकर तरस आ जाता था।

इस काल की हड़तालों के विश्लेषण से प्रकट होता है कि उनका प्रारंभिक उद्देश्य कामगारों की कमाई को बनाये रखना तथा उद्योगों में वैज्ञानिक व्यवस्था (Rationalization) को रोकना था। इसके बाद, जो छटनी और वेतन में कटौती की गयी उसका उद्देश्य व्यय में किफायत करके मंदी का मुकाबला करना था।

दो केंद्रीय संगठन—इस काल में मजदूर संघ आंदोलन का इतिहास दो प्रमुख संगठनों की कहानी माना जाता है। ये संगठन हैं ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा ट्रेड यूनियन फेडरेशन। इनकी अपनी-अपनी विचारपद्धतियां थीं और

उनसे समशील-वाले मजदूर संघ आबद्ध थे। १९३१ में ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फिर फूट फैल गयी जिससे लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Red Trade Union Congress) का आविर्भाव हुआ। किंतु यह संगठन १९३२ में फिर अपने मूल संगठन में घुलमिल गया।

अ. भा. रेलवे कर्मचारी संघ (All India Railwaymen's Federation) *की एकता*—जब अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस उलझनपूर्ण विचारों और विचारधाराओं में बेरोकटोक बहती जा रही थी और उसमें फूट पड़ रही थी तब अ. भा. रेलवे कर्मचारी संघ एक तटस्थ नीति पर डटा हुआ था। निःसंदेह, कम्युनिस्टों ने रेलवे कर्मचारी संघ को हथियाने की बहुतेरी कोशिश की। यद्यपि रेलवे कर्मचारियों में दक्षिणपंथी और वामपंथी दोनों विचारधाराओं का बोलबाला था फिर भी उसके विभिन्न घटकों में अपने मूल संगठन के प्रति निष्ठा की कमी न थी। इसके अतिरिक्त स्वयं संघ विचारधाराओं के चक्कर में न पड़कर रेल कर्मचारियों के हितों की रक्षा पर सदा ध्यान देता रहा। उसने कुछ घटकों को रेलवे अभिकर्ताओं से मान्यता दिलाने में सफलता प्राप्त की और समय-समय पर रेलवे बोर्ड के सामने कर्मचारियों की मांगें और शिकायतें भी पेश करता रहा।

एकता का प्रयास—अब रेलवे कर्मचारी संघ ने जान लिया कि अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस की फूट से मजदूर संघ आंदोलन की एकता को ठेस पहुंची है और उससे संगठित श्रम और उसकी सामूहिक सौदाकारी शक्ति क्षीण हो गयी है। इसलिए उसने फिर से एकता कराने का प्रयास किया। इसके निमित्त १९३१-३२ में एक एकता-मंच स्थापित किया गया जिसमें ट्रेड यूनियन कांग्रेस और ट्रेड यूनियन फेडरेशन (Trade Union Federation) ने भाग लिया। अंत में दोनों को एक नये नाम से इकट्ठा कर देने का प्रस्ताव किया गया। वास्तव में राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन (National Trade Union Federation) के नाम से एक संगठन बनाया गया। रेलवे संघ और अ. भा. ट्रेड यूनियन फेडरेशन (All India Trade Union Federation) से आबद्ध संघ इसमें मिल गये। इससे राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन संघ की शक्ति और बढ़ गयी। इसकी सदस्य-संख्या ट्रेड यूनियन कांग्रेस से कहीं अधिक हो गयी। राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन और अ. भा. ट्रेड यूनियन फेडरेशन के कार्यालय अलग-अलग बने रहे और उनके अधिवेशन अलग-अलग होते रहे।

एकता-सूत्र—एक ऐसे सूत्र की खोज जारी रही जिसे दोनों पक्ष स्वीकार कर सकें। बड़े प्रयत्न और प्रचार के बाद, एक बोर्ड स्थापित हुआ जिसमें दोनों संगठनों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे; और उसने निर्विवाद प्रश्नों पर ध्यान देना स्वीकार कर लिया। इस सूत्र के आधार पर यह राजीनामा लिखा गया

कि हड़ताल तथा राजनीति के प्रस्तावों के अनुसमर्थन के लिए केंद्रीय संगठन का तीन-चौथाई बहुमत पक्ष में होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी निर्णय किया गया कि विदेशी संगठनों से नाता न जोड़ा जाएगा। किंतु इस बोर्ड (मंडल) की कोई बैठक ही नहीं हुई। फिर भी एकता की इच्छा पेंग मार रही थी। दिसंबर १९३७ में राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ जिसमें विलय के प्रस्तावों पर विचार किया गया। अंत में यह विलय अप्रैल १९३८ में नागपुर में ही हुआ जहां पहले १९२९ में ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फूट का अंकुर फूट पड़ा था।

मालिकों की नीति—इस अवधि में मजदूर संघों के प्रति मालिकों की नीति में कदाचित् ही कोई परिवर्तन हुआ होगा। यद्यपि कुछ मालिकों ने कामगारों के संघों को मान्यता दे दी थी किंतु हृदय से उनकी सहानुभूति उनके साथ न थी। उनका यह कोरा ढोंग था। निदान, हम देखते हैं कि जिन कामगारों ने मजदूर संघों के लिए कुछ भी ठोस काम किया वे मालिकों के कोप का शिकार हुए बिना नहीं बच सके।

सरकार की नीति—श्रम-समस्याओं के बारे में सरकार की नीति में कुछ परिवर्तन अवश्य दिखायी दिया। उसने १९३० में एक रेलवे-जांच न्यायालय (Railway Court of Enquiry) नियुक्त किया। उसे रेलवे प्रशासन द्वारा की गयी छंटनी के औचित्य तथा आवश्यकता की जांच का काम सौंपा गया था।

इस समय मजदूरी अदायगी अधिनियम (Payment of Wages Act) १९३६ पास हुआ। १९३४ में गोदी-श्रमिक सेवा अधिनियम (Dock Labour Employment Act) भी पास हुआ किंतु यह १९४८ तक लागू नहीं किया गया। बंबई प्रांत में बंबई सुलह अधिनियम (Bombay Conciliation Act) १९३४ पास हुआ। बाद में इसका स्थान इससे कहीं अधिक उपयोगी बंबई औद्योगिक झगड़ा अधिनियम (Bombay Industrial Dispute Act) १९३८ ने ग्रहण कर लिया।

इस अवधि के उत्तरार्द्ध में, इस देश में प्रांतीय स्वायत्त-शासनतंत्र लागू हुआ। १९३७ में, कई प्रांतों में शासन की बागडोर कांग्रेस के हाथ में आ गयी। इससे कामगारों को आशा बंधी कि अब उनके अच्छे दिन दूर नहीं हैं। किंतु जब उनकी दशा सुधारने में विलंब दीखने लगा तब देश में जगह-जगह मजदूरों में असंतोष पैदा हो गया। बंबई, अहमदाबाद, कानपुर, मद्रास आदि बड़े-बड़े औद्योगिक केंद्रों में मजदूरों ने अपनी कार्यावस्था तथा मजदूरी-संबंधी मांगें मनवाने के लिए हड़ताल कर दी। फिर क्या था, अनेक प्रांतों में श्रम जांच समितियां नियुक्त की गयीं जिन्हें कामगारों की कार्यावस्थाओं की जांच

करके अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का आदेश दिया गया। मद्रास, बिहार, बंबई, संयुक्तप्रांत और मध्यप्रदेश की सरकारों ने अपपने-अपने प्रांतों में समितियां नियुक्त कीं।

कामगारों की नीति—बाद में, कांग्रेस मंत्रिमंडलों द्वारा एकाएक त्यागपत्र देने के कारण इन समितियों की लोककल्याण-संबंधी सिफारिशें भलीभांति कार्यपरिणत नहीं हो सकीं। इसलिए कामगारों को उनसे यथेष्ट लाभ नहीं हुआ।

(३) १९३९-४६ की अवधि

दूसरे महायुद्ध के कारण १९३९-४६ की अवधि संकटों से भरपूर रही। प्रांतों की लोकप्रिय सरकारें केंद्रीय और ब्रिटिश सरकार की युद्ध-नीति से सहमत न थीं। इसलिए उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। राज्यपालों (गवर्नरों) को प्रांतों का प्रशासन सौंप दिया गया। महाराज्यपाल (गवर्नर-जनरल) की शासन-परिषद् (Executive Council) का विस्तार किया गया और जनता के कुछ प्रतिनिधियों को उसका सदस्य बना लिया गया।

अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फूट—मजदूर संघ आंदोलन में जो एकता युद्धकाल से पहले पैदा हो गयी थी वह टिकाऊ नहीं निकली। युद्ध के प्रति मजदूरों की क्या नीति होनी चाहिए, इस प्रश्न पर मतभेद पैदा हो गया। आंदोलन की एकता पर आंच न आने-देने के लिए अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने केंद्रीय संगठन के प्रति एक निषेधात्मक रुख अपनाया और विभिन्न संघों को उसके प्रति अपनी व्यक्तिगत नीति निर्धारित करने की पूरी छूट दे दी। १९३९ में अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशन ने नीचे लिखा प्रस्ताव पास किया था जिससे उसकी तत्कालीन नीति स्पष्ट हो जाती है।

> "चूंकि ब्रिटेन का दावा है कि ग्रेट ब्रिटेन और फासिस्ट शक्तियों में जो युद्ध चल रहा है उसका ध्येय लोकतंत्र और स्वतंत्रता के सिद्धान्तों के गौरव की रक्षा करना है और वह किसी प्रकार का साम्राज्यवादी उद्देश्य नहीं रखता है। इसलिए भारत से, जिसे न तो साम्राज्यवाद से सहानुभूति है और न फासिस्टवाद से ही, तभी युद्ध में भाग लेने की आशा की जा सकती है जबकि उसे स्वयं स्वतंत्रता और लोकतंत्र प्राप्त हो जाए; और उसका ऐसा दावा करना स्वाभाविक है। जिस युद्ध में भाग लेने से भारत को स्वतंत्रता और लोकतंत्र न मिल सके वह भारत के लिए कैसे लाभप्रद हो सकता है और श्रमजीवी वर्ग के लिए तो उससे किसी लाभ की आशा कैसे की जा सकती है?"

इस प्रस्ताव के कुछ समय बाद, रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के नेता एम. एन. राय के नेतृत्व में एक दल अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलग हो गया और उसने भारतीय श्रमिक फेडरेशन (Indian Federation of Labour) नाम का एक केंद्रीय संगठन स्थापित कर लिया। युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार का दम भरने के कारण इस संगठन को आर्थिक सहायता के अतिरिक्त अन्य प्रकार की अनेक सहायताएं मिलती रहीं।

कम्युनिस्टों की नीति—युद्ध के आरंभिक काल में रूस और जर्मनी साथ-साथ थे। इसलिए कम्युनिस्ट युद्ध-प्रयासों का विरोध कर रहे थे। निदान कम्युनिस्ट नेता गिरफ्तार करके नजरबंद कर दिये गये। किंतु जब सोवियत रूस साथी राष्ट्रों के शिविर में आ गया तब कम्युनिस्टों की नीति ने करवट बदल ली; और वे युद्ध-प्रयासों का अनुसमर्थन करने लगे। इस कारण सरकार ने नजरबंद कम्युनिस्ट नेताओं को मुक्त कर दिया और वे फिर युद्ध-प्रयासों में क्रियात्मक सहयोग देने लगे।

अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस का राष्ट्रवादी अंग भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) का अनुसरण करता रहा। इसलिए उसके अनुयायियों को पकड़कर सरकार ने जेलों में ठूंस दिया। उनकी दीर्घ-कालिक अनुपस्थिति से भारतीय श्रमिक फेडरेशन (Indian Federation of Labour) को अपना प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिल गया। फिर क्या था, कम्युनिस्टों की पौ-बारह पड़ गयी। कम्युनिस्ट नेताओं का अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर सिक्का जम गया।

भारतीय श्रमिक फेडरेशन—इस बीच भारतीय श्रमिक फेडरेशन (Indian Federation of Labour) ने कामगारों में युद्ध का अनुसमर्थन करने का प्रचार आरंभ कर दिया। इसकी पीठ पर पर्याप्त मजदूर संघों की शक्ति थी। अनेक उद्योगों में प्रतिद्वंद्वी मजदूर संघ स्थापित हो गये थे। यद्यपि भारतीय श्रमिक फेडरेशन की सदस्य-संख्या अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस से बहुत कम थी फिर भी सरकार ने अंतर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलनों में भाग लेने के लिए फेडरेशन के प्रतिनिधियों को नामजद कर दिया। यह फेडरेशन युद्ध के बाद कुछ समय तक चलता रहा। किंतु अंत में उसका स्वतंत्र रूप लुप्त हो गया। इसके अधिकांश संघों ने हिंद मजदूर सभा से अपना नाता जोड़ लिया। भारत के समाजवादी दल ने इस हिंद मजदूर सभा की स्थापना १९४८ में की थी।

यद्यपि अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस की सरकारी नीति तटस्थता की थी फिर भी इसके भीतर कितने ही गुट थे जिनका दृष्टिकोण युद्ध के प्रति भिन्न था।

युद्ध का प्रभाव—इन दिनों भारत की आर्थिक नीति साथी देशों की युद्ध-कालीन आर्थिक नीति की पिछलग्गू बन गयी। भारत साथी देशों के लिए

सुदूर पूर्व का प्रमुख संभरण अड्डा बन गया। इस देश के जन-बल तथा सभी भौतिक साधनों को युद्ध की दिशा में मोड़ दिया गया। प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन की मांग बढ़ गयी। नौकरियों के नये-नये द्वार खुलने के कारण देश के पुराने रोग अर्थात् बेकारी की दशा में कुछ सुधार हो चला। आर्थिक गतिविधि बढ़ने से मुद्रा-स्फीति सिर उठाने लगी; और उपभोक्ता माल के मूल्य आसमान पर चढ़ चले। किंतु श्रमिकों की मजदूरी में आनुपातिक बढ़ोतरी नहीं हुई। इसलिए असल मजदूरी नीचे गिरती गयी। इस पर तुर्रा यह कि सरकार और मालिक कामगारों के कष्टों के प्रति उदासीन ही बने रहे। जब कामगारों ने अपनी कठिनाइयों की आवाज उठायी और सीधी काररवाई करने की धमकी दी, तब कहीं सरकार की नींद टूटी; और उसने इस दिशा में पग आगे बढ़ाया। बंबई की सरकार ने कपड़ा मिल मजदूरों के मंहगाई भत्ते की मांग पर विचार करने और समझौता करवाने के लिए एक सुलह बोर्ड नियुक्त किया। इसी प्रकार देश में रेलवे कर्मचारियों के आंदोलन के कारण सरकार को उनके मंहगाई भत्ते की मांग की जांच के लिए स्वर्गीय बी. एन. राव की अध्यक्षता में एक जांच न्यायालय (Court of Enquiry) बैठाना पड़ा।

आपातकालिक अधिकार—ज्यों-ज्यों जीवन-निर्वाह का व्यय बढ़ता गया और सरकार तथा मालिकों ने श्रमिकों की ओर उदासीनता दिखायी, त्यों-त्यों देश में मंहगाई भत्ते की मांग जोर पकड़ने लगी। कहीं-कहीं तो मजदूरों ने अपनी मांग पूरी करवाने को हड़ताल कर दी।

स्थिति बिगड़ने से बचाने और उत्पादन की वृद्धि को बनाये रखने के लिए सरकार ने भारत प्रतिरक्षा नियमों (Defence of India Rules) में ८१-A नियम जोड़ दिया जिससे उसे आपातकालिक अधिकार मिल गये। इस नियम के अंतर्गत हड़तालें और तालेबंदियां निषिद्ध हो गयीं। अब सरकार किसी भी औद्योगिक झगड़े को अपने हाथ में लेकर सुलह अथवा पंचाट (award) के लिए भेज देती थी और मालिकों को भी नौकरी की निर्धारित शर्तें स्वीकार करने के लिए झुका सकती थी।

वेतन-मूल्य होड़—अधिनिर्णायकों (adjudicators) के पास कितने ही औद्योगिक झगड़े भेजे गये और सरकार के आदेशों के अंतर्गत उनके पंचाटों को लागू करवाया गया। यद्यपि अधिनिर्णायकों के पंचाटों से मजदूरी में वृद्धि के कारण श्रमजीवियों को कुछ राहत मिली और उनकी कार्यावस्थाओं में भी कुछ सुधार हुआ किंतु इससे उनकी सामान्य दशा में कोई ठोस परिवर्तन नहीं हो सका। वास्तव में, इस समय कामगार उस युद्धकालीन स्थिति से लोहा लेते दिखायी देता है जिससे उसके जीवन-स्तर को गहरी ठेस पहुंच रही थी। वेतन

और मूल्य में निरंतर होड़ जारी थी। यदि इधर वेतन बढ़ा तो उधर मूल्य बढ़ गये। यह दशा युद्ध-काल भर जारी रही।

कामगारों की नीति— निर्वाह-खर्च तेजी से ऊंचा उठने के कारण कामगारों की आर्थिक दशा दिन-पर-दिन नीचे गिरने लगी। वे समझ गये कि उन्हें अपनी कठिनाइयां दूर करने के लिए अब संगठित होकर कोशिश करनी चाहिए। इससे मजदूर संघ आंदोलन में सरगर्मी आ गयी; और अब संगठित संघों की संख्या ही नहीं बल्कि संगठित कामगारों की संख्या भी बढ़ चली। दो केंद्रीय संगठनों अर्थात् अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा भारतीय श्रमिक फेडरेशन ने विभिन्न उद्योगों के कामगारों को संगठित करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने मन लगाकर काम आरंभ किया, किंतु राष्ट्रवादी मजदूर संघी नेताओं तथा जनता में राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अभाव के कारण उनका मार्ग कांटों से भर गया।

मालिकों की नीति— इस समय कामगारों और उनके संगठनों के प्रति मालिकों की नीति कुछ नरम हो गयी। उत्पादन में वृद्धि के कारण मालिकों के लाभ में वृद्धि हुई; और इस वृद्धि को बनाये रखने के उद्देश्य से उन्होंने महत्त्वपूर्ण उद्योगों के कामगारों के कल्याण के लिए कुछ योजनाएं चालू कर दीं। कुछ मालिकों ने अपने-अपने कारखानों के कामगारों के संघों को मान्यता दे दी।

सरकार की नीति— इस अवधि में श्रमिकों के प्रति सरकारी रुख में भी परिवर्तन साफ दिखायी देने लगा। इसके दो कारण थे। पहला, सरकार युद्ध-प्रयास को दृढ़ रखने के लिए उत्पादन में वृद्धि बनाये रखना चाहती थी, जिसके लिए औद्योगिक शांति आवश्यक थी। दूसरा, प्रांतों की लोकप्रिय सरकारों का रुख कामगारों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था। यद्यपि इन लोकप्रिय मंत्रिमंडलों ने १९३९ में पद-त्याग कर दिया था फिर भी उनकी रीति-नीति युद्धकालिक सरकार पर अपनी अमिट छाप छोड़ गयी थी।

सम्मिलित परामर्श—इस अवधि में सरकार ने जो नयी बात की वह यह थी कि उसने श्रम के विषयों पर मालिकों और कामगारों के प्रतिनिधियों के साथ बैठकर परामर्श करने की प्रथा चालू की। प्रथम त्रिदलीय (Tripartite) सम्मेलन १९४२ में हुआ।

कल्याणकारी कार्य—युद्ध-प्रयास में कामगारों का सहयोग पाने के लिए सरकार ने उनकी सुविधाओं पर ध्यान देना उचित समझा। केंद्रीय सरकार ने प्रतिरक्षा-संस्थानों में गैर-सैनिक कर्मचारियों के लिए सुख-सुविधा की व्यवस्थाएं कीं। उसने कल्याण-अधिकारी (Welfare Officer) नियुक्त किये जो सरकारी संस्थानों के श्रमिकों की सुविधा पर ध्यान देते थे। देश में अन्न की

कमी के कारण खाद्यों का राशन हो गया और औद्योगिक उपाहारगृह (Canteens) चालू हुए।

कोयला की खानों से औद्योगिक संस्थानों तथा परिवहन सेवाओं तक कोयला की आमद में वृद्धि की ओर सरकार ने ध्यान दिया। इस कारण सरकार को उन खनकों की समस्याओं पर विचार करना पड़ा जिनकी अब तक उपेक्षा की जा रही थी। अब उनके लिए जो सुविधाएं जुटायी गयीं उनमें रियायती दाम पर अन्न की उपलब्धि, खदानों पर स्नानागारों, तथा मनोरंजन और विश्राम की व्यवस्थाएं थीं। कानून बनाकर कोयला खनक कल्याण कोष (Coal Mines Welfare Fund) भी स्थापित किया गया।

केंद्र में एक औद्योगिक संपर्क कार्यालय की व्यवस्था की गयी। इसको श्रमिक कल्याण, और औद्योगिक झगड़ों के निपटारे तथा रोकथाम करने के विषयों पर सरकार को सलाह देने का काम सौंपा गया। देश के विभिन्न भागों में इसके अंतर्गत अधिकारी नियुक्त किये गये।

श्रम आयोग की सिफारिशों का कार्यान्वय—राजकीय श्रम आयोग (१९३१) की सिफारिशों को विभिन्न दृष्टियों से पूरा करने के लिए, सरकार ने १९४४ में एक श्रम जांच समिति (Labour Investigation Committee) बना दी। इस अवधि में राजकीय श्रम आयोग की विभिन्न सिफारिशों के कार्यान्वय की योजनाएं बनायी गयीं जिससे कितने ही श्रम-कानूनों का जन्म हुआ।

इस अवधि में जो महत्वपूर्ण श्रमिक विधि-विधान बने उनसे कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के लिए सवैतनिक छुट्टी की व्यवस्था की गयी और श्रमिक हानि-पूर्ति अधिनियम के अंतर्गत लाभ पाने वाले कर्मचारियों का वेतन-सीमांत २०० रु. के स्थान में ४०० रु. मान लिया गया। इनमें औद्योगिक सेवा स्थायी आदेश अधिनियम (Industrial Employment Standing Oders Act) कोयला खनक कल्याण कोष अध्यादेश (Coal Mines Welfare Fund Ordinance) और साप्ताहिक छुट्टी अधिनियम (Weekly Holiday Act) १९४२ के नाम उल्लेखनीय है।

(४) १९४६-५६ की अवधि

यह अवधि देश की स्वाधीनता के आगमन के साथ चालू होती है। डेढ़-सौ वर्षों के ब्रिटिश शासन से इस देश को छुटकारा दिलाने में राष्ट्रीय नेताओं ने एक नये मार्ग का अनुसरण किया था। यह अहिंसा का मार्ग था। यद्यपि स्वराज शांतिपूर्ण ढंग से आया किंतु इस देश के दो टुकड़े (भारत और पाकिस्तान) हो जाने के कारण कितनी ही सामाजिक-आर्थिक समस्याएं उत्पन्न

हो गयीं। ये बड़ी ही उलझनपूर्ण और विकट समस्याएं थीं। इनका खाद्यों और कुछ कच्चे माल की आत्मनिर्भरता पर कुप्रभाव पड़ा। जिससे देश का आर्थिक संतुलन बिगड़ गया। इसके अतिरिक्त कुछ जनसंख्या के उत्थापन से नयी-नयी समस्याएं उठ खड़ी हुईं। इस अवधि के आरंभ में सांप्रदायिक दंगों ने लाखों शरणार्थी पाकिस्तान से लाकर भारत की भूमि पर खड़े कर दिये। इस अतिरिक्त जनसंख्या से स्थिति और भी बिगड़ गयी।

मुद्रास्फीति का कुप्रभाव—देश की आर्थिक स्थिति पहले ही से उलझनपूर्ण थी। मुद्रास्फीति ने कोढ़ में खाज का काम किया। इससे वास्तविक वेतनों की क्रय-शक्ति घट गयी और रहन-सहन का स्तर नीचे गिर चला। सेना के विघटित सैनिकों और युद्ध-संबंधी कार्यों में लगे हुए कामगारों की छटनी ने देश में बेरोजगारों की संख्या बढ़ा दी। भारत के जूट आयोग को भी धक्का लगा क्योंकि वह कच्चा जूट पाकिस्तान से मंगाता था। इसलिए जूट आयोग का उत्पादन घटाना पड़ा और इससे कितने ही मजदूरों की छटनी करनी पड़ी। इन बातों से मजदूरों को बड़ी निराशा हुई। उन्हें राष्ट्रीय सरकार से अपना पारिश्रमिक बढ़वाने, कार्यावस्था सुधरवाने तथा अन्य सुविधाएं प्राप्त करने की आशा थी, जिस पर अब पाला पड़ गया। उन्हें अतीत में जो मिल गया था उसकी रक्षा के लिए उन्हें अब संघर्ष करना पड़ा। सारांश यह है कि इन परिस्थितियों में औद्योगिक शांति कैसे बनी रह सकती थी? इसलिए हड़तालों का तांता बंध गया और देश भर के श्रमिक वर्ग में असंतोष फैलने लगा। इससे देश के औद्योगिक उत्पादन को गहरा धक्का लगा और अन्नों के इधर से उधर लाने-लेजाने पर भी उसका कुप्रभाव पड़ा। देश की आर्थिक स्थिति संकट में पड़ गयी। इस अवधि में जितनी हड़तालें हुईं और जितने श्रमिक-दिनों (man-days) की हानि हुई उससे पिछले सभी रिकार्ड टूट गये।

भीतरी फूट के कारण मजदूर संघ आंदोलन का वास्तविक उद्देश्य ही नष्ट हो गया। १९३० में केंद्रीय मजदूर संघ संगठनों ने इस आंदोलन की एकता को फिर से जीवित करने का प्रयत्न किया; किंतु एकता का स्वप्न तो दूर रहा, उसमें अब और अधिक फूट फैलने लगी। इससे जो विभिन्न संगठन पैदा हो गये उनकी रीति-नीति जानना पाठकों के लिए कम रोचक न होगा।

भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Indian National Trade Union Congress)

रचना—युद्ध के बाद, भारत में राष्ट्रीय सत्ता की स्थापना हुई और राष्ट्रीय नेताओं ने युद्ध तथा विभाजन से बिगड़ी हुई देश-की आर्थिक दशा को सुधारने का बीड़ा उठाया। वे ताड़ गये कि देश में अधिक उत्पादन और पुनर्निर्माण की

अभूतपूर्व आवश्यकता है। उदार विचार-वाले मजदूर संघी नेताओं ने भी भांप लिया कि विभिन्न राजनीतिक दल देश के श्रमिकों को अपनी शतरंज के मोहरे बनाना चाहते हैं। उन्होंने सब लोकतंत्रीय मजदूर संघों को एक झंडे तले संगठित करने का निश्चय किया। नवंबर १९४६ में, हिंद मजदूर सेवक संघ के केंद्रीय मंडल ने देश के विभिन्न मजदूर संघों से अपील की कि वे अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से आबद्ध हो जाएं और उसकी छत्र-छाया में कांग्रेस दल की नीति और कार्यक्रम को बढ़ावा दें। किंतु जब अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस की नीति में हेरफेर करना असंभव हो गया तब कांग्रेस दल के मजदूर नेताओं ने एक नया मजदूर संघ बनाने का निश्चय किया।

निदान, ३ मई १९४७ को प्रमुख कांग्रेसी और मजदूर संघी कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन हिंद मजदूर सेवक संघ के केंद्रीय मंडल के तत्कालीन अध्यक्ष स्व. सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में नयी दिल्ली में हुआ। इसमें प्रायः सभी व्यवसायों तथा काम-धंधों के मजदूर संघों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। अनेक राज्यों की कांग्रेस समितियों ने भी इसमें अपने-अपने प्रतिनिधि भेजे थे। इस सम्मेलन ने एक ऐसा केंद्रीय संगठन बनाने का प्रस्ताव स्वीकार किया जो समस्त मजदूरों के हितों की देखरेख कर सके और उनके हितों की रक्षा तथा उन्नति के लिए ठोस कदम उठा सके। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Indian National Trade Union Congress) की संस्थापना हुई।

उद्देश्य—अपने संविधान के अनुसार, भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के मुख्य उद्देश्य नीचे दिये जा रहे हैं :

(१) एक ऐसे सामाजिक ढांचे की स्थापना करना जिससे उसके किसी सदस्य की सर्वांगीण उन्नति के मार्ग में किसी प्रकार की बाधाएं न आ सकें;

(२) कामगारों की संपूर्ण श्रेणियों का एक प्रभावशाली और सर्वांगीण संगठन बनाना;

(३) उद्योगों और समाज में कामगारों की कार्यावस्था और जीवनावस्था तथा पद-प्रतिष्ठा में तेजी के सुधार करवाना;

(४) बिना काम बंद किये, बातचीत तथा संराधन द्वारा; और इनके विफल होने पर पंचाट अथवा न्यायिक निर्णय द्वारा, मजदूरों की शिकायतों या परिवेदनाओं को दूर करवाना;

(५) उद्योगों तथा अपनी बिरादरी के प्रति मजदूरों में उत्तरदायित्व की भावना का विकास करना; तथा

(६) कामगार की योग्यता और अनुशासन के मानदंड को ऊचा उठाना।

उक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिए वे ही साधन अपनाये जाएंगे जो शांति-पूर्ण और सत्य की भावना से अनुप्राणित होंगे। अहमदाबाद कपड़ा मजदूर संघ (Ahmedabad Textile Labour Association) ने भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को विशाल सदस्य-संख्या के अतिरिक्त श्रम-कार्यों के अनुभवी कार्यकर्ता भी दिये। यह श्रमिक-समूह औद्योगिक झगड़ों को निपटाने के लिए समझौते और पंचाट के सरकारी तंत्र पर विश्वास करता है।

आबद्ध मजदूर संघों का कर्तव्य—जो मजदूर संघ भा. रा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस से आबद्ध हैं उन्हें अपनी सदस्य-संख्या की सूची उसके केंद्रीय कार्यालय के पास भेजनी पड़ती है। जिन झगड़ों का समझौते से निर्णय नहीं हो पाता है उन्हें पंचाट के लिए देना पड़ता है। वे तब तक किसी मामले पर हड़ताल या सत्याग्रह की न तो अनुमति दे सकते हैं और न उसका समर्थन कर सकते हैं, जब तक ससझौते के सभी उपाय अर्थात् बातचीत, पंचाट और न्यायिक निर्णय न चुक जाएं, और सदस्यों का बहुमत संघ की साधारण बैठक में कोई निश्चित कदम उठाने का अनुसमर्थन न कर दे। प्रत्येक आबद्ध संघ अपने प्रति पंजीबद्ध सदस्य पीछे एक आना के हिसाब से, जो कुल मिलाकर १० रु. की न्यूनतम राशि से कम न हो, कांग्रेस को वार्षिक शुल्क देता है। जो संघ इस कांग्रेस से आबद्ध होना चाहते हैं उन्हें पहले मजदूर संघ अधिनियम के अंतर्गत अपना पंजीयन कराना चाहिए। ऐसे संघों की संस्थापना आबद्धीकरण से कम-से-कम तीन मास पहले ही हो जानी चाहिए।

औद्योगिक फेडरेशन (संघ)—भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इनटक) के संविधान में यह लिखा हुआ है कि वह एक क्षेत्र में किसी उद्योग, व्यापार या व्यवसाय के एक से अधिक संघों को अपने साथ आबद्ध न करेगी। यह कांग्रेस किसी उद्योग के व्यक्तिगत शिल्पों अथवा इकाइयों के संघों को आबद्ध करने में दिलचस्पी नहीं रखती है। इसके विपरीत, आबद्धन के मामले में वह उक्त प्रकार के संघों की तुलना में औद्योगिक संघ को वरिष्ठता देती है। आबद्ध संघों को नियमानुसार उन समुचित राष्ट्रीय औद्योगिक संघों में अपना नाम दर्ज कराना पड़ता है जिन्हें भा. रा. ट्रे. यू. कांग्रेस ने मान्यता दे रखी है। इस प्रकार के संघ (Federation) कपड़ा मिलों, परिवहनों, चीनी मिलों, चाय बागों, गोदियों, जूट मिलों तथा खनक उद्योगों में स्थापित हैं।

सदस्यता—भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना के समय ५,७५,००० कामगार उसके सदस्य थे जो २०० संघों में बंटे हुए थे। अहमदाबाद कपड़ा मजदूर संघ की सदस्य-संख्या ५५,००० थी। उसकी स्थापना

१९१८ में हुई थी, लेकिन वह अभी तक किसी अखिल भारतीय संगठन में सम्मिलित नहीं हुआ था। अब वह उसमें शामिल ही नहीं हो गया बल्कि उसकी एक मुख्य आधार-शिला बन गया। इसके अतिरिक्त बंगाल जूट उद्योग, बंबई कपड़ा उद्योग तथा असम चाय बागों के संघों के सदस्यों की संख्या काफी थी। अन्य उद्योगों के संघों की सदस्य-संख्या अपेक्षाकृत कम थी।

इस समय, भारत में मजदूर संघों के फेडरेशन का सबसे बड़ा संघ भा. रा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस है। उसके कथनानुसार, गत जनवरी १९५८ में १२०२ मजदूर संघ उसके सदस्य थे जिनकी सदस्य-संख्या १४,११,४३७ थी। किंतु सरकार के आंकड़ों के अनुसार ३१ मार्च १९५७ को समाप्त होने वाले वर्ष में उसके घटक संघों की संख्या ६७२ तथा सदस्य-संख्या ९,३४,३८५ थी।

हिंद मजदूर सभा

दिसंबर १९५७—जनवरी १९५८ में भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इनटक) का वार्षिक सत्र मदुरई में हुआ जिसमें १९५७ में कांग्रेस की उन्नति पर विचार किया गया। कांग्रेस ने पंद्रहवें भारतीय श्रम सम्मेलन (Indian Labour Conference) के निर्णयों के अनुसार सीमेंट, रसायन, इंजीनियरिंग, बाग, इस्पात तथा अन्य महत्त्वपूर्ण उद्योगों में वेतन-बोर्ड नियुक्त करने के बारे में प्रस्ताव स्वीकार किया और उसने कपड़ा तथा जूट मिल उद्योगों की कार्यपद्धति पर विचार करने के लिए सरकार से अनुरोध किया जिनमें कितनी ही इकाइयां अनिश्चित काल के लिए बंद कर दी गयी थीं।

स्थापना और उन्नति—जब मई १९४७ में भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इनटक) की स्थापना हुई तब समाजवादी नेताओं ने देखा कि जो संगठन सोलहो आने कांग्रेस दल की नीति का अनुसरण करेगा वह कामगारों के हित की रखवाली कैसे कर सकता है। १९४८ के आरंभ में समाजवादी लोग कांग्रेस दल से अलग हो गये। २२ मार्च १९४८ को नासिक अधिवेशन में समाजवादी दल के मजदूर संघी सदस्यों ने एक ऐसा नया अखिल भारतीय श्रमिक संगठन स्थापित करने का निश्चय किया जो कामगारों के अधिकारों की रक्षा और अपने आबद्ध संगठनों की हलचलों का समन्वय कर सके। इस अधिवेशन ने एक तदर्थ समिति नियुक्त कर दी जिसका काम इस नये संगठन से गठजोड़ करने वाले विभिन्न संघों से बातचीत करना और उनको नियमित रूप से आबद्ध करना था। उन्होंने इस नये संगठन का नाम भारतीय श्रमिक कांग्रेस (Indian Labour Congress) रखा।

इस बीच समाजवादी नेताओं ने अन्य मजदूर संघी नेताओं के साथ एक ऐसा केंद्रीय संगठन स्थापित करने की चर्चा आरंभ कर दी जो किसी राजनीतिक

दल से आबद्ध न हो। हिंद मजदूर पंचायत के विभिन्न नेताओं, भारतीय श्रमिक फेडरेशन के नेताओं, तथा किसी केंद्रीय संगठन में अब तक शामिल न होने वाले मजदूर संघों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन २४ दिसम्बर १९४८ को कलकत्ते में हुआ। उसने हिंद मजदूर सभा की संस्थापना का निर्णय किया।

यद्यपि हिंद मजदूर सभा में अन्य श्रमिक समुदायों को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त है फिर भी यह वास्तव में समाजवादी दल का संगठन है। इसके विचार और उद्देश्य समाजवादी दल की विचारधारा से मेल खाते हैं।

उद्देश्य—हिंद मजदूर सभा के आविसपत्र (Manifesto) में कहा गया है कि इस संगठन का मुख्य उद्देश्य देश में एक ऐसे समाजवादी राज्य की स्थापना करना है जिसमें कामगार को अपने मानसिक और शारीरिक विकास का पूर्ण अवसर मिल सके। इसके अन्य उद्देश्य नीचे लिखे हुए हैं :

(१) सभी श्रमिकों को निर्वाह-मजदूरी;
(२) प्रत्येक नागरिक को काम मिलने की गारंटी;
(३) पूर्ण सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था तथा सुचारु चिकित्सा के प्रबंध का सूत्रपात;
(४) काम के समुचित घंटे नियत करके तथा सवैतनिक छुट्टी की व्यवस्था करके पर्याप्त विश्राम का प्रबंध;
(५) पर्याप्त और उचित रिहायशी मकानों की सुविधाएं;
(६) निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा तथा व्यावसायिक मार्गदर्शन की सुविधाओं का सूत्रपात; और
(७) सामूहिक सौदाकारी के अधिकार को भलीभांति मान्यता दिलाना।

हिंद मजदूर सभा सरकार की श्रम-नीति की आलोचना करती है। उसका कहना है कि सरकारी नीति इस दिशा में विशेषाधिकारी वर्गों का पक्ष लेती है। उनके विचार से भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इनटक) एकमात्र कांग्रेस दल का श्रमिक पक्ष है और इस कारण वह समूचे श्रमिक-वर्ग का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

हिंद मजदूर सभा ने कामगारों के लिए मकानों की योजना का प्रश्न उठाया जिसे सरकार ने स्वीकार करके कार्यपरिणत करना आरंभ कर दिया है। वह सरकार के औद्योगिक संपर्क तंत्र में पक्षपातपूर्ण प्रशासन की आलोचना करती रहती है। उसने एक ऐसा कानून बनाने की आवाज उठायी है जिससे राज्य सरकारें या केंद्रीय सरकार संघर्षरत पक्षों के मामले में अपनी टांग कम-से-कम अड़ा सकें। उसने बेरोजगारी के प्रश्न पर भी चिंता प्रकट की है और सरकार पर बेरोजगारों को काफी राहत देने के लिए दबाव डाला है।

सदस्यता—प्रारंभ में, हिंद मजदूर सभा के अंतर्गत ४२७ मजदूर संघ थे जिनके सदस्यों की संख्या ६,०६,४७२ थी। इनमें परिवहन कामगारों और डाक-तार कर्मचारियों के संघों की संख्या बहुत बड़ी थी। बाद में, हिंद मजदूर सभा की शक्ति बिहार राज्य और बंबई तथा अहमदाबाद के कपड़ा मजदूरों में अधिक बढ़ गयी। आजकल उसकी सदस्य-संख्या पांच लाख है और उससे ३३५ संघ आबद्ध हैं। ३१ मार्च १९५७ को ये प्रमाणित आंकड़े इस प्रकार थे : १३८ संघ और २,३३,९९० सदस्य-संख्या। आजकल बिहार राज्य में ही हिंद मजदूर सभा को भा. रा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस का कड़ा मुकाबला करना पड़ रहा है।

मजदूर संघों की एकता का प्रयास—हिंद मजदूर सभा और भा. रा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इनटक) के संगठनों की विचारधाराओं में कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं है। इसलिए हिंद मजदूर सभा दोनों के लिए एक मंच स्थापित करने की कोशिश कर रही हैं। किंतु उसे अभी तक इस काम में कोई अधिक सफलता नहीं मिली है। जून १९५६ में सभा की कार्यसमिति की एक बैठक बंबई में हुई जिसमें मजदूर संघों की एकता के लिए नीचे लिखे सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया :

(१) संयुक्त केंद्रीय संगठन और उसके आबद्ध मजदूर संघों के कार्यकलाप में तथा उसके भीतरी कार्यक्रम में लोकतंत्रीय सिद्धांतों और परिपाटियों को पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाए और उनका परिशीलन किया जाए;

(२) सरकार अथवा राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप से पूर्ण मुक्ति; और

(३) गुप्त मतदान द्वारा कामगारों को अपने लिए इच्छानुकूल संघों का चुनाव करने की स्वतंत्रता देकर, एक ही क्षेत्र में एक से अधिक संघों की प्रतिद्वंद्वात्मक वर्तमान उपस्थिति समाप्त कर दी जाए।

संयुक्त मजदूर यूनियन कांग्रेस (United Trade Union Congress)

मूल—समाजवादियों ने दिसंबर १९४८ में जो सम्मेलन बुलाया था उसमें कुछ मजदूर संघों के नेताओं ने हिंद मजदूर सभा के सिद्धांतों और ध्येयों से अपनी सहमति प्रकट नहीं की। इसलिए उनकी बैठक दिसंबर १९४८ में फिर कलकत्ता में हुई जिसमें यह निर्णय किया गया कि विभिन्न मजदूर संघों के नेता संयुक्त ट्रेड यूनियन समिति (United Trade Union Committee) की रचना करें। इस संयुक्त ट्रेड यूनियन समिति ने विभिन्न नेताओं की एक बैठक बुलायी। ३० अप्रैल १९४९ को कलकत्ता में यह बैठक हुई जिसने संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस की संस्थापना की।

उद्देश्य—इस संगठन का मुख्य उद्देश्य मजदूर संघों की एकता को यथा-साध्य विस्तृत आधार पर मजदूर संघों के कार्यकलाप का संचालन करना तथा श्रमिकों के लिए एक केंद्रीय मंच की रचना करना है। जो दलबंदी के दलदल से बचा रहे।

संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस का औपचारिक उद्देश्य इस देश में एक विशुद्ध मजदूर संघ आंदोलन की स्थापना करना है जिसे वर्तमान राजनीतिक दलों के प्रभाव से जितना दूर रखा जा सके उतना ही अच्छा होगा। इसमें विभिन्न वामपंथी दलों के सदस्यों का हाथ है जिनकी नीति अनेक विषयों पर अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस (All India Trade Union Congress) की नीति से मिलती-जुलती है यद्यपि वह कम्युनिस्ट पार्टी के अंतर्गत नहीं है फिर भी इसके राजनीतिक विचार बहुत-कुछ वामपंथी हैं और वह कम्युनिस्टों से सहयोग करने को तैयार रहती है।

संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने वर्तमान सरकार की श्रम-नीति की कठोर आलोचना करने में दृढ़ता दिखायी है। वह इस बात के पक्ष में है कि सरकार मजदूर संघों को मान्यता दिलाने में मालिकों पर जोर डाले और जो-जो निर्णय समझौता-वार्ता द्वारा हो जाएं, उनको मानने के लिए मालिकों को विवश करे। संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस का तीसरा वार्षिक सत्र अप्रैल १९५८ में हुआ जिसमें एक मांग-पत्र स्वीकार करके उसको पूरा कराने के लिए मजदूरों द्वारा संघर्ष करने का आह्वान किया गया। इन मांगों में महत्त्वपूर्ण मांगें थीं: उच्च-अधिकार-प्राप्त वेतन-आयोग की नियुक्ति की जाए; प्रत्येक श्रेणी के कामगारों के लिए निर्वाह-मजदूरी निश्चित की जाए; संचित निधि (प्रावीडेंट फंड) की दरों में वृद्धि करके उसका क्षेत्र बढ़ा दिया जाए; गुप्त मतदान के आधार पर मजदूर संघों को मान्यता दी जाए; हड़ताल और सामूहिक सौदाकारी का निर्बाध अधिकार दिया जाए तथा पहले से दूसरे रोजगार की व्यवस्था किये बिना किसी मजदूर को लगे-हुए रोजगार से छटनी में न निकाला जाए। ३१ मार्च १९५७ को इस संगठन में ५६७ संघ तथा ५,७४,५३९ सदस्य बताये जाते थे। १९५६-५७ के परिशोधित आंकड़े नहीं मिल पाये हैं। ३१ मार्च १९५६ को समाप्त होने वाले वर्ष के आंकड़े इस प्रकार हैं: २३७ संघ तथा १,५९,१०९ सदस्य-संख्या।

पत्रकारों में मजदूर-संघता की भावना—अन्य क्षेत्रों में मजदूर संघ बनाने की भावना के इतिहास की तुलना में पत्रकारों में यह भावना देर से आयी है। उनकी कार्यावस्थाएं विचित्र प्रकार की हैं। इस दृष्टि से उनका गहन अध्ययन और सर्वेक्षण करना आवश्यक है। अभी दिसंबर १९५४ से ही उनको औद्योगिक झगड़ा अधिनियम के अंतर्गत स्थान मिला है।

अतीत में पत्रकारों ने अपनी व्यावसायिक तथा अन्य प्रकार की समस्याओं पर विचार करने के लिए अपने संघ स्थापित किये थे, किंतु ये जब-तब सरकार की कुछेक मनमानी कारवाइयों के विरुद्ध कुछ आंदोलन करके ही चुप हो जाते थे। इन संघों में मालिकों तथा पत्रकारों, दोनों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। किंतु जब प्रेस का औद्योगिक अंग अधिक प्रबल हो चला तब मालिकों ने अपना संगठन अलग बना लेना ही ठीक समझा और भारतीय तथा पूर्वी समाचारपत्र सोसायटी (Indian & Eastern Newspapers Society) नामक संस्था का जन्म हुआ। फिर भी मालिक पत्रकार संघों में पांव जमाये रहे।

पत्र-पत्रिका-उद्योग में बड़े पूंजीपतियों के प्रवेश, तथा राजनीतिक और आर्थिक हितों की उन्नति के लिए पत्रों के प्रयोग ने पत्रकारों को अपनी स्थिति से सचेत कर दिया। उन्होंने भी अपने आर्थिक और व्यावसायिक हितों की रखवाली के लिए मजदूर-संघता का सहारा लेने का निश्चय किया।

श्रमजीवी पत्रकारों के संघटन में १९४२ में संयुक्त प्रांतीय पत्रकार सम्मेलन (U. P. Press Conference) की स्थापना को एक महत्त्वपूर्ण सोपान माना जाएगा। इसी प्रकार बंबई के पत्रकार संघ (Journalists' Association) की समिति ने पत्रकारों के संगठित होने पर बल और विभिन्न प्रदेशों में संघ बनाने का सुझाव दिया जो आगे चलकर अपना एक अखिल भारतीय संघ बना सकें। इस पत्रकार संघ ने १९४७ में एक मजदूर संघ का रूप धारण कर लिया। संक्षेप में, देश भर में श्रमजीवी पत्रकार संघ बनाने की आवाज सुनायी देने लगी।

उक्त मजदूर संघ के निर्माण का, कुछ पत्रकारों ने विरोध भी किया। उनका कहना था कि कारखाने के मजदूरों या हाथ की मेहनत करने वाले कामगारों की श्रेणी में पत्रकारों को नहीं रखना चाहिए क्योंकि पत्रकारिता तो जीवन की एक प्रेरणात्मक चीज है। जिन लोगों ने यह विरोध किया वे धनवान् पत्रकार थे। इसलिए उनके तर्क नक्कारखाने में तूती की आवाज से अधिक सिद्ध नहीं हुए। फिर भी विरोध का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़े बिना कैसे रह सकता था!

१९५० में भारत भर के पत्रकारों के मजदूर संघों तथा अ-श्रमिक संघों ने भारतीय श्रमजीवी पत्रकार संघ की संस्थापना में योगदान किया। इस संघ में विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के पत्रकार हैं; किंतु वे सब निष्पक्ष रूप से काम करते हैं। यद्यपि पत्रकार संघ केंद्रीय मजदूर संघी संगठनों से हाथ खींचे रहता है फिर भी श्रमजीवियों के सामान्य हितों की रक्षा के लिए जहां तक आवश्यक है वह उक्त संगठनों को सहयोग देने के लिए सदा तैयार मिलेगा।

पत्रकारों ने मुद्रणालयों के अन्य कर्मचारियों की तुलना में अपना संगठन बहुत देर से आरंभ किया। किंतु वे एक क्षेत्र में उनसे कहीं आगे हैं। यद्यपि

देश के विभिन्न भागों में मुद्रणालय-कामगारों के प्रादेशिक और सांस्थानिक संघों की भरमार है फिर भी उनका कोई अखिल भारतीय या राज्य-व्यापी संगठन नहीं है। प्रायः मुद्रणालय-कर्मचारियों के संगठनों में आपस में नोंकझोंक रहती है जिसकी पीठ पर बहुधा उनके नेताओं की राजनीतिक दल-बंदी की भावना काम करती है। श्रमजीवी पत्रकार संघ शिल्पगत आधार पर प्रादेशिक संघों की उपयोगिता में विश्वास करता है; किंतु वह उद्योग के अन्य कामगारों के संघों को सहयोग देने से पीछे पग नहीं हटाता है। अन्य उद्योगों की भांति, यदि पत्र-उद्योग में कामगारों के हितों की रक्षा करना अभीष्ट है तो ब्रिटिश प्रिंटिंग एंड किंड्रेड ट्रेड फेडरेशन जैसा कोई संगठन बनाना होगा जिससे इस उद्योग के विभिन्न अंगों के विभिन्न संघों को आबद्ध किया जा सके। इस प्रकार के संगठन से ही पत्र-उद्योग की व्यवस्था में कामगारों को अपना समुचित और प्रभावशाली भाग मिल सकता है।

अपने चार वर्ष के जीवन-काल में भारतीय श्रमजीवी पत्रकार संघ (Federation of Working Journalists) पर कम वज्रपात नहीं हुए हैं। उसे मालिकों के विरोध का तगड़ा मुकाबला करना पड़ रहा है और उसके कितने ही कर्मचारियों को अपनी जीविका से हाथ धोना पड़ा है। जब पत्रकारों ने अपने झगड़े निपटाने के लिए राज्य के कानून की शरण ली तब उन्हें ज्ञात हुआ कि वे सामूहिक रूप से, अपनी शिकायतें दूर कराने के लिए, आंदोलन नहीं कर सकते क्योंकि वे न तो मेहनतकश मजदूर हैं और न लिपिक (क्लर्क) हैं। उनका काम बौद्धिक और पर्यवेक्षणात्मक है। इससे श्रमजीवी पत्रकारों की आंखें खुल गयीं। उन्होंने अपनी इस दुरवस्था के निवारण के लिए देशव्यापी आंदोलन किया। तब सरकार ने औद्योगिक झगड़ा अधिनियम में संशोधन किया और वह अप्रैल १९५५ से पत्रकारों पर लागू हुआ।

श्रमजीवी पत्रकार संघ की एक बड़ी सफलता यह थी कि भारत सरकार को एक पत्रकार आयोग (प्रेस-कमीशन) नियुक्त करना पड़ा। इस आयोग ने जांच करके एक विशद-प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें श्रमजीवी पत्रकारों की कार्यावस्थाओं पर ही प्रकाश नहीं डाला गया बल्कि पत्रों के औद्योगिक स्वरूप की छानबीन करके उसमें सुधार का अभिस्ताव भी किया गया, जो प्रत्येक लोकतंत्रीय समाज में सार्वजनिक सेवा के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपकरण बन सकता है। इस प्रतिवेदन में पत्रों पर एकाधिपत्य, आदि के खतरे के बारे में जो चेतावनी दी गयी है वह इतनी सारगर्भित है कि समाजवादी ढंग के लोक-मंगलकारी राज्य की स्थापना के लिए वचनबद्ध कोई भी सरकार उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती।

सरकार ने श्रमजीवी पत्रकार अधिनियम (Working Journalists'

Act) १९५५ पास कर दिया। इसमें एक विशेष अनुबंध यह था कि सरकार श्रमजीवी पत्रकारों के वेतनों की दरें नियत करने के लिए एक वेतन-बोर्ड नियुक्त करेगी। इसलिए मई १९५६ में भारत सरकार ने श्री एच० वी० दिवातिया की अध्यक्षता में, वेतन-बोर्ड स्थापित किया। उस बोर्ड ने मई १९५७ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करके यह सिफारिश की कि इस क्षेत्र में कर्मचारी मंडल की निम्नतम श्रेणी के सदस्य का वेतन भी, भत्ता छोड़कर ९० रु० मासिक से किसी तरह कम न होना चाहिए। मासिक महंगाई भत्ता ३० रु० से लेकर २०० रु० तक निर्धारित किया गया। उसने यह भी सिफारिश की कि श्रमजीवी पत्रकारों का वेतन-मान शिला-पद्धति (विसृप-पद्धति) से ठीक कर दिया जाए। उन्हें प्रत्येक तीन वर्षों की सेवा के लिए उक्त पद्धति से वेतन-वृद्धि दी जाए और ये वृद्धि पांच बार से अधिक न दी जाए। वेतन-निर्धारित करने की दृष्टि से वेतन-बोर्ड ने समाचारपत्रों को उनकी आय के आधार पर A, B, C, D और E श्रेणियों में बांट दिया। इस वेतन-बोर्ड ने यह भी स्पष्ट कह दिया कि उसके निर्णयों का संशोधन करने के लिए तीन वर्ष बाद एक दूसरा वेतन-बोर्ड नियुक्त किया जाए। इस दूसरे वेतन-बोर्ड की नियुक्ति पांच वर्ष के आगे न टाली जाए। वेतन-बोर्ड ने गुटों के वर्गीकरण, बहु-घटकों तथा शृंखलाओं, असल और वेतन-मान, महंगाई भत्ते, आंशिक समय देकर काम करने वाले संवाददाताओं को रखने और उनके वेतन तथा निर्णयों के कार्यान्विय की तारीख के फैसले बहुमत के अनुसमर्थन से किये थे। इन फैसलों में मालिकों के प्रतिनिधियों ने अपने मत विरोध में दिये थे।

अन्य अनाबद्ध संघ—जिन चार केंद्रीय संगठनों का वर्णन ऊपर हो चुका है उनको छोड़कर ऐसे अनेक संघ हैं जो न तो उक्त संगठनों से आबद्ध हैं और न पंजीबद्ध ही हैं। इसलिए यद्यपि अ. भा. बैंक कर्मचारी संघ (All India Bank Employees' Association) एक अखिल भारतीय संगठन है फिर भी वह किसी केंद्रीय संस्था से आबद्ध नहीं। राष्ट्रीय भारतीय रेलवे कर्मचारी संघ (National Federation of Indian Railwaymen), अखिल भारतीय बंदरगाह और गोदी कर्मचारी संघ (All India Port and Dock Workers' Federation), राष्ट्रीय डाक-तार कर्मचारी संघ (National Federation of Posts and Telegraph Workers) तथा अखिल भारतीय खान कामगार संघ (All India Mines Workers' Federation) की गिनती भी इसी कोटि में होती है। इस प्रसंग में यह बताना आवश्यक होगा कि इन संगठनों के अनेक मजदूर संघ उक्त चार केंद्रीय संगठनों में किसी-न-किसी संगठन से आबद्ध हैं। इन संघों में सबसे शक्तिशाली फेडरेशन (संघ) राष्ट्रीय भारतीय रेल कर्मचारी संघ है

जिसकी स्थापना अखिल भारतीय रेलवे कर्मचारी संघ तथा भारतीय राष्ट्रीय रेल कर्मचारी संघ (Indian Railwaymen's Federation) के आपसी विलय के कारण १९५३ में हुई थी। किंतु इस विलय से कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि उनके अंतवर्ती मजदूर संघों में प्रतिस्पर्धा चलती ही रही। एकाएक १९५५ में उनके मतभेदों की यह खाई इतनी चौड़ी हो गयी कि उन्होंने अपने अधिवेशन अलग-अलग किये। फिर भी दोनों गुटों तथा मजदूर संघों के हित-चिंतकों के प्रयत्नों से आगे चलकर उनमें एकता स्थापित करने का राजीनामा हो गया। यद्यपि दोनों गुट अपने-अपने ढंग से विलय का सुझाव दे रहे थे फिर भी विलय का प्रयास सफल न हो सका। निदान, नवंबर १९५७ में अ. भा. रेलवे कर्मचारी संघ (All India Railwaymen's Federation) ने दोनों फेडरेशनों में एकता करने की चेष्टा की। फिर एक एकता सम्मेलन हुआ जिसमें दोनों फेडरेशनों ने एकता का सूत्र स्वीकार कर लिया।

कामगारों की नीति—केंद्रीय संगठनों में आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण मजदूर संघों की संख्या और उनके सदस्यों की संख्या में बढ़ोतरी हो चली। एक ही उद्योग और संस्थान में कई-कई श्रमिक संघ बन गये जिससे उनकी संख्या में बाढ़-सी आ गयी। इस स्थिति को देखकर यह कैसे दावा किया जा सकता है कि श्रमिक आंदोलन की शक्ति दिन-पर-दिन बढ़ रही थी। इस आंदोलन की एक बड़ी दुर्बलता यह थी कि उस पर राजनीतिक दलों का प्रभाव छा रहा था।

इस अवधि में कामगार-वर्ग अपनी सामाजिक-आर्थिक दशाएं सुधारने के लिए अधिक सतर्क हो गया। उसके विचार से उसका कल्याण न्यायिक निर्णय-तंत्र द्वारा ही संभव था जिसकी स्थापना सरकार कर चुकी थी। इस बाहरी व्यवस्था की शरण लेना कोई कठिन काम न था। जब कोई औद्योगिक झगड़ा उठता था तब सरकार इस मामले को इस तंत्र के पास भेज देती थी। वास्तव में, कामगारों को अधिकरणों (Tribunals) के पंचाटों के रूप में कुछ राहतें मिलती रही हैं। फिर भी न्यायिक निर्णय (Adjudication) की ओर ताकने की प्रवृत्ति ने श्रमिक-आंदोलन को कम ठेस नहीं पहुंचायी है।

मालिकों की नीति—इस काल में मालिकों की नीति में भी हेरफेर हुई। आंदोलन के विरुद्ध उनकी कड़ाई में नरमी आ चली। उनमें से कुछ जान गये कि श्रमिक-आन्दोलन के पांव टिके रहेंगे और उद्योगों के संचालन में मजदूर संघों के स्थान की उपेक्षा बहुत दिनों तक नहीं की जा सकती है। कुछ मालिकों को छोड़कर, अन्य कोई भी मजदूर संघों या कामगारों के साथ समझौते की बातचीत और सामूहिक भाव-ताव की नीति में विश्वास करने को तैयार न

था। इसके कारण थे मजदूर संघ आंदोलन की भीतरी फूट, और अनिवार्य न्यायिक निर्णय की पद्धति।

सरकार की नीति—इस अवधि में, श्रम-संबंधी मामलों के निपटारे में सरकार की नीति में भी परिवर्तन दिखायी देगा। लोकतंत्रीय देश में, जहां प्रत्येक वयस्क को मतदान का अधिकार मिला हुआ है, कोई सरकार उस श्रमिक-वर्ग के वैध अधिकारों की उपेक्षा कैसे कर सकती है जिसनें एक विकट संघर्षात्मक शक्ति प्राप्त कर ली है? सरकार ने युद्धकाल में श्रम के मामलों के विषय में एक राजकीय आयोग (Royal Commission on Labour) नियुक्त किया था जिसने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कर दी थीं। लोकतंत्रीय सरकार के लिए इन सिफारिशों को टालना या लटकाये रखना संभव न था। इसलिए उसको उन्हें कार्यपरिणत करना पड़ा। भारतीय संविधान के निर्देशात्मक सिद्धांतों ने भी इस संबंध में सरकार पर भारी दायित्व थोप दिया था।

श्रमिक विधान की रचना—इन घटनाओं ने सरकार को श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए प्रशासकीय और वैधानिक पग उठाने को विवश कर दिया। इस अवधि में जो महत्त्वपूर्ण शुभ-कानून बने उनमें औद्योगिक झगड़ा अधिनियम (Industrial Dispute Act) १९४७, कोयला खनक कल्याण कोष अधिनियम (Coal Mines Welfare Fund Act) १९४६, फैक्टरी अधिनियम (Factories Act) १९४८, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (Employees State Insurance Act) १९४८, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (Minimum Wages Act) १९४८, चाय उद्यान* अधिनियम (Plantation Act) १९५१, भारतीय खान अधिनियम (Indian Mines Act) १९५१, राज्य दूकान तथा संस्थान अधिनियम (State Shop & Establishment Act) और संचित निधि (प्रावीडेंट फंड) अधिनियम १९५२ (जो १९५३, १९५६, १९५८ में संशोधित हुआ) के नाम उल्लेखनीय हैं।

त्रिदलीय समितियां—इस समय सरकार ने भारतीय श्रम सम्मेलन तथा उसकी स्थायी समिति के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के नमूने की अनेक त्रिदलीय औद्योगिक समितियां नियुक्त कर दीं। केंद्र में एक द्विपक्षीय सम्मिलित परामर्शदाता मंडल स्थापित किया गया जो सामान्य श्रम-संबंधी समस्याओं पर विचार कर सके। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के कुछ समझौतों को स्वीकार कर लिया गया। इस समय सरकार ने पंचवर्षीय योजनाएं बनायीं। श्रम की नीतियों और कार्यक्रमों के संबंध में उक्त योजनाओं में विशेष ध्यान दिया गया

* इसमें चाय, कहवा, रबड़, आदि के उद्यान सम्मिलित हैं।

है। आशा है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना श्रमिक-वर्ग को काफी राहत देने में सफल होगी।

सामाजिक-आर्थिक दशाओं में परिवर्तन—इस अवधि में, कामगारों की सामाजिक-आर्थिक दशाओं में कुछ हद तक सुधार हुआ। कामगार अपने अधिकार के प्रति अधिक जागरूक हो गये। फिर भी, अभी उन्हें अपने उत्तरदायित्व को अच्छी तरह समझाना है। मजदूर संघों और उनके सदस्यों की संख्या में बढ़ोतरी अवश्य हुई है किंतु केंद्रीय मजदूर संघी संगठनों में फूट की जड़ें और गहरी धंस गयी हैं। इस अवधि में, राजनीति का पंजा अन्य किसी समय की अपेक्षा मजदूर संघ आंदोलन पर अधिक गहरा गड़ गया।

चारों केंद्रीय संगठनों का तुलनात्मक अध्ययन

उद्देश्य और लक्ष्य—इस समय भारत में चार केन्द्रीय अखिल भारतीय मजदूर संघी संगठन हैं जिनके नाम हैं—भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Indian National Trade Union Congress), अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (All India Trade Union Congress), हिंद मजदूर सभा तथा संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस (United Trade Union Congress)। यद्यपि इन चारों का सामान्य ध्येय एक ही है अर्थात् वे कामगारों के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हितों की उन्नति में लगे हुए हैं, फिर भी राजनीतिक दृष्टि से उनके सिद्धांतों में मौलिक अंतर है।

भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इनटक) की संस्थापना मई १९४७ में हुई थी। इसका उद्देश्य एक ऐसे समाज की रचना करना है जिसमें उसका प्रत्येक सदस्य व्यक्तिगत रूप से अपनी सर्वतोमुखी उन्नति करने के लिए समस्त बाधाओं से मुक्त हो; जिसमें मानवीय व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का द्वार खुला हुआ हो और जिसमें सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शोषण और असमानता को दिन-पर-दिन मिटाने का अथक प्रयास किया गया हो। आर्थिक कार्यकलाप और सामाजिक संघटन में शोषण की नीति तथा किसी भी रूप में असामाजिक शक्ति का केंद्रीयकरण वर्जित है। यह इन तथा अन्य उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उद्योगों पर राष्ट्रीय स्वामित्व तथा नियंत्रण स्थापित करने तथा उनकी व्यवस्था में कामगारों को अधिकाधिक तथा अंततोगत्वा पूर्ण भाग देने का अनुरोध करता है। फिर भी वह इस दिशा में उग्र कदम उठाने के पक्ष में नहीं है। वह इन सुधारों को लोकतंत्रीय और शांतिपूर्ण ढंग से धीरे-धीरे कार्य-परिणत करना चाहता है।

हिंद मजदूर सभा की स्थापना १९४८ में हुई। इसका उद्देश्य एक

लोकतंत्रीय समाजवादी समाज की रचना करना है। अपने इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए, वह प्रत्येक विधि-विहित, शांतिपूर्ण और लोकतंत्रीय तरीके को अमल में लाने के लिए उद्यत है। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा हिंद मजदूर सभा दोनों ने अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिए लोकतंत्रीय साधन अपनाने की ठान ली है।

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की संस्थापना १९२० में हुई। अब उस पर कम्युनिस्ट छा गये हैं। इसका उद्देश्य देश में एक समाजवादी राज्य की स्थापना करना है (हिंद मजदूर सभा का ध्येय लोकतंत्रीय समाजवादी समाज है); और उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के साधनों का राष्ट्रीकरण तथा समाजीकरण करना है। उसका कहना है कि समाजवादी ढांचे में श्रम और पूंजी दोनों का तालमेल नहीं बैठाया जा सकता; और मजदूर संघ वर्ग-संघर्ष का हथियार है। अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस अधिक उग्रवादी है तथा भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इनटक) की भांति बेलाग-लपेट अहिंसा में विश्वास नहीं करती है।

संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस दिसम्बर १९४८ में अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलग हो गयी थी। उसका उद्देश्य एक मजदूर संघ आंदोलन का सूत्रपात करना और राजनीतिक दलों के प्रभाव से बचने वाले श्रमिकों का एक केंद्रीय मंच स्थापित करना है।

नेतृत्व—इस समय अखिल भारतीय संगठनों का नेतृत्व श्रमिक-वर्ग के नेताओं के हाथ में न होकर प्रायः राजनीतिक दलों के नेताओं के हाथ में है। इसका कारण भारतीय श्रमिकों का अपना पिछड़ापन है। सच्चे मजदूर संघी नेताओं के अभाव में, अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करने के लिए राजनीतिक दलों ने उन पर अपना पंजा जमा रखा है। मजदूर संघों पर इतना गहरा राजनीतिक रंग चढ़ा हुआ है कि उसका प्रभाव उनके अंतर्राष्ट्रीय चोले पर भी पड़ रहा है और इस प्रकार भारतीय मजदूर संघ आंदोलन में फूट का डंका बज रहा है। उदाहरण के लिए, भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस और हिंद मजदूर सभा अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र ट्रेड यूनियन महासंघ (International Confederation of Free Trade Unions) से आबद्ध हैं जिसका अनुसमर्थन मुख्य रूप से आंग्ल-अमरीकी गुट करता है जबकि अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस विश्व ट्रेड यूनियन संघ (World Federation of Trade Unions) से आबद्ध है जिसकी पीठ पर कम्युनिस्ट गुट का हाथ है।

यद्यपि उक्त चार राष्ट्रीय संगठन भारतीय मजदूर संघ आंदोलन पर हावी हैं फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है कि देश के सभी मजदूर संघ उनके अंतर्गत आ गये हैं और उनके पीछे-पीछे चलते हैं। कितने ही छोटे-छोटे मजदूर संघ

उनके पास तक नहीं फटकते और कितने ही मजदूर संघ यद्यपि वे समय-समय पर इस या उस कांग्रेस को सहयोग देते आ रहे हैं फिर भी अपना पृथक अस्तित्व रखना ही पसंद करते हैं। अहमदाबाद कपड़ा मिल मजदूर संघ (Ahmedabad Textile Labour Association) जैसी संस्थाएं तो इतनी प्रभावशाली हैं कि राष्ट्रीय श्रमिक केंद्र तक प्रायः उन्हीं के इंगित पर नाचता है। यही बात राष्ट्रीय भारतीय रेल कर्मचारी संघ के क्षेत्रीय प्रभाव के बारे में भी कही जा सकती है। यद्यपि केंद्र के साथ इनका संपर्क एक कच्चे धागे से बंधा हुआ है फिर भी यह महत्त्वपूर्ण है।

कार्यकलाप—अखिल भारतीय संगठनों के कार्यकलाप को मोटे तौर से निम्न दो भागों में बांटा जा सकता है :

(१) संगठन की कार्यकुशलता की शैली से संबंधित कार्य।

(२) संगठन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए क्षेत्र-सेवा।

द्वितीय श्रेणी के अंतर्गत जो कार्यकलाप आते हैं उनमें केंद्रीय सरकार के साथ सहयोग करना सबसे महत्त्वपूर्ण है। श्रम-समस्याओं का हल निकालने, विदेशों के साथ संपर्क जोड़ने, अनुसंधान तथा प्रकाशन के कार्य करने के लिए यह सहयोग जरूरी है :

भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस विभिन्न क्षेत्रों में सरकार को सहयोग देती आ रही है। कामगारों को निठल्ले बैठाने की हानिपूर्ति उद्योगों की वैज्ञानिक व्यवस्था करने की नीति तथा पंचवर्षीय योजनाओं में श्रम-संबंधी व्यवस्था के बारे में यह सहयोग दिया जाता रहा है। इस उद्देश्य से भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इनटक) को केंद्रीय उद्योग परामर्शदाता परिषद् (Central Advisory Council of Industries), न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के अंतर्गत स्थापित सलाहकार बोर्ड, उद्योग समितियों (Industrial Committees), आदि केंद्रीय सरकार की संस्थाओं में प्रतिनिधित्व मिलता रहा है। जहां विदेशों से संपर्क का संबंध है उस क्रम में अखिल चीन ट्रेड यूनियन संघ (All-China Federation of Trade Unions) के निमंत्रण पर एक पांच-सदस्यीय ट्रेड यूनियन शिष्टमंडल चीन गया था; तथा केन्या के पंजीबद्ध ट्रेड यूनियन संघ का एक द्विसदस्यीय शिष्टमंडल भारत आया था। चीन का एक मजदूर संघी प्रतिनिधिमंडल भा. रा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इनटक) के दिल्ली के प्रधान कार्यालय में पधारा था और उसने यहां अनेक समस्याओं पर विचार-विनिमय किया था। अप्रैल १९५६ में, अमेरिका के मजदूर-नेता श्री वाल्टर र्‍यूथेर भा. रा. ट्रे. यू. कांग्रेस (इनटक) के विशेष निमंत्रण पर भारत आये थे। चारसूत्री कार्यक्रम के अंतर्गत प्रशिक्षण-सुविधाओं

का लाभ उठाने के लिए जो द्विदलीय छह-सदस्यीय टोली अमेरिका गयी थी उसके तीन सदस्य भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के लोग थे। अनुसंधान और प्रकाशन की श्रेणी में "इंडियन वर्कर" (Indian Worker) तथा अन्य पत्रिकाओं का नाम लिया जा सकता है। प्रधान कार्यालय में एक अनुसंधान विभाग भी खुल गया है।

भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की भांति ही हिंद मजदूर सभा श्रम-नीति के निर्धारण में सरकार को सहयोग देती आ रही है। इस संबंध में, उसे केंद्रीय न्यूनतम वेतन मंडल, कर्मचारी राज्य बीमा निगम, केंद्रीय कर्मचारी प्रॉवीडेंट फंड ट्रस्टी बोर्ड तथा अन्य औद्योगिक समितियों में प्रतिनिधित्व मिलता रहा है। अखिल चीन मजदूर संघ के न्योते पर हिंद मजदूर सभा ने १९५२ और १९५३ के दोनों वर्षों में छह-सदस्यीय शिष्टमंडल चीन भेजे थे। इन शिष्टमंडलों ने अखिल चीन मजदूर संघ के वार्षिक सम्मेलनों में भाग लिया और बाद में तीन सप्ताह तक चीन में भ्रमण किया था। हिंद मजदूर सभा के अधिकारियों को संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति संघ (यूनेस्को) ने चारसूत्री कार्यक्रम और कोलंबो-योजना के अंतर्गत बाहरी क्षेत्रों में जाकर श्रम-संघता की शिक्षा ग्रहण करने के लिए छात्रवृत्तियां प्रदान की थीं। सभा का प्रधान कार्यालय "हिंद मजदूर" नामक एक द्विमासिक पत्रिका प्रकाशित करता है, किंतु उससे आबद्धित संघ दसप त्रिकाएं—पांच अंग्रेजी में चार मराठी में और एक उर्दू में निकालते हैं।

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस और संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस का सरकार द्वारा निर्मित अनेक त्रिदलीय अभिकरणों से संबंध है। मजदूर संघी नेताओं को प्रशिक्षण देने के लिए अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने अगस्त-सितंबर १९५३ में एक द्विसाप्ताहिक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम की व्यवस्था की थी। यह "ट्रेड यूनियन रिकार्ड" नामक एक पाक्षिक पत्रिका निकलती है। इसके कुछ आबद्धित संघ भी पत्रिकाएं प्रकाशित करते हैं।

प्रशासन—यद्यपि, दूसरे महासमर के बाद और इन्हीं पिछले कुछ वर्षों में, इस देश में मजदूर संघों की संख्या और सदस्यता में पर्याप्त वृद्धि हुई है फिर भी उनकी कार्यप्रणाली या संघटन में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है। देश के मजदूर संगठनों में तीन बातें खटकती हैं:

(१) छोटे-छोटे मजदूर संघों का बोलबाला; इनमें तीन-चौथाई संघों में प्रत्येक की सदस्यता ५०० से भी कम है।

(२) छोटे होने के कारण उनकी दुर्बल आर्थिक स्थिति तथा शुल्क की कम दरें।

(३) पूरे समय (पूर्णकालिक) कार्य करने वाले वैतनिक अधिकारियों की कमी।

ऊपर लिखी बुराइयां बहुत दिनों से चली आ रही हैं। यदि उनको दूर करने की कोशिश नहीं की जाती है तो वे आंदोलन की प्रगति में रोड़े अटकाये बिना नहीं रहेंगी।

आबद्ध संघ और सदस्यता—चारों अखिल भारतीय संगठनों के अपने-अपने आबद्ध मजदूर संघ है; और सदस्य-संख्या का जो दावा १९५१, १९५२ और १९५३ के वित्तीय वर्षों में किया गया है उसके आंकड़े सारणी नं. १* में दिये गये हैं।

विभिन्न उद्योगों में प्रतिनिधित्व—सारणी नं. २ में विभिन्न उद्योगों में उक्त चारों अखिल-भारतीय संगठनों से जो मजदूर संघ आबद्ध हैं और उनकी जो सदस्य-संख्याएं हैं उनके प्रामाणिक आंकड़े दिये गये हैं।

विभिन्न राज्यों में प्रतिनिधित्व—सारणी नं. ३ में उक्त चारों अ. भा. संगठनों की विभिन्न उद्योगों में क्या स्थिति है, उसके आंकड़े दिये गये हैं।

आय—सारणी नं. ४ में उक्त चार संगठनों में से तीन की आय के साधन और वितरण के प्रतिशत आंकड़े दिये गये हैं। संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस के आंकड़े अभी उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

सारणी नं. ४ से स्पष्ट है कि अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस की आय का मुख्य स्रोत शुल्क, दान और चंदा है। भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस और हिंद मजदूर सभा को अपने आबद्ध संघों से जो शुल्क मिलता है वही उसकी मुख्य आय है। निष्कर्ष यह है कि सभी संगठनों की आर्थिक दशा खराब है।

व्यय—सारणी नं. ५ में उनके व्यय का विवरण भी स्पष्ट रूप से दिया गया है।

भारत में मजदूर संघ आंदोलन का भविष्य

वर्तमान दुर्बलता—भारत में मजदूर संघ आंदोलन (श्रमिक संघता) के भविष्य पर चर्चा करते हुए, सबसे पहले यहां यह कहना ठीक ही होगा कि शोषण और अमानवीय अवस्थाओं से बचाव की सबसे प्रभावशाली, टिकाऊ तरकीब यही है कि श्रमिक-वर्ग अधिक से अधिक संगठित हो जाएं।

---

* १–५ सारणियां पृष्ठ ४६–५३ पर देखिए।

लोकतंत्रीय ढंग से संगठित मजदूर संघ आंदोलन शोषण से पर्याप्त सुरक्षित रह सकता है। कामगारों को यह जानना चाहिए कि वे अपनी सुरक्षा के लिए सदा सरकार अथवा बाहरी अभिकरणों पर निर्भर नहीं रह सकते और न कोई दूसरा उनके लिए उनका काम कर जाएगा। उन्हें तो अपने-आप अपनी सुरक्षा का मार्ग प्रशस्त करना होगा। यद्यपि इस दिशा में, आरंभ में, बाहरी सहायता ली जा सकती है किंतु अंत में उसे अपने पैरों खड़ा होना चाहिए। विधान से, निःसंदेह, स्थिति पर अंकुश लग जाता है जिससे उसका मन-माना दुरुपयोग नहीं होने पाता, फिर भी विधान एक सीमा तक ही सहायक होता है।

श्रम-अवस्थाएं—दुर्भाग्यवश, भारत के स्वाधीन होने पर भी, श्रम की अवस्थाएं पिछड़ी हुई हैं। मजदूरी कम है, काम के घंटे अधिक हैं, रिहायशी मकानों की तंगी है, और शिक्षा, मनोरंजन तथा कल्याण की सुविधाएं कम हैं। भारतीय संविधान के निदेशात्मक सिद्धांतों में काम के अधिकार तथा जीवन के अधिकार की विशेष रूप से गारंटी दी गयी है जो व्यक्ति को मृत्यु के मुख से बचा सके। किंतु इनको अभी प्रभावशाली ढंग से कार्यपरिणत करना है। कोरे सिद्धांतों से काम नहीं चलेगा। यदि कामगार राजनीतिक स्वतंत्रता का आर्थिक फल नहीं चख सकते हैं तो ऊपर बताये-गये सिद्धांत उनके लिए अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होंगे। उदाहरण के लिए, कामगारों को संघ बनाने की छूट होनी चाहिए; उनकी कार्यावस्थाएं ऐसी होनी चाहिए कि उन्हें बुढ़ापे बीमारी और बेरोजगारी में आर्थिक तंगी न सताने पाए। सुखद जीवन के लिए आवश्यक बातों की गारंटी होनी चाहिए; अर्थात् उनके जीवन के लिए निःशुल्क शिक्षा, अच्छे आवास, काम के अपेक्षाकृत कम घंटे, स्वास्थ्य और सुरक्षा तथा अन्य उपयोगी बातें आवश्यक हैं।

प्रबल मजदूर-संघों के संगठन की आवश्यकता—मजदूर संघ आंदोलन की उपयोगिता इसी में है कि वह मजदूरों की दशा में सुधार करे। उसमें सुधार की जितनी अधिक क्षमता होगी उतना ही अधिक उसका महत्त्व होगा। सामूहिक सौदाकारी के सिद्धांत की दृष्टि से कर्मचारियों के हितों की रक्षा वे मजदूर संघ ही अच्छी तरह कर सकते हैं जिनमें मालिकों से टक्कर लेने की शक्ति पैदा हो गयी हो क्योंकि समझौते की मेज के दोनों ओर समान शक्तिशाली पक्ष होने पर ही बातचीत भले प्रकार से होती है। श्रमिकों की हित-रक्षा तथा उद्योगों का उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रबल मजदूर संघ आंदोलन आवश्यक है। यदि भारत में मजदूर संघ आंदोलन संगठित होकर प्रबल रूप धारण नहीं कर लेता तो भारत में पूर्ण समाजवादी लोकतंत्र के आधार पर राष्ट्रीय ढांचा मजबूती से खड़ा नहीं हो सकेगा। देश की वर्तमान आकांक्षाओं

और आदर्शों के बावजूद दृढ़ मजदूर संघ आंदोलन के न होने पर श्रमिक-वर्ग के मौलिक अधिकारों की रक्षा करना कठिन है।

यद्यपि विगत दो दशकों में देश के मजदूर संघ आंदोलन में काफी प्रगति हुई है फिर भी यहां श्रमिक-संघता अपने शैशव काल में है। औद्योगिक लोक-तंत्र की सुरक्षा के लिए प्रबल संघता आवश्यक है। किंतु इस दिशा में अभी एक लंबा मार्ग पार करना है। आज देश में श्रमिक-संघटन की प्रगति में राजनीतिक प्रतिस्पर्धा, साधनों का अभाव, कामगारों की आपसी फूट तथा संघों की बहुलता रोड़े अटका रही है। जिन कुछेक शक्तिशाली श्रमिक-संगठनों ने परंपराओं का परिपालन करते हुए इस देश में श्रमिक-आंदोलन को कलंकित होने से बचाया है उनको छोड़कर अन्य संघ अभी पीछे ही लड़खड़ा रहे हैं; और उक्त दोषों से अछूते नहीं हैं। इस शोचनीय स्थिति के बहुत-से कारण हैं किंतु एक बात साफ है कि मजदूर संघों और औद्योगिक संबंधों के बारे में जब कानून बने थे तब परिस्थितियां बिल्कुल भिन्न थीं। इसलिए अब उनमें संशो-धन करना नितांत आवश्यक है।

एकता की आवश्यकता—इस बात को यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि केवल कानून के बल से देश में मजदूर संघ आंदोलन प्रबल रूप से नहीं पनप सकता है। कानून आंदोलन की प्रगति में सहायता दे सकता और उसकी आंतरिक शक्ति को अंकुरित कर सकता है; किंतु अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आंदोलन की एकता आवश्यक है। इसलिए विभिन्न आबद्ध संघों को मिलकर एक सामान्य कार्यक्रम प्रस्तुत करना चाहिए जिससे उनकी कार्यपद्धतियों, ध्येयों और हलचलों की अनुरूपता सामने आ जाए।

भारत के इतिहास में देश की स्वाधीनता और गणतंत्र की स्थापना से एक नया युग आरंभ हो गया है। इस अवसर पर यदि कामगारों में फूट पड़ी रहती है तो उससे श्रमिक-वर्ग के संगठनों की प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचे बिना न रहेगा। इसलिए मजदूर संघ आंदोलन के लोकतंत्रीय आदर्शों में विश्वास रखने वाले सभी कामगारों को मिलकर एक केंद्रीय संगठन बनाना चाहिए जो साधि-कार रूप से उनकी मांगों को प्रस्तुत कर सके। यदि इस प्रकार की संयुक्त संस्था स्थापित हो गयी तो उससे कामगारों को सदा लाभ पहुंचता रहेगा और अंत में, देश में औद्योगिक शांति कायम हो सकेगी। देश के आर्थिक मामलों में सरकार अधिकाधिक भाग लेती जा रही है। इस दशा में कामगारों की एक ऐसी केंद्रीय संस्था होनी चाहिए जो औद्योगिक श्रम-नीति पर श्रमिकों के दृष्टिकोण को सरकार के सामने प्रस्तुत कर सके। इसलिए भारत में मजदूर संघ आंदोलन को संगठित करने की आवश्यकता है।

राजनीतिक प्रभाव से मुक्ति—भारत में मजदूर संघ आंदोलन की स्वस्थ

प्रगति में जो बाधाएं आ रही हैं उनको एक बलिष्ठ केंद्रीय संगठन की स्थापना द्वारा दूर किया जा सकता है। इस समय संघों की नकेल प्राय: राजनीतिक नेताओं के हाथ में है। राजनीतिक दल अपना-अपना उल्लू सीधा करने में जुटे होने के कारण मजदूर संघ आंदोलन की ओर ध्यान कहां दे सकते हैं? अब समय आ गया है जबकि कामगारों की आंखें खुल गयी हैं और वे समझ गये हैं कि उन्हें दलगत राजनीति के शतरंज का मोहरा न बनना चाहिए। उन्हें तो आदि से अंत तक अपने हितों और स्वार्थों की रक्षा पर ध्यान देना चाहिए। मजदूर संघी नेताओं और दलीय नेताओं को भी चाहिए कि वे कामगारों को उनके बीच फूट डालने वाली राजनीति से अलग रखें ताकि देश में श्रमिक संघता की सच्ची प्रवृत्ति पनप सके।

उक्त विचारों का उद्देश्य राजनीतिक नेताओं पर किसी प्रकार का प्रहार करना नहीं है। नि:संशय उन्होंने देश के मजदूर संघ आंदोलन का पथप्रदर्शन किया है। अन्य किसी देश की अपेक्षा इस देश में राजनीतिक नेताओं ने मजदूर संघ आंदोलन का अधिक परिपोषण किया है। इसका कारण यह है कि भारत कुछ वर्षों पहले तक पराधीन रहा था और प्रत्येक कामगार या पूंजीपति, प्रत्येक किसान या जमींदार, प्रत्येक व्यापारी या सामान्य जन की यही इच्छा थी कि वे सब मिलकर सबसे पहले देश को स्वाधीन कराएं। अब उस प्रभुसत्ता-संपन्न गणतंत्र की नींव मजबूती से पड़ चुकी है और श्रमिक-वर्ग के व्यापक आर्थिक हितों पर ध्यान देने का समय आ गया है। देखना है कि कहीं श्रमिक संघता अवांछनीय राजनीति के दलदल में न फंस जाए।

जाति-पांत—एक अन्य सोचने-योग्य बात यह है कि कभी-कभी मजदूर संघों की रचना में जाति-पांत की बू देखने को मिलती है। इसका मुख्य दोष विदेशी शासन को है। अन्य देशों में जो वर्ग-चेतना देखने को मिलती है वैसी भारतीय मजदूर संघ आंदोलन में नहीं है। किंतु भारत में जाति-पांत की भावना अधिक है जिससे समाज में व्यावसायिक श्रेणियां बन गयी हैं। श्रमिक संघता के विकट शत्रु हैं सांप्रदायिकता और जातिवाद। धर्म को मजदूर संघों की रचना में कभी नहीं ठूंसना चाहिए। इस देश के प्रत्येक व्यक्ति को धर्म या आस्था का प्रश्न अपना व्यक्तिगत प्रश्न मानना चाहिए। जहां समझाने-बुझाने से काम नहीं चले वहां कानून का सहारा लेना चाहिए। चाहे किसी कामगार का कोई धर्म, जाति या रूप-रंग क्यों न हो, औद्योगिक क्षेत्र में सबसे पहले वह एक कामगार है—श्रमजीवी है। इसके बाद ही यह कहा जा सकता है कि वह हिंदू, मुसलमान, सिख, पारसी या ईसाई है।

एक उद्योग में एक मजदूर संघ—ब्रिटेन तथा अन्य देशों में मजदूर संघ प्राय: शिल्पिक आधार पर चलते हैं। एक उद्योग में भी कई संघ बन जाते हैं

किंतु ये विभिन्न शिल्पों के आधार पर बनते हैं। उदाहरण के लिए, एक-ही उद्योग में ड्राइवर, कारीगर, बिजली-वाले आदि अलग-अलग संघ बना सकते हैं, इस प्रकार के मजदूर संघों (यूनियन) में कुछ दोष होते हैं। इस दशा में जब कभी सीधे संघर्ष का भय होता है तब उद्योगपति या पूंजीपति या मालिक संघों को आपस में भिड़ाने की चेष्टा करते हैं। आरंभ में ब्रिटेन में भी कुशल और अनसीखे कर्मचारियों में भेद-भाव रहता था जिससे विभिन्न वर्गों में वैमनस्य पैदा हो गया था।

किंतु भारत में संघों की प्रारंभिक रचना में न तो शिल्पकला को ही बढ़ावा दिया गया और न वर्ग-आधार को ही। भारत में संघ प्रायः इस हिसाब से बने कि एक औद्योगिक इकाई में या एक उद्योग में एक ही संघ होना चाहिए। फिर भी एक उद्योग में एक संघ का आदर्श फलीभूत नहीं हो सका है। एक ही उद्योग में अनेक संघों की उपस्थिति से आपस में प्रतिस्पर्धा चल पड़ती है और उससे श्रमिक-आंदोलन को घातक चोट पहुंचती है। इससे सामूहिक सौदाकारी की शक्ति का ह्रास होता है और कामगार अपने वैध अधिकार पाने में सफल नहीं होता है। यदि कोई मजदूर संघ किसी विशेष मामले पर मालिकों से समझौता कर लेता है और दूसरे वैसा नहीं करते हैं तो एक नया संघर्ष छिड़ जाता है। इसलिए एक उद्योग में एक ही संघ होना चाहिए।

मालिकों और सरकार को यह समझ लेना चाहिए कि मजदूर संघ बने रहेंगे और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिए उनका होना आवश्यक है। कामगारों की परिवेदनाओं और मांगों को मजदूर संघ ही पेश कर सकते हैं; और औद्योगिक शांति मालिकों और कामगारों के संगठनों के आपसी समझौतों पर ही निर्भर है। यदि एक उद्योग में एक ही मजदूर संघ होने का सिद्धांत पूरी तरह से स्वीकार करके व्यवहार में लाया जाए तो इस बारे में आपसी सद्भावना की गुंजाइश बढ़ जाएगी।

मजदूर संघों को मान्यता—मजदूर संघों को मान्यता देने की समस्या विवादास्पद बनी रही है। १९३१ में ही, राजकीय श्रम आयोग (Royal Commission on Labour) ने अपना मत प्रकट करते हुए लिखा था कि मजदूर संघों को मान्यता देना "एक बड़ी बात हो सकती है; यह बिल्कुल मामूली बात भी हो सकती है।" उसने यह भी जोरदार शब्दों में कहा था कि "संघों में कर्मचारियों का कम संख्या में शरीक होने का बहाना लेकर उनको मान्यता न देना ठीक बात न होगी। इसी प्रकार दो या इससे अधिक प्रतिद्वंद्वी संघों का होना इस बात का पर्याप्त आधार उपस्थित नहीं करता है कि उनमें से किसी एक को अथवा उन सबको मान्यता न दी जाए। सब कर्मचारियों को चाहिए कि वे अपने सामान्य हित को सामने रखकर एक ही संघ में सम्मि-

लित हो जाएं। इसीमें उनकी भलाई है। किंतु इस बात पर उन्हें स्वयं विचार करना होगा कि वे क्या करें। मालिकों को उसमें टांग अड़ाने की जरूरत नहीं है।" प्रायः मालिक यह बहाना लेकर संघों को मान्यता देने से इन्कार कर देते हैं कि उनकी पीठ पर कामगारों का बहुमत नहीं है। इसका नतीजा यह होता है कि संघों में आपस में चल जाती है और वे एक-दूसरे के सदस्यों की तोड़-फोड़ में लग जाते हैं और कितने ही टेढ़े-मेड़े तरीकों से अपनी सदस्यता बढ़ाने लगते हैं।

भारतीय मजदूर संघ अधिनियम (Indian Trade Unions Act) १९२६ द्वारा संघों के पंजीकरण की व्यवस्था की गयी है। लेकिन उसमें मालिकों द्वारा मान्यता का कोई विधान नहीं है। यद्यपि १९४७ में इस अधिनियम को संशोधित करके, कुछ शर्तें पूरी होने पर, मालिक के लिए संघ को मान्यता देना आवश्यक कर दिया गया था; किंतु तबसे यह संशोधन ही लागू नहीं किया गया है। बंबई औद्योगिक झगड़ा अधिनियम (Bombay Industrial Disputes Act) १९३८ ने यह व्यवस्था कर दी कि यदि किसी संघ में संबंधित उद्योग या व्यवसाय के २५ प्र. श. कामगार सम्मिलित हैं तो उसको मान्यता मिल जाएगी। बंबई औद्योगिक संपर्क कानून (Bombay Industrial Relations Act) १९४६ ने मजदूर संघों की तीन मुख्य श्रेणियां बना दी हैं अर्थात् प्रतिनिध्यात्मक (representative) संघ; योग्यता-प्राप्त (qualified) संघ; तथा प्रारंभिक (primary) संघ। इस अधिनियम द्वारा "स्वीकृत" (approved) संघों की एक नयी श्रेणी बन गयी है। इन संघों ने कुछ उत्तरदायित्व उठा रखा है और बदले में, उन्हें कुछ अधिकार मिले हुए हैं। इन उत्तरदायित्वों में मुख्य उत्तरदायित्व यह है कि वे सुलह (conciliation) के प्रयास के विफल होने पर अपने झगड़े विवाचन (arbitration) के लिए प्रस्तुत करेंगे; और जब तक अधिनियम के सारे अनुबंध निःशेष न हो जाएंगे तथा जब तक उनका बहुमत हड़ताल के पक्ष में वोट न देगा तब तक वे हड़ताल नहीं करेंगे।

पंद्रहवां त्रिदलीय श्रम सम्मेलन मई १९५८ में नैनीताल में हुआ था। इसमें मजदूर संघों की मान्यता के प्रश्न पर विचार हुआ था। इसने मान्यता के लिए निम्नांकित सूत्र-संहिता बनायी थी :

१. जहां एक से अधिक संघ मान्यता के लिए दावा करते हों वहां यह देखना होगा कि संघ को पंजीकरण के बाद काम करते हुए कम-से-कम एक वर्ष हो चुका है या नहीं। जहां केवल एक ही संघ होगा वहां यह नियम न माना जाएगा।

सारणी नं. १

केंद्रीय मजदूर संघी संगठन की सदस्यता के आंकड़े

(१९५१-५२-५३)

संगठन	१९५१		१९५२		१९५३	
	आबद्ध सघ	सदस्य-संख्या	आबद्ध संघ	सदस्य-संख्या	आबद्ध संघ	सदस्य-संख्या
भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन काग्रेस (Indian National Trade Union Congress)	१,२३२	१५,४८,५६८	९१३	१२,६८,६०८*	१,०४४	१३,७५,७८२
अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (All India Trade Union Congress)	७३६	७,५८,३१४	...	...	१,०४४	७,३३,८३६
हिंद मजदूर सभा	५१७	८,०४,३३७	५७४	८,०४,४९४	३३१	४,९२,३६२
संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस (United Trade Union Congress)	३३२	३,८४,९६२	२०१	२,३३,२९२	४०७	४,१९,३६४

* ये आंकड़े १ अप्रेल १९५२ के है।

सारणी नं. १ (अवशिष्ट भाग)

(१९५४-५५)

संगठन	१९५४		१९५५	
	आबद्ध संघ	सदस्य-संख्या	आबद्ध संघ	सदस्य-संख्या
भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस	५८७	९,१९,२५८	६०६	८,८८,२९१
अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस	२२०	३,७३,४५९	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध
हिंद मजदूर सभा	३३४	२,१०,९१४	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध
संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस	१५४	१,२९,२४२	१६९	१,६३,९९७
योग	१,२९५	१६,३२,८७३	...	...

सारणी नं. २

आबद्ध संघ तथा केंद्रीय मजदूर संघी संगठनों की सदस्य-संख्या

(विभिन्न उद्योगों में प्रमाणित आंकड़ों का विवरण)

उद्योग	भा. रा. ट्रे. यू. कांग्रेस (इनटक)		अ. भा. ट्रे. यू. कांग्रेस		सं. ट्रे. यू. कांग्रेस		हिं. म. सभा	
	संघ	सदस्य	संघ	सदस्य	संघ	सदस्य	संघ	सदस्य
टैक्सटाइल	१०४	३,२२,६८१	७८	६९,०३३	१२	३२,७४०	२२	५५,२४६
लोहा और इस्पात	६	३६,६२९	७	३,०४१	...	...	८	१२,९५६
धात्विक व्यवसाय	१३	१२,८१८	११	२,१४२	...	...	...	...
इंजीनियरिंग	६०	२६,०५९	७४	३८,३५७	३८	७,६१८	१०	३,१४८
परिवहन	५४	१,२३,६६२	४५	२१,५९२	३३	७६,१६९	१२	३१,८५१
बाग	२५	१,६५,३३१	१५	२७,५६४	६	४,५६५	२	१,१६०
खनन (Mining)	१८	८०,५९९	१६	३०,०६२	३	४७,९३	९	३७,६८८
उत्खनन (Quarrying)	२	२,९६५	...	...	...	...	२	५३०
कृषि	२	५९०	६	७६३	...	...	१	११८
चीनी	६१	४२,७६१	४	२,१८२	...	...	१६	१४,५७३
सीमेंट	१९	१२,९८५	४	४,३२६	...	...	८	७,४०९

म ४

रासायन	३२	१६,२८७	११	३,५४७	...	...	८	७३,०५
भवन-निर्माण, नागरिक इंजीनियरिंग तथा सार्वजनिक निर्माण-कार्य	९	४,३०३	१०	८,३२९	...	...	४	९८४
खाद्य और पेय	४५	१३,२३१	...	...	३५	९,६१०	६	८,१०७
तंबाकू	...	...	३२	१३,१२७	...	...	३	८४२
चर्मसंस्करणी तथा चर्मवस्तु-उत्पादक	५	८९३	७	९,१७२	...	...	२	६८१
कागज और कागजी सामान	६	१,७७१	४	१,९७०	८	१०,२०१	५	७,३८६
छपाई और प्रकाशन	१०	२,१५३	१५	४,२६५	२३	४,४०३	...	...
स्थानीय निकाय	२२	५,९९८	२७	६,७५०	...	...	१३	८,७३७
कांच तथा चीनी के बर्तन-भांडे	१५	७,३६३	१७	७,७६३	९	७,३३८	१	५८४
पेट्रोलियम	...	...	१	५,४०८	...	...	...	...
वेतन पाने वाले कर्मचारी और व्यावसायिक कामगार	६७	३९,०४०	९	१,११७	...	...	२२	१०,९९५
वैयक्तिक सेवाएं	१०	२,००४	९	५,९७४	६१	३७,८०५	३	१,०१५
विविध	१९	११,८४५	७९	४०,४७८	...	...	...	...
योग	६०४	९,३१,९६८	४८१	३,०६,९६३	२२८	१,९५,२४२	१५७	२,११,३१५

विभिन्न राज्यों में केंद्रीय मजदूर संघों संगठनों की शक्ति

(राज्यगत प्रमाणित आंकड़ों का विवरण)

राज्य	भा. रा. म. यू. कांग्रेस (इनटक)		अ. भा. म. यू. कांग्रेस		यू. ट्रे. यू. कांग्रेस		हिं. म. सभा	
	संघ	सदस्य	संघ	सदस्य	संघ	सदस्य	संघ	सदस्य
आंध्र	७	३,९४५	३१	१४,२९७	...	...	१	१८०
असम	२०	१,६५,२३२	७	१,८९३	३	३४२	...	...
बिहार	५१	१,००,७४०	३०	२१,४९१	४९	१८,५१२	३१	६०,४८०
बंबई	८४	२,२४,८८३	२७	२४,४७२	१४	८,५९५	३६	५६,५१३
मध्यप्रदेश	१९	२१,०५३	६	१,६८३	४	३१५	१	३५०
मद्रास	५०	२८९९१	८५	३६,१७२	२३	३,६४९	१६	२५,९७२
उड़ीसा	११	१२,६६३	११	३,३२३	...	...	६	४,२३२
पंजाब	२४	११६३२	१७	७,५५९	...	...	३	४७७
उत्तरप्रदेश	११७	४७,६१३	१८	६,६२४	२१	४,०४४	१६	७,१८४
प. बंगाल	१२५	२,४३,४०५	१७४	१,१७,५२१	८४	१,२३५	२२	२५,६२०
हैदराबाद	१२	३,७३१	१७	२०,५६९	२	८०	१२	८,५१४

जम्मू और काश्मीर	१	१,००८	...	...	...	...	...	...
मध्यभारत	१३	२५,४३७	२	१,९८७	...	...	...	...
मैसूर	१०	१४,०००	६	५,२४७	...	...	...	...
पैप्सु (PEPSU)	४	१,४७३	...	...	...	...	...	...
राजस्थान	६	४,२५८	८	३,७६९	...	...	...	...
सौराष्ट्र	२६	९,१३५	३	३,११०	१	२७९	२	५३१
तिरुवांकुर-कोचीन	५	२,१०४	२७	२२,५६०	१९	१२,५८१	...	...
अजमेर	४	२,७१६	...	...	...	...	१	८४
भोपाल	४	१८०	३	२,८३७	...	...	...	...
कुर्ग	...	...	...	...	...	...	...	...
दिल्ली	११	६,७१७	९	११,८३१	८	२३,२९०	७	२०,३८९
हिमाचल प्रदेश	२	३०५	...	...	...	...	...	...
कच्छ	१	७४७	...	...	...	...	...	...
मनीपुर	...	...	...	...	...	...	...	...
त्रिपुरा	...	...	...	...	...	...	...	...
विंध्यप्रदेश	...	...	...	...	...	...	१	१९८
योग (अखिल भारतीय)	६०४	९,३१,९६८	४८१	३,०६,९६३	२२८	१,९५,२४२	१५७	२,११,३१५

सारिणी नं. ४

केंद्रीय मजदूर संघी संगठनों के स्रोतों से आय

(उक्त आय का प्रतिशतक फैलाव)

	प्रारंभिक रोकड़	आबद्धीकरण शुल्क	प्रतिनिधि-शुल्क	चंदा, दान और संग्रहण	विविध	कुल आय
भारतीय राष्ट्रीय मजदूर यूनियन कांग्रेस	०.१	८४.४	१४.४	...	१.१	६२,२८०–४-९
अखिल भारतीय मजदूर यूनियन कांग्रेस	१३.५	३०.१	...	३५.१	१.३	१६,३८५–५-०
हिंद मजदूर सभा	...	७१.९	९.२	९.८	९.१	६,०६६–९-०

सारणी नं. ५

केंद्रीय मजदूर संघी संगठनों के व्यय के विषय

(विभिन्न विषयों पर व्यय का प्रतिशतक फैलाव)

संगठन	अधिकारियों के वेतन, भत्ते तथा अन्य व्यय	संस्थानों पर व्यय	लेखा परीक्षकों का पुरस्कार	शिक्षा	आर्थिक सहायता और दान	प्रकाशन और छपाई का व्यय	अन्य व्यय	कुल व्यय
भारतीय राष्ट्रीय मजदूर यूनियन कांग्रेस*	९.१	५४.७	०.२	...	...	१३.५	२२.५	६६.२८०
अखिल भारतीय मजदूर यूनियन कांग्रेस†	४४.१	२०.९	...	१.६	४.८	२२.१	६.५	१५.५६९
हिंद मजदूर सभा‡	४२.२	१७.३	...	...	...	३६.०	४.५	४.१९०

* १९५४ के आंकड़े † १९५३ के आंकड़े ‡ १९५२ के आंकड़े

(संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस के आंकड़े अब तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं)

२. संबंधित संस्थान के कामगारों की कम-से-कम १५ प्र. श. संख्या को उसकी सदस्यता प्राप्त होनी चाहिए ।
३. कोई मजदूर संघ एक क्षेत्र के किसी उद्योग का प्रतिनिध्यात्मक संघ तब माना जा सकता है जबकि उस क्षेत्र के उक्त उद्योग के कम-से-कम २५ प्र. श. कामगार उसके सदस्य हों ।
४. जब किसी संघ को मान्यता प्रदान कर दी जाय तब दो वर्ष तक उसकी स्थिति में कोई हेरफेर न करनी चाहिए ।
५. जहां किसी उद्योग या संस्थान में अनेक संघ हों वहां सबसे अधिक सदस्य-संख्या वाले संघ को मान्यता देनी चाहिए ।
६. किसी क्षेत्र के उद्योग के प्रतिनिध्यात्मक संघ को उस उद्योग के सब संस्थानों के कामगारों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार होना चाहिए । किंतु, यदि किसी संस्थान के ५० प्र. श. कामगारों ने अपना कोई संघ बना लिया है तो उसे विशुद्ध स्थानीय हितों के मामलों को निबटाने का अधिकार होगा ।
७. प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप के सत्यापन की कार्यवाही अधिक सरल कर देनी चाहिए । जहां विभिन्न पक्ष विभागीय तंत्र द्वारा निर्धारित सत्यापन के परिणाम को स्वीकार करने में आनाकानी करें, वहां सभी केंद्रीय मजदूर संघी संगठनों के प्रतिनिधियों की एक समिति को उक्त काम सौंप देना चाहिए और वह यह झगड़ा निपटा देगी । इस स्थिति में जिन केंद्रीय मजदूर संघी संगठनों की स्थायी समिति बनेगी वे विभिन्न क्षेत्रों के लिए आदमी देंगे और आवश्यक धन-राशि जुटाएंगे । यह व्यवस्था विफल होने पर, सारा मामला एक स्वतंत्र न्यायालयीय निर्णय पर छोड़ देना चाहिए ।
८. जो संघ अनुशासन-संहिता का परिशीलन करेंगे उन्हीं को मान्यता दी जाएगी ।
९. जो मजदूर संघी फेडरेशन किसी केंद्रीय श्रम संगठन से आबद्ध नहीं हैं उनके प्रश्न पर अलग से विचार होना चाहिए ।

कामगारों के जिन केंद्रीय संगठनों ने सम्मेलन में भाग लिया था उन्होने संघों (यूनियनों) के आपसी संबंधों को मधुर रखने के लिए एक आचार-संहिता पर सोच-विचार किया और निम्नांकित सिद्धांतों की रचना की :

१. किसी भी उद्योग अथवा इकाई के प्रत्येक कर्मचारी को अपनी रुचि के अनुसार किसी भी संघ में प्रविष्ट करने का अधिकार तथा स्वतंत्रता होगी ।
२. संघ की दोहरी सदस्यता संभव नहीं होगी । प्रतिनिध्यात्मक संघों के

संबंध में यह स्वीकार किया गया कि इस सिद्धांत की और अधिक छानबीन की जाए।

३. मजदूर संघ बेरोकटोक लोकतंत्रीय कार्यप्रणाली अपनाएंगे और उसका आदर करेंगे।
४. मजदूर संघों की कार्यसमितियों तथा पदाधिकारियों का चुनाव नियमित लोकतंत्रीय ढंग से होगा।
५. किसी भी संगठन द्वारा कामगारों की अनभिज्ञता तथा पिछड़ेपन का अनुचित लाभ न उठाया जाएगा। कोई भी संगठन ज्यादती-भरी तथा ऊटपटांग मांगें नहीं करेगा।
६. जाति-पांति के ढकोसले को और सांप्रदायिकता तथा प्रांतीयता को मजदूर संघों से कोसों दूर रखा जाएगा।
७. संघों के आपसी व्यवहार में हिंसा, दबाव, धमकी या वैयक्तिक आक्षेपों को जगह न दी जाएगी।

कामगार किसी संघ के सदस्य क्यों न हों, उन्हें जानना चाहिए कि उनके संघ को मान्यता देने का अभिप्राय यह नहीं है कि मालिक उन पर कोई कृपा कर रहे हैं या उन पर अपनी छाया का कोई वितान फैला रहे हैं। यदि किसी उद्योग अथवा उसकी इकाई के संघ की सदस्यता काफी है और उसके पास अपने अनुसमर्थकों के बल का प्रमाण है तथा वह लोकतंत्रीय मजदूर संघता के सिद्धांतों द्वारा समझौते की बातचीत करके कामगारों की समुचित और न्यायपूर्ण बातें मनवाने में समर्थ है तो मालिकों से उसे मान्यता मिले बिना नहीं रह सकती। यदि औद्योगिक व्यवस्थापक ऐसा नहीं करते तो वह दिन दूर नहीं होगा जबकि औद्योगिक अशांति पैदा हो जाएगी जिससे उन्हें हानि के सिवा और क्या मिल सकता है?

इसमें संदेह नहीं है कि बंबई औद्योगिक संपर्क अधिनियम १९४६ द्वारा मान्यता की समस्या हल करने का प्रयास किया गया है। किंतु अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इससे "एक उद्योग का एक ही संघ हो" का सिद्धांत मूर्तिमान हो सकेगा या नहीं।

किसी कानून का उद्देश्य अच्छे-से-अच्छा हो सकता है किंतु फिर भी ऐसा देखने में आता है कि उससे संघों की आपसी प्रतिस्पर्धा को अनुत्साह नहीं मिल सकता। अनुभव से मालूम हुआ है कि अतीत में विभिन्न संघों ने इस दिशा में जो तरीके अपनाये हैं वे न तो बेलाग हैं और न विधि-विहित ही। इसके अति-रिक्त, जिन संघों को स्वीकार नहीं किया गया है और मान्यता प्राप्त नहीं है वे मान्यता-प्राप्त संघों तथा उनके द्वारा किये-गये समझौतों को बदनाम करने की घात में रहते हैं। इसलिए कामगारों को यह बताने का अवसर ही नहीं मिलता

है कि "एक उद्योग का एक संघ" बनना चाहिए। मजदूरों की समुचित मांगों की पीठ पर किसी ऐसे ही संघ का हाथ होना आवश्यक है।

बंबई अधिनियम के अनुबंधों में "एक उद्योग में एक संघ" का ध्येय वरण करने की जो व्यवस्था की गयी है उससे बेहतर कोई और भी तरीका हो सकता है, इस पर यह विचार करना अप्रासंगिक और दुःसाहस मात्र होगा।

उक्त आदर्श की प्राप्ति के लिए फिलहाल इतना ही करना काफी होगा कि सरकार मुख्य श्रम आयुक्त (Chief Labour Commissioner) को केंद्रीय अंचल के उद्योगों के संघों की वास्तविक सदस्य-संख्या तथा प्रतिनिधि-संख्या की पूरी तरह छानबीन करने का अधिकार दे दे। इसके बाद, प्रत्येक संघ के सदस्यों की संख्या उनकी स्वीकृति लेकर एक पंजी में अंकित कर ली जाए। फिर विभिन्न संघ मुख्य श्रम आयुक्त या उससे अधिकार-प्राप्त किसी भी व्यक्ति की देखरेख में गुप्त मतदान तथा एकमात्र परिवर्तनीय आनुपातिक मत द्वारा प्रतिनिधियों का चुनाव करें ताकि इससे जो सभा निर्वाचित हो उसमें सभी संघों और हितों के प्रतिनिधियों को स्थान मिल सके। इस सभा को उद्योगों के संपूर्ण श्रमिक-वर्ग के निहित स्वार्थों तथा मजदूरों के काम के घंटों, सेवा की शर्तों और वैज्ञानिकन, आदि के मूल प्रश्नों पर विचार करने का काम सौंपा जाए। यह सभा मालिकों के साथ बराबरी के दर्जे पर बातचीत करने में समर्थ होगी। इसी प्रकार, विभिन्न राज्यों के श्रम आयुक्तों को अपने-अपने प्रभाववर्ती क्षेत्रों के उद्योगों के बारे में कार्यवाही करने का भार सौंप देना चाहिए।

इस शताब्दी के तीसरे दशक में अखिल भारतीय रेलवे कर्मचारी संघ का कुछ और ही स्वरूप था। उसे फिर वर्तमान ढांचे में ढाला गया जिससे विभिन्न राजनीतिक निष्ठाओं के विभिन्न संघों को भी एक साथ मिलकर खड़े होने का अवसर मिल गया। अब वे जब रेलवे प्रशासन से अपने समझौते की बातचीत करते हैं तब वे समस्त रेल-व्यवस्था के समस्त कामगारों को अपना ही समझते हैं।

आचार संहिता की स्वीकृति से स्पष्ट हो जाता है कि केंद्रीय संगठनों में किस प्रकार का आपसी समझौता हो गया है और वे सही दिशा में बढ़ने लगे हैं। निदान, यह जानना चाहिए कि यह प्रयास तभी फलीभूत हो सकता है जबकि केंद्रीय संगठन अपने-अपने आबद्ध संघों पर अपने कर्त्तव्य पालन के लिए प्रभाव डालने का दृढ़ संकल्प कर लें।

यदि किसी उद्योग के विभिन्न संघ समझ-बूझकर इस प्रकार का एक आपसी आधार स्वीकार कर लें तो इस नयी संस्था की उपयोगिता पर मालिक अपने-आप भरोसा करने लगेंगे और वे बिना किसी हिचकिचाहट के, उसे मान्यता प्रदान कर देंगे। इसके अतिरिक्त, यदि यह संगठन सांविधानिक तथा लोकतंत्रीय ढंग से काम करने लगे तो वह दिन दूर नहीं होगा जबकि कामगार

एक ही संघ में संगठित होने की अच्छाई समझ जाएंगे और संघ धीरे-धीरे अपने पृथक्-पृथक् अस्तित्वों को स्वेच्छापूर्वक तिलांजलि देकर एक संघ बना लेंगे।

अनुग्रह-कोष (Benefit Funds)—यदि संघों का काम परिवेदनाओं अथवा शिकायतों को प्रस्तुत करने तक ही सीमित होगा तो जब वे दूर हो जाएंगी तब उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाएगी। जिन देशों में मजदूर संघ पहले आरंभ हुए उनका इस दिशा में यही अनुभव रहा है। भारत में, जहां कामगारों को निर्वाह-मजदूरी कठिनाई से मिलती है, उनका अनुभव इससे भी अधिक कड़वा है। यहां संघों के सदस्य संघों का शुल्क भी नियमित रूप से देने में असमर्थ रहते हैं। यदि संघ अपने सदस्यों को रोग, बेरोजगारी, मृत्यु, सेवा-निवृत्ति आदि की अवस्थाओं में कुछ अनुग्रह-धन दे सकें तो उनकी सदस्यता दृढ़ हो सकती है।

अहमदाबाद के कपड़ा मजदूर संघ की ऐसी योजना है। उसकी ६० से ७० प्रतिशत आय सामाजिक कल्याण के कार्यों पर व्यय होती है, जिनमें दुर्घटनाओं के लिए हानि-पूर्ति, चिकित्सा-संबंधी सहायता, शिक्षा, मितव्ययता और मादक-द्रव्य-त्याग का कार्य भी सम्मिलित है। इन कार्यों ने उक्त संघ की उपयोगिता, शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि की है।

हड़ताल-कोष—मजदूर संघों को हड़ताल-कोष की व्यवस्था करनी चाहिए, इस विषय पर सभी एकमत हैं किंतु भारत में संघों के पास कोई उल्लेखनीय हड़ताल-कोष न होने पर भी हड़तालें की जाती हैं। भारतीय कामगारों की गृहणियां धन्य हैं जो हड़ताल के दिनों, दिन में एक बार भोजन करके एक मास का वेतन दो मास तक चलाती रहती हैं। यदि हड़ताल में कामगारों को सर्वसाधारण की सहानुभूति मिल जाए तो उसे क्षेत्रीय जनता से कुछ आर्थिक सहायता मिल जाती है। यदि सिद्धांतों की रक्षा के लिए हड़ताल की जाती है तो विदेशों से मजदूर संघ मदद भेज देते हैं। किंतु यह सब आर्थिक सहायता न-बराबर-सी होती है। घड़े में एक बूंद के समान साबित होती है। कामगार को आत्म-सम्मान और अपने ध्येय के लिए भूखों मरना और कष्ट झेलना पड़ता है। भारत में कितनी ही हड़तालें तीन-चार महीनों तक चली हैं। इस प्रकार का लंबा संघर्ष प्रायः असफल ही हो जाता है। इस दशा में यही बेहतर है कि संघों के पास हड़ताल-कोष का प्रबंध होना चाहिए। ऐसा होने पर मालिक पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा और वह संघ से समझौता करने को उत्सुक होगा और कामगारों को सीधे संघर्ष की शरण न लेनी पड़ेगी।

सामान्य धन—भारत में हड़ताल-कोष की कल्पना कितनी कठिन है जबकि संचालन के लिए ही धन की कमी खटकती रहती है। पीछे चार केंद्रीय संगठनों के आय के स्रोतों तथा व्यय की मदों के जो आंकड़े दिये गये हैं उनसे स्पष्ट है

कि उनकी वित्तीय स्थिति कितनी कमजोर है। इस आर्थिक तंगी के कारण मजदूर संघ आंदोलन दृढ़ नहीं हो पाता है। संघ अपनी सदस्य-संख्या बढ़ाने के लिए सदस्यता-शुल्क कम रखती है और आश्चर्य यह है कि यह अल्प-राशि भी वसूल नहीं हो पाती है। संघ समय रहते शुल्क का भुगतान न करने वाले सदस्यों की सदस्यता समाप्त करने का दुःसाहस नहीं कर सकते हैं क्योंकि उन पर सदस्य-संख्या की कमी का भय सवार रहता है। मजदूर संघ आंदोलन की (श्रमिक-संघता) दृढ़ता के लिए पर्याप्त कोष का संग्रह आवश्यक है और इसके लिए संघों के अपने आंतरिक स्रोत मजबूत होने चाहिएं। तभी श्रम-आंदोलन उन्नति कर सकता है।

शुल्क-संग्रह—कुछ मजदूर-संघियों का कहना है कि प्रत्येक उद्योग में प्रतिगृहीत सदस्यता (Closed Shop)† या प्रतिज्ञात सदस्यता (Union Shop)* के सिद्धांत का प्रचार करना चाहिए अर्थात् प्रत्येक उद्योग के समस्त कर्मचारियों का एक संघ बनना चाहिए और मालिकों की मार्फत वेतन-वितरण करते समय उनके वेतन से अनिवार्यतः उनका शुल्क काट लेना चाहिए। इस ढंग से निःसंदेह संघ का कोष इकट्ठा हो जाएगा और संघ की वित्तीय स्थिति दृढ़ हो जाएगी; और उसमें योग्य और अच्छे वेतन पर कार्यकर्ता नियुक्त किये जा सकते हैं जो मजदूर संघों तथा मालिकों के साथ आवश्यक वित्तीय तथा औद्योगिक प्रश्नों पर घनिष्ट संबंध बनाये रहें। किंतु जो लोग मजदूर संघों की पूर्ण लोकतंत्रीय पद्धति तथा स्वतंत्रता में विश्वास रखते हैं वे इस योजना से सहमत नहीं हो सकते क्योंकि मालिकों या सरकार से जो सहायता या संरक्षण मिलेगा वह बाहरी चीज होगी। इस प्रकार की योजना निराशाजनक होती है। कामगारों को अपने भीतर शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। कोई भी संगठन बाहरी शक्ति के सहारे दृढ़ नहीं हो सकता और न सदा अपने पैरों खड़ा रह सकता है। अपनी आंतरिक शक्ति से ही दृढ़ता आती है और उससे ही सुंदर परिणाम निकलते हैं।

शत-प्रति-शत सदस्यता—किसी यूनियन (संघ) को भीतर से ठोस बनाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक फैक्टरी या उद्योग के शत-प्रति-शत कामगार उसके सदस्य बन जाएं।

---

† मालिक कामगार को अपने कारखाने में तभी काम देता है जबकि वह पहले उस कारखाने के मजदूर संघ का सदस्य बनने की चिट पेश कर दे।

* मालिक कामगर को अपने कारखाने में तभी काम देता है जबकि वह पहले उस कारखाने के मजदूर संघ का सदस्य बनने की प्रतिज्ञा कर दे। उसे इस बारे में संघ की चिट देनी पड़ती है और उसे अपना वचन ३० दिन के भीतर ही पूरा करना पड़ता है।

मांगें प्रस्तुत करने तक ही सीमित न होकर उनमें उत्तरदायित्व और अनुशासन की भावना जागृत करने का भी होना चाहिए। 'अच्छा वेतन और अच्छा काम' की नैतिक भावना उनमें उत्पन्न होनी चाहिए। संघ पहले प्रत्येक कामगार को अपने कर्त्तव्य के प्रति सचेत करें; उसके बाद कहीं उसे अपने अधिकार और विशेषाधिकार का पाठ पढ़ाएं। दूसरे शब्दों में, संघ प्रत्येक कामगार में आत्मविश्वास, सहिष्णुता और सहयोग की भावना पैदा करें। वास्तव में, उस समाज में, जो दृढ़तापूर्वक समाजवाद के पथ पर अग्रसर हो रहा है, और जिसमें कामगारों की उचित मजदूरी तथा अच्छी कार्यावस्थाओं की मांगों पर निरंतर ध्यान दिया जाता है, कामगार को पर्याप्त जिम्मेदारियां भी निबाहनी हैं। उसे उन्हें पूरी तरह समझने और निबाहने का अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहिए।

मंदगति से काम—हड़ताल से काम बुरी तरह ठप्प हो जाता है। किंतु इसके अतिरिक्त काम को क्षति पहुंचाने का एक और नया तरीका निकला है। उसे भी हड़ताल का ही एक अंग माना जा सकता है। यह है *मंदगति से काम करो*। यह "धीरे-चलो" की युक्ति सेवायोजक और कामगार दोनों की दृष्टि से एक गंभीर चीज है। इससे मालिक को उत्पादन की क्षति पहुंचती है। किंतु कामगार की काम करने की आदत बिगड़ जाती है और उसकी कार्य-क्षमता, जो उसकी एकमात्र पूंजी है, क्षीण हो चलती है और यह उक्ति उस पर बूमरिंग का काम कर सकती है। इसलिए जहां अर्थ-व्यवस्था का लक्ष्य विकास करना है वहां उसमें इस घुन को कभी न लगने देना चाहिए। कामगार का हड़ताल करने का अधिकार स्वीकार करना चाहिए किंतु "धीरे-चलो" की दुर्नीति को अनुत्साहित करना ही ठीक होगा।

कामगार और उत्तरदायित्व की भावना—कामगारों को सबसे पहले अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का ज्ञान होना चाहिए। साथ ही उन्हें औद्योगिक ढांचे में समान साझीदार का स्थान प्राप्त होना चाहिए, नकि मजदूरी से पेट-पालने वाले का। उन्हें यह जानने का अवसर मिलना चाहिए कि वे अपना कर्त्तव्य निबाह कर समूची बिरादरी की सेवा कर रहे हैं—वे आधुनिक औद्योगिक ढांचे के कोई गुलाम नहीं हैं बल्कि वे प्रभु-सत्तासंपन्न गणतंत्र के नागरिक और स्वतंत्र व्यक्ति हैं। वास्तव में, किसी समाजवादी समाज की स्थापना एकमात्र धन-व्यवस्था पर अवलंबित नहीं होती है। उसमें तो समाज-सेवा की भावनाओं को वरिष्ठता प्राप्त होती है तथा समाज-सेवा की प्रवृत्ति को डंके की चोट से मान्यता दी जाती है। इस प्रसंग में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कामगार का हृदय इस भावना से निरंतर भरा रहना चाहिए कि वह अपने यथासाध्य श्रम द्वारा एक प्रगतिशील राज्य के निर्माण में हाथ बटा रहा है।

लोकमत—यदि मजदूर संघ दृढ़ व्यापारिक आधार पर खड़े किये गये हैं

और उनके कामगारों को कोरे अपने अधिकारों और विशेष अधिकारों का ही ज्ञान नहीं बल्कि अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों को निबाहने का भी ख्याल है तो लोकमत उनका साथ देता रहेगा। यदि कामगार जनता की सहानुभूति प्राप्त करना जान गये हैं तो उनकी मांगें आधी पूरी हो गयीं, समझ लेना चाहिए। जहां तक उनकी मांगें न्यायपूर्ण और ठीक होंगीं, लोकमत सदा ही सेवायोजकों पर अपना प्रभाव डालता रहेगा। कोई उद्योग, बिना उन उपभोक्ताओं की सहानुभूति के, नहीं चल सकता जो जनता के एक बड़े भाग का निर्माण करते हैं।

मजदूर संघों के लिए लोकमत का सहारा बड़ा ही आवश्यक होता है। यह केवल मालिक के साथ विवाद छिड़ने की दशा में प्रभावशाली नहीं होता बल्कि लोकतंत्रीय आचार के लिए भी अनुपेक्ष्य है। जिस लोकतंत्र की जड़ें—विशेषकर आर्थिक संस्थाएं, दृढ़ नहीं हुई हैं, उसमें कामगार को शोषण-दोहन, अल्प वेतन, तथा असंतोषजनक कार्यावस्थाओं का सामना करना पड़ता है और उनके सिर पर नौकरी छूटने का संकट सदा ही मंडराता रहता है। किंतु लोकतंत्रीय प्रणाली में कामगार अपने संगठन तथा सामूहिक काररवाई द्वारा विषमताओं या असमानताओं को दूर करने की मांग कर सकते हैं। संगठन की स्वतंत्रता तथा सामूहिक सौदाकारी और हड़ताल का अधिकार प्राप्त होने के कारण, वे आर्थिक-व्यवस्था पर प्रभावशाली ढंग से दबाव डाल सकते हैं और धीरे-धीरे उसे अपने अनुकूल बना सकते हैं। वे लोकमत को अपने पक्ष में मोड़कर राज्य द्वारा अपनी दुरवस्थाओं के सुधार के लिए विधि-विधान भी बनवा सकते हैं और अधकचरी आर्थिक व्यवस्था के दुष्परिणामों से अपना बहुत कुछ बचाव कर सकते हैं।

श्रमिक-वर्ग का नेतृत्व—अन्य देशों की भांति भारत में भी मजदूरों को अपने संघ बनाने के लिए बुद्धिमानों ने—तथाकथित "बाहरी लोगों" ने प्रेरित किया और सहायता दी। इसका कारण यह था कि भारतीय श्रमिक अनपढ़ और गरीब था। सामान्य भारतीय कामगार के सिर पर नौकरी छूटने का खतरा सदा मंडराता रहता है। भारतीय श्रमिक की संघों को दृढ़ करने में कम लगन थी और उसमें साहस का अभाव खटकता था। इससे "बाहरी व्यक्ति" को सेवायोजक पर दबाव डालने के लिए अपने क्षेत्रीय प्रभाव का प्रयोग करना पड़ता था। किंतु कर्मचारी लोग संघों के दैनिक कार्य में इन "बाहरी" लोगों को सहायता दिया करते थे।

बाहरी लोगों का योगदान—बाहरी लोगों को मजदूर संघों का पदाधिकारी चुनने के कारण संघों में प्रतिस्पर्धा का प्रादुर्भाव होता है, ऐसा प्रायः कहा जाता है। संभव है कि यह आरोप नितांत असत्य न हो। फिर भी यह तो स्वीकार

ही करना पड़ेगा कि इस देश में मजदूर संघों की रचना में बाहरी लोगों ने प्रशंसनीय योगदान किया है। यदि उनकी सहायता न मिलती तो हमारे सामने आंदोलन का जो रूप आज विद्यमान है वह भी नहीं होता। किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कामगार को बाहरी सहयोग पर अनुचित बल देना चाहिए। यदि वह ऐसा करेगा तो इसका कामगार की संगठन की अपनी वसअत पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

अब कामगारों में नयी शक्ति का उदय हो चुका है। इसलिए बाहरी लोगों का ढर्रा धीरे-धीरे समाप्त हो जाना चाहिए और उसकी जगह भरने के लिए कामगारों को अपने बीच में नेता उत्पन्न करने चाहिए। मालिक भी बाहरी नेतृत्व का अर्थ बढ़ाचढ़ा कर निकालते हैं और संघों को मान्यता न देने में इसी टट्टी की ओट से शिकार खेलने की चेष्टा करते हैं। निदान, अब वह समय आ गया है जबकि बाहरी लोगों की सहायता जैसी बढ़ाचढ़ा कर कही जाती है वैसी लाभकारी नहीं रही है फिर उसे प्रचार का साधन क्यों बनने दिया जाए क्योंकि यह प्रचार संघ-वाद की उन्नति में बाधक बन जाता है। इसलिए सभी मजदूर संघों को समझबूझ से काम लेना चाहिए और अपनी नीति में यथेष्ट संशोधन करके अब कामगारों को ही अपना नेतृत्व करने के लिए ऊपर उठना चाहिए। उन्हीं के हाथों में अपनी बागडोर सौंपनी चाहिए।

प्रायः यह कहा जाता है कि एक कामगार में इतनी क्षमता और सतर्कता कहां जो वह सेवायोजकों के श्रेष्ठ संगठनों और साधनों के विरुद्ध पैर टिका सके? इसलिए उनका नेतृत्व किसी योग्य बाहरी व्यक्ति के हाथ में ही बनाये रखना होगा। यद्यपि यह विचार कुछ दूर तक बाहरी लोगों का संपर्क बनाये रखने को ठीक हो सकता है और एक पीढ़ी तक उनका सहयोग मजदूर संघों की उन्नति के लिए लाभदायक भी रहा है; किंतु कामगार अब स्वयं अपने मामलों को निबटाने में सूझबूझ का परिचय देने लगे हैं। इसलिए उन्हें आगे बढ़ने और अपना बड़ा दायित्व संभालने का अवसर देना होगा। भारतीय गणतंत्र की स्थापना से पहले कुछ कामगारों या भूतपूर्व कामगारों ने विधान-मंडलों में विशेष मजदूर निर्वाचन क्षेत्रों का, योग्यतापूर्वक प्रतिनिधित्व किया था। वे अपने संगठनों के अध्यक्ष थे और उन्होंने निर्भीकतापूर्वक मालिकों से समझौता-वार्ताएं की थीं। इसलिए कामगारों को नेता बनने के लिए प्रोत्साहित करने में किसी प्रकार का खतरा नहीं है।

इसी प्रसंग में यह बताना ठीक होगा कि मजदूर संघों के नेता केवल श्रमिक ही बनें, इस आशय का कानून नहीं बनना चाहिए। यह बात कामगारों पर छोड़ देनी चाहिए कि वे अपनी इच्छा के अनुसार अपने संगठनों की व्यवस्था

करें। यदि इस सिद्धांत को आंखों के सामने रखा जाएगा तो संघों में बाहरी लोगों की नियुक्ति का जटिल प्रश्न अपने-आप हल हो जाएगा।

यद्यपि कामगारों को अपने ही नेता प्रस्तुत करना चाहिए और बाहरी लोगों का हाथ पकड़कर चलने की टेंव छोड़ देनी चाहिए फिर भी इसका अभिप्राय यह नहीं है कि बाहरी लोगों को नेता बनाने से रोका जाए। जब तक श्रमिक वर्ग में प्रचंड नेतृत्व की शक्ति न फूट निकले तब तक उन्हें बाहरी सहायता से वंचित न करना ही ठीक होगा। इस बीच में कामगारों की परंपराओं का निर्माण होगा जिससे बाहरी नेताओं की आवश्यकता का अपने-आप अंत हो जाएगा। जो संघ अभी लड़खड़ा रहे हैं; या नये बने हैं, उनको भी पनपने का समय मिल जाएगा। अभी तक जिन क्षेत्रों में संघ अच्छी तरह नहीं बने हैं उनमें विस्तृत कार्यक्षेत्र सामने पड़ा हुआ है। इसके अतिरिक्त सुसंगठित संघों को कामगारों में आत्मविश्वास की भावना पैदा करने में लगा रहना चाहिए।

मजदूर संघ के कार्य का प्रशिक्षण—मजदूर संघ के कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था से एक बड़ा लाभ यह होगा कि कामगार-वर्ग में नेता उत्पन्न होने की संभावना पैदा हो जाएगी। ओक्सफोर्ड के रस्किन कालेज जैसे श्रम-विद्यालय भारत में जगह-जगह खुलने चाहिए और उनमें शिक्षित युवकों, विशेषकर श्रमिक-वर्ग के लोगों को श्रमिक संघता का प्रशिक्षण देना चाहिए। यद्यपि कलकत्ते में एशियन ट्रेड यूनियन कालेज (एशियाई मजदूर संघ महाविद्यालय) की स्थापना करके उक्त प्रशिक्षण का बीजारोपण हो चुका है; किंतु देश को इस प्रकार की अन्य अनेक संस्थाओं की आवश्यकता है। फरवरी १९५७ में सरकार ने कामगारों की शिक्षा के बारे में एक सर्वांगीण योजना प्रस्तुत करने के लिए एक आठ-सदस्यीय समिति नियुक्त की थी। यह कदम द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की श्रमनीति के अंतर्गत उठाया गया था। उक्त समिति की सिफारिशों के अनुसार, कामगारों को मजदूर संघ के सिद्धांत-दर्शन और प्रबंध-शैली की शिक्षा दी जाएगी ताकि वे उद्योगों में स्थापित होने वाली प्रबंध-परिषदों में सुचारु रूप से भाग ले सकें। जब तक कामगारों की शिक्षा की व्यवस्था के लिए मजदूर संघों, मालिकों तथा सरकारी और शिक्षा-संस्थाओं के प्रतिनिधियों के अर्ध-स्वशासनाधिकारी केंद्रीय बोर्ड बनें तब तक सरकार ने उक्त दल द्वारा प्रस्तावित कार्यक्रम के संचालन के लिए एक त्रिदलीय समिति बना दी है। यह समिति इस कार्यक्रम के प्रथम चरण का कार्यान्वय करेगी। इसके अंतर्गत ६० अध्यापक-प्रशासकों को ६ मास का प्रशिक्षण दिया जाएगा और पहला दल मई ५८ से प्रशिक्षण पाने लगा है। निःसंदेह, यह प्रयास एक सही दिशा में हुआ है। किंतु इस प्रकार की शिक्षा विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम का भी अंग बननी चाहिए ताकि युवक निजी और सरकारी उद्योगों में केवल सुलह

अधिकारी अथवा श्रम-अधिकारी बनने का ही नहीं बल्कि मजदूर संघों में पदाधिकारी बनने का अवसर भी पा सकें। किसी भी मजदूर संघ के लिए युक्ति, सूझबूझ, परिज्ञान और उनसे भी अधिक सही तथ्यों और आंकड़ों की बड़ी आवश्यकता होती है ताकि वे कामगारों के मामलों को सफलतापूर्वक पेश कर सकें तथा कामगारों को श्रमिक संघों का नेतृत्व संभालने के साधन जुटा सकें।

मजदूर संघों के नेताओं का दायित्व—मजदूर संघी नेताओं को सांविधानिक और कानूनी अधिकारों का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जिससे वे कामगारों के हितों की वृद्धि और रक्षा कर सकें। उन्हें श्रम-विधि-विधानों द्वारा दिये-गये विशेषाधिकारों और अधिकारों का भी ज्ञान होना आवश्यक है। कामगार इन अधिकारों से पूरा लाभ उठा सकें, इस दिशा में उनका प्रयास सदा जारी रहना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की सदस्यता ने सरकार और मालिकों पर कामगारों के प्रति अनेक दायित्व डाले हैं। संघों के नेताओं को सतर्क रहना चाहिए ताकि उक्त दोनों पक्ष इन दायित्वों को निबाहते रहें। इन अधिकारों और अवसरों के हनन के लिए जो भी गुप्त या प्रत्यक्ष प्रयास हो, उन्हें उसका विरोध करना चाहिए। स्वतंत्रता की रक्षा के लिए रात-दिन चौकस रहना अनिवार्य होता है और यह बात सामान्य नागरिक की अपेक्षा किसी मजदूर-संघी सदस्य पर अधिक लागू होती है।

मजदूर संघ की शक्ति का स्रोत—मजदूर संघ की शक्ति कोरी उसकी सदस्य-संख्या पर निर्भर न होकर उसकी भाव-ताव करने की क्षमता पर निर्भर होती है, यह शक्ति संघ का संगठन ठोस होने, उसके पास अच्छे नेता और पर्याप्त वित्त होने तथा श्रमिक संघता के सिद्धांतों का पालन करने और श्रमिक-आंदोलन के संचालकों की दृढ़ संकल्प-शक्ति से आती है। मजदूर संघ के प्रत्येक नेता में व्यक्तिगत ईमानदारी, स्वतंत्रता की भावना, धैर्य, विवेक, परिश्रम की रुचि, उत्साह तथा अन्य कुछेक सद्गुण होने चाहिए। यद्यपि ये अधिकांश मानवीय गुण है फिर भी मजदूर-नेताओं को उनका अनुशीलन करना अवश्य जानना चाहिए ताकि उनमें आत्मविश्वास की भावना का उदय हो सके। याद रहे कि बाहरी लोगों का संघों में कम-से-कम प्रवेश होने की दशा में कार्यकर्ताओं की पंक्ति में कितने ही स्थान रिक्त हो जाएंगे। इसलिए इस देश में कामगार-कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।

इसलिए, उन कामगारों के प्रशिक्षण की भरसक चेष्टा करनी चाहिए जो परिश्रमी संगठनकर्ता बन सकते हैं। इस समय इस प्रशिक्षण की केवल संकुचित व्यवस्था हो सकती है। कुछ राज्यों के प्रगतिशील संघों ने उसकी व्यवस्था की है। कुछ राज्यों की सरकारों ने भी योग्य कामगारों को मजदूर संघ आंदोलन

के संबंध में प्रशिक्षण देने की समुचित व्यवस्था की है। इन कार्यकलापों को स्वीकृत केन्द्रों में अधिक प्रोत्साहन देकर और आगे बढ़ाना चाहिए।

मजदूर संघी पत्रिकाएं—संघों के भावी नेताओं तथा कार्मिकों के लिए एक लाभकारी काम यह होगा कि कामगारों के हितों की अनुसमर्थक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित की जाएं। निःसंदेह, मजदूर संघ आंदोलन की प्रभात-बेला में मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रिकाएं प्रकाशित हुई थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में लोखंडे ने "दीनबंधु" नामक पत्र प्रकाशित किया था जो कामगारों के हित का परिपोषक था। किन्तु यह बहुत दिनों तक न चल सका। बाद में इसका नाम "कामगार" रखकर उसको पुनर्जीवित करने की कोशिश की गयी। किन्तु पर्याप्त धन के अभाव में ये पत्रिकाएं बहुत दिनों तक न टिक सकीं। बाद में कुछ अन्य पत्रिकाएं भी निकलीं। किन्तु उनका भी वही अंत हुआ।

कामगारों के लिए जो कोई भी पत्रिका प्रकाशित की जाए उसकी भाषा और शैली इतनी सरल और सुबोध होनी चाहिए ताकि वह श्रमिकों की समझ में भलीभांति आ सके। उसमें प्रकाशित विषयों में कामगारों की रुचि होना जरूरी है। इससे केवल वर्तमान मजदूर संघ आंदोलन को ही लाभ न पहुंचेगा बल्कि इस दिशा में श्रमिक-वर्ग को सीधी सहायता मिलेगी कि उसका अनपढ़-पन और अज्ञान मिट चलेगा।

उपसंहार

दूसरी पंचवर्षीय योजना में भारत के उद्योगीकरण पर बल दिया गया है। इसमें बेरोजगारों की जीविका का प्रबंध करने के लिए १ करोड़ २० लाख स्थानों की कल्पना की गयी है। सरकार ने देश में एक ऐसे कल्याणकारी राज्य की स्थापना का बीड़ा उठाया है जिसकी आर्थिक व्यवस्था को समाजवादी समाज के सांचे पर ढाला जाएगा। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए, कामगारों और मालिकों का आपसी सहयोग आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है। सरकारी (सार्वजनिक) क्षेत्र को निजी क्षेत्रों के लिए यह उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए कि उद्योगों में कामगारों के लिए सुंदर कार्यावस्थाओं, निर्वाह-मजदूरी, आरामदायक आवास, सामाजिक सुरक्षा, नौकरी तथा बेरोजगारी की अवस्था में अनुग्रह-धन, बुढ़ापे में पेंशन, सामाजिक तथा कल्याणकारी सुविधाओं तथा इन सबके द्वारा मूलभूत अधिकारों के उपभोग की व्यवस्था किस प्रकार की जा सकती है। इसके लिए प्रशासकों को श्रमिकों के हितों की चौकसी पर अधिकाधिक ध्यान देना होगा।

उत्तरोत्तर वर्धमान उत्पादन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह नितांत आवश्यक है कि कामगारों को अनुशासनहीनता, हड़ताल और कार्यशिथिलता को अपने

पास न फटकने देना चाहिए, और इसके लिए दृढ़ लोकतंत्रीय मजदूर संघों की रचना आवश्यक है।

वर्तमान युद्धोतरकालिक ब्रिटेन में ब्रिटिश मजदूर संघ सामाजिक व्यवस्था के विरोधी न होकर उसका एक अंग बन गये हैं। सार्वजनिक नीति के प्रत्येक प्रश्न पर उनसे परामर्श लिया जाता है। ब्रिटिश संसद में मजदूर संघों के नेता मिलेंगे और राष्ट्रीकरण के अंतवर्ती उद्योगों के बोर्डों में भी वे दिखायी देंगे। उन्हें निश्चित राजनीतिक अधिकार तथा सुनिश्चित राष्ट्रीय उत्तरदायित्व प्राप्त हैं। यह बात पहले से भी स्पष्ट है कि कामगारों को शिक्षित करना चाहिए और मालिकों को भी सुसंगठित होना चाहिए क्योंकि जब तक उभय पक्ष सुव्यवस्थित न होंगे तब तक राष्ट्रीय सामूहिक सौदाकारी की प्रणाली भलीभांति काम न कर सकेगी। ब्रिटेन के मजदूर संघ आंदोलन ने अपने उत्तरदायित्व को भलीभांति उठा लिया है और अब वहां किसी भी दल की सरकार क्यों न बने, उसे सामाजिक और औद्योगिक नीतियों पर उनकी सलाह लेनी ही होगी। संघों को सूझबूझ की आवश्यकता थी और इस सूझबूझ से उन्होंने प्राधिकार उपार्जित कर लिया है। वे प्रतिरक्षात्मक दृष्टिकोण का परित्याग करके अर्थात् उत्पादन पर सीमित धारणाएं त्याग करके अधिक कार्य और अधिक उत्पादन की ओर झुक पड़े हैं क्योंकि वे जान गये हैं कि इसीसे श्रमिक-वर्ग का भला हो सकता है। भारतीय मजदूर संघ आंदोलन के लिए उक्त ब्रिटिश आदर्श अनुकरणीय और श्रेयस्कर होगा।

अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। अकेला व्यक्ति आजकल अपने हित की रक्षा करने में असमर्थ है। शक्ति संघ में होती है—संगठन और सामूहिक हलचल में होती है। यह सिद्धांत मजदूर संगठनों की रचना की कसौटी पर खरा उतरता है। निःसंदेह, कामगार संघों का संगठन करके, (१) फैक्टरियों बागों अथवा कार्यालयों के व्यक्तिगत मालिकों से, (२) विभिन्न उद्योगों और व्यवसायों में तथा (३) अंततोगत्वा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता और अपनी कार्यव्यवस्थाओं में सुधार करवा सकता है।

अध्याय २

मालिक-मजदूर संबंध

मूल स्रोत और विकास

औद्योगिक लोकतंत्र की संस्थापना और अनुरक्षण में औद्योगिक संबंधों के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। विभिन्न देशों में उनके क्रमिक विकास पर वहां की विद्यमान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति का प्रभाव पड़ा है। इसलिए मालिक-मजदूर (औद्योगिक) सम्बंधों की समस्या का अर्थ समझने के लिए उसके मूल स्रोत और विकास की कहानी जानना आवश्यक होगा।

जब ब्रिटेन तथा अन्य योरोपीय देशों में औद्योगिक विकास अपने शैशव-काल में था तब कामगारों को पीढ़ियों तक अनेक कठिनाइयां और यातनाएं सहनी पड़ीं। इसलिए अन्य देशों में उद्योगीकरण होने पर श्रमिकों, मालिकों और सरकारों ने योरोप के अनुभव से पूरा लाभ उठाया। भारत का उद्योगीकरण तो अभी आरंभ हुआ है और उसे अन्य देशों के अनुभवों का लाभ प्राप्त हो रहा है।

प्रारंभिक फैक्टरी-प्रणाली में श्रमिक की अवस्था—उत्पादन की फैक्टरी-प्रणाली के आरंभिक काल में कामगारों को प्रायः सुलभ पण्य-पदार्थ माना जाता था जिसे जब चाहो तब काम पर बुला लो और जब चाहो तब निकाल दो। आवश्यकता और पूर्ति का सिद्धांत उनके सेवा-संबंधों को स्थिर करता था। मालिक का पंजा ऊंचा रहता था और उनकी मजदूरी और कार्यावस्थाओं के विषय में उसकी मानमानी बातें चलती थीं। यह सौदाकारी की स्वतंत्रता और सेवा-संबंधों को तय करने की स्वच्छंदता धीरे-धीरे बेलगाम बढ़ती गयी जिससे औद्योगिक तथा सामाजिक दोष सिर उठाने लगे। अल्प वेतनों, अधिक काम के घंटों, नौकरी की अस्थिरता, असह्य कार्यावस्थाओं, रिहायशी मकानों में सफाई की कमी, मजदूर संघों के कार्य में भाग लेने के विरुद्ध दमनचक्र, एवं सामान्य सामाजिक तथा आर्थिक अन्याय ने कामगारों पर विपत्तियों के पहाड़ ढाह दिये। मानवीय कल्याण के आशा-केंद्र कहे जाने वाले उद्योग कामगारों की गरीबी, तंगी और मुसीबतों के ठिकाने बन गये।

पहले कामगारों ने सोचा कि उनकी फैक्टरियों की दुरवस्था थोड़े दिनों की बात है जिससे उन्हें जल्दी ही छुटकारा मिल जाएगा। किन्तु जब उन्होंने यह जान लिया कि उनकी मुसीबतों का अंत निकट नहीं है तब उन्होंने अकेले या छोटे-छोटे गुट बनाकर अपनी कार्यावस्थाएं सुधरवाने का प्रयास आरंभ कर दिया। इन प्रयासों का फल भला क्या हो सकता था। उनकी सामूहिक कार्यवाही को मालिक संदेह की निगाह से देखने लगे और कहीं-कहीं उन्होंने उसको कठोरता से कुचल डाला। नेताओं पर दमनचक्र चला—उन्हें नौकरी से निकाल दिया गया। सरकार ने इस ओर से आंख मींच ली—आश्चर्य यह है कि उन दिनों सरकार की नीति उद्योगों में हस्तक्षेप न करने और घटनाओं को आगे बढ़ने की खुली छूट देने की थी।

मालिकों के नानाप्रकार के अत्याचारों से कामगारों में असंतोष बढ़ने लगा जिसने क्रांतिकारी आंदोलन का मार्ग बना दिया। परिस्थितिवश सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा ताकि हालत को अधिक बिगड़ने से शीघ्र बचाया जा सके।

भारत में श्रमिकों की दशा—भारत में औद्योगिक कामगारों को दशकों तक ऊपर बतायी-गयी यातनाएं भोगनी पड़ी हैं। प्रथम महासमर के अंत तक भी भारत में मजदूर संघ आंदोलन की जड़ें गहरी नहीं धंसी थीं। मालिक आंदोलन को आड़े हाथ लेते थे और कामगारों को मजदूर संघों की हलचलों में हाथ बटाने के कारण परेशान करते थे। तत्कालीन सरकार श्रमिकों के प्रति उदासीन थी। उन दिनों मजदूरों के झगड़ों को हल करने के लिए एक ही कानून था और वह था मालिक और कामगार (झगड़ा) अधिनियम, [Employees and Workmen (Dispute) Act] १८६०। इस कानून में मजदूरी-संबंधी झगड़े निबटाने की व्यवस्था थी। इसमें समझौते का उल्लंघन करना कामगारों के लिए एक दंडनीय अपराध था। यह कानून कदाचित् ही कभी प्रयोग में आया होगा।

प्रथम महासमर के बाद—प्रथम महासमर ने कामगारों में नयी रूह फूंक दी। तात्कालीन आर्थिक तंगी और बढ़ गयी। मालिक और कर्मचारी के आपसी संबंधों की धारणा में एक नया मोड़ आ गया। वर्ग-भावना पनप उठी। कामगारों ने हड़ताल के हथियार को उठाया जिसका उत्तर मालिकों ने तालेबंदी से दिया। इस प्रकार औद्योगिक शांति बुरी तरह भंग हो गयी। यद्यपि सरकार ने कुछ कानून बना दिये किंतु उसने मालिक और कामगार के आपसी संबंध सुधारने और झगड़ों को निबटाने में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। हां, जहां हड़तालें लंबी खिंच गयी थीं, वहां जांच-समितियां अवश्य नियुक्त की गयीं। १९२८-२९ में महत्त्वपूर्ण उद्योगों में अनेक हड़तालों और तालेबंदियों

के कारण सरकार को श्रमिक विवाद अधिनियम १९२९ बनाना पड़ा जिसका उद्देश्य झगड़ों का यथाशीघ्र निबटारा करवाना था।

श्रमिक विवाद अधिनियम (Trade Dispute Act) *१९२९*—श्रमिक विवाद अधिनियम १९२९ का प्रेरणा-स्रोत ब्रिटिश इंडस्ट्रियल कोर्ट्स एक्ट १९१९ है। फिर भी उसमें एक चीज की कमी खटकती है: उसमें झगड़ों को निबटाने का कोई स्थायी तंत्र स्थापित नहीं किया गया है। इस अधिनियम ने केंद्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को दो अधिकरणों—सुलह-बोर्ड तथा जांच-न्यायालय, की स्थापना का अधिकार दिया है जो विवादों की जांच तथा निबटारा कर सकते हैं। इसमें जिस जांच-न्यायालय की व्यवस्था की गयी है वह एक तदर्थ समिति है और उसके सामने केवल निर्धारित विषय ही रखा जा सकता है और उसी पर वह अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर सकता है। सुलह-बोर्ड (Board of Conciliation) का कर्तव्य यही था कि वह झगड़े के कारणों की जांच करे और यदि उसका निबटारा न हो सके तो वह अपना प्रतिवेदन अपने संस्थापक प्राधिकारियों के पास भेज दे। इस अधिनियम में रेल, डाक-तार, टेलीफोन, बिजली, पानी, सफाई आदि जनोपयोगी सेवाओं की हड़ताल के बारे में भी अनुबंध दिये गये हैं। इनमें हड़ताल या तालेबंदी के लिए १४ दिन की पूर्व सूचना की आवश्यकता है। इस अधिनियम में उन हड़तालों अथवा तालेबंदियों को गैर-कानूनी घोषित किया गया है। जिनका उद्देश्य श्रमिक विवाद के दायरे से बाहर होता है अथवा जिनसे समाज पर कठिनाइयों के पहाड़ टूट पड़ते हैं। इसमें सहानुभूतिसूचक हड़तालों को भी अवैध ठहराया गया है।

प्रांतीय स्वायत्त-शासन स्थापित होने से पहले न तो केंद्रीय सरकार ने और न राज्य सरकारों ने ही उक्त विधान से पर्याप्त लाभ उठाया था।

श्रमिक विवाद अधिनियम १९२९ का सबसे बड़ा दोष यह था कि आपसी समझौते द्वारा विवाद निबटाने के लिए उसमें किसी भीतरी तंत्र की व्यवस्था न थी। राजकीय श्रम आयोग ने इस दोष का उल्लेख करके उक्त भीतरी तंत्र की स्थापना पर बल दिया था। उसका कहना था कि असंतोष के निबटारे का प्रयास उस समय आरम्भ होना चाहिए जबकि वातावरण विवादों को अनुत्साहित कर रहा हो। वह समझौते की मशीनरी से कहीं अधिक आवश्यक है।

व्यवस्था और कर्मचारियों के बीच सौहार्दतापूर्ण संपर्क स्थापित होने के लिए, उक्त आयोग ने तीन सुझाव दिये थे—(१) स्थायी मजदूर संघों का विकास, (२) श्रम-अधिकारियों की नियुक्ति और (३) कामकाज समितियों की रचना। आयोग ने सुलह-अधिकारियों की नियुक्ति की भी सिफारिश की जो विवाद

का निबटारा उसके आरंभिक चरण में ही कर दिया करें। किंतु श्रमिक विवाद (संशोधन) अधिनियम १६३८ में सुलह-अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था के अलावा और कोई सिफारिश कार्यपरिणत नहीं की गयी।

श्रमिक न्यायालय (Labour Judiciary)—बंबई सरकार ने प्रांत में औद्योगिक असंतोष के कारण १६३४ में औद्योगिक झगड़ों को रोकने तथा उनके समझौते के लिए एक कदम उठाया और इसके लिए एक सरकारी श्रम-अधिकारी (Labour Officer) नियुक्त कर दिया जो औद्योगिक कामगारों की शिकायतों को सुन सके। इसके बाद १९३७ में प्रांतों में लोकप्रिय सरकारें बन गयीं। तब बंबई में बंबई औद्योगिक झगड़ा-अधिनियम (Bombay Industrial Dispute Act) १९३८ की रचना हुई। इससे पहली बार झगड़ों के निबटारे के लिए औद्योगिक न्यायालय स्थापित हुए। बाद में इस अधिनियम का स्थान बंबई औद्योगिक संबंध अधिनियम (Bombay Industrial Relations Act) १९४६ ने ग्रहण कर लिया।

भारत प्रतिरक्षा नियम (Defence of India Rules)—दूसरे महासमर के कारण आपातकालिक स्थिति का सामना करने और उत्पादन में विघ्न न पड़ने-देने के लिए भारत प्रतिरक्षा नियम का नियम ८१-ए लागू किया गया। इसका उद्देश्य औद्योगिक झगड़ों का अविलंब निबटारा करना था। झगड़ों को सुलह, पंचाट, आदि से हल कर दिया जाता था। इस दशा में पंच का निर्णय दोनों पक्षों पर वैध रूप से लागू होता था; और जब तक निर्णय न हो जाए तब तक हड़ताल या तालेबंदी वर्जित होती थी......। युद्धकाल में जो तरीके संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन में इस्तेमाल होते थे वैसे ही तरीके यहां भी अपनाये गये थे।

युद्ध का प्रभाव—युद्धकाल में आर्थिक व्यवस्था में उथल-पुथल होने के कारण कामगार पर मुसीबतों के पहाड़ टूट पड़े। कामगारों ने सोचा था कि युद्ध का अंत होने से उनकी हालत सुधर जाएगी, लेकिन उनकी इन आशाओं पर पाला पड़ गया। हालत और भी बिगड़ गयी। जीवनोपयोगी वस्तुओं के मूल्य में असाधारण वृद्धि हो गयी और आवश्यक पदार्थों की कमी दिखने लगी। युद्ध की समाप्ति के साथ देश में स्वतंत्रता की मांग जोर पकड़ चली और राजनीतिक दल उसके लिए उतावले हो उठे। भारत के शीघ्र स्वतंत्र होने के लक्षण दिखने लगे और, वास्तव में, देश १५ अगस्त १९४७ को स्वाधीन हो गया।

इस स्थिति में औद्योगिक असंतोष और बढ़ गया और मालिक-मजदूर संबंध अधिक बिगड़ चले। इसलिए सरकार ने युद्धकालीन अनिवार्य पंच-निर्णय की व्यवस्था को जारी रखना बेहतर समझा। इस प्रकार युद्धकाल न होते हुए भी युद्धकालीन व्यवस्था तब तक जारी रही जब तक उसे कानून का वैध रूप न

मिल गया। अनिवार्य पंच-निर्णय इस देश में झगड़े तय करने का एक स्थायी तंत्र हो गया।

औद्योगिक झगड़ा अधिनियम (Industrial Dispute Act) *१९४७*—औद्योगिक झगड़ा अधिनियम १९४७ के अंतर्गत झगड़ों के निबटारे के लिए एक स्थायी तंत्र बनाया गया है। यह कामकाज समितियों (Works Committees), सुलह अधिकारियों और औद्योगिक अधिकरणों के रूप में सामने आया है। किंतु इनके निर्णय दोनों पक्षों पर लागू होते हैं और उन्हें वैध रूप से लागू किया जा सकता है।

अपील न्यायाधिकरण (Appellate Tribunal)—विभिन्न न्यायाधिकरणों के पंचाटों में एकरूपता लाने और पंचाटों के विरुद्ध उत्पीड़ित पक्ष की अपील की सुनवाई के लिए औद्योगिक झगड़ा (अपील न्यायाधिकरण) अधिनियम १९५० की रचना की गयी। इस अधिनियम के अंतर्गत केंद्रीय सरकार को एक श्रमिक अपील न्यायाधिकरण (Labour Appellate Tribunal) बनाने का अधिकार मिल गया जो औद्योगिक न्यायाधिकरणों तथा राज्य औद्योगिक न्यायालयों के निर्धारित विषयों पर पंचाटों और निर्णयों की अपील सुन सके। यह अधिनियम १ सितंबर १९५६ से रद्द कर दिया गया। इसलिए अब उक्त अपील न्यायाधिकरण विलुप्त हो चुका है। किंतु जो मामले ऊपर लिखी तारीख से पहले उसको सौंपे गये थे उन पर वह विचार कर रहा है।

राज्य-विधान—कुछ राज्यों, उदाहरणार्थ उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश ने औद्योगिक विवादों के निरोध तथा सुलह के लिए अपने कानून बना दिये। उन्होंने इस दिशा में बंबई का अनुकरण किया। बंबई औद्योगिक संबंध अधिनियम १९४६ अब तक कुछ निश्चित क्षेत्रों के निर्धारित उद्योगों पर ही लागू हुआ है। जो क्षेत्र और उद्योग इस बंबई अधिनियम के भीतर नहीं आते हैं उन पर केंद्रीय विधान अर्थात् औद्योगिक झगड़ा अधिनियम १९४७ लागू होता है। इस प्रकार बंबई राज्य में औद्योगिक झगड़ों के निबटारे के लिए ये विभिन्न कानून लागू हैं।

वर्तमान मालिक-मजदूर-संबध तंत्र

तंत्रों का स्वरूप—औद्योगिक झगड़ा अधिनियम १९४७ के अंतर्गत दो प्रकार के तंत्रों की व्यवस्था है एक का उद्देश्य झगड़ों का निरूपण करना है और इसके लिए कामकाज समितियां स्थापित की गयी हैं। दूसरे का उद्देश्य जब कभी झगड़ा उठ खड़ा हो उसका निबटारा करना है। इस तंत्र के अंग

हैं— (१) स्थायी सुलह अधिकारी, (२) सुलह-बोर्ड, (३) जांच-न्यायालय और (४) औद्योगिक न्यायाधिकरण।

कामकाज समिति—सौ या इससे अधिक कर्मचारियों के संस्थान में सरकार का निर्देश होने पर कामकाज समिति बनाना परिनियत दायित्व है। इस समिति में मालिक और कामगारों के प्रतिनिधियों की समान संख्या होती है। इसका उद्देश्य मालिकों और कामगारों के आपसी संबंधों में मधुरता बनाये रखना, और उनके बीच कोई गहरा मतभेद हो तो उसका अंत करवाना होता है।

मालिकों, कामगारों और मजदूर संघों की निगाह में उक्त समितियां ठीक नहीं हैं। उनको भय है कि वे उनके कार्यों, अधिकारों और प्राधिकारों का हनन करती हैं। इन समितियों को स्थापित हुए अब कई वर्ष हो चुके हैं किन्तु उनके प्रति किसी भी पक्ष का रुख नहीं बदला है। मालिक-मजदूर संबंधों में संदेह का बाजार गर्म है।

समिति के उद्देश्यों की व्याख्या स्पष्ट और निर्भ्रांत नहीं थी। इस स्थिति में अधिकांश समितियां अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं कर सकीं। निःसंदेह कुछ समितियों को छोड़कर अधिकांश समितियां स्वेच्छापूर्वक बनायी गयी थीं।

इन समितियों की कार्यवाही से एक बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हुआ है। यदि विविध पक्षों में सच्चा हृदय-परिवर्तन नहीं होता और वे एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की उत्सुकता प्रकट नहीं करते हैं तो उन पर बाहर से संयुक्त परामर्श की जो व्यवस्था थोप दी गयी है वह कदाचित् ही फलीभूत हो सकती है।

कल्याण-अधिकारी (Welfare Officer)—झगड़ों की रोकथाम करने और भीतरी शिकायतों को दूर करने तथा मांगें पूरी कराने की एक व्यवस्था और है। फैक्टरी अधिनियम १९४८ के अंतर्गत उस प्रत्येक कारखाने को जिसमें ५०० या उससे अधिक लोग काम करते हैं, कल्याण-अधिकारी रखने पड़ते हैं। इन कल्याण-अधिकारियों के कार्य और दायित्व निर्धारित होते हैं। इन अधिकारियों को अपने कार्य में कहां तक सफलता मिली है, यह नहीं कहा जा सकता है; लेकिन जिन फैक्टरियों में उनकी नियुक्ति स्वेच्छापूर्वक हुई है वहां उन्हें अपने कार्य में काफी सफलता मिली है और वहां मालिक-मजदूर संबंधों में उल्लेखनीय सुधार हुआ है। वास्तव में मानवीय तथा अन्य आपसी समस्याओं को समझना किसी व्यवस्था से कहीं अधिक आवश्यक होता है। जहां यह समझबूझ आ जाती है वहां कोई भी व्यवस्था सुचारु रूप से काम कर सकती है।

जहां मालिकों ने लोकतंत्रीय ढर्रे पर चालू मजदूर संघों की आवश्यकता

को मान लिया है और जहां ऐसे संघ काम कर रहे हैं वहां झगड़ों की रोक-थाम तथा निपटारे की सफलता पूर्व निश्चित-सी समझिए। इसके अभाव में मालिक-मजदूर संबंध अन्य किसी दबाव से भी नहीं सुधर सकते।

सुलह-अधिकारी (Conciliation Officers)—स्थायी सुलह अधिकारियों की नियुक्ति औद्योगिक संबंधों को सुधारने की दिशा में एक सही कदम है। उनके कारण कुछेक समस्याएं भले प्रकार हल हो गयी हैं। फिर भी इन अधिकारियों के विरुद्ध यह कहा जाता है कि उन्हें अपना काम करने के लिए उद्योगों की मानवीय समस्याओं का आवश्यक ज्ञान और सूझ-बूझ प्राप्त नहीं होती है।

सुलह-अधिकारी झगड़े का अंत करने में इस कारण विफल होते हैं कि कानून के अंतर्गत न्यायाधिकरणों द्वारा निर्णय कराने की व्यवस्था विद्यमान है। इसलिए विवादग्रस्त पक्ष अपने कच्चे चिट्ठे सुलह-अधिकारी के सामने खोलकर नहीं रखते हैं और उनकी निगाहें आगे न्यायाधिकरण की ओर दौड़ती रहती हैं।

सुलह-बोर्ड (Conciliation Boards)—सरकार ने सुलह-बोर्डों (या संराधन मंडलों) और जांच-न्यायालयों का प्रयोग बहुत कम किया है। यदि उसने इस व्यवस्था का प्रयोग अच्छी तरह किया होता तो औद्योगिक संबंधों का वातावरण कहीं बेहतर बन गया होता। विभिन्न पक्ष इस बात के लिए विवश नहीं हैं कि एक स्वतंत्र व्यक्ति को ही सुलह-बोर्ड का अध्यक्ष बनाया जाएगा तथा जहां दोनों पक्षों में कोई समझौता न हो सकेगा वहां जांच-न्यायालय का निर्णय उन पर थोप ही दिया जाएगा।

न्यायाधिकरण (Tribunals)—सरकार प्रत्येक औद्योगिक विवाद में न्यायाधिकरणों के तंत्र का उपयोग करवा सकती है। कोई भी पक्ष सीधा न्यायाधिकरण के पास नहीं जा सकता जबतक कि सरकार उनके मामले को पंचाट के लिए वहां न भेज दे। जो जनोपयोगी सेवाएं नहीं हैं उनके विवाद को न्यायाधिकरण के पास भेजा जाए या नहीं, यह सरकार की नीति पर निर्भर होता है। जहां जनोपयोगी सेवाओं में हड़ताल की पूर्वसूचना दे दी गयी है, वहां पंचाट के लिए मामला भेजना सरकार का कर्त्तव्य हो जाता है। किंतु यदि सरकार यह समझती है कि उक्त पूर्वसूचना धोखाधड़ी और धमकी-मात्र है तो वह उसे पंचाट के लिए भेजने से इन्कार भी कर सकती है। ऐसा अधिकार उसे प्राप्त है। इस व्यवस्था के कारण सरकार पर पक्षपात और प्रतिशोध की नीयत के आरोप भी लगाये गये हैं। शिकायत है कि यदि संघ का कोई विशेष गुट आवाज उठाता है तो सरकार उसे सुन लेती है, लेकिन जब वही आवाज कोई दूसरा गुट उठाता है तब उसके कान

पर जूं तक नहीं रेंगती या वह मामला पंचाट के लिए भेजने में आसाधारण विलंब करती है।

अनिवार्य अधिनिर्णय (Adjudication) की व्यवस्था, तथा सरकार के इस अधिकार से कि वह चाहे तो किसी मामले को न्यायाधिकरण के सामने भेजे या न भेजे, मजदूर संघ आंदोलन को धक्का पहुंचा है। इससे वह दुर्बल पड़ गया है और उसके सदस्यों में फूट फैल गयी है। सरकार को किसी मामले को पंचाट के लिए भेजने के बारे में, अथवा हड़ताल या तालेबंदी को जारी रखने से रोकने के बारे में भी ऐसा ही स्वैच्छिक अधिकार प्राप्त है।

इस अधिनियम ने संबंधित सरकार को यह अधिकार भी दे रखा है कि "सार्वजनिक हित की दृष्टि से यदि वह पंचाट को समष्टि रूप से या आंशिक रूप से कार्य परिणत करना ठीक नहीं समझती है" तो वह उसमें संशोधन कर सकती है या उसे रद्द कर सकती है। इस स्थिति में सरकार को वह पंचाट (Award) अपने संशोधन अथवा अस्वीकृति के कारणों सहित विधान-मंडल में प्रस्तुत करना होगा। अपने इस अधिकार के प्रयोग के लिए भी सरकार पर पक्षपात तथा अनुचित हस्तक्षेप के आरोप लगाये जाते हैं।

हड़तालें और तालेबंदियां

यद्यपि अपनी शिकायतों को दूर करवाने के लिए कामगारों की इक्का-दुक्का हड़तालें कभी देखने में आयी थीं किंतु फिर भी प्रथम महायुद्ध से पहले भारतीय श्रमिक अपनी मांगों को मनवाने के लिए प्रायः इस हथियार का सुचारु प्रयोग करना न जानते थे। इसका मूल कारण सामान्यतः उनकी निरक्षरता, जीवन के प्रति उदासीनता और उनमें संगठन तथा नेतृत्व का अभाव था। प्रथम महायुद्ध की अवधि में तथा उसके बाद लोकतंत्रीय विचारों के प्रवाह ने, समानता, भ्रातृत्व और स्वतंत्रता के सिद्धांत की लहर ने, श्रमिकों की कमी ने, जीवन-निर्वाह के ऊंचे व्यय ने तथा अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने श्रमिकों में एक नयी चेतना पैदा कर दी और कामगारों तथा मालिकों के बीच ताकत आजमाइश करने का जमाना आ गया।

हड़तालों और तालेबंदियों पर प्रतिबंध—श्रमिक विवाद अधिनियम १९२९ ने प्रथम बार हड़ताल करने या तालेबंदी की घोषणा करने पर अंकुश लगाया। किंतु यह अंकुश केवल जनोपयोगी सेवाओं पर था जहां हड़ताल या तालेबंदी की उद्घोषणा के लिए चौदह दिन की पूर्वसूचना देना आवश्यक था। इसके बिना हड़ताल या तालेबंदी अवैध और दंडनीय थी। इसके अलावा सहानुभूति-सूचक हड़तालें भी वर्जित हो गयीं। आगे बंबई औद्योगिक झगड़ा अधिनियम १९३८ ने हड़तालों पर अंकुश और कठोर कर दिया। किंतु शेष भारत में श्रमिक विवाद अधिनियम १९२९ के अनुबंध ही लागू रहे।

भारत प्रतिरक्षा नियमावली के ८१--ए नियम ने १९४२ में सरकार को यह अधिकार दिया था कि यदि १४ दिन की पूर्वसूचना न दी जाए तो ऐसी हड़तालों अथवा तालेबंदियों को विशेष आदेश द्वारा रोका जा सकता है। इस नियम के अनुसार जनोपयोगी सेवाओं तथा अन्य सेवाओं में कोई भेद नहीं बरता गया था। यदि कोई श्रमिक विवाद सुलह अथवा पंचाट के लिए भेज दिया जाता था तो उस काल में तथा उसके दो मास तक हड़ताल या तालेबंदी की मनाही रहती थी। जब कभी सरकार पंचाट लागू कर देती थी तब हड़ताल या तालेबंदी के अधिकार पर अंकुश लगा दिया जाता था।

औद्योगिक झगड़ा अधिनियम १९४७ ने हड़ताल और तालेबंदी पर आगे अंकुश लगा दिया। इसके अनुसार, यदि कोई हड़ताल या तालेबंदी १४ दिन की पूर्वसूचना के बिना की जाती है अथवा पूर्वसूचना के छह सप्ताह बाद की जाती है अथवा समझौता-कार्यवाही की अवधि में अथवा कार्यवाही समाप्त होने के ७ दिन के भीतर की जाती है। तो वह हड़ताल या तालेबंदी अवैध मानी जाएगी। प्रत्येक दशा में यदि कोई मामला सुलह बोर्ड (संराधन-मंडल) के सामने है या समझौता-कार्यवाही को समाप्त हुए सात दिन नहीं हुए हैं अथवा कोई मामला न्यायाधिकरण के सामने उपस्थित है और सुलह-कार्यवाही को समाप्त हुए अभी दो मास नहीं हुए हैं अथवा समझौता या पंचाट चालू है तो हड़ताल या तालेबंदी अवैध मानी जाएगी।

प्रतिबंधों का परिणाम—हड़तालों या तालेबंदी पर उक्त प्रकार के प्रतिबंध लगाने का परिणाम यह होता है कि एक कृत्रिम क्रांति पैदा हो जाती है और युद्ध-विराम जैसी स्थिति बनी रहती है। उनसे श्रमिक और प्रबंधकों के बीच कदाचित् ही कोई मधुर संबंध पैदा होता है। वास्तव में, विभिन्न पक्षों के हृदयों में द्वेष की आग जलने लगती है। कानून के होते हुए भी, श्रमिक अवैध हड़तालें करने लगते हैं और जेल जाने की परवाह नहीं करते। ऐसा भी देखने में आया है कि श्रमिकों ने अवैध हड़तालें कर दीं और कानून ने उन्हें कोई दंड नहीं दिया। सामूहिक काररवाई के विरुद्ध सरकार के हाथ-पांव फूल जाते हैं।

हड़ताल और तालेबंदी के आंकड़े

औद्योगिक झगड़ों के आंकड़े १९२१ से उपलब्ध हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हड़तालें इससे पहले नहीं हुई थीं। हड़तालें तो इससे कई वर्ष पहले से होती आ रही थीं किंतु वे प्रायः छुटपुट और छोटी-छोटी थीं। हां, कुछ हड़तालें अवश्य बड़ी थीं।

१९२१-१९३८ की अवधि में जो हड़तालें हुईं, उनका विवरण सारणी नं. ६ में अंकित है।

प्रथम महासमर का अंत होने पर निर्वाह के व्यय में क्रमिक ह्रास हुआ और स्थिति सामान्य हो गयी। परिणाम यह कि हड़तालों और दौर-दौरा घट गया। इस समय प्रायः जो हड़तालें हुईं उनका कारण यह था कि महासमर के दिनों में वेतनों में जो वृद्धि हो गयी थी मालिकों ने उसकी कटौती आरंभ कर दी। उनका कहना था कि बाजार में गिरावट आ चली है।

मंदी और प्रतियोगिता के कारण विदेशी कारखानेदारों ने कारखानों में वैज्ञानिक व्यवस्था (वैज्ञानिकन) करनी आरंभ कर दी। कामगारों ने इसका विरोध किया और १९२८ में बंबई में कपड़ा मिलों की एक विकट हड़ताल हुई। जमेशदपुर के लोहे तथा इस्पात कारखाने तथा अनेक रेलवे कारखानों में हड़ताल फूट पड़ी।

इस असंतोष के कारण, जहां १९२७ में १२९ कामबंदियां हुई थीं वहां १९२८ में यह संख्या २०३ हो गयी। १९२८ में इन कामबंदियों में ५,०६,८५१ श्रमिक सम्मिलित थे जबकि १९२७ की हड़तालों में उनकी कुल संख्या १,३१,६५५ ही थी। कुछ हड़तालें बहुत लंबी खिच गयी थीं। अतः १९२८ में ३,१६,५०,००० श्रमिक-दिनों की हानि हुई जबकि १९२७ में यही संख्या २०,२०,००० ही थी।

१९२८ में कपड़ा मिल के हड़तालियों ने हिंसा का सहारा लिया। कुछ हड़तालों पर कम्युनिस्ट-प्रेरित होने का आरोप लगाया गया और इसीलिए हिंसा का अवसर आया था। इसके परिवर्ती वर्षों में कामबंदी की संख्या काफी घट गयी। फिर भी १९२९ में हड़तालियों और विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या काफी बढ़ी-चढ़ी रही।

यद्यपि उस समय तक भारत अनेक औद्योगिक संघर्षों का सामना कर चुका था फिर भी उसके पास औद्योगिक झगड़ों को निपटाने की पर्याप्त व्यवस्था का अभाव था। जैसा पहले कहा जा चुका है, उस समय १९६० का मालिक और कामगार (झगड़ा) अधिनियम लागू था। इसमें कुछ कोटियों के मजदूर ही आते थे और उसका उद्देश्य उनके मजदूरी-संबंधी झगड़ों को शीघ्रतापूर्वक निपटा देना था। प्रभाव सीमित होने के अतिरिक्त, उसमें अनेक बातें ठीक न थीं। उदाहरण के लिए, मजदूर द्वारा समझौते का उल्लंघन दंडनीय अपराध घोषित किया जा सकता था। प्रथम महासमर के बाद, इस देश में हड़तालों का जो तांता बंध गया उसके कारण झगड़ों की जांच और निपटाने के एक समुचित तंत्र की स्थापना करना आवश्यक हो गया।

सारणी ६

कामबंदी

(१९२१–३८)

वर्ष	कामबंदी की संख्या	प्रभावित कामगारों की संख्या (हजारों में)	विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या (लाखों में)
१९२१	३९६	६००.३	६९.८
१९२२	२७८*	४३५.४	३९.७
१९२३	२१३	३०१.०	५०.५
१९२४	१३३	३१२.४	८७.३
१९२५	१३४	२७०.४	१२५.८
१९२६	१२८	१८६.८	१०.९
१९२७	१२९†	१३१.६	२०.२
१९२८	२०३	५०६.८	३१६.५
१९२९	१४१	५३१.०	१२१.६
१९३०	१४८	१९६.३	२२.६
१९३१	१६८	२०३.०	२४.१
१९३२	११८	१२८.०	१९.२
१९३३	१४६	१४६.९	२१.७
१९३४	१५९	२२०.८	४७.७
१९३५	१४५	११४.२	९.७
१९३६	१५७‡	१६९.०	२३.६
१९३७	३७९	६४७.८	८९.८
१९३८	३९९	४०१.०	९१.९

इस दिशा में, मद्रास सरकार ने मार्ग दिखाया जिसने व्यक्तिगत झगड़ों के निपटारे के लिए तदर्थ जांच-न्यायालय (*Ad hoc* Courts) बैठा दिये। १९२१ और १९२२ में बंगाल और बंबई की सरकारों ने ऊपर लिखे प्रश्न की जांच के लिए कुछ समितियां नियुक्त कीं। झगड़े निपटाने के लिए क्या व्यवस्था होनी चाहिए; इस प्रश्न पर उन्हें अपना अभिस्ताव प्रस्तुत करने का भार सौंपा गया। किंतु १९२२–२३ में हड़तालों की संख्या न्यून होने के

* एक हड़ताल चार राज्यों में फैल गयी थी।
† एक हड़ताल तीन राज्यों में फैल गयी थी।
‡ एक हड़ताल की लपेट में पांच राज्य आ गये थे।

कारण जनता और सरकार दोनों का ध्यान उधर से हट गया। बाद में १९२४ में जब बंबई के कपड़ा मिलों की हड़ताल हुई तब फिर उनका ध्यान उधर गया। १९२४ में बंबई सरकार ने उक्त विषय पर एक विधेयक का प्रारूप तैयार किया जो भारत सरकार के अनुरोध पर रोक लिया गया। अंत में श्रमिक विवाद अधिनियम (Trade Dispute Act), १९२९ पास हो गया। यह अधिनियम ब्रिटिश प्रणाली से अनुप्राणित था। इसमें लोकमत के बल से विवाद हल करने की चेष्टा की गयी थी। इसमें जांच-न्यायालय और सुलह-बोर्ड नियुक्त करने की व्यवस्था थी।

श्रमिक विवाद अधिनियम के लागू होने के बाद के वर्षों में पहले से कहीं अधिक शांति रही। कारण यह था कि देश में आर्थिक मंदी फैल रही थी। इस अवधि में पगार में कटौती होने के कारण कितनी हड़तालें हुईं जो फिस्स हो गयीं। किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में बड़ी उखाड़-पछाड़ हो रही थी। १९३५ में देश को प्रांतीय स्वायत्त-शासन मिल गया, जिससे १९३७ में प्रांतों में लोकप्रिय सरकारें बन गयीं। इससे श्रमिक विवादों में कुछ कमी आ गयी। जब दूसरा महासमर आरंभ हुआ तब पहले महासमर की स्मृति के आधार पर भारतीय श्रमिकों की प्रतिक्रिया शीघ्र ही सामने आ गयी। वे वेतन-वृद्धि की मांग करने लगे। आगे सारणी नं. ७ में १९३९-४७ की कामबंदियों का विवरण दिया गया है।

सारणी ७

कामबंदियां

(१९३९–४७)

वर्ष	काम बंदी की संख्या	हड़ताली कामगारों की संख्या	विनष्ट श्रमिक-दिन	
			कुल योग	प्रति कामगार
१९३९	४०६	४,०९,१८९	४९,९२,७९५	१२·२
१९४०	३२२	४,५२,५३९	७५,७७,२८१	१६·७
१९४१	३५९	२,९१,०५४	३३,३०,५०३	११·४
१९४२	६९४	७,७२,६५३	५७,७९,९६५	७·५
१९४३	७१६	५,२५,०८८	२३,४२,२८७	४·५
१९४४	६५८	५,५०,०१५	३४,४७,३०६	६·३
१९४५	८२०	७,४७,५३०	४०,५४,४९९	५·४
१९४६	१,६२९	१९,६१,९४८	१,२७,१७,७६२	६·५
१९४७	१,८११	१८,४०,७४८	१,६५,६२,६६६	९·०

इन वर्षों में कामबंदियों की संख्या में प्रायः चढ़ाव आया। वस्तुओं के दाम बढ़ने (अर्घता) के कारण वेतन की न्यूनता खटकने लगी। उत्तरप्रदेश और पंजाब में निर्वाह का व्यय पहले से तीन गुना हो गया। अन्य राज्यों में भी बढ़ कर लगभग दो गुना हो गया। १९३९-४७ में जो औद्योगिक झगड़े उठ खड़े हुए उनमें ५२ प्रतिशत झगड़ों का कारण मजदूरी की वृद्धि और बोनस (लाभांश) की मांग थी। इनके अतिरिक्त आवश्यक उपभोक्ता माल की उपलब्धि एक टेड़ी खीर बन गयी थी। १९४२ और १९४३ में यह स्थिति विकट बन गयी और अधिकांश झगड़े इसी पर छिड़े।

१९३९ में ४०६ झगड़े हुए। यह एक रिकार्ड संख्या थी। इसमें चार लाख से भी अधिक कामगारों ने हाथ बंटाया और लगभग ५० लाख श्रमिक-दिनों की हानि हुई। १९४० में यद्यपि विवादों की संख्या में कमी हो गयी फिर भी हड़ताली कामगारों की संख्या और विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या में वृद्धि ही रही। इसका कारण बंबई के कपड़ा मिलों की हड़ताल थी, जिसमें अकेले ही ४५ लाख से भी अधिक श्रमिक-दिनों की हानि हुई थी जो उस वर्ष की समय-हानि का ५९·५ प्रतिशत थी। १९४० और १९४१ के बीच में यद्यपि झगड़ों की संख्या में ३५·७ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी फिर भी विवादग्रस्त श्रमिकों की संख्या में ३५.७ प्रतिशत की कमी हुई। किंतु १९४२ में विवादों और विवादग्रस्त कामगारों—दोनों की संख्या में जो वृद्धि हुई उसका कारण राजनीतिक उपद्रव और निर्वाह-व्यय की वृद्धि थी। यद्यपि १९४३ में झगड़ों की संख्या में कुछ कमी हुई थी किंतु उनसे प्रभावित श्रमिकों की संख्या और विनष्ट श्रमिक दिनों की संख्या पहले की अपेक्षा बहुत कम थी। १९४३ में १९३९ के बाद विनष्ट श्रमिक-दिनों की कुल संख्या और प्रति कामगार उसका औसत न्यूनतम था। १९४४ में विवादों की संख्या में कमी हुई लेकिन विवादग्रस्त कामगारों की संख्या ४·७ प्रतिशत बढ़ गयी और विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या में ४७ प्र० श० की वृद्धि हुई। १९४५ में श्रमिकों में पर्याप्त क्षोभ देखने को मिला और इस वर्ष झगड़ों की संख्या में २४·६ प्र० श० और विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या में १७·६ प्र० श० की बढ़ोतरी हुई।

१९४५ के ८२० झगड़ों में कम-से-कम २३१ झगड़े कपड़ा, रेशमी और ऊनी मिलों में और १०३ अभियांत्रिक (इंजीनियरिंग) उद्योग में उठे थे। झगड़ों की सबसे अधिक संख्या (३१०) बंबई में थी। इसके बाद क्रमशः बंगाल (२१७) और मध्यप्रदेश (१०२) का नंबर आता है। इन तीनों राज्यों में कुल झगड़ों के ७५ प्र. श. झगड़े देखने को मिले।

१९४६ में भारत के इतिहास में औद्योगिक झगड़ों की पराकाष्ठा हो गयी। १९३९ में झगड़ों की संख्या ४०६, १९४५ में ८२० और १९४६ में १६२९

थी। दूसरे शब्दों में, १९४५ की तुलना में १९४६ की संख्या में ९८·७ प्र. श. वृद्धि हुई और १९३९ की तुलना में ३०१·२ प्र. श.। १९४५ में प्रभावित कामगारों की संख्या ७ लाख ४७ हजार थी, किंतु १९४६ में प्रभावित कामगारों की संख्या १९ लाख ६२ हजार हो गयी अर्थात् उसमें १६२·५ प्र. श. की बढ़ोतरी हुई। इसी प्रकार विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या ४०·५४ लाख से बढ़कर १२७·१८ लाख हो गयी अर्थात् २१३·७ प्र. श. बढ़ गयी।

मार्च में हड़तालों के प्रभाव और संख्या में वृद्धि हुई और जुलाई में उनका स्वरूप पराकाष्ठा पर पहुंच गया। ये हड़तालें व्यापक थीं और किसी विशेष राज्य या उद्योग तक ही सीमित न थीं। केवल सूती कपड़ा, रेशम और ऊन मिलों में ३८·७ प्र. श. झगड़े पैदा हुए और उनसे प्रभावित कामगारों की संख्या कुल का ५३·६ प्र. श. और विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या कुल का ४१·७ प्र. श. थी। इसके बाद, इंजीनियरिंग उद्योग का नंबर आता है। इसमें कुल ८·२ प्र. श. विवाद छिड़े जिनसे ५·२ प्र. श. कामगार प्रभावित हुए और कुल विनष्ट श्रमिक-दिनों के १९·९ प्र. श. श्रमिक-दिन विनष्ट हुए।

४२ प्र. श. झगड़ों का मुख्य कारण वेतन और बोनस का प्रश्न था; १७ प्र. श. झगड़े कर्मचारियों के प्रश्न को लेकर छिड़े थे तथा ८ प्र. श. झगड़े काम के घंटों से संबंध रखते थे। शेष झगड़ों के विषय विभिन्न थे।

सारणी नं ७ में १९४७ के संबंध में जो आंकड़े दिये गये हैं उनमें पूर्वी पंजाब और भूतपूर्व रजवाड़ों के आंकड़े शामिल नहीं हैं। इसलिए उनकी तुलना १९४६ के आंकड़ों से ठीक-ठीक नहीं की जा सकती, जिनमें पंजाब को छोड़कर समस्त विभाजन-पूर्व ब्रिटिश भारत के आंकड़े संग्रहीत हैं। किंतु अध्ययन की दृष्टि से, यदि उक्त सारणी में से सिंध, उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत तथा बलूचिस्तान के आंकड़ों को निकाल दिया जाए, तो आंकड़े निम्न प्रकार से प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

	१९४७	१९४६
झगड़ों की संख्या	१,८११	१,५९३
प्रभावित कामगारों की संख्या	१८,४०,७८४	१९,५१,७५६
विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या	१,६५,६२,६६६	१,२६,७८,१२१

इस प्रकार झगड़ों की संख्या में १३·७ प्र. श. और विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या में ३०·६ प्र. श. की वृद्धि हुई। किंतु प्रभावित कामगारों की संख्या में १९४६ की अपेक्षा ५·७ प्र. श. की कमी थी।

सबसे अधिक झगड़े सूती, ऊनी और रेशमी कपड़ा मिलों में उठे थे। इस क्षेत्र में १९४७ में कुल ३७·१ प्र. श. विवादों, ५२·१ प्र. श. प्रभावित काम-

गारों और ४४·७ प्र. श. विनष्ट श्रमिक-दिनों का लेखा मिलता है, जबकि १९४६ में ये संख्याएं थीं : ३८·७ प्र. श. विवाद, ६३·६ प्र. श. कामगार और ४१·७ प्र. श. श्रमिक-दिन। जूट-मिलों और रेलों में १९४७ में क्रमशः ६८ और ५३ विवाद छिड़े जबकि १९४६ में ये संख्याएं ९५ और ७२ थीं।

जहां तक वेतन और बोनस का संबंध है, बोनस-संबंधी झगड़े ४.९ से बढ़कर १०·९ प्र० श० हो गये। वेतन-संबंधी विवाद ३७·१ प्र० श० से ३२·० प्र. श. रह गये। छुट्टी और बोनस-संबंधी विवादों का अनुपात ८·० प्र. श. से घटकर ५·२ प्र. श. हो गया, लेकिन कर्मचारी-संबंधी (छटनी तथा बर्खास्तगी समेत) विवाद १७.२ प्र. श. से बढ़कर १९·५ प्र. श. हो गये।

इस वर्ष सबसे उल्लेखनीय हड़ताल बंबई के सूती कपड़ा मिलों की थी। यह हड़ताल वेतनों के मानदंड स्थिर करने को लेकर हुई थी। मध्यप्रदेश में वेतन-वृद्धि को लेकर कपड़ा-मिलों में हड़ताल फूट पड़ी। पश्चिमी बंगाल के जूट-मिलों में कर्मचारियों की बर्खास्तगी तथा वेतन-वृद्धि के सवाल को लेकर कई हड़तालें हुईं।

युद्धोत्तरकालिक वर्ष

युद्धोत्तरकाल में औद्योगिक असंतोष से सरकार को गहरी चिंता हुई। यह ठीक है कि यदि औद्योगिक शांति स्थापित नहीं होती तो देश के आर्थिक पुन-र्निर्माण का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता था। इसलिए दिसंबर १९४७ में एक औद्योगिक सम्मेलन हुआ जिसमें औद्योगिक अवहार प्रस्ताव (Industrial Truce Resolution) स्वीकार किया गया। इस प्रस्ताव ने श्रमिकों तथा प्रबंधकों, दोनों से औद्योगिक शांति कायम रखने, और हड़तालों तथा तालेबंदियों, और धीरे काम करने की नीति से तीन वर्ष तक हाथ खींचे रहने की अपील की तथा इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उसमें अनेक उपायों का उल्लेख किया गया।

भारत सरकार ने उक्त सिफारिशों पर अमल करने के लिए काररवाई की। श्रमिकों को उचित मजदूरी मिलने, पूंजी का उचित प्रतिफल मिलने तथा लाभ में श्रमिकों के भाग के प्रश्नों की जांच के लिए समितियां नियुक्त हुईं। औद्योगिक उत्पादन-संबंधी सभी मामलों में श्रमिकों को हाथ बटाने का अवसर दिया गया तथा कामगारों के लिए रिहायशी मकानों की योजना बनायी गयी। मार्च १९४७ में, सुलह तथा पंचाट द्वारा झगड़ों के निपटारे के तंत्र की स्थापना के लिए औद्योगिक झगड़ा अधिनियम पास हुआ। विराम-प्रस्ताव का परिणाम शीघ्र ही देखने में आया। इससे आगामी वर्षों में श्रमिकों और प्रबंधकों के आपसी संबंध काफी सुधर गये।

उक्त प्रस्ताव के अतिरिक्त, औद्योगिक न्यायाधिकरणों तथा औद्योगिक झगड़ा अधिनियम द्वारा स्थापित अन्य संस्थानों के हस्तक्षेप से हड़तालों की संख्या में कमी हो गयी। पंचाटों के कारण देश के लमभग सभी बड़े उद्योगो में वेतन निर्धारित हो गये और वेतनों का स्तर ऊंचा हो गया। कार्यविस्थाओं में भी सुधार हुआ। १९४७ की तुलना में झगड़ों में ३०·५ प्र. श. की कमी हुई और प्रभावित कामगारों की संख्या में ४२·५ प्र. श. तथा विनष्ट श्रमिक-दिनों में ५२·७ प्र. श. की कमी आयी। झगड़े की औसत अवधि १९४७ में लगभग ९ दिन थी जो १९४८ में घटकर ७·४ दिन रह गयी।

सारणी नं. ८ में १९४८-'५४ के औद्योगिक झगड़ों के आंकड़े अंकित हैं :

सारणी नं. ८

कामबंदियां (१९४८-'५४)

वर्ष	कामबंदियों की संख्या	प्रभावित कामगारों की संख्या	विनष्ट श्रमिक-दिन	
			कुल योग	प्रति प्रभावित कामगार
१९४८	१,२५९	१०,५९,१२०	७८,३७,१७३	७·४
१९४९	९२०	६,८५,४५७	६६,००,५९५	९·६
१९५०	८१४	७,१९,८८३	१,२८,०६,७०४	१७·८
१९५१	१,०७१	६,९१,३२१	३८,१८,९२८	५·५
१९५२	९६३	८,०९,२४२	३३,३६,९६१	४·१
१९५३	७७२	४,६६,६०७	३३,८२,६०८	७·२
१९५४	८४०	४,७७,१३८	३३,७२,६३०	७·०

१९४८ में, सूती कपड़ा मिलों, ऊनी मिलों और रेशमी मिलों के झगड़ों की संख्या कुल झगड़ों का लगभग ⅓ भाग थी और विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या का लगभग ½ भाग। मानक समिति (Standardization Committee) की सिफारिशों को कार्यपरिणत करने के कारण कोइम्बटोर सूती-कपड़ा मिल की हड़ताल दीर्घकाल तक चली क्योंकि इसने कामगारों की छटनी आरम्भ कर दी थी। इस हड़ताल में २३,००० कामगारों ने भाग लिया और यह लगभग तीन महीने तक चलती रही जिससे लगभग १९ लाख श्रमिक-दिनों की हानि हुई। जुलाई में बम्बई के रेशम मिलों के लगभग ९,५०० मजदूरों ने एक आम हड़ताल कर दी। उन्होंने बोनस में तीन मास के वेतन की मांग करने के अतिरिक्त वेतन तथा मंहगाई भत्ता बढ़ाने की भी मांग की थी।

जूट-मिलों में ४६ विवाद उठे जिनसे कुल विनष्ट श्रमिक-दिनों के १५ प्र. श. श्रमिक-दिन विनष्ट हुए। इस उद्योग में बड़े पैमाने पर कामबंदियां हुईं और औसतन ३,००० मजदूर उनसे प्रभावित हुए। इंजीनियरिंग उद्योग में १४३ हड़तालें हुईं जिनसे ८·५ लाख श्रमिक-दिनों की हानि हुई। १९४७ की तुलना में जूट-मिल उद्योग की स्थिति में वैसा कोई सुधार नहीं हुआ जैसा अन्य उद्योगों में देखने को मिलता है। इस उद्योग में असंतोष जारी रहा। १९४७ के नौकरी के आंकड़ों के आधार पर, विभिन्न उद्योगों की कामबंदियों के आंकड़े नीचे दिये जा रहे हैं :

(प्रतिशत)

	१९४७	१९४८
सूती, ऊनी तथा रेशमी मिल	३·६	१·८
जूट मिल	१·४	१·१
इंजीनियरिंग	१·५	०·९५

१९४९ में विवादों की संख्या में और भी कमी हुई। १९४८ में विवादों की संख्या १९५९ थी जबकि १९४९ में यह ९२० रह गयी अर्थात् उसमें २७ प्र. श. की कमी हुई। झगड़ों में फंसनेवाले कामगारों की संख्या में ३५ प्र. श. तथा विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या में १६ प्र. श. की कमी हुई। १९४७ के झगड़ों की विशाल संख्या की तुलना में विवादों की संख्या लगभग आधी रह गयी, और प्रभावित कामगारों की संख्या ३७ प्र. श. और विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या ४० प्र. श. रह गयी। बिहार को छोड़कर, अन्य सभी राज्यों में झगड़ों की संख्या पहले से काफी कम रही। बिहार में खानों के झगड़ों के कारण काफी झगड़े सामने आये। मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और दिल्ली को छोड़कर अन्य राज्यों में पिछले वर्ष की तुलना में कम श्रमिक-दिन नष्ट हुए।

पिछले वर्ष सूती कपड़ा मिलों की हड़तालों की संख्या कुल झगड़ों की संख्या का ३५ प्र. श. थी जबकि इस आलोच्य वर्ष में यह संख्या २९ प्र. श. रही। सबसे अधिक उल्लेखनीय हड़ताल मध्यप्रदेश की कपड़ा मिलों की है जिन्होंने औद्योगिक न्यायाधिकरण के निर्णय को अस्वीकार कर दिया जिससे मालिकों को तालेबंदी की उद्‌घोषणा करनी पड़ी। यह तालेबंदी दो मास से अधिक काल तक चलती रही और इसमें १२,००० कामगारों ने हाथ बंटाया जिससे ६,८२,००० श्रमिक-दिनों की हानि हुई। इसी कोटि की एक अन्य कामबंदी की मिसाल जहां एक सूती कपड़ा मिल के लगभग पश्चिमी बंगाल में मिलती है ३,००० कामगार छटनी तथा अन्य प्रश्नों को लेकर हड़ताल कर बैठे। इससे १·६२ लाख श्रमिक-दिनों की हानि हुई।

जूट मिल उद्योग की स्थिति में सुधार हुआ। १९४८ में जहां इस उद्योग में १·३९ लाख कामगारों ने काम बंद किया था और ११·०८ श्रमिक-दिन विनष्ट हुए थे वहां १९४९ में ये आंकड़े क्रमशः २०.५५ लाख और ५.६३ लाख थे। इंजीनियरिंग उद्योग और रेलवे की स्थिति में भी सुधार हुआ। नगरपालिकाओं में कुल विनष्ट समय का १५ प्र. श. समय विनष्ट हुआ। यह समय अधिकांशतः बंबई नगरपालिका के १०,००० से भी अधिक कामगारों की हड़ताल के कारण विनष्ट हुआ था। उन्होंने दैनिक वेतन-प्रणाली हटाने, दरें बढ़ाकर वेतन-मान निश्चित करने, निर्वाह-योग्य महंगाई भत्ता देने तथा निःशुल्क आवास की व्यवस्था करने की मांग की थी। यह हड़ताल पांच महीने से भी अधिक समय तक चलती रही जिसमें लगभग ६·७२ लाख श्रमिक-दिनों की क्षति हुई।

१९५० में औद्योगिक विराम-संधि को तीन वर्ष हो गये, किन्तु इस वर्ष स्थिति में कोई सुधार दिखाई नहीं दिया। बंबई के सूती कपड़ा मिलों में आम हड़ताल हो गयी। यद्यपि १९४९ की ९२० हड़तालों की तुलना में इस आलोच्य वर्ष में केवल ८१४ झगड़े ही हुए जिनमें १९४९ के ६६ लाख विनष्ट श्रमिक-दिनों की तुलना में १२८·६ लाख श्रमिक-दिन बरबाद हो गये। बंबई नगर के सूती कपड़ा मिलों की हड़ताल १४ अगस्त १९५० को आरंभ हुई। बंबई औद्योगिक न्यायालय ने १९४९ के लिए बोनस में दो महीने का वेतन देने का निर्णय किया था। किंतु मजदूर तीन महीने का वेतन बोनस में मांगते थे। यह हड़ताल दो महीने तक चली जिसमें ९४ लाख श्रमिक-दिन विनष्ट हो गये। इस वर्ष कुल विनष्ट श्रमिक-दिनों की संख्या १२८ लाख थी।

कोयला खानों और रेलों में भी पहले से अधिक समय नष्ट हुआ। कोयला खानों में ६२ झगड़े छिड़े जिनमें ५·६ लाख श्रमिक-दिनों की हानि हुई। १९४९ में ५८ झगड़ों में केवल २·६२ लाख श्रमिक-दिनों की हानि हुई थी। यद्यपि रेलों में विवादों की संख्या इस वर्ष भी २५ ही बनी रही किन्तु १९४९ के २२,५९८ श्रमिक-दिनों की तुलना में १९५० में १,३७,६४३ श्रमिक-दिन विनष्ट हो गये। अन्य उद्योगों की स्थिति में इस वर्ष अच्छा सुधार दृष्टिगत हुआ।

यद्यपि १९५१ में झगड़ों में ३१·५ प्र. श. की वृद्धि हो गयी फिर भी जहां १९५० में १२८ लाख श्रमिक-दिन बरबाद हुए थे वहां इस वर्ष ३८·१८ लाख श्रमिक-दिन ही विनष्ट हुए। १९४५ में सबसे कम श्रमिक-दिन विनष्ट हुए। १९५१ में प्रभावित कामगारों की संख्या भी कुछ कम थी। १९५० के ७,१९,८८३ कामगारों की तुलना में इस वर्ष ६,९१,३२१ कामगार प्रभावित हुए थे।

इस वर्ष की उल्लेखनीय हड़तालें थीं : निंबकर समिति की सिफारिशों के अनुसार न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कराने के लिए उत्तर प्रदेश के चीनी मिलों

ने हड़ताल कर दी; औद्योगिक न्यायाधिकरण (बैंक) के पंचाट को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विखंडित किये जाने के कारण देश भर में बैंक कर्मचारियों ने आम हड़ताल की; संघ को मान्यता दिलाने, वेतन तथा मंहगाई भत्ते में वृद्धि तथा नये वेतन-मान का सूत्रपात कराने के लिए पुंच घाटी कोयलाखानों की हड़ताल; मद्रास तथा नागपुर के सूती कपड़ा मिल उद्योग में हड़ताल। इन कपड़ा मिलों ने कामबंदी का वेतन देने, बोनस देने तथा निकाले गये कर्मचारियों को काम पर वापस लेने से इन्कार किया था।

इस वर्ष में जितनी समय-हानि हुई उसका लगभग $\frac{२}{५}$ भाग अकेले सूती कपड़ा मिल उद्योग के मत्थे पड़ा। उसमें कुल झगड़ों की संख्या का पंचमांश संघटित हुआ। फिर भी १९५१ में पिछले वर्ष की तुलना में कम समय की हानि हुई। १९५० में १०३ लाख श्रमिक-दिनों की हानि हुई थी किन्तु इस आलोच्य वर्ष में केवल १५·५ लाख श्रमिक-दिनों की हानि हुई। जूट मिलों तथा सूती कपड़ा मिलों, कोयला खानों, रेलों तथा अन्य परिवहनों, जहाजीघाटों और बंदरगाहों की श्रमिक-स्थिति में सुधार हुआ। किन्तु खनिजों तथा धातुओं, खाद्यों, पेयों और तंबाकू, लकड़ी पत्थर और कांच, कागज के व्यवसायों तथा छापेखानों, खालों के व्यवसायों, चायबागों और नगरपालिकाओं में भारी समय-हानि हुई।

१९५२ में कोई भी राष्ट्रव्यापी या उद्योग-व्यापी हड़ताल नहीं हुई और १९५१ के १,९७१ झगड़ों की तुलना में इस वर्ष केवल ९६३ झगड़े हुए। १९५१ में प्रभावित कामगारों की संख्या ६·९१ लाख थी जबकि १९५२ में उनकी संख्या बढ़कर ८·०९ लाख हो गयी। किन्तु १९५१ में विनष्ट श्रमिक-दिन ३८·१९ लाख थे जो इस वर्ष घटकर ३३·३७ लाख रह गये।

इस वर्ष के संपूर्ण विनष्ट समय का एक-तिहाई भाग सूती कपड़ा मिलों में गया। इसमें कुल झगड़ों के २४ प्र. श. झगड़े उठे। अहमदाबाद के ७० सूती कपड़ा मिलों के एक लाख से भी अधिक मजदूरों ने छुट्टी के प्रश्न को लेकर हड़ताल कर दी। इससे २·५ लाख श्रमिक-दिनों की हानि हुई। इंजीनियरिंग खनिजों और धातुओं, खाद्यों, पेयों और तंबाकू के व्यवसायों तथा नगरपालिकाओं की श्रम-स्थिति में काफी सुधार हुआ किंतु जूट मिलों, खानों और परिवहन उद्योगों की स्थिति पहले से खराब हो गयी।

पिछले साल की भांति १९५३ में भी कोई राष्ट्रव्यापी या उद्योगव्यापी हड़ताल नहीं हुई। जहां १९५२ में ९६३ झगड़े उठ खड़े हुए थे वहां इस वर्ष केवल ७७२ झगड़े हुए। इन झगड़ों से प्रभावित कामगारों की संख्या भी काफी कम थी। १९५२ में ८·०९ लाख मजदूर प्रभावित हुए थे जबकि १९५३ में उनकी संख्या ४·६६ लाख थी। १९५२ के ३३·३६ लाख विनष्ट श्रमिक-दिनों

की तुलना में १९५३ में ३३·८२ श्रमिक-दिन नष्ट हुए। यह संख्या अवश्य ऊंची उठ गयी। इसका कारण बर्नपुर की इंडियन आयरन एंड स्टील कम्पनी लि. की हड़ताल थी जो मजदूरों की काम-धीरे-करो की नीति से छिड़ गयी थी। यद्यपि पिछले वर्ष की दृष्टि से जूट मिल उद्योग, इंजीनियरिंग, खनिज और धातु, कागज, मुद्रणालयों और बंदरगाहों के क्षेत्रों में समय-क्षति में वृद्धि हुई किन्तु अन्य उद्योगों में यह घट गयी।

गत दो वर्षों तक झगड़ों की संख्या में गिरावट आती रही; किन्तु १९५४ में अचानक उनकी संख्या बढ़ गयी। १९५३ में उनकी संख्या ७७२ थी जो बढ़कर १९५७ में ८४० हो गयी। इनसे प्रभावित होने वाले कामगारों की संख्या भी कुछ बढ़ गयी अर्थात् १९५३ में यह संख्या ४·६६ लाख थी जो १९५४ में ४·७७ लाख हो गई। १९५३ में समय हानि ३३·८२ लाख श्रमिक-दिन थी किंतु १९५४ में वह घटकर ३३·७२ लाख श्रमिक-दिन हो गयी।

जैसा प्रायः देखने में आता रहा है, इस वर्ष भी सूती कपड़ा मिलों में झगड़ों की संख्या सबसे अधिक रही। ८४० झगड़ों में १११ झगड़े सूती मिलों में, २५ झगड़े जूट मिलों में, और ८८ झगड़े अन्य सूती कपड़ा मिलों में उठ खड़े हुए। इंजीनियरिंग उद्योग में १०५ विवाद छिड़े। लकड़ी, पत्थर और अन्य वर्ग के उद्योगों में ८७ विवाद उठे। कागज और छपाई उद्योग में सबसे अधिक समय की हानि हुई। इसके बाद, क्रम से लकड़ी, पत्थर और कांच, सूती कपड़ा, जूट उद्योगों, विविध उद्योगों, कोयला खानों और इंजीनियरिंग उद्योगों का नंबर आता है। पिछले वर्ष की तुलना में, सूती कपड़ा मिलों, इंजीनियरिंग, खनिजों और धातुओं के व्यवसायों, खाद्यों, पेयों, तंबाकू के व्यवसायों और खानों, परिवहनों, जहाजी घाटों, बंदरगाहों और चायबागों में समय-हानि काफी बढ़ गयी।

कारणों की दृष्टि से झगड़ों का वर्गीकरण

१९२१ से १९५४ तक जो हड़तालें हुईं उनका कारणों के आधार पर वर्गीकरण सारणी नं. ९ में किया गया है।

औद्योगिक अवहार प्रस्ताव से प्रायः वेतन और बोनस को लेकर विवाद उठा करते थे। १९२१ से १९३८ तक के वर्षों में ५१·२ प्र. श. मांगें वेतन से, ४·६ प्र. श. मांगें बोनस से, २१·३ प्र. श. मांगें कर्मचारी मंडल से, ४·४ प्र. श. मांगें छुट्टी और काम के घंटों से तथा १८·५ प्र. श. मांगें अन्य विषयों से संबंध रखती थीं। १९३२ से बोनस तथा वेतन-वृद्धि की मांगों में काफी बढ़ोतरी हुई और वे १९४५ तक झगड़ों का मेरुदंड बनी रहीं। १९३९-४७ की अवधि में ४४·१ प्र. श. मांगों का संबंध वेतन से, ७·९ प्र. श. का बोनस

से, १५·६ का कर्मचारी मंडल से, ५ प्र. श. का छुट्टी और बोनस से, तथा शेष का विविध विषयों से रहा।

१९४७ के बाद वेतन-संबंधी मांगों में कमी होकर उनका अनुपात २९·९ प्र. श. रह गया। अन्य मांगें इसी अवधि में इस प्रकार थीं : बोनस ८·३ प्र. श., कर्मचारी मंडल ३०·८ प्र. श., छुट्टी और काम के घंटे ८·३ प्र. श. और अन्य मांगें २२·७ प्र. श.। औद्योगिक झगड़ा अधिनियम १९४७ के अंतर्गत औद्योगिक न्यायाधिकरण स्थापित किये गये जिन्हें वेतनों में संशोधन का काम सौंपा गया। इसी कारण, इस अवधि में शायद वेतन-संबंधी मांगों की प्रतिशत दर कम हो गयी।

परिणाम की दृष्टि से विवादों का वर्गीकरण

परिणाम की दृष्टि से औद्योगिक झगड़ों का अध्ययन अत्यंत आकर्षक प्रतीत होगा। सारणी नं. १० में १९२१ से १९५४ तक के आंकड़े दिये गये हैं।

सारणी से पता चलता है कि १९३९ से पहले विफल विवादों की संख्या ६१ तक ऊंची उठ गयी थी। इस अवधि में केवल १५-९ प्र. श. विवाद सफल रहे और २१ प्र. श. आंशिक रूप से सफल रहे। १९३९-४७ की अवधि में सफल और अर्धसफल विवादों की संख्या क्रमशः १८.० प्र. श. और २२.० प्र. श. थी और इस प्रकार निष्फल विवादों की प्रतिशत संख्या ४४.३ पर पहुंच गयी। इस अवधि में १३.४ प्र. श. झगड़ों का परिणाम अनिश्चित रहा। १९४७-५४ की अवधि में सफल झगड़ों की प्रतिशत संख्या यथापूर्व बढ़ती रही और अर्द्ध सफल झगड़ों की प्रतिशत संख्या १८.० से नीचे गिर कर १३.३ हो गयी। असफल झगड़ों की भी प्रतिशत संख्या गिर गयी किंतु अनिश्चत फल वाले झगड़ों की संख्या बढ़कर २२.२ प्रतिशत हो गयी।

मालिक-मजदूर संबंधों के सूचकांक

औद्योगिक झगड़ों के आंकड़ों से मालिक-मजदूर संबंधों की हवा के रुख का पता चलता है। सारणी नं. ११ में अखिल भारतीय आधार पर पिछले ३० वर्षों के विनिर्माणकारी औद्योगिक अंचल के संबंधों के सूचकांक दिये हुए हैं।

ये सूचकांक मालिक-मजदूर संबंधों के स्पष्ट दर्पण हैं। वास्तव में, उनसे प्रत्येक वर्ष के श्रमिक-दिनों का विवरण मिलता है और औद्योगिक झगड़ों में कितने श्रमिक दिनों की हानि हुई, उनका भी संकेत मिल जाता है। इन सूचकांकों को देखने से भारी उथल-पुथल का संकेत मिलता है। १९२८ में १३.४ से बढ़ते-बढ़ते १९३५ में वे ४३९·४ हो गये। इन परिवर्तनों की अवधि का काल-विभाजन हो सकता है, पिछले तीन दशकों का यह काल-विभाजन

सारणी नं. ९

कारणों के आधार पर कामबंदियों का वर्गीकरण (१९२१-५४)

वर्ष	कामबंदियों की संख्या	प्रभावित कामगारों की संख्या (लाखों में)	विभिन्न विवादों से संबंधित कामबंदियों के प्रतिशतक आंकड़े				
			वेतन	बोनस	सेविवर्ग	छुट्टी और काम के घंटे	अन्य मांगें
१९२१	३९६	६.००	४२.२	१८.९	१७.२	२.७	१८.९
१९२२	२७८ (१)	४.३५	४५.७	११.५	१८.०	६.८	१८.०
१९२३	२१३	३.०१	४४.६	६.६	२५.३	४.२	१९.३
१९२४	१३३	३.१२	३९.८	५.३	२४.०	३.०	२७.९
१९२५	१३४	२.७०	४८.५	४.५	२६.१	—	२०.९
१९२६	१२८	१.९६	४६.९	३.१	२४.२	८.६	१७.२
१९२७	१२९ (२)	१.३१	४७.३	—	२७.९	३.९	२०.९
१९२८	२०३	५.०६	५३.७	०.५	२१.७	३.०	२१.१
१९२९	१४१	५.३१	३८.३	१.४	३९.०	२.१	१९.२
१९३०	१४८	१.९६	४६.६	२.७	२३.०	४.७	२३.०
१९३१	१६६	२.०३	४१.६	१.२	२३.५	१२.०	२१.७
१९३२	११८	१.२८	५७.६	२.५	२६.३	१.७	११.९
१९३३	१४६	१.६४	६५.१	१.४	१३.०	३.४	१७.१
१९३४	१५९	२.२०	६७.३	०.६	१५.१	३.८	१३.२
१९३५	१४५	१.१४	६२.८	१.४	१४.५	६.८	१४.५
१९३६	१५७ (३)	१.६९	६१.७	०.७	१५.३	३.८	१९.१
१९३७	३७९ (४)	६.४७	६१.७	१.०	१९.३	३.२	१४.८
१९३८	३९९	४.०१	५२.४	०.७	२३.०	५.४	१८.५

१९३९	४०६	४.०९	५७.१	०.६	१८.२	२.९	२१.२
१९४०	३२२	४.५२	६२.७	२.८	१६.८	३.१	१४.६
१९४१	३५९	२.९१	६०.७	२.५	१५.३	४.२	१७.३
१९४२	६९४	७.७२	५१.७	११.४	९.१	१.०	२६.८
१९४३	७१६	५.२५	४७.८	७.७	७.४	१.९	३५.२
१९४४	६५८ (५)	५.५०	५६.५	७.६	१२.५	५.३	१७.९
१९४५	८२० (६)	७.४७	४३.४	१३.४	१७.७	६.८	१७.९
१९४६	१,६२९ (७)	१९.६१	३७.१	४.८	१७.२	८.०	३२.८
१९४७	१,८११ (८)	१.८४	३१.७	१०.८	१९.३	५.२	३२.१
१९४८	१,२५९ (९)	१०.५९ (१०)	३०.४	८.९	२८.८	८.७	२२.२
१९४९	९२० (११)	६.८५	३०.१	५.७	२३.६	९.१	२५.५
१९५०	८१४ (१२)	७.१९ (१३)	२८.६	९.०	२२.९	८.२	२८.५
१९५१	१,०७० (१४)	६.९१	२८.१	६.५	२८.१	७.८	२५.२
१९५२	९६३ (१५)	८.०९	२९.४	९.८	३३.८	७.५	१६.४
१९५३	७७२ (१६)	४.६६	२६.०	९.८	३५.७	४.५	१८.४
१९५४	८४० (१७)	४.७७	२८.६	६.४	३५.२	९.५	१५.६

(१) एक हड़ताल चार राज्यों में फैल गयी थी
(२) एक हड़ताल तीन राज्यों में फैल गयी थी
(३) एक हड़ताल पांच राज्यों में फैल गयी थी
(४) एक हड़ताल पांच राज्यों में फैल गयी थी
(५) एक हड़ताल की मांगें विदित नहीं हैं
(६) छह की मांगें विदित नहीं
(७) दो की मांगें विदित नहीं
(८) सत्रह की मांगें; नव के प्रभावित कामगारों की संख्या तथा दस के विनष्ट श्रमिक-दिवसों की संख्या अज्ञात है
(९) बारह कामबंदियों की मांगें विदित नहीं
(१०) चार की कामगार-संख्या मालूम नहीं है
(११) पचपन की मांगें ज्ञात नहीं
(१२) तैंतीस की मांगें विदित नहीं
(१३) ५८ कामबंदियों के कामगारों की संख्या अज्ञात है
(१४) ४५ की मांगें अविदित हैं
(१५) ३० की मांगें ज्ञात नहीं हैं
(१६) ४२ की मांगें ज्ञात नहीं हैं
(१७) उनतालीस की मांगें विदित नहीं हैं

सारणी नं. १०

परिणाम की दृष्टि से कामबंदी

वर्ष	कामबंदियों की संख्या	विभिन्न कोटि की कामबंदियों के प्रतिशतक आंकड़े			
		सफल	आंशिक सफल	असफल	अनिश्चित
१९२१	३९६	२३.२	२१.९	५३.३	१.६
१९२२	२७८	१२.४	९.०	७७.२	१.४
१९२३	२१३	१६.०	९.०	७४.५	०.५
१९२४	१३३	१७.३	१५.९	६६.१	०.७
१९२५	१३४	१२.७	२०.५	६६.१	०.७
१९२६	१२८	९.४	९.४	८१.२	—
१९२७	१२९	११.६	२४.८	६१.३	२.३
१९२८	२०३	१३.३	२०.३	६३.०	३.४
१९२९	१४१	२२.०	१०.२	५६.७	२.१
१९३०	१४८	२४.४	१४.९	६०.१	०.६
१९३१	१६६	१३.८	२५.३	५९.७	१.२
१९३२	११८	११.९	२२.७	६२.७	२.५
१९३३	१४६	१३.७	१५.७	६५.८	४.८
१९३४	१५९	२०.१	१५.७	६२.९	१.३
१९३५	१४५	१७.२	२०.०	६०.०	२.८
१९३६	१५७	१९.८	२७.३	४८.४	४.५
१९३७	३७९	१३.५	३०.९	५२.२	३.४

१९३८	३९९	१२.८	३२.६	५१.६	३.०
१९३९	४०६	१५.५	३५.५	४५.६	३.४
१९४०	३२२	२६.७	२४.८	४६.६	१.९
१९४१	३५९	२०.९	३०.९	४६.०	१.४
१९४२	६९४	१६.८	२४.८	५४.५	४.४
१९४३	७१६	१९.२	२९.३	४३.९	७.६
१९४४	६५८ (१)	१८.१	२६.६	४५.१	९.३
१९४५	८२० (२)	१६.३	१८.९	४५.१	१९.५
१९४६	१,६२९ (३)	१७.१	१६.८	४२.७	२१.२
१९४७	१,८११ (४)	१७.१	१६.५	३८.७	२६.४
१९४८	१,२५९ (५)	१८.६	११.४	४१.९	२५.९
१९४९	९२० (६)	१२.२	१२.९	३९.१	१८.८
१९५०	८१४ (७)	१५.८	१०.१	४१.५	१९.५
१९५१	१,०७० (८)	१४.०	१३.५	४०.२	१५.९
१९५२	९६३ (९)	२०.७	१२.३	३९.९	१८.०
१९५३	७७२ (१०)	१५.८	१२.४	३७.१	२६.५
१९५४	८४० (११)	१३.९	९.९	३१.१	३०.२

(१) एक का परिणाम ज्ञात नहीं
(२) एक का परिणाम ज्ञात नहीं
(३) पैंतीस का परिणाम ज्ञात नहीं
(४) पच्चीस का परिणाम ज्ञात नहीं
(५) अट्ठाईस का परिणाम ज्ञात नहीं
(६) एक सौ सत्तावन का परिणाम ज्ञात नहीं
(७) १०६ का परिणाम ज्ञात नहीं
(८) १७४ का परिणाम ज्ञात नहीं
(९) ८८ का परिणाम ज्ञात नहीं
(१०) ६३ का परिणाम ज्ञात नहीं
(११) १२४ का परिणाम ज्ञात नहीं

इस प्रकार होगा : १९२७ से १९३५, १९३५ से १९४३ और १९४३ से १९५२। एक अन्य चरण का प्रारंभ १९५२ से होता है। यदि इस काल-विभाजन को उपयोगी माना जा सकता है तो भारत के विनिर्माणकारी उद्योगों के अंचल में ९-१० वर्षों को एक चरण मान लेना चाहिए। इस समय यह कहना कठिन है कि जो चरण १९५२ से आरंभ हुआ है वह इसी तरह गुजर जाएगा या उसमें इतिहास की पुनरावृत्ति होगी। निःसंदेह, इस समय मालिक-मजदूर संबंध अपेक्षाकृत मधुर हैं। फिर भी मालिकों और कामगारों के आपसी मधुर व्यवहार पर अधिकांश निर्भर है।

ग्राह्य मूलनीति

श्रमिक-संबंध विधेयक (Labour Relations Bill)—१९५० में सरकार ने संसद के सामने श्रमिक-संबंध विधेयक और मजदूर संघ विधेयक (Trade Union Bill) प्रस्तुत किये। किंतु संसद के भंग हो जाने से विधेयकों की अवधि समाप्त हो गयी। इन विधेयकों के उपबंधों का विरोध सभी क्षेत्रों में हुआ। कुछ आलोचनाएं तो बड़ी तीव्र थीं। उनमें कहा गया था कि ये विधेयक तो श्रमिक-संबंधों के मूल सिद्धांतों पर प्रहार कर रहे हैं। किन्हीं आलोचकों की दृष्टि से ये विधेयक बड़े ही उलझनपूर्ण और बोझिल थे। इनसे निपटारा करने की व्यवस्था के पहिए में रोड़ा अटकता और लंबी मुकदमाबाजी का द्वार खुलता था। एक महत्त्वपूर्ण विरोधी दृष्टिकोण यह था कि इनमें न्यायिक निर्णय तथा तत्संबधी न्यायिक कार्यवाही पर इतना बल दिया गया था कि हड़ताल और तालेबंदी-संबंधी प्रतिबंध और आपसी समझौता-वार्ताएं तथा सामूहिक सौदाकारी केवल दिखावा हो गयी थी और उससे कोई परिणाम हाथ न लग सकता था। जब महानिर्वाचन के बाद त्रिदलीय बातचीत नये सिरे से हुई तब उसका निष्कर्ष यही था कि उक्त विधेयकों को प्रस्तुत न किया जाए। निदान, विद्यमान औद्योगिक झगड़ा अधिनियम में कुछ संशोधन करने का सुझाव दिया गया। इसलिए यह विधेयक १९५६ में यथेष्ट ढंग से संशोधित हो गया।

अनिवार्य न्यायिक निर्णय (Adjudication)—भारत में मालिक-मजदूर संबंधों की नीति का आधार क्या होना चाहिए, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया है। क्या यह आधार अनिवार्य न्यायिक निर्णय या सामूहिक सौदाकारी या इन दोनों का सम्मिश्रण होना चाहिए? पिछले महासमर तक जनता अनिवार्य न्यायिक निर्णय की ओर नहीं मुड़ सकी। वास्तव में, एक समय था जबकि सभी नामधारी श्रमिक-संगठन इसके विरोधी थे। किंतु, जैसाकि पहले

कहा जा चुका है, महासमर के कारण उद्योगों में हड़ताल और तालेबंदी बंद करना आवश्यक हो गया और झगड़ों के निपटारे के लिए एक विशेष तंत्र की खोज की गयी। अन्य देशों की भांति भारत ने अनिवार्य न्यायिक निर्णय का आश्रय लिया। महासमर के बाद अन्य देशों ने प्रायः इस साधन को तिलांजलि दे दी; किंतु भारत ने उसके उपबंधों को और भी कठोर कर दिया।

औद्योगिक झगड़ा अधिनियम १९४७ के लागू होने से अनिवार्य न्यायिक-निर्णयों की संख्या में वृद्धि हो गयी और श्रमिक अपील न्यायाधिकरणों (अर्द्ध न्याय-प्रणाली) का काम बढ़ गया। इसकी प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी। निदान, अनिवार्य न्यायिक निर्णय के प्रयोग को न्यूनतम करने की मांग होने लगी। यही शिकायत श्रमिक-संबंध विधेयक, १९५० के विरुद्ध की जाती थी। प्रायः लोगों का यही कहना था कि अनिवार्य न्यायिक निर्णय का सहारा विशेष परिस्थितियों में ही लेना चाहिए, नहीं तो स्वेच्छापूर्ण सुलह और स्वेच्छापूर्ण विवाचन द्वारा सामूहिक सौदाकारी और आपस में मिलकर बंदोबस्त करने (Mutual Settlement) की पद्धति पर ही अधिक बल देना चाहिए।

भीतरी बंदोबस्त—श्रमिक-विवादों के समाधान का प्रश्न ध्यान में रखकर भारत को एक बुनियादी नीति बनानी होगी। औद्योगिक झगड़ों का उद्योगों के भीतर ही बंदोबस्त कर लेना तथा विवादग्रस्त प्रश्नों पर अनिवार्य निर्णय का बोझ न डालना बल्कि उनमें स्वशासन और आत्मदायित्व की भावना पैदा करना इस बुनियादी नीति का आधार होना चाहिए। इस प्रकार की नीति उद्योग के समस्त अंचलों और रोजगार के समस्त क्षेत्रों में लाभदायक सिद्ध होगी।

इस नीति के बारे में एक आशंका यह है कि इससे मालिकों को एकपक्षीय लाभ पहुंचेगा। वे मजदूर संघों के विकास में रोड़ा अटका सकेंगे और अंत में कामगारों से सच्चा सहयोग करना बंद कर देंगे। किंतु ऐसी बात नहीं। यदि मालिकों ने यह आत्मघाती नीति अपनायी और जिसकी लाठी उसकी भैंस की नीति पर उतारू हो गये, यदि उन्होंने उक्त परीक्षण की भावना को ठुकरा दिया तो इससे अंत में कामगारों की अपेक्षा मालिकों को ही अधिक हानि उठानी होगी। कारण यह है कि दोनों पक्षों में कटुता पैदा हो जाएगी जिससे उन्हें अनिवार्य न्यायिक निर्णयों और पंच-फैसलों की शरण लेनी पड़ेगी। इस दशा में कोई नहीं कह सकता है कि मालिक-मजदूर संबंध कहां तक बिगड़ सकते हैं।

आपातकाल की व्यवस्था—आंतरिक झगड़ों और अव्यवस्था की स्थिति में क्या करना चाहिए ? जब कोई उद्योग ठप्प हो रहा हो, जिससे उत्पादन और रोजगार दोनों की स्थिति को धक्का पहुंचने की आशंका हो तब क्या

करना चाहिए ? इसका उत्तर एक ही है : तब आपातकालिक पग उठाना होगा। इस आपातकाल में विधानमंडल को चाहिए कि वह सरकार को उचित अधिकार दे। जब विधानमंडल की बैठक न हो रही हो तब अध्यादेश जारी करके सरकार को उचित शक्ति दे देनी चाहिए। ताकि वह पंच नियुक्त करके अथवा अन्य किसी तरीके से झगड़े को निपटवा सके। इस प्रकार जब आपात-काल आए तब उसका बंदोबस्त किया जा सकता है।

प्रश्न यह है कि क्या सावधानी की दृष्टि से, समय रहते, सरकार को आपात-कालिक शक्ति देना बेहतर नहीं होता है ? या आपातकाल आने तक हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना ही ठीक होता है ? इस संदर्भ में, यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि केवल हड़ताल या तालेबंदी करने या उनकी धमकी देने या इसी प्रकार का अन्य दबाव डालने से कोई आपातकाल नहीं आ जाता है और इतनी-सी बात का बतंगड़ बनाकर अनिवार्य विवाचन (compulsory arbitration) करवाने को विवश नहीं किया जा सकता है। जब तक कोई ऐसी स्थिति सामने न आ जाए जिससे समस्त समाज के संकट में फंसने का खतरा पैदा न हो जाए या जिससे उस पर संकट की बिजली टूटकर गिरने की आशंका उत्पन्न न हो जाए अथवा जिसका समय रहते उचित ढंग से निवारण न होने से किसी भीषण दुष्परिणाम निकलने की संभावना न हो तब तक आपातकालिक शक्ति का प्रयोग न करना चाहिए। आगे इस प्रकार की अवस्था में भी, केंद्रीय सरकार और संबंधित राज्य-सरकार के बीच परामर्श होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त संबंधित पक्षों के विचारों पर भी पूर्ण ध्यान देना चाहिए।

जो उद्योगों के भीतर श्रमिक विवाद के आपसी निपटारे में विश्वास करते हैं। वे इस बात पर सहमत हो जाएंगे कि सभी उद्योगों में इस प्रक्रिया का अनुकरण करना चाहिए ताकि न्यायिक निर्णय की आवश्यकता खत्म हो जाए। परीक्षण-काल में आपात-कालिक शक्ति केंद्रीय सरकार को दे देनी चाहिए जो राज्य के निजी या सरकारी क्षेत्रों में आवश्यक पग उठा सके।

उद्योग-स्तर पर बंदोबस्त—यदि अनिवार्य न्यायिक निर्णय से पिंड छुड़ाना है तो मालिकों और सरकार को प्रत्येक उद्योग-स्तर पर भीतरी बंदो-बस्त की प्रक्रिया (Settlement at industry level) को बढ़ावा देना होगा और इसलिए मजदूर संघों के अधिकारों को मान्यता देनी पड़ेगी। सम्मि-लित तंत्र (joint machinery) के संचालन को भी पूरी ढील देनी होगी। यदि इस सम्मिलित तंत्र को झगड़े के समाधान में सफलता न मिले तो १९१९ के ब्रिटिश इंडस्ट्रियल कोर्ट्स एक्ट(British Industrial Courts Act) के नमूने के जांच-न्यायालय या औद्योगिक न्यायालय स्थापित करके झगड़ा

उनके सामने प्रस्तुत करना चाहिए। ऐसा होने पर केवल कामगारों को ही संगठित होने की प्रेरणा नहीं मिलेगी बल्कि मालिक भी यह अनुभव करने लगेंगे कि यदि कामगारों से राजीनामा न किया तो उद्योगों में शांति की स्थापना एक स्वप्न की कहानी बन जाएगी। इस दशा में यदि मालिक ही झगड़े पर उतारू होंगे तभी झगड़ा हो सकेगा अन्यथा नहीं।

ऐच्छिक विवाचन (voluntary arbitration)—यदि सम्मिलित तंत्र को झगड़े के समाधान में सफलता न मिले तो संबंधित पक्षों को मिलकर अपना मामला विवाचन के लिए प्रस्तुत कर देना चाहिए। इस दशा में जो निर्णय हो उसे दोनों पक्षों को अपने सिर-माथे लेना होगा। यह कामगार और मालिक दोनों की दृष्टि से हितकर होगा कि वे अपनी सहमति से अपना झगड़ा ऐच्छिक विवाचन के लिए भेजें।

अनिर्णीत झगड़े (unresolved disputes)—अनिर्णीत झगड़ों के कारण, हड़ताल या तालेबंदी हो सकती है, इस विचार से अधिक भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। उत्पादन-बंदी अथवा हड़ताल अथवा तालेबंदी को बर-काने की इच्छा किसी समझौता-सम्मेलन की आधारशिला मानी जा सकती है क्योंकि यह भय समझौता या राजीनामा करने की दिशा में विवादग्रस्त पक्षों को ढकेलता रहता है। चाहे कितनी ही "रियायतें" क्यों न देने पड़ें, प्रत्येक पक्ष की भलाई समझौता करने में ही दिखती है।

सामूहिक करार (collective agreements) आपस में बातचीत करके जो करार होता है उसे संबंधित पक्ष अधिक लगन के साथ बरतते हैं; किंतु जो बात कानून द्वारा ऊपर से थोपी जाती है वह बोझिल प्रतीत होती है और उसे व्यवहार में लाने के लिए भारी टप्पर उठाना पड़ता है। सामूहिक करार लेन-देन की रीति के परिणाम होते हैं। मालिक किसी उक्त प्रकार के करार पर हस्ताक्षर करते समय स्वयं या अपने प्रतिनिधि की मार्फत तत्संबंधी सभी नियमों-विनियमों के परिपालन का वचन देता है और उसका उस पर दृढ़ रहना स्वाभाविक है। इसी प्रकार संघों को समझौता-वार्तावाहक अपनी ओर से तथा कामगारों की ओर से वचन देते है। दोनों पक्ष प्रायः विस्तृत वार्तालाप के बाद ही समझौता करते हैं और वे उसको तत्कालीन परिस्थितियों के अंतर्गत यथासंभव सबसे अच्छा मार्ग मानते हैं।

निरोधात्मक कार्यवाही—औद्योगिक शांति की स्थापना के लिए निरोधा-त्मक कार्यवाही (preventive measures) भी कम आवश्यक नहीं है। इससे आपसी समझौतों, सामूहिक सौदों और ऐच्छिक विवाचनों के फलीभूत होने में सहारा मिलता है। प्रत्येक स्तर पर झगड़ों को बरकाने की कोशिश करनी चाहिए, यहां तक कि अंतिम चरण अर्थात सुलह की नौबत भी न आनी

चाहिए। भारत की अपेक्षा जिन अन्य देशों में सुलह के तंत्र ने अधिक सफलता-पूर्वक काम किया है वहां सुलह करनेवाले (संराधक), चाहे कोई विवाद विद्यमान हो या नहीं, सदा ही मालिकों और मजदूर संघों से संपर्क बनाये रहते हैं। वे दोनों पक्षों से उन विषयों पर बातचीत करते रहते हैं जिनसे संघर्ष छिड़ने की खटका होती है। इस प्रकार की रोकथाम की कार्यवाही से झगड़ों को टालने में बड़ी मदद मिलती है। वास्तव में सुलह के तंत्र पर निम्नांकित उत्तरदायित्व डाल देने चाहिए :

(१) स्वस्थ औद्योगिक संबंधों की उन्नति को बढ़ावा देना;
(२) ऐच्छिक समझौता-वार्ता तथा विवाचन के तंत्र को बढ़ावा देना;
(३) ऐच्छिक समझौतों को पंजीबद्ध कराना।

सार्वजनिक हित — पिछले कुछ वर्षों में असली प्रश्न सामने आ गया है। सामूहिक सौदाकारी का व्यावहारिक रूप श्रमिकों और व्यवस्थापकों की स्वेच्छा और योग्यता पर निर्भर है। यदि वे यह संबंध सार्वजनिक हित की दृष्टि से बनाये रखना चाहते हैं तो ऐसा कर सकते हैं। श्रमिकों और व्यवस्था में से किसी भी पक्ष को अपनी मांगें एकपक्षीय ढंग से थोपने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। न उन्हें सामूहिक सौदे द्वारा इतनी भारी मांगें थोपने की चेष्टा करनी चाहिए जो सामाजिक चाह से भी आगे बढ़ गयी हों। औद्योगिक लोकतंत्र का तकाजा है कि अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने जिस विचारधारा को औद्योगिक संबंधों के लिए "अधिक सभ्यतापूर्ण विचारधारा" के रूप में स्वीकार किया है उसका ही सहारा विवादग्रस्त पक्षों को लेना चाहिए ! यह विचारधारा है कि "वाद-विवाद की अपेक्षा विचार-विनिमय की ओर रुझान" होनी चाहिए।

आपसी बातचीत द्वारा समझौता करने की सच्ची प्रवृत्ति प्रायः इस देश में बहुत कम पायी जाती है। इसके दो कारण हैं : जहां एक ओर व्यवस्थापक यह चाहते हैं कि उन्हें अटूट विवादों में, जिनका अंत कहीं नहीं दीखता है, बहुधा न फंसना पड़े, वहां दूसरी ओर श्रमिकों में धैर्य की कमी है और वे यह चाहते हैं कि किसी-न-किसी स्तर पर उनकी शिकायतें शीघ्र दूर कर दी जाएं। सरलता और अधिक सफलता के साथ झगड़े निपटाने का ढंग न तो कामगारों ने ही सीखने की कोशिश की है न सेवायोजकों ने ही, जिन्हें आपसी समझौता-वार्ता में विश्वास रखने की आवश्यकता है। दोनों पक्षों को समझौता-वार्ता में पूर्ण विश्वास रखने की आदत डालनी चाहिए।

सद्भावना की आवश्यकता — सामूहिक सौदाकारी की सफलता की कुंजी आपसी मतैक्य है। समझौता हो जाने पर दोनों पक्षों को चाहिए कि उसको नेक नीयत से मंजूर करें और उस पर अमल करें। कामगारों को यह बात पूरी तरह मालूम होनी चाहिए कि उत्पादन का मानदंड ऊंचा करने में मालिकों को

उद्योगों में वैज्ञानिक ढंग के प्रबंध का मार्ग साफ करने के लिए इन अधिकारियों की जरूरत है।

बुनियादी बातें—सेविवर्ग की व्यवस्था से क्या अभिप्राय है? सेविवर्ग का प्रबंध करना एक कला और विज्ञान है। सेविवर्ग का अर्थ उन लोगों से है जो उत्पादन के व्यवसायों में लगे हुए हैं। इस सिद्धांत के मूल में यह विचार काम करता है कि उत्पादन के कार्यों में लगे हुए व्यक्ति भी मनुष्य ही होते हैं और अन्य लोगों की भांति उनके हृदयों में भी महत्त्वाकांक्षाएं गुदगुदी मचाती हैं; उनको भी अपने अरमानों का नाज होना वाजिब है और उनकी भी भुजाओं में काम करने की ताकत होती है। यद्यपि उनको उत्पादन की प्रक्रिया में लक्ष्य पर पहुंचने का एक साधन बना लिया गया है फिर भी समाज के सदस्य होने के नाते वे भी अंत में उस उत्पादन के भागीदार और उपभोक्ता हैं। वैज्ञानिक ढंग की व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह उद्योग को एक अलग चीज न मानकर, उसे समस्त सामाजिक पद्धति का एक अंग मानता है। ये बुनियादी बातें मालिक के दृष्टिकोण पर प्रभाव डालती हैं और उसको यह समझने की प्रेरणा देती हैं कि श्रमिकों के संतुष्ट और प्रसन्न होने से ही उद्योग फलफूल सकता है; जब कामगार अपने हित को और मालिक के हित को एक मानने लगता है तभी उद्योग उन्नति कर सकता है। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापक (मैनेजर) को उद्योग के संचालन में सामान्य जनता की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त होना चाहिए। इस दशा में ही, व्यवस्था सुचारु और लाभदायक हो सकती है।

औद्योगिक ढांचे की तुलना—किसी भी औद्योगिक पद्धति के दो स्तंभ होते हैं—जन और सामग्री। वैज्ञानिक और प्राविधिक विशेषज्ञ सामग्री के साधानों की व्यवस्था करते हैं ताकि माल का उत्पादन आर्थिक दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हो सके अर्थात् उसका मूल्य सामान्य और उसकी किस्म (प्रकार) ठीक हो। जो अधिकारी सेविवर्ग का प्रबंध करते हैं वे कामगरों पर कार्य का आवश्यक भार नहीं बढ़ाते हैं और उनके स्वास्थ्य का ध्यान भी रखते हैं, इस प्रकार जन-शक्ति और उनकी क्षमता पर आंच नहीं आने पाती है; इसलिए जन-स्तंभ दृढ़ रहता है। ब्रिटेन और अमेरिका जैसे प्रगतिशील देशों में सेविवर्ग के प्रबंध के लिए क्रमबद्ध वैज्ञानिक सर्वेक्षण होते रहते हैं। किंतु भारत में इस दिशा में कोई भी उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई है।

यह जानना चाहिए कि सेविवर्ग के सुप्रबंध से सामाजिक न्याय और समता के सिद्धांत की दृष्टि से उद्योग की कार्यक्षमता और अर्थ व्यवस्था में उन्नति होती है। इससे औद्योगिक पद्धति के अंतर्वर्ती विभिन्न गुटों को भी संतुष्ट किया जा सकता है। सेविवर्ग की व्यवस्था की नीति दृढ़ होनी चाहिए;

किंतु आवश्यकतानुसार उसमें हेरफेर की भी गुंजाइश होनी चाहिए ताकि सारा ढांचा मानवता से सराबोर रहे। इस दृष्टि से, सेविवर्ग के अधिकारियों का उपयोग बढ़ जाता है वे कामगारों के व्यक्तित्व का अधिक से अधिक विकास कर सकते हैं; वे उनमें उद्योग की साझेदारी की भावना पैदा कर सकते हैं; और वे कामगारों को हंस-हंस कर योग्यतापूर्वक काम करना सिखा सकते हैं। इसलिए सेविवर्ग के अधिकारी में उद्योग अथवा फैक्टरी में काम करने वाले मजदूरों के विभिन्न गुटों के लिए उपयुक्त क्षमता, आरंभशक्ति और सूझबूझ होनी चाहिए। यह चीज आधुनिक विभिन्न उत्पादन प्रक्रियाओं के लिए विशेष उपयोगी है क्योंकि ये प्रक्रियाएं बड़ी ही उलझनपूर्ण और गोलमोल बन गयी हैं।

कार्य—सेविवर्ग के प्रबंध का कार्य आदि से अंत तक मानवीय साधनों पर निर्भर है। उद्योग में रंगरूट भरती करने से लेकर कर्मचारियों के अवकाश-ग्रहण तक उसका कार्यक्षेत्र फैल रहा है। सेविवर्गाधिकारी का पहला कार्य यह है कि वह हरेक काम के लिए ठीक कर्मचारी चुने और उसे ठीक स्थान पर नियोजित करे। उसके कर्त्तव्य की इतिश्री इससे नहीं हो जाती है कि वह किसी काम के लिए सबसे उत्तम आदमी छांट लेता है। उसका कर्त्तव्य है कि वह उस योग्य आदमी को प्रसन्न रखे और उसके सहयोग का लाभ उठाता रहे। वह उसे अवसर दे और उसकी आरंभकशक्ति को कार्यक्षेत्र प्रदान करे ताकि उस व्यक्ति की प्रतिभा निखर उठे। उद्योग में लगे हुए कामगारों को यह अनुभव कराना चाहिए कि "उद्योग के भीतर उनका प्रशिक्षण" उनको क्रमिक पदोन्नति का द्वार खोल रहा है। इससे उनमें उत्साह का संचार होगा और उनमें आगे बढ़ने की लालसा जाग पड़ेगी। जिनका उत्पादन बढ़ाने में उपयोग हो सकता है। सेविवर्ग के सबंध को इस क्षेत्र में निरंतर शोध करना चाहिए और श्रम-प्रबंध के क्षेत्र को विस्तृत करके दोनों वर्गों की आपसी सद्भावना को जागरित करना चाहिए ताकि उभय पक्ष उससे लाभ उठा सकें। इस समय, मित्रता, आपसी विश्वास और उद्योग में साझेदारी की भावना दृढ़ करने के लिए औद्योगिक संघर्षों और झगड़ों से बचने की बड़ी आवश्यकता है। उद्योगों को इस समस्या का चतुराई से सामना करना और उसे संतोषजनक ढंग से हल करना चाहिए। यद्यपि ये समस्याएं बड़ी उलझनपूर्ण हैं फिर भी यदि मजदूरों को संतुष्ट और सुखी रखना है तो उनको हल करना ही पड़ेगा।

भारत में प्रगति—भारत में सेविवर्ग की व्यवस्था का समारंभ बड़े शुभ मुहूर्त में हुआ। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के आरंभ में, भारतीय कामगार मजदूर संघ आंदोलन का संगठन करने लगा। मालिकों को उनकी यह हलचल नहीं भाती थी। उन्होंने सेविवर्ग के अधिकारी और कल्याण-अधिकारी नियुक्त

किये। ये मालिकों के अपने आज्ञापालक अनुचर माने जाते थे और श्रमिकों के हित की पर्वाह किये बिना न्याय तथा सत्य तक का गला घोंटने को न झिझकते थे। इन अधिकारियों के मन में यह बात बैठ गयी कि वे प्रबंध-व्यवस्था के अंग हैं। वे कदाचित् ही कामगारों के प्रति निष्पक्ष भाव रखते थे। उन्हें मजदूर संघ आंदोलन के पास फटकने तक की अनुमति न थी। फिर भला वे मजदूरों का दृष्टिकोण ठीक रूप से कैसे समझ सकते थे? उनकी इस रीति-नीति का, यह स्वाभाविक परिणाम निकला कि मजदूर संघ उनको संदेह और अविश्वास की निगाह से देखने लगे। उन्हें कामगार मालिकों का गुर्गा और भेदिया मानने लगे जिनका काम मजदूरों की हलचलों के बारे में सूचनाएं देना था।

निदान, वर्तमान दशक में, मालिकों की सेविवर्गाधिकारी—संबंधी रीति-नीति में एक सराहनीय परिवर्तन हुआ है। जो मालिक सेविवर्गाधिकारियों को केवल इसलिए नियुक्त करते हैं कि वे राजकानूनों का परिपालन करवा सकें अथवा; जैसाकि देखने में आता है, वे विभिन्न श्रमिक विधानों के संबंध में प्रलेख अथवा आंकड़े संकलित करवा सकें तो वे सेवि-वर्ग के प्रबंध-तंत्र का वास्तविक महत्त्व समझने में भूल करते हैं। इस व्यवस्था का वास्तविक उपयोग तभी हो सकता है जबकि इन अधिकारियों को उद्योग तथा श्रमिकों, दोनों के हित में निष्पक्ष रूप से काम करने की स्वतंत्रता दी जाए।

एक और बात है : सेविवर्ग के अधिकारियों की सेवा उसी दशा में उपलब्ध की जाती है जब विवाद उठ खड़ा होता है। इससे पहले उनकी याद भी नहीं आती है। झगड़ों का निपटारा करवाने में उनकी सहायता बड़ी उपयोगी है। इसलिए झगड़ा छिड़ने से पहले उनकी शरण लेना उत्तम होगा। एक ओर निरंतर श्रमिकों के संपर्क में रहकर तथा उन्हें प्रबंध-व्यवस्था की रीति-नीति बताकर और दूसरी ओर श्रमिकों की संभाव्य प्रतिक्रिया से मालिकों को अवगत कराके, सेविवर्ग-नियामक अधिकारी उद्योगों में झगड़ों की संख्या कम कर सकते हैं और फिर नयी तिकड़मों को भी कम ढील मिलेगी।

मालिकों के रुख में परिवर्तन होने के कारण, कामगारों का उक्त अधिकारियों के प्रति इन वर्षों में वैसा ही रवैया बदल गया है। इसलिए सेविवर्ग के प्रबंधक अधिकारियों को ऐसे काम सौंपना चाहिए ताकि मजदूरों के मन में यह संस्कार पैदा हो जाए कि वे उनके विश्वासपात्र और उपयोगी बिचौलिए बन सकते हैं और यदि बड़ी समस्याएं नहीं तो छोटी समस्याएं तो उनके हित की दृष्टि से, प्रत्येक दशा में, हल कर ही सकते हैं। मालिकों को इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि वे इन अधिकारियों को अपनी शतरंज के मोहरे बनाने की कोशिश न करें क्योंकि ऐसी नीति से कामगारों के मन में दुविधाएं पैदा हो जाएंगी और ये अधिकारी फिर किसी काम के न रह जाएंगे। उदाहरण के

लिए न्यायाधिकरण में मजदूरों के विरुद्ध मालिकों के केस की पैरवी के लिए इन अधिकारियों को पेश न होना चाहिए। सेविवर्ग के अधिकारी को केवल फैक्टरी के परकोटे के भीतर मजदूरों के साथ संपर्क जोड़कर ही संतुष्ट न हो जाना चाहिए। उसे तो उनके साथ इतना घुलमिल जाना चाहिए कि वह उनको सामाजिक और नागरिक मामलों तक में सलाह-मश्वरा देने लगे।

सफलता के लिए उपयोगी बातें—सेविवर्ग-व्यवस्था-तंत्र, चाहे ये कल्याण-अधिकारी हों या सेविवर्ग-अधिकारी हों, तभी सफल हो सकेगा जबकि निम्नांकित बातों पर अमल किया जाए :

(१) जो मालिक उक्त अधिकारियों को नियुक्त करते हैं उन्हें यह न मान लेना चाहिए कि ये अधिकारी उनकी मरजी के गुलाम हैं और वे उनसे चाहे कुछ करवा सकते हैं। मालिकों को चाहिए कि वे स्थिति समझने के लिए उनकी सलाह लें और सोच-विचार करते समय उनके दृष्टिकोण का पूरा-पूरा आदर करें।

(२) सेविवर्ग-अधिकारियों का दोहरा काम होता है। उन्हें कामगारों की मांगें और परिवेदनाएं मालिकों के सामने पेश करनी पड़ती हैं और मालिकों की प्रबंध-संबंधी विभिन्न नीतियां मजदूरों को समझानी पड़ती हैं ताकि दोनों पक्षों में एक-दूसरे को समझने और एक-दूसरे की ओर झुकने की भावना पैदा हो और उनमें बेहतर औद्योगिक संबंध बने रहें। उन्हें मजदूर संघों और मालिकों के संगठनों, दोनों से घनिष्ट संपर्क रखना चाहिए तथा उद्योग-संबंधी सेविवर्ग के मामलों में उन्हें जो गंभीर सूझबूझ प्राप्त है उससे उन्हें कामगारों और मालिकों के प्रतिनिधियों की समझौता-वार्ता में सहायता के लिए प्रत्येक स्थल पर खड़ा रहना चाहिए। तभी दोनों पक्ष बातचीत द्वारा न्यायपूर्ण समझौतों तथा परिणामों पर पहुंच सकते हैं।

(३) उन्हें यह मानना चाहिए कि यद्यपि ये अधिकारी औद्योगिक ढांचे के एक अंग हैं फिर भी उद्योगों में, आये दिन, जो समस्याएं उठती रहती हैं उन्हें हल करने में, तथा जो मतभेद पैदा होते रहते हैं उन्हें दूर करने में, ये लोग अत्यंत उपयोगी सेवा करते हैं।

सेविवर्ग-प्रबंधकों की अनुसूची—यह जानने में किसकी रुचि न होगी कि सरकार ने सरकारी क्षेत्र के उद्योगों के लिए सेविवर्ग-प्रबंधकों तथा कल्याण-अधिकारियों की एक अनुसूची संकलित की है; क्या वैसी संकलित अनुसूची निजी क्षेत्र के उद्योगों में काम करने के लिए अधिकारियों की नहीं बनायी जा सकती है? इस समुच्चय (Pool) के अधिकारियों को उनकी योग्यता, अनुभव तथा

क्षमता के अनुसार भिन्न भिन्न पद मिल सकते हैं। उनकी सेवाओं की शर्तों का विवरण-मालिक संघ (फेडरेशन) द्वारा निर्धारित किया जा सकता है। यह विवरणपत्रिका सबकी स्वीकृति से बन सकती है या कानून द्वारा निर्धारित हो सकती है। इस प्रकार के संवर्ग (cadre) का अधिकारी-वृंद कामगारों और मालिकों दोनों के बीच स्वतंत्रतापूर्वक उपयोगी सेवा कर सकता है। इसके बाद, इस बात का परीक्षण भी किया जा सकता है कि इन अधिकारियों को किसी कारणवश, यदि एक उद्योग से दूसरे उद्योग में नहीं तो, एक यूनिट से दूसरी यूनिट में स्थानांतरित किया जा सकता है। इससे विभिन्न उद्योगों में जाकर अनुभव प्राप्त करनेवाले अधिकारियों की संख्या भी बढ़ जाएगी और इस प्रकार उद्योगों में मानवीय तत्त्वों का संचालन करनेवाले प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियों की बढ़ती हुई आवश्यकता पूरा करने का द्वार खुल जाएगा जो विभिन्न परियोजनाओं के कार्यान्वय के लिए बहुत जरूरी है।

नये ढांचे में सेविवर्ग-व्यवस्थापकों का समुच्चयन—भारत में राजनीतिक तथा आर्थिक ढांचे के परिवर्तन को देखते हुए, सेविवर्ग की व्यवस्था को भी जमाने की हवा के अनुसार नये सांचे पर ढालना होगा। अब उद्योगों में कामगारों को अधिक कार्यक्षेत्र प्रदान करना होगा और व्यवस्थापक वर्ग का भी पूरा साथ देना होगा।

भारत ने समाजवादी समाज की स्थापना का बीड़ा उठा लिया है। इसलिए सेविवर्ग की व्यवस्था के ढांचे में नये रक्त का संचार करना होगा तथा व्यवस्थापक वर्ग और श्रमिक-वर्ग की रीति-नीति को समझाने के लिए नयी सूझबूझ पैदा करनी होगी। सेविवर्गाधिकारियों को जानना चाहिए कि उन्हें उद्योगों की भावी प्रगति में बहुत योगदान करना है तथा श्रमिक-वर्ग और मालिक-वर्ग दोनों का विश्वासपात्र बनाना है।

औद्योगिक झगड़ों के निपटारे का तंत्र

औद्योगिक शांति का महत्त्व— इन वर्षों में, विशेषकर पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं के कारण, औद्योगिक शांति बनाये-रखने के तंत्र (मशीनरी) का महत्त्व सर्वोपरि हो गया है। शांति तभी रह सकती है जबकि उत्पादन बढ़ता रहे क्योंकि इस दशा में ही मजदूरों को राष्ट्रीय उत्पादन में अपना उचित भाग मिल सकता है।

बुनियादी बातें—यह बात माननी होगी कि किसी औद्योगिक कारखाने को अच्छी तरह चलाने के लिए कामगार-मालिक समस्याओं का हल मानवीय ढंग करना चाहिए। प्रबंधकों को यह अनुभव करना चाहिए कि मजदूरों के कंधों

पर अपने विधि-सम्मत अधिकारों की रक्षा करने का समान दायित्व है। एक समय था जब कि मालिक "आवश्यकता और पूर्ति" के सिद्धांत के आधार पर अपने कारखानों को चलाते थे। यह सिद्धांत अब पुराना पड़ गया है। भारत-जैसे देश में, जिसने समाजवादी समाज की रचना का संकल्प कर लिया है, इस सिद्धांत को अब कोई जगह नहीं रही है। इसके अतिरिक्त, चाहे वह सार्वजनिक क्षेत्र हो या निजी क्षेत्र, कहीं भी मजदूरों के प्रति सरकार को भेद-भाव की नीति न बरतनी चाहिए। सरकार को इन दोनों क्षेत्रों के मजदूर मजदूर की दृष्टि से समान मानने चाहिए। इन बुनियादी सिद्धांतों को स्वीकार करके देश के औद्योगिक कारखानों की भावी संचालन-नीति की रचना एक अच्छे ढंग से की जानी चाहिए :

मिलाजुला स्थायी तंत्र (Joint Standing Machinery)—प्रत्येक उद्योग या उसकी प्रत्येक इकाई में द्विपक्षीय अथवा त्रिपक्षीय ढंग का एक मिलाजुला स्थायी तंत्र स्थापित करना चाहिए। उक्त संचालन-नीति की यह पहली आवश्यकता है। ऐसी मिली-जुली स्थायी समिति की बैठकें नियमित रूप से होनी चाहिए और उनमें कल्याण-कार्यों, कामगारों की परिवेदनाओं, वैज्ञानिकन तथा अन्य उपयोगी मामलों पर विचार करना चाहिए, जिनका कामगारों और मालिकों दोनों से संबंध हो। इस प्रकार एक साथ बैठकर विचार-विनिमय करने से दोनों पक्षों का आपसी संघर्ष और अविश्वास कम होने लगेगा और दोनों पक्षों के प्रतिनिधि एक-दूसरे की स्थिति तथा दृष्टिकोण को समझने की ओर मुड़ पड़ेंगे। यदि मिलीजुली स्थायी समिति के स्तर पर समझौता करना संभव न हो तो फिर सुलह-बोर्डों का द्वार खटखटाना चाहिए।

सुलह-बोर्ड—सरकार को विभिन्न उद्योगों में सुलह-कराने वालों की एक अनुसूची तैयार करनी चाहिए जिसमें से कामगार तथा मालिक किसी सुलह-कराने वाले अथवा किसी सुलह-बोर्ड को अपने मामले के निपटारे के लिए चुन सकें। इन सुलहकारों का काम दोनों विवादग्रस्त पक्षों में अधिक से अधिक समझौता कराना तथा उनके मतभेदों को निपटाने की संभावनाओं की खोज करना होना चाहिए। जब कभी आवश्यकता पड़े तब जांच-न्यायालयों की स्थापना करना भी ठीक होगा जो तथ्य-निरूपण समितियों (Fact-Finding Committees) की भांति काम कर सकते हैं।

त्रिदलीय श्रम-तंत्र (Tripartite Labour Machinery)—सेवा-योजनाओं और कामगारों के आपसी झगड़ों और मतभेदों को दूर करने का एक और तरीका है। इसके लिए द्विपक्षीय और त्रिपक्षीय श्रम-सम्मेलनों की व्यवस्था की जा सकती है। तदर्थ समितियों की बैठक वर्ष में एक या दो बार होती है। किंतु इनके स्थान में राज्यगत तथा अखिल भारतीय स्तर पर स्थायी

समितियां बनानी चाहिए जिनमें कर्मचारी और प्रविधिक विशेषज्ञ काफी संख्या में होने चाहिए जो वित्त तथा प्रविधि के संबंध में पूरे-पूरे तथ्य और आंकड़े इकट्ठे करते रहें। इसके अतिरिक्त इन समितियों के अंतर्गत प्रत्येक महत्त्वपूर्ण और मूल उद्योग के लिए विशेषज्ञों की विभिन्न अनुसूचियां होनी चाहिए जिनमें मालिकों, कामगारों और प्रविधिक विशेषज्ञों के प्रतिनिधि हों।

विशेषज्ञ-मंडल—जिन औद्योगिक झगड़ों का निपटारा सुलह-बोर्ड द्वारा न हो सके उसे विशेषज्ञ-मंडल (Panel of Experts) के हाथ में देना चाहिए। स्थायी त्रिपक्षीय समिति ने जो बुनियादी तथ्य इकट्ठे किये होंगे वह उन्हें इस विशेषज्ञ-मंडल के हवाले कर देगी। इससे विशेषज्ञों को हड़तालों और ताले-बंदियों के असंदिग्ध मामलों पर विचार करने में बहुत सुविधा होगी और वह मतभेद दूर करने तथा समझौता कराने की कोशिश करेगा। अतीत अनुभव इस बात का साक्षी है कि इस प्रकार की त्रिपक्षीय बैठकों से कामबंदी तथा छटनी—जैसे बड़े-बड़े मामले निपटाने और संतोषजनक ढंग से विभिन्न पक्षों में समझौता कराने में बड़ी सफलता मिली है। इसके बाद कानून बनाकर सहज में उक्त निर्णयों को विधि-विधान का स्वरूप दिया जा सकता है।

ऐच्छिक विवाचन—यदि उक्त विभिन्न अभिकरणों द्वारा किसी कारण से झगड़ों की कुछ बातों का निपटारा न हो सके, तो सरकार, मजदूर संघ और मालिकों के संगठन—तीनों पक्ष मिलकर विवादग्रस्त पक्षों को ऐच्छिक विवाचन के लिए राजी करें। सरकार विभिन्न पक्षों की सहमति से विवाचकों की एक तालिका बनाले जिसमें से विवाचन के लिए पंच नियुक्त कर दिये जाएं। यदि दोनों पक्ष पंच की नियुक्ति के प्रश्न पर राजी न हो सकें तो एक ऐसे प्रमाण-पुरुष (Umpire) को नियुक्त करने की प्रथा का सूत्रपात करना चाहिए जिसे झगड़ों के मर्म का ज्ञान तथा उन्हें निपटाने का अनुभव हो और जिसे दोनों पक्षों का विश्वास प्राप्त हो। उस प्रमाणपुरुष को चाहिए कि वह दोनों पक्षों के परामर्शक (Assessors) अपने पास बैठा ले और तब विवाद की सुनवाई आरंभ करे। यदि इस विचार का परिशीलन क्रियात्मक रूप से किया जाए तो वह दिन आये बिना नहीं रह सकता जबकि इस प्रणाली का चलन हो जाएगा और एक-दो दशकों में विवादकों के वृंद उत्पन्न हो जाएंगे जिन्हें निष्पक्ष, बुद्धिमान और अनुभवी होने की ख्याति और धाक प्राप्त हो जाएगी।

सामूहिक सौदाकारी का पूर्ण अवसर—निदान, इस बात को गांठ बांध लेना चाहिए कि सामूहिक सौदाकारी तथा आपसी समझौता-वार्ता की बागें विवाद की अवधि में तथा विवाद की आशंका में ढीली न कर देनी चाहिए। जिन विभिन्न प्रक्रियाओं का वर्णन ऊपर किया गया है उनका उद्देश्य विवादग्रस्त पक्षों में आपसी मतभेद न बढ़ने देना और उन्हें मेलमिलाप की सद्भावना के

साथ एक-दूसरे के निकट लाना है । इन तरीकों का प्रयोग शांतिकाल में किया जा सकता है; किंतु उस काल में जबकि शांति तथा कानून को खतरा उत्पन्न हो जाए अथवा हड़ताल और तालेबंदी से समाज पर अनियंत्रणकारी दुष्प्रभाव पड़े । सरकार सदा ही आपातकालिक काररवाई का सहारा ले सकती है । सरकार को आपातकाल आने पर अपनी अंतर्भुक्त शक्ति के प्रयोग का अधिकार सदा से प्राप्त है । इसलिए मालिक-कर्मचारी संबंधों की सामान्य अवस्था में उसके विशेष अनुबंधों के सूत्रपात की आवश्यकता नहीं है । अंत में, लोकमत विभिन्न पक्षों को फुसलाकर उक्त समितियों के निर्णय को मनवाने में सबसे प्रभावशाली पार्ट अदा करेगा । जिस व्यवस्था का वर्णन ऊपर किया गया है, यदि उसकी नींव मजबूती से दृढ़ आधार पर रखी जाए तो वह देश में औद्योगिक लोकतंत्र की पूर्ण स्थापना का मार्ग खोल देगी ।

अध्याय ३

श्रमिक विधान

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

समारंभ—श्रमिक विधि-विधान आधुनिक समाज का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके प्रादुर्भाव और विकास की जड़ में अनेक सामाजिक शक्तियां काम करती दीखती हैं जिनमें सुसंगठित उद्योगों की उन्नति का नाम सबसे पहले उल्लेखनीय है। उद्योगों से अभिप्राय यह है कि वहां स्त्री-पुरुष और बालक काफी संख्या में ऐसी स्थितियों में काम करते हैं जो उनके स्वास्थ्य, सुरक्षा, कल्याण के मार्ग में कठिनाइयां पैदा करती हैं और जिनके विरुद्ध प्रायः उन्हें अपनी रक्षा करनी पड़ती है।

औद्योगिक क्रांति से पहले श्रमिक की अवस्था—औद्योगिक क्रांति से पहले शिल्पकार स्वतंत्र हुआ करते थे। उनकी स्वतंत्रता से अभिप्राय यह है कि उनके पास अपने औजार होते थे, वे अपनी इच्छानुसार कच्चा माल खरीदते थे और बाजार में वस्तु-विनियम के आधार पर माल बेचा करते थे। वे अपने व्यापार के सभी अवयवों से परिचित होते थे और, बिना दूसरे के सहारे, अपना माल तैयार कर लेते थे। उनकी आवश्यकताएं स्वल्प थीं और प्रत्येक गांव आत्मनिर्भर हो, इस सिद्धांत के कारण वे अपनी आवश्यकताओं को सहज में पूरा कर लेते थे।

औद्योगिक क्रांति के दोष—धीरे-धीरे दस्तकारी (हस्तकला) का स्थान मशीनों ने लेना आरम्भ कर दिया और अपने-आप अपना स्वामी शिल्पकार अब एक भृति-भोगी अर्थात् मजदूर-मात्र रह गया। मशीनों ने बड़े पैमाने पर सस्तामाल तैयार करके दस्तकारी का गला घोंट दिया। इससे अनेक शिल्पकार गांव छोड़कर नगरों की शरण में चले गये और उन्होंने फैक्टरियों में नौकरी कर ली। फैक्टरियों की नौकरी में जो बुराइयां थीं, उन्हें उनका शिकार होना पड़ा।

सबसे बड़ी बात यह है कि शिल्पकार जहां स्वयं अपने हाथ से माल बनाता था वहां वह अब मशीनों का दास हो गया। उसके औजार और निर्माणी उसके

हाथ से निकल गये और अब फैक्टरी का स्वामी उसके लिए मशीनों (यंत्रों) और कच्चे माल का प्रबंध करने लगा। श्रम-विभाजन के फलस्वरूप, वह अब किसी वस्तु के उत्पादन में उसके संपूर्ण स्वरूप का नहीं बल्कि आंशिक स्वरूप का निर्माण ही करता है। इसलिए किसी वस्तु को पूर्ण रूप से बनाने में जो मानसिक संतोष होता है, उससे वह वंचित हो गया। परोक्ष रूप से इस प्रकार उसके मानसिक विकास और अन्वेषक प्रतिभा पर आघात पहुंचा।

शिल्पकार अपने स्वतंत्र व्यवसाय द्वारा जो धन कमाया करता था लगभग वही उसे उद्योगों में नौकरी करने से मिलने लगा। किन्तु नये वातावरण में वह वेतन गांव के घर से दूर हटकर नगर में उसकी मुख्य आवश्यकताओं को भी पूरा करने के लिए अपर्याप्त थी।

यद्यपि आरंभिक काल में कामगार को फैक्टरियों में अनायास ही नौकरी मिल गयी किंतु उसकी यह नौकरी न तो सुरक्षित ही थी और न दृढ़ ही। फालतू उत्पादन तथा व्यापारिक उथल-पुथल के कारण उसे प्रायः बेरोजगारी और न्यून आय का सामना करना पड़ता था। मालिक बिना कारण बताये किसी भी कामगार को काम से हटा सकता था।

बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास से जो बुराइयां उत्पन्न होती हैं उसके साथ कुछ सामाजिक बुराइयां भी सिर उठाने लगती हैं। नगरों की गंदी बस्तियों में रहने के कारण श्रमिकों का स्वास्थ्य बिगड़ गया और इसका उनके परिवारों पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। मकानों की तंगी के कारण उनके स्वास्थ्य, नैतिक आचार, पारिवारिक जीवन और सामाजिक जीवन पर भी कम कुप्रभाव नहीं पड़ा।

फैक्टरी का काम कठिन होता है। फैक्टरी की मशीनों पर विशाल धन-राशि व्यय होने के कारण, मालिक को कामगार की सुरक्षा और कल्याण की अपेक्षा अपने यंत्रों की चिंता कहीं अधिक रहती थी। कठिन परिश्रम, काम के लंबे घटों, आदि से मजदूरों का स्वास्थ्य खराब हो गया। उन्हें विश्राम तथा मनो-रंजन की सुविधाओं का अभाव खटकता था; यहां तक कि उन्हें बिना छुट्टी के लगातार काम करना पड़ता था।

मशीनों पर उचित ढक्कन की व्यवस्था न होने से, कामगार दुर्घटना का शिकार हो जाया करता था। अंग-भंग होने पर वहां उस दुखिया की दर्द-भरी कहानी कौन सुनता था ? आश्चर्य यह है कि ये दुर्घटनाएं मामूली बातें मानी जाती थीं। विकलांग होने पर उसकी नौकरी चली जाती थी और हानिपूर्ति की बात तो वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था।

फैक्टरियों में काम करनेवाले मजदूरों की एकमात्र जीविका उनकी पगार होती थी। किंतु यह पगार अल्प होती थी। इसलिए उन्हें अपनी आय बढ़ाने

के लिए दूसरे उपाय सोचने पड़े। अब उनकी स्त्रियां और बच्चे भी नौकरी के लिए सामने आने लगे। कारखानेदारों ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया। उन्होंने उनके स्वास्थ्य की पर्वाह किये बिना, उन्हें अत्यंत अल्प वेतन पर नौकर रख लिया।

कामगारों को गांव के खुले वातावरण से बाहर निकलकर नगरों के वातावरण में घुलने-मिलने में बड़ी कठिनाई अनुभव हुई। उनकी मानसिक दशा में परिवर्तन होना कोई सहज बात न थी। फैक्टरियों में समय पर जाना, नियमों के अनुसार काम करना, प्राधिकारियों की आज्ञा मानना, आदि ऐसी बातें थीं जो उन्हें सीखनी पड़ीं। किंतु इनकी ओर उन्होंने एकदम गर्दन नहीं झुका दी। इस संघर्ष से उनमें कितनी ही असामाजिक कुटेवें पड़ गयीं और उनके व्यक्तित्व की समस्याएं उठ खड़ी हुयीं।

श्रम-समस्याओं का प्रादुर्भाव

उद्योगों के कारण संपत्ति और धन की प्रचुरता हो चली। किंतु उनके समायोजन की ठीक व्यवस्था न होने से, बेरोजगारी और अर्ध-रोजगार, स्त्रियों और बच्चों को नौकर रखने, नौकरी छूटने, कम वेतन, अस्वच्छतापूर्ण और असुरक्षापूर्ण कार्यावस्था, शारीरिक पीड़ा, औद्योगिक रोग, जीवन को खतरा, अंग-भंग होने का खतरा, तथा सामाजिक और नैतिक पतन, आदि की समस्याएं उत्पन्न हो गयीं। उद्योगीकरण के उक्त दोषों ने, तथा मालिकों और कामगारों के आपसी तनावपूर्ण संबंधों ने, जो समस्याएं पैदा कर दीं उनको अब "श्रम-समस्याएं" कहते हैं।

इन समस्याओं ने समाज की जड़ पर आघात पहुंचाया है। आरंभ से ही उनकी ओर ध्यान देना आवश्यक था। उनको जड़-मूल से उखाड़ना ही बेहतर था, नहीं तो उनका विष जितना कम किया जा सके, करना चाहिए। किंतु प्रत्येक मालिक का ध्यान अपनी मशीनों पर ही केंद्रित रहा। उसने उत्पादन बढ़ाने और मशीनों के रख-रखाव तथा तकनीकी सुधार पर ही विशेष ध्यान दिया। उसने उन मशीनों पर काम करने वाले श्रमिकों की तनक भी पर्वाह नहीं की क्योंकि उसे जितने मजदूर चाहिए उनकी कमी न थी। मालिकों ने कामगारों के कल्याण और आवश्यकताओं की ओर से आंख मूंद लीं। उनकी उपेक्षा की।

दूसरी ओर, कामगार अनपढ़, गरीब और बुद्धू था। वह अपने अधिकारों की रक्षा करना नहीं जानता था ! इसके अतिरिक्त, उसकी सामाजिक—आर्थिक स्थिति मालिकों के सामने न-बराबर थी। इससे वह नौकरी की शर्तें कैसे

सामने रख सकता था ? निदान, मालिकों ने इन परिस्थितियों का जी खोलकर लाभ उठाया। उन्होंने नौकरी की शर्तें अर्थात् वेतन, काम के घंटे आदि मन-माने ढंग से तय कर लिये। नौकरी से निकाल देना, वेतन काट लेना, छुट्टी की एकतरफा शर्तें आदि सब उनकी इच्छा पर निर्भर होती थीं। मजदूर को उनके आगे घुटने टेकने पड़े क्योंकि अब सेवावृत्ति ही उनकी एकमात्र आजीविका बन गयी थी।

नौकरी का ऊपर बताया गया शर्तनामा एक-पक्षीय ही समझना चाहिए क्योंकि मालिक के साधन-संपन्न होने के कारण कामगार की टें-टें कौन सुनता था और उस पर मालिक का रोब पड़ना स्वाभाविक था। उधर, न्यायालय इस शर्तनामे पर सामान्य रीति से विचार करते थे और अन्य शर्तनामों की भांति ही उसको दृष्टिगत करके अपना निर्णय दे देते थे।

नौकरी की उचित शर्तें मनवाने के लिए कामगारों को मिलकर काररवाई करने का मार्ग टेढ़ा जान पड़ता था। तत्कालीन कानून उनको इसके लिए ताड़ना देता था। इसके अतिरिक्त नौकरी ही उनकी जीविका का एकमात्र साधन थी। नौकरी से निकाले-जाने के भय के कारण वे किसी सामूहिक कार-रवाई में भाग लेने से झिझकते थे। सरकार कानून और व्यवस्था की ओट में कामगारों को प्रायः उन सार्वजनिक सभाएं करने से रोक देती थी जिनमें वे कार्यावस्थाओं तथा अपने मानवीय अधिकारों की रक्षा के उपायों पर विचार करना चाहते थे। कामगारों के संगठनों का कोई कानूनी स्थान न था। उनके पदाधिकारियों और सदस्यों पर फौजदारी मुकदमें चलाये जाने का खतरा मंडराता रहता था।

सरकार ने हस्तक्षेप की नीति के बहाने श्रमिकों की समस्याओं की ओर ध्यान देने से इन्कार कर दिया। उसने संबंधित पक्षों के आपसी समझौतों को आव-श्यकता से अधिक महत्त्व देना आरंभ कर दिया, और वह कानून तथा व्यवस्था पर ही बल देना अपना एकमात्र कर्त्तव्य मान बैठी। इस प्रकार स्थिति दिन-पर-दिन बिगड़ती गयी और वह दिन भी आ पहुंचा जबकि समाज के अतिरिक्त सरकार तक उसके कुप्रभाव के भय से थर्रा उठी और उसका अभिशाप दूर करने के उपाय सोचने के लिए लाचार हो गयी।

श्रम-समस्याओं में रुचि रखने वाले वर्ग

यह सत्य है कि श्रम-समस्याओं में लगभग सभी की रुचि होती है। यह विषय ऐसा नहीं है कि उस पर किसी एक वर्ग की ही बपौती हो और दूसरे वर्गों को उससे कोई सरोकार न हो। फिर भी इन तीन पक्षों का श्रम-समस्याओं से

घनिष्ट संबंध होता है : कामगार, मालिक और सरकार। जैसाकि पहले लिखा जा चुका है, इन तीनों पक्षों में से किसी ने श्रम-समस्याओं को हल करने का यथेष्ट प्रयास वर्षों तक नहीं किया।

सब से पहले परोपकारी संस्थाओं और व्यक्तिगत समाज-सुधारकों ने इन समस्याओं की ओर ध्यान दिया। उनमें केवल मानवोद्धार की भावना थी। श्रम-समस्याओं का समाज पर कुप्रभाव पड़ने के कारण ही उनका ध्यान उधर गया था और उन्होंने लोकमत को उसके नेतृत्व में कामगार उद्योगपतियों के शोषण-दोहन के विरुद्ध उठ खड़े हुए। इसके अतिरिक्त, इन सुधारकों ने कुछ उद्योगपतियों पर भी अपना प्रभाव डाला जो उनकी प्रेरणा से कामगारों की दुरवस्था पर सहृदयतापूर्वक विचार करने लगे। फिर क्या था, लोकमत के आगे सरकार को भी झुकना पड़ा और उसको तटस्थता (Neutrality) तथा अबंध नीति (Laissez Faire) के प्रति अपने रुख में, परिवर्तन करना पड़ा। इस संबंध में भारत में सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी (Servants of India Society), सोशल सर्विस लीग (Social Service League) तथा अन्य कतिपय संस्थाओं का काम उल्लेखनीय है।

कामगार—कामगारों ने अपने गण्यमान्य नेताओं की सहायता से और अपने संगठनों तथा किन्हीं-किन्हीं अवस्थाओं में अपनी सामूहिक काररवाई द्वारा अपनी दुरवस्था सुधारने का अथक प्रयास किया। प्रारंभ में उनके प्रयत्न प्रायः विफल होते रहे। इसका मूलकारण यह था कि उनमें सेवायोजक की बराबरी करने की शक्ति कहां थी जिससे वे सौदा करने में सफल हो सकते! उनके पास जीविका का दूसरा साधन भी न था जिस पर वेतन न मिलने की दशा में वे निर्भर रह सकते।

मालिक—कुछ उदार मालिकों के हृदय में उद्योगीकरण के दोषों को दूर करने की टीस उत्पन्न हुई। उन्होंने समझ लिया कि श्रमिकों को कल्याण-कार्य पर एक भी पाई व्यर्थ नहीं जा सकती क्योंकि इस व्यय का परिणाम अंत में अच्छा ही होगा। संतुष्ट-श्रमिक की उत्पादन-क्षमता बढ़ जाएगी। किंतु उनकी यह नीति केवल एक संरक्षक की भावना से प्रेरित थी और उन्होंने जो कार्य किया वह श्रम-समस्याओं के विस्तृत मरुस्थल में एक हरेभरे भूखंड से अधिक न था।

सरकार—सरकार जनता के हितों की संरक्षक होती है। औद्योगिक कामगार समाज के एक बड़े अंग का निर्माण करते हैं। इसलिए सरकार को उनके आर्थिक, सामाजिक और नैतिक सुधार पर ध्यान देना आवश्यक है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, सरकार की आंखें खुल गयीं। वह श्रमिकों की स्थिति से अब अधिक देर तक उदासीन नहीं रह सकती थी। उसके लिए राष्ट्रीय

आर्थिक हित और सामान्य समाज के कल्याण की दृष्टि से कामगारों के झगड़ों में हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो गया।

सरकार के हाथ में शक्ति और अधिकार होने के कारण, श्रमिकों की समस्याओं को वैधानिक तथा प्रशासकीय कार्यवाही द्वारा हल करना संभव हो गया। उसने श्रमिक विधान बनाकर और उसके उपबंधों को लागू करके उद्योगीकरण के अनेक दोषों को दूर कर दिया या कम कर दिया है।

श्रमिक विधान के सिद्धांत

सामाजिक न्याय—श्रमिक विधान के मूल में कुछ सामान्य सिद्धांत काम करते हैं। उनमें एक सामाजिक न्याय का सिद्धांत है। किसी औद्योगिक व्यवस्था में सामाजिक न्याय का क्या अर्थ होता है? इसका अर्थ है उद्योगपतियों और कामगारों के बीच लाभ का समुचित वितरण करना तथा मजदूरों के स्वास्थ्य, सुरक्षा और नैतिकता के उद्योगीकरण के कुप्रभावों से यथासंभव बचाये रखना। कानूनी अधिकारों का कोरा परिपालन और उनको लागू करना ही यथेष्ट नहीं होता है। कुछ दूर तक कामगारों की दिक्कतें और बढ़ जाती हैं क्योंकि कामगार-मालिक का शर्तनामा एकपक्षीय होता है। जिसमें मालिक अपने हित की शर्तें कामगार पर थोप देता है।

पहले कामगार को उसी दिन की पगार मिलती थी जिस दिन वह काम पर आता था। यदि सेवा-काल में वह दुर्घटनाग्रस्त हो जाता था तो उसे उसकी कोई हानि-पूर्ति नहीं मिलती थी; और जब कोई आकस्मिक आपत्ति उस पर आ पड़ती थी तब उसे झेलना उसका अपना काम माना जाता था। निदान, उसकी यह स्थिति उस समय तक बनी रही जब तक सरकार ने श्रमिक हानिपूर्ति अधिनियम नहीं बना दिया और उससे काम की अवधि में कामगार के दुर्घटनाग्रस्त होने की हानि-पूर्ति का दायित्व मालिक पर नहीं डाल दिया गया। याद रहे कि इस विधान के मूल में सामाजिक न्याय की भावना काम करती है। इसी सिद्धांत से कामगार को न्यूनतम वेतन की गारंटी दी गयी है। फैक्टरी अधिनियम, जिसके अनुसार काम के घंटे, अधिसमय (ओवर टाइम), छुट्टी, कल्याण सुविधाएं और सुरक्षापूर्ण कार्यावस्थाएं निर्धारित की गयी हैं, इसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है।

सामाजिक न्याय--श्रमिक-विधान का दूसरा प्रेरणा-श्रोत सामाजिक न्याय या सामाजिक निष्पक्षता है। सामाजिक न्याय पर आधारित विधान, भूतकाल और वर्तमानकाल की परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर, भविष्य के लिए एक मानदंड निश्चित कर देता है। एक बार एक मानदंड स्थिर हो गया तो

वह तब तक लागू बना रहता है जब तक कि समुचित विधान मंडलीय कार्यवाही द्वारा उसमें परिवर्तन या संशोधन कर दिया जाए। जब विधि-विहित मानदंडों में लचीलेपन की आवश्यकता होती है तब विद्यमान परिस्थिति के अनुसार कानून सरकार को उनमें परिवर्तन का अधिकार प्रदान कर देता है। कानूनों में प्राय: अनुबंध जोड़कर उन्हें निर्दिष्ट दिशा में मोड़ दिया जाता है। सरकार नियमों में संशोधन या परिवर्तन करती है ताकि बदली हुई स्थितियों का सामना किया जा सके। ऐसा विधान सामाजिक निष्पक्षता या न्याय पर आधारित होता है।

अंतर्राष्ट्रीय समरूपता—अंतर्राष्ट्रीय समरूपता भी श्रमिक विधान को एक आधार प्रदान करती है। इस दिशा में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का प्रयास सराहनीय है। यह त्रिदलीय संगठन श्रम के विषयों में समरूपता के आधार पर एक न्यूनतम मानदंड कायम करना चाहता है। जब अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के सदस्य-देश उसके सम्मेलनों द्वारा प्रतिपादित समझौतों को स्वीकार कर लेते हैं तब उन्हें उचित कानून का रूप देकर उन पर अमल करना पड़ता है। यदि कोई देश उक्त आशय का कानून पास नहीं करता तो भी उस पर यह नैतिक दबाव रहता है कि वह जो व्यवस्थाएं बिना दिक्कत के काम में ला सके उन्हें पूरा करे। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ विभिन्न देशों के औद्योगिक क्षेत्रों के लोगों को विभिन्न देशों की श्रम-प्रणाली के अंतर्गत सामाजिक न्याय और सामाजिक निष्पक्षता के अध्ययन का अवसर जुटाता रहता है ताकि वे उससे लाभ उठा सकें और अपने-अपने राष्ट्रीय आर्थिक ढांचे को उस खराद पर चढ़ा सकें। अधिकांश भारतीय श्रमिक कानून इसी प्रकार गढ़े गये हैं।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था—श्रमिक विधान बनाते समय देश के आर्थिक ढांचे का ध्यान रखना होता है; नहीं तो अभीष्ट विधान का मंतव्य ही विनष्ट हो जाएगा। श्रमिकों के कल्याण-कार्य तथा उनको मिलने वाली सुविधाएं देश की सामान्य आर्थिक अवस्थाओं से बढ़-चढ़ करके नहीं होनी चाहिए। इसका उद्देश्य श्रम-अवस्थाओं का विकास करना है। इस सिद्धांत पर ही श्रमिकों के काम के घंटे, सवैतनिक छुट्टियां, दुर्घटनाओं की हानि-पूर्ति आदि बातें निर्भर होती हैं। इस प्रकार श्रमिक-विधान का एक अन्य आधार राष्ट्रीय आर्थिक दशा भी मानी जाती है।

श्रम और संविधान

मांटेगु-चेम्सफोर्ड सुधारों के अनुसार, गवर्मेंट ऑफ इंडिया (संशोधन) एक्ट १९१९ के रूप में जो सांविधानिक परिवर्तन सामने आये उनमें केंद्रीय विधान

सभा को श्रम के विषयों पर व्यवहारत: सभी कानून बनाने का अधिकार मिल गया था, किन्तु प्रांतीय श्रम-विषयों पर ही कानून बनाने का अधिकार था और उस पर भी तुर्रा यह था कि उन कानूनों पर गवर्नर-जनरल (महाराज्यपाल) की अनुमति आवश्यक थी। उन दिनों लगभग सभी श्रमिक-कानून केंद्रीय विधान सभा ने ही बनाये थे।

गवर्मेंट आफ इंडिया एक्ट—१९३५ के अंतर्गत, श्रमिक कल्याण-कार्य सहवर्ती अनुसूची में आ गया। इस अधिनियम से प्रांतों में स्वायत्त-शासन की स्थापना हुई। अब कुछ श्रम-विषय ऐसे थे जो केंद्रीय सत्ता के हाथ में ही बने रहे अर्थात् वे संघीय अनुसूची में रखे गये। शेष श्रम-विषय प्रांतों के हाथ में चले गये। संघीय अनुसूची के अंतर्गत श्रम-विषयों के लिए केंद्रीय विधानसभा को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त था। वर्तमान भारतीय संविधान ने उक्त विभाजन को ही स्वीकार कर लिया है।

संघीय अनुसूची के विषयों पर संसद को कानून बनाने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। उनमें निम्नांकित विषय हैं: अंतर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलनों, आदि में भाग लेना और उनके निर्णयों का परिशीलन करना; खानों, तैल-क्षेत्रों, बड़े बंदरगाहों, रेलों, डाक-तार-टेलीफोन और प्रतिरक्षा में श्रम और सुरक्षा का विनियमन करना; उन औद्योगिक झगड़ों का निपटारा करना जिनका संबंध संघीय (Union) कर्मचारियों से हो और अंतः-राज्यीय प्रव्रजन का नियमन करना। सहवर्ती अनुसूची के विषय हैं: मजदूर संघ औद्योगिक और श्रमिक विवाद, श्रमिक कल्याण-कार्य जिनमें कार्यावस्थाएं, प्रावीडेंट फंड (संचित निधि), मालिक का देय, श्रमिक हानि-पूर्ति, निर्योग्यता और बुढ़ापे की पेंशन, प्रसूति-सुविधा, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, रोजगार और बेरोजगार, श्रमिक का व्यावसायिक और विशिष्ट प्रशिक्षण, आर्थिक और सामाजिक आयोजन और फैक्टरियां। इन विषयों के ऊपर संसद और राज्य-विधानमंडलों क्षेत्रों को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। किंतु इन कानूनों के आपस में टकराव की दशा में, संसद द्वारा बनाया गया कानून ग्रहण किया जाएगा।

सहवर्ती अनुसूची (Concurrent List) में जो विषय सम्मिलित हैं उन पर बनाये गये कानूनों के प्रशासन का भार चाहे उन्हें संसद ही ने क्यों न बनाया हो, राज्य-सरकार पर होता है।

भारत में श्रमिक विधान का विकास

विधि-विधान बनाने के क्षेत्र में, सबसे पहले सरकार का ध्यान जिस संगठित उद्योग की ओर गया वे असम के चाय बाग थे। जिन लोगों ने रंगरूट

भरती करने का पेशा कर लिया था वे श्रमिकों को चायबागों में काम के लिए भरती करते थे और उन्हें फिर चायबागों से निकलने नहीं देते थे। इसलिए मजदूरों की अवस्था बड़ी दयनीय थी। उसे सुधारने के लिए बंगाल सरकार और केंद्रीय सरकार ने १८६३ से लेकर अब तक समय-समय पर अनेक अधिनियम बनाये। किन्तु उनसे मजदूरों की अपेक्षा नौकरीदाताओं को ही अधिक लाभ पहुंचा है। प्रथम फैक्टरी अधिनियम १८८१ में और प्रथम खान अधिनियम (Mines Act) १९०१ में पास हुआ था।

अब तक विभिन्न उद्योगों के श्रमिकों के लिए प्राय: भिन्न-भिन्न कानून बनते आ रहे थे। किन्तु जिस श्रम-विधान ने सामान्य रूप से समस्त श्रमिक-वर्ग पर प्रभाव डाला वह १९२२ के बाद बनाया गया। इसके कुछ महत्त्वपूर्ण कानूनों का संबंध कामगार की हानिपूर्ति, मजदूरसंघों, औद्योगिक संबंधों, रेलवे कर्मचारियों के काम के घंटों और वेतन की अदायगी से है।

जब गवर्मेंट ऑफ इंडिया एक्ट १९३५ के अंतर्गत, प्रांतों में लोकप्रिय शासन की स्थापना हुई तब प्रांतीय सरकारों ने श्रमिक विधानों की रचना में बड़ी लगन दिखायी। उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की श्रम-नीति से प्रेरणा मिली : कांग्रेस की नीति औद्योगिक कामगारों का निर्वाह-स्तर ऊंचा उठाने, काम के घंटों में कमी कराने और जहां तक देश की आर्थिक दशा में गुंजाइश हो वहां तक अंतर्राष्ट्रीय मानदंड को सामने रखकर भारतीय श्रम-अवस्थाओं में संशोधन करने, नौकरीदाताओं और कामगारों के आपसी झगड़ों को निपटाने के लिए समुचित समझौता-तंत्र स्थापित करने, बुढ़ापे, बीमारी और बेरोजगारी की हालत में संपोषण की व्यवस्था कराने तथा कामगारों के संघ (यूनियन) बनाने के अधिकार और स्वहित-साधन के लिए हड़ताल के अधिकार की रक्षा कराने की थी।

श्रमिक विधान में समरूपता लाने के लिए और श्रमिक विधान में प्रांतीय सरकारों और केंद्रीय सरकार के सहवर्ती—अधिकार-क्षेत्रों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए तथा श्रम और पूंजी की नोंकझोंक को यथासंभव बरकाने के लिए भारत सरकार ने १९४२ में एक स्थायी त्रिदलीय श्रम संगठन स्थापित किया। इसके मुख्य उद्देश्य हैं : (१) श्रमिक विधान में समरूपता को बढ़ावा देना; (२) औद्योगिक झगड़ों के निपटारे की कार्यवाही का रूप निश्चित करना; (३) समस्त देश पर प्रभाव डालने वाले औद्योगिक मामलों पर परामर्श करना।

इस त्रिदलीय तंत्र से नौकरीदाताओं, कामगारों और सरकारों के प्रतिनिधियों के लिए समय-समय पर आपस में परामर्श करने का द्वार खुल गया। इससे श्रम-समस्याओं पर ध्यान केंद्रित होने लगा जिसका परिणाम यह निकला

कि इन कुछ वर्षों में संरक्षणात्मक श्रमिक विधान के स्वरूप और विकास में व्यापक परिवर्तन हो गया है।

श्रमिक विधान का वर्गीकरण

इस समय भारत में जो श्रमिक विधान लागू हैं उनको निम्नांकित श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :

(अ) मानदंड से नीचे के व्यक्तियों के लिए कानून, अर्थात्

(१) बच्चों के लिए
(२) स्त्रियों के लिए

(ब) सुनिश्चित उद्योगों से संबंधित कानून; अर्थात्

(१) फैक्टरियां और वर्कशॉप (कर्मशाला)
(२) खानें और खनिज
(३) बाग (Plantations)
(४) परिवहन; अर्थात् (१) रेलवे, (२) बंदरगाह और गोदी, (३) सागर और अंतर्देशीय जलप्रवाह (नदी, झील आदि), (४) राजमार्ग (सड़क), (५) वायु
(५) दूकानें और व्यापारिक कोठियां
(६) निर्माण-कार्य
(७) कृषि

(स) निर्धारित विषय-संबंधी कानून; अर्थात्

(१) मजदूरी
(२) ऋण या देयता
(३) सामाजिक सुरक्षा
 (क) कामगारों की हानिपूर्ति
 (ख) प्रसूति-सुविधा
 (ग) बीमा
 (घ) सेवानिवृत्ति का धन
 (ङ) बोनस-योजना
(४) कल्याण
(५) आवास
(६) बेगार

(द) निम्न विषयों से संबंधित कानून :
  (१) श्रमिक यूनियन
  (२) औद्योगिक संबंध
(य) आंकड़ों से संबंधित कानून

(अ) मानदंड से नीचे के व्यक्तियों से संबंधित कानून

(१) *बालक*—जो देश बालकों के कल्याण-कार्यों तथा सुविधाओं पर जितना अधिक या कम ध्यान देता है, वह उतना ही शक्तिशाली अथवा दुर्बल माना जाता है। जिस देश में बालकों की उन्नति पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता है वह देश कैसे फलफूल सकता है। भारत में उद्योगीकरण की लहर आने के बाद जो फैक्टरियां स्थापित हुईं उनमें, बिना आयु का ख्याल किये, बालकों को काम पर लगा लिया जाता था; और किसी को उनके स्वास्थ्य और अवकाश की तनक भी चिंता न थी। इससे भावी संतति को भीषण खतरा पैदा होना अवश्यंभावी था इसलिए प्राधिकारियों का ध्यान इस भावी खतरे की ओर गया। बालक अपने स्वास्थ्य और सुरक्षा पर उचित ध्यान दे सकते थे उनकी ओर श्रमिक विधान-निर्माताओं ने सबसे पहले देखा और इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए संरक्षणात्मक श्रमिक विधान (Protective Labour Legislation) बना दिया।

फैक्टरी अधिनियम (Factories Act)—१८८१ में फैक्टरी अधिनियम पास करके बालकों की नौकरी के नियमन का प्रथम प्रयास किया गया। इसने ७ वर्ष के कम आयु के बालकों को नौकर रखने से रोक दिया और बालकों के काम के अधिकतम दैनिक घंटे ९ कर दिये। इसके अतिरिक्त उन्हें एक घंटे की छुट्टी भी देना आवश्यक थी। उनको एक दिन का साप्ताहिक अवकाश भी मिलने लगा। इसके बाद जो फैक्टरी अधिनियम बना उसमें बालकों की नौकरी की आयु बढ़ाने और काम के घंटे कम करने का प्रयास किया गया। १९४८ के फैक्टरी अधिनियम में, जो आजकल लागू है, १४ वर्ष से कम आयु के बालकों को नौकर रखना वर्जित है। इसके अनुसार, १५ से १८ वर्ष के किशोरावस्था वाले युवक प्रतिदिन प्रातः ६ बजे से सायं ७ बजे तक के बीच में अधिकतम ४½ घंटे तक किसी फैक्टरी में नौकरी कर सकते हैं।

बालकों की नौकरी का अधिनियम—बालकों की नौकरी के संबंध में जो फैक्टरियां और कर्मशालाएं फैक्टरी अधिनियम की परिधि में नहीं आती हैं उनका नियमन १९३८ के बाल-सेवायोजन अधिनियम (Employment of Children Act) द्वारा होता है। इस अधिनियम द्वारा रेलों और बंदरगाहों पर

माल चढ़ाने-उतारने वाले बालकों की न्यूनतम आयु बढ़ाकर १५ वर्ष कर दी गयी है। किसी-किसी उद्योग में काम करने वाले बालकों की आयु १२ वर्ष निर्धारित की गयी है। राज्य सरकारों को इस नियमन में सुधार करने का अधिकार प्राप्त है।

खान अधिनियम (Mines Act)—१९५२ के भारतीय खान अधिनियम द्वारा खानों में बालकों की नौकरी का नियमन होता है। इसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जिसकी आयु पूरे १८ वर्षों की नहीं है उसे भूगर्भस्थ खान के किसी भाग में काम पर नहीं लगाया जाएगा।

अन्य अधिनियम — बालकों की नौकरी के नियमन के संबंध में, १९२३ के भारतीय जहाजी यातायात अधिनियम (Indian Shipping Act) १९०८ के भारतीय बंदरगाह अधिनियम (Indian Ports Act) और १९५२ के उद्यान श्रमिक-अधिनियम (Plantation Labour Act) में विशेष उपबंध मिलते हैं।

बाल-बंधक अधिनियम—अपने बच्चों के श्रम को अग्रिम रूप में बंधक रखने की प्रथा को बंद करने के लिए बालक (श्रम-बंधक) अधिनियम [Children (Pledging of Labour) Act] १९३३ बनाया गया है। इसके अनुसार रुपये-पैसे या अन्य लाभ के बदले १५ वर्ष से कम आयु के बालक के श्रम को बंधक रखने का कोई भी करार निरर्थक और अवैध माना जाएगा।

प्रत्येक प्रगतिशील देश के बालक अपनी १६ वर्ष की आयु तक स्कूल जाते हैं, फैक्टरियों में नहीं। भारत को, जिसने समाजवादी ढंग के समाज की रचना के ध्येय का वरण किया है, बालकों की अनिवार्य शिक्षा पर बल देना चाहिए। अच्छे नागरिक बनने के लिए शिक्षा का अभिप्राय व्यावसायिक प्रशिक्षण से भी होना चाहिए ताकि स्कूल छोड़ने के बाद युवक अपनी रोटी कमाकर खा सकें। इसलिए बालकों की पढ़ाई-लिखाई की आयु बढ़ाकर १६ वर्ष कर देनी आवश्यक है। यदि यह शिक्षा अनिवार्य कर दी जाए तो ऊपर कहे गये लक्षण का अनुशीलन करना कठिन न होगा।

(२) *स्त्रियां*—स्त्रियों के काम के घंटों पर रोक लगाये बिना उन्हें नौकर रखना तथा उनके शारीरिक अवस्थाओं पर ध्यान न देना समाज की व्यवस्था के लिए एक विकट खतरा है। समाज की भलाई इसी में है कि स्त्रियों को संरक्षण दिया जाए। सबसे पहले, फैक्टरी (संशोधन) अधिनियम [Factories (Arrangment) Act] १८९१ ने स्त्रियों के काम के घंटे ११ नियत किये थे जिसमें बीच में १$\frac{1}{2}$ घंटे की छुट्टी भी होती थी। एक अन्य संशोधनात्मक अधिनियम के अंतर्गत कुछ खतरनाक स्थानों में स्त्रियों की नौकरी बंद कर दी गयी थी।

भारतीय संविधान में समान कार्य के लिए समान वेतन की नीति राज्य के

लिए प्रतिपादित की गयी है। किंतु यह नीति अभी तक काम में नहीं आयी है। अब भी ऐसे औद्योगिक कारखाने हैं जहां समान काम के लिए स्त्रियों को पुरुषों के समान वेतन प्राप्त नहीं हो रहा है।

प्रसूति सुविधा अधिनियम (Maternity Benefit Act)—केंद्रीय और राज्य विधानमंडलों ने खान प्रसूति-सुविधा अधिनियम (Mines Maternity Benefit Act) तथा प्रसूति सुविधा अधिनियमों में जो उपबंध जोड़ दिये हैं उनसे किसी भी कामगार स्त्री को प्रसव से ४ सप्ताह पहले तथा ४ सप्ताह बाद तक की छुट्टी कुछ शर्तों सहित पूरे वेतन पर मिल जाती है। उसको प्रसव-काल में कुछ समय तक कुछ संरक्षण प्राप्त रहता है। किंतु यह व्यवस्था अपर्याप्त है और देश भर में एक-सी नहीं है। समाज के इस अंग को जो संरक्षण दिया जाए वह देश भर में समान और अधिक उदारतापूर्ण होना चाहिए।

(ब) सुनिश्चित उद्योगों से संबंधित कानून

(१) फैक्टरियां और कारखानें—१८८१ से पहले श्रम-विषयों के संबंध में सरकार की नीति वास्तव में अहस्तक्षेप की थी। किसी-किसी फैक्टरी में सूर्योदय से सूर्यास्त तक काम होता था। फैक्टरियों में काम करने वाले बच्चों और स्त्रियों की भी गिनती कम न थी। कामगारों को साप्ताहिक छुट्टी की कौन कहे, एक लंबी अवधि के बाद भी कोई छुट्टी न मिलती थी। इस दशा में भी, औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील भारतीय राज्य और लोकमत किसी प्रकार के श्रम-विधान की रचना के पक्ष में न थे। किंतु धीरे-धीरे अनुदार और प्रगतिशील विचारों में एक संधि हुई जिससे १८८१ में श्रम-अवस्थाओं का नियमन करने के लिए प्रथम फैक्टरी अधिनियम पास हुआ।

फैक्टरी अधिनियम—१८८१ का फैक्टरी अधिनियम एक साधारण कानून था जिसका उद्देश्य बच्चों के स्वास्थ्य आदि की रक्षा करना था। इस अधिनियम में अनेक बार हेरफेर किया गया। भारत में श्रम क संबंध में राजकीय आयोग (Royal Commission on Labour) ने जो सिफारिशें की थीं, उनको तथा अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के अभिसमयों को कार्यपरिणत करने के लिए १९३४ में इस कानून में हेरफेर किया गया। इसके अनुसार, बारहमासी फैक्टरियों में प्रौढ़ों के लिए एक सप्ताह में ५४ घंटे और एक दिन में १० घंटे काम के नियत कर दिये गये तथा मौसमी फैक्टरियों में एक सप्ताह में ६० घंटे तथा एक दिन में ११ घंटे काम के नियत किये गये। इसमें सामूहिक छुट्टी तथा पांच घंटे लगातार काम के बाद विराम की व्यवस्था की गयी तथा ओवरटाइम के लिए सामान्य वेतन का ड्योढ़ा मिलने लगा। इसमें बच्चों से प्रतिदिन पांच

घंटे तथा स्त्रियों से दस घंटे काम लेने की व्यवस्था हुई तथा रात में दोनों को काम करने से रोक दिया गया। यह अधिनियम उन फैक्टरियों पर लागू होता था जो यांत्रिक शक्ति का प्रयोग करती थीं तथा जिनमें २० या इससे अधिक मजदूर काम करते थे और जो इस दशा में कम-से-कम पिछले १२ महीनों से चल रही थीं। १९३७ से इस अधिनियम में समय-समय पर हेरफेर किया गया। जिससे इसका कार्यक्षेत्र बढ़ गया और कामगारों के अधिकार भी बढ़ते गये। इस प्रकार जब १९४७ का फैक्टरी अधिनियम पास हुआ तब उसका स्वरूप १९३४ के अपने मूल फैक्टरी अधिनियम से बहुत भिन्न था। उसमें काम के घंटों, सवेतन छुट्टी, उपाहारगृह-सुविधा तथा बालकों की नौकरी के संबंध में काफी ऊंचे पैमाने पर श्रम-संरक्षणात्मक व्यवस्था की गयी थी।

यद्यपि इस अधिनियम में उत्तरोत्तर संशोधन होते आये हैं फिर भी उसकी सामान्य रूप-रेखा अप्रतिहत भी चली आ रही है उसके प्रयोग से यह अनुभव हुआ था कि कामगारों की सुरक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण से संबंध रखने वाले उपबंधों को और दृढ़ करने तथा उन अनेक छोटे-छोटे औद्योगिक संस्थाओं में उसके संरक्षणात्मक उपबंधों को लागू करने की आवश्यकता है जो उस समय उसके प्रभाव-क्षेत्र से बाहर थे। इसलिए १९४८ में फैक्टरी के श्रम से संबंधित कानून में संशोधन करने और उसे दृढ़ बनाने के लिए एक नया अधिनियम पास किया गया। इस नये फैक्टरी अधिनियम द्वारा अंतर्राष्ट्रीय श्रस संघ की औद्योगिक आरोग्य संहिता (International Labour Organisation Code of Industrial Hygiene) में जितने नियम-विनियम दिये गये हैं उनको भारतीय परिस्थितियों को देखते हुए यथासंभव कार्यपरिणत करने का प्रयास किया गया है। युवकों की समय-समय पर डाक्टरी परीक्षा करने तथा फैक्टरी की इमारत का नक्शा प्रस्तुत करने का प्रचलन अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के करारों के कारण ही हुआ है।

१९४८ के फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत बिजली से चलने वाली वे सब फैक्टरियां आती हैं जिनमें कम-से-कम १० व्यक्ति काम करते हों तथा बिना बिजली वाली वे फैक्टरियां आती हैं जिनमें कम-से-कम २० व्यक्ति काम करते हों। इसमें मौसमी और बारहमासी फैक्टरियों का भेद नहीं रखा गया है। कामगारों के स्वास्थ्य की रक्षा और उसकी सुरक्षा तथा कल्याण-कार्य की उन्नति पर बल दिया गया है। बालकों को नौकर रखते समय उनकी आयु कम-से-कम चौदह वर्ष की होनी चाहिए; किशोर को (आयु : १५ और १८ वर्ष के बीच में) नौकरी में प्रवेश करते समय डाक्टरी परीक्षा में फिट होना चाहिए। प्रौढ़ के काम के घंटे प्रति सप्ताह ४८ अथवा ९ घंटे प्रतिदिन नियत किये गये हैं। बालकों और किशोरों को केवल ४½ घंटे प्रतिदिन काम करना होगा। साप्ता-

हिक छुट्टी के अतिरिक्त, वर्ष भर काम करने के बाद वयस्क २० दिन नौकरी करने के बाद एक दिन की सवेतन छुटी का अधिकारी होगा। इसी प्रकार बालक १५ दिन की नौकरी के बाद एक दिन की सवेतन छुट्टी पा सकता है। इस अधिनियम में फैक्टरियों का पहले-से अनुज्ञापत्र (लाइसेंस) लेने और उनको पंजीबद्ध कराने, फैक्टरी निरीक्षक द्वारा फैक्टरी की इमारत के नकशे को पूर्व-जांच, आदि बातें भी सम्मिलित हैं। राज्य की सरकारें इस अधिनियम को लागू करती हैं। उन्हें यह अधिकार प्राप्त है कि कामगारों के कल्याण-कार्य की व्यवस्था में कामगारों से सहयोग लेने के लिए आवश्यक नियम बना सकती हैं। १९४९, १९५०, १९५३ और १९५४ में संशोधनात्मक अधिनियमों द्वारा उक्त अधिनियम में कुछ हल्के-फुल्के परिवर्तन कर दिये गये हैं।

औद्योगिक नौकरी स्थायी आदेश अधिनियम (Industrial Employment Standing Orders Act)—औद्योगिक कारखानों में मालिकों और कामगारों के बीच संघर्ष का एक बड़ा कारण यह है कि भरती, बर्खास्तगी, अनुशासनात्मक कार्यवाही, छुट्टी, और आवकाश के संबंध में मालिकों और कामगारों के अपने-अपने दायित्वों और अधिकारों का स्पष्ट तथा निश्चित शब्दों में कोई उल्लेख नहीं है। औद्योगिक कारखानों में छुट्टी के प्रश्न पर नौकरीदाताओं और श्रमिकों में प्रायः झगड़ा होता रहा है। इस विषय पर त्रिदलीय श्रम-सम्मेलनों में भी यह मत प्रकट किया गया है कि केंद्रीय सरकार छुट्टी के बारे में कुछ कानून बना दे जो बड़े कारखानेदारों को मानने पड़ेंगे। इसलिए १९४६ में औद्योगिक नौकरी (स्थायी आदेश) अधिनियम पास हुआ।

इस अधिनियम में कहा गया है कि सभी औद्योगिक संस्थानों (फैक्टरियों, खानों, रेलों, गोदियों और बागों) को, जिनमें कम-से-कम १०० कामगार नौकर हों, स्थायी आदेश जारी करने का अधिकार है। इस अधिनियम के लागू होने के छह महीने के भीतर ही मालिक प्रमाणपत्रदाता अधिकारी (Certifying Officer) के सामने अपने उन स्थायी आदेशों का प्रारूप भेज देगा जो अधिनियम की अनुसूची के अंतर्गत जारी किये जाएंगे। प्रमाणपत्र-दाता अधिकारी को उक्त आदेशों में अपनी सूझबूझ के अनुसार हेरफेर करने का अधिकार होगा ताकि वे अधिनियम के अंतर्गत प्रमाणपत्र हो सकें। प्रारंभ में, जब उक्त अधिनियम बना था तब प्रमाणपत्र-दाता अधिकारी को मालिक के आदेशों के प्रारूप में संशोधन करने का अधिकार न था; किंतु आगे चलकर एक संशोधन द्वारा उसे यह अधिकार मिल गया कि वह प्रारूपित आदेशों को अपनी तराजू पर तोल सकता है और उनमें यथेष्ट परिवर्तन कर सकता है। सरकार स-शर्त या बिना-शर्त किसी भी औद्योगिक संस्थान को उक्त अधिनियम से या उसके कतिपय उपबंधों से मुक्त कर सकती है।

उक्त अधिनियम बरतने में ढील देने के कारण, कितने ही औद्योगिक संस्थानों ने अभी तक स्थायी आदेश नहीं बनाये हैं। औद्योगिक कारखानों के मालिकों द्वारा निर्मित स्थायी आदेशों तथा प्रमाणपत्र-दाता अधिकारी द्वारा प्रमाणित आदेशों के किन्हीं-किन्हीं रूपों में बहुत अंतर है। इसलिए विभिन्न उद्योगों में श्रमिकों की सेवा की दिशाएं भिन्न-भिन्न दिखायी देती हैं यहां तक कि एक ही अंचल के एक ही प्रकार के औद्योगिक संस्थानों की कार्यावस्थाओं में विभिन्नता मिलेगी।

(२) खानें और खनिज—नवीनतम आंकड़ों से पता चलता है कि भारत की खानों में ५½ लाख से भी अधिक कामगार काम करते हैं; और खान-उद्योग अधिकांशतः बिहार, पश्चिमी बंगाल, और मध्य प्रदेश में केंद्रित है। इन खनकों में २० प्रतिशत संख्या स्त्रियों की है।

इन वर्षों में, खानों के विषय में जो कानून बने हैं उनमें खनकों के जीवन की सुरक्षा, कल्याण-कार्य तथा खनिजों पर कर लगाकर कल्याण-कार्य के लिए धन-संग्रह के सिद्धांतों का परिशीलन, स्त्री-कामगारों को प्रसवकालीन आर्थिक अनुदान, बोनस-वितरण की योजनाएं तथा कोयला खानों में कामगारों के लिए भविष्यनिधि (प्रावीडेंट फंड) की व्यवस्था, आदि के कानून उल्लेखनीय हैं।

कोयला-खान क्षेत्र में त्रिदलीय औद्योगिक समिति की रचना एक महत्त्वपूर्ण चीज है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की अनेक त्रिदलीय औद्योगिक समितियां विभिन्न क्षेत्रों में काम करती हैं। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि उक्त त्रिदलीय औद्योगिक समिति की रचना की प्रेरणा अं. श्र. संघ की समितियों से ही मिली है। इस समिति में जो विचार-विनिमय हुआ है उसमें कोयला-खानों के खानों की कार्यावस्थाएं सुधारने पर सदा ही विशेष जोर दिया गया है।

खान अधिनियम—खानों में श्रमिकों की कार्यावस्थाओं के नियमन के लिए सबसे पहला वैधानिक कदम १९०१ में उठाया गया। १९२३ में, जिस दूसरे विधान ने इसकी जगह ले ली उसका नाम भारतीय खान अधिनियम (Indian Mines Act) है। इस समय जो कानून लागू है वह भारतीय खान अधिनियम, १९५२ है। इसकी परिधि में सभी खानें और उनकी मशीनें और संयंत्र आ जाते हैं। इसने खान के भीतर घुसकर काम करने वाले सभी मजदूरों के काम के घंटों को घटाकर ८ घंटे प्रति दिन कर दिये हैं और ऊपर भूमि पर काम करने वाले मजदूरों के दैनिक घंटे ९ नियत किये हैं। इसमें पहली बार अधिक समय (ओवर टाइम) की वेतन दर नियत की गयी है। यह वेतन-दर ऊपर काम करने वाले की सामान्य वेतन-दर से ड्योढ़ी होती है; और खान के भीतर काम करने वाले के लिए दोगुनी होती है। इसमें खान के

भीतर स्त्रियों को काम न देने का प्रतिबंध लागू है और उनका काम करने का समय प्रातःकाल से सायंकाल ७ के बीच में ही होना चाहिए। इसके बाद उन्हें काम की मनाही है। खान के भीतर काम करने के लिए भरती होने वाले युवकों की डाक्टरी-परीक्षा की आयु १७ से बढ़ाकर १८ कर दी गयी हैं; और खान के बाहर काम करने वाले किशोरों (१५ और १८ वर्ष के बीच की आयु) के काम के घंटे ४½ कर दिये गये हैं। इन किशोरों का अर्थ उन किशोरों से है जिन्हें प्रमाणपत्र देने वाले डाक्टर ने शारीरिक दृष्टि से योग्य होने का डाक्टरी प्रमाणपत्र नहीं दिया है। सवेतन छुट्टी और बदले की छुट्टी की व्यवस्था की गयी है। इसके अंतर्गत, बारह महीने की सेवा पूरी होने पर मासिक वेतन पाने वाले को सवेतन १४ दिन की छुट्टी और भूगर्भ में काम करके साप्ताहिक वेतन पाने वाले को सवेतन ७ दिन की छुट्टी मिल सकती है। उसमें काम के स्थलों पर कल्याण-कार्य तथा कल्याण अधिकारियों की व्यवस्था भी की गयी है।

मजदूरी अदायगी अधिनियम (Payment of Wages Act), १९३६ के उपबंध १९४८ में कोयला खानों पर भी लागू हो गये हैं और १९५१ से वे सभी खानों पर लागू हैं।

कोयला खान (संरक्षण और सुरक्षा) अधिनियम (Coal Mines [Conservation and Safety] Act) *१९५२* — इस अधिनियम में कोयले के संरक्षण तथा कोयला खानों में सुरक्षा-संबंधी व्यवस्थाओं के रख-रखाव के लिए एक कोयला-मंडल (Coal Board) की स्थापना की गयी है।

कोयला खान श्रमिक कल्याण कोष अधिनियम (Coal Mines Labours Welfare Fund Act), *१९४७* — देश की खानों में काम करने वाले कामगारों की कल्याणकारी सुविधाओं के लिए अधिनियम के अनुबंधों पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। खनकों में तीन-चौथाई से भी अधिक कोयला खानों में काम करते हैं, इसलिए कल्याणकारी कार्यवाही सबमें पहले कोयला-खानों में आरंभ की गयी। किंतु इसके कुछ समय बाद ही, यह सुविधा अभ्रक-खनकों को भी प्राप्त हो गयी। इस अधिनियम के अंतर्गत एक कोयला-खान श्रमिक कल्याण कोष (Coal Mines Labours Welfare Fund) स्थापित हुआ जिसका ध्येय कोयला खान उद्योग के श्रमिकों की सुविधा प्रदान करना है। इस अधिनियम ने उक्त कोष में दान इकट्ठा करने के लिए सरकार को उपकर लगाने का अधिकार दे दिया। श्रमिकों के लिए आवास और पानी का प्रबंध करना अथवा उनकी सुविधाएं बढ़ाना अभीष्ट है। इस कोष से श्रमिकों के लिए शिक्षण, नहाने-धोने, मनोरंजन, कर्मस्थल तक परिवहनों, चिकित्सा, आदि की व्यवस्था की जाती है। इस अधिनियम ने

सरकार को एक ऐसी परामर्शदात्री समिति बनाने का अधिकार दे दिया जिसमें खान-मालिकों और कामगारों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाए और उक्त कोष के प्रशासन और उपभोग के बारे में सरकार को सलाह देते रहें।

अभ्रक खान कल्याण कोष अधिनियम (Mica Mines Labours Welfare Fund Act), *१९४६* — इस अधिनियम के उपबंध कोयला खान कल्याण कोष अधिनियम से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।

कोयला खान भविष्य-निधि तथा बोनस योजना अधिनियम (Coal Mines Provident Fund and Bonus Schemes Act) —कोनला खान भविष्य-निधि तथा बोनस योजना अधिनियम १९४८ से सरकार को इस बात का अधिकार मिल गया कि वह कोयला खानों में काम करने वाले लोगों के लिए भविष्य-निधि की योजना तथा बोनस की योजना बनाये। इस कोष का प्रबंध करने के लिए प्रन्यासियों (ट्रस्टी) का एक त्रिदलीय मंडल बना हुआ है जिसमें सरकार, मालिकों और कामगारों के प्रतिनिधि बराबर संख्या में होते हैं। इसी प्रकार कोयला खानों के कामगारों के लिए एक बोनस-योजना बनाने का अधिकार सरकार को मिल गया है।

(३) बाग (Plantations) —नवीनतम प्राप्य आंकड़ों के अनुसार १२·५ लाख कामगार बागों में काम करते हैं। इनमें लगभग १०·३ लाख चायबागों में, १·७५ लाख काफी के क्षेत्रों में और ०·५ लाख रबड़ के बागों में काम करते हैं।

चाय जिला प्रवासी श्रमिक अधिनियम (Tea Districts Emigrant Labour Act), *१९३२* — बागों के श्रमिकों के संबंध में जो कानून पहले-पहल बने उनमें चाय जिला प्रवासी श्रमिक अधिनियम १९३२ का नाम उल्लेखनीय है। इस अधिनियम का मुख्य ध्येय रंगरूटों की भरती पर नियंत्रण करना, अन्य राज्य से असम के चाय-उद्यानों में प्रवासियों को भेजना और रंगरूटों की भरती में चाय-उद्योग को अधिक ढील देना है। इसमें प्रवासियों को तीन वर्ष की सेवा के बाद मालिक के व्यय से घर लौटने का अधिकार प्राप्त है। इस अधिनियम के कारण कोई भी बालक, जिसकी आयु १६ वर्ष से कम होगी, चायबागों में तब तक काम नहीं कर सकता जब तक उसके माता-पिता अथवा अन्य अभिभावक उसके साथ न हों। अपने पति के साथ रहने वाली विवाहित स्त्री को केवल उसकी अनुमति से ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है।

उद्यान श्रमिक अधिनियम (Plantation Labours Act) *१९५१*— इस अधिनियम से बागों के कामगारों की कार्यावस्थाओं के नियमन का प्रथम

प्रयास दिखायी देता है। इसमें उनके कल्याण-कार्य की भी व्यवस्था की गयी है। यद्यपि सबसे पहले यह केवल चाय, काफ़ी, रबर, और सिनकोना के बागों पर लागू होता है फिर भी राज्य-सरकारें इस अधिनियम के उपबंधों को केंद्रीय सरकार की स्वीकृति से अन्य बागों पर भी लागू करने का अधिकार मिल गया है।

इस अधिनियम ने प्रौढ़ों के लिए प्रति सप्ताह ५४ घंटे तथा किशोरों और बालकों के लिए ४० घंटे नियत कर दिये हैं और १२ वर्ष से कम आयु के बालकों को नौकर रखना मना है; स्त्रियों और बालकों से सायं ७ बजे और प्रातः ६ बजे के बीच में रात को काम नहीं करवा सकते हैं; तथा १८ वर्ष से कम के नवयुवकों की डाक्टरी परीक्षा आवश्यक होती है। प्रौढ़ों के लिए प्रति २० दिन के बाद एक दिन की सवेतन छुट्टी तथा बालकों के लिए प्रति १५ दिन के बाद एक दिन की सवेतन छुट्टी की व्यवस्था है।

स्वास्थ्य तथा कल्याण कार्यों, और कल्याण-अधिकारियों की नियुक्ति, के बारे में इस अधिनियम में जो व्यवस्था की गयी है वह १९४८ के फैक्टरी अधिनियम से मिलती-जुलती है। चायबागों में जो कामगार और उनके परिवार रहते हैं, उनके लिए आवास की व्यवस्था का बोझ नौकरीदाताओं के ऊपर डाल दिया गया है।

१९५२-५३ में चाय-उद्योग में मंदी आने के कारण उक्त अधिनियम को लागू करने से रोक दिया गया था। किंतु आगे चलकर जब चाय के मूल्य ऊंचे चढ़ गये, तब १ अप्रेल १९५४ से वह लागू कर दिया।

(४) परिवहन

(१) रेलवे — देश के रेलवे प्रशासन तथा रेलवे ठेकेदारों ने लगभग १६ लाख कामगारों को काम पर लगा रखा है। यद्यपि रेलों में औद्योगिक श्रमिकों की एक-तिहाई संख्या काम करती थी फिर भी पहले रेल-श्रमिकों की कार्यावस्थाओं पर कोई कानूनी नियंत्रण न था। रेलवे कारखानों में काम करनेवालों पर फैक्टरी अधिनियम के अनुबंध लागू होते थे।

सेवा के घंटों के विनियम (Hours of Employment Regulations) — १९३० तक रेलवे कारखानों में काम करनेवाले लोगों को छोड़कर अन्य रेलवे कर्मचारियों की कार्यावस्थाओं के नियमन के लिए कोई कानून न था। कारखानों पर फैक्टरी अधिनियम लागू होता था। भारतीय रेलवे संशोधन अधिनियम (Indian Railway Amendment Act) १९३० के बनने से भारतीय रेलवे अधिनियम (१८९०) में एक नये अध्याय

का श्रीगणेश हुआ। इसमें काम के घंटों और रेलवे कर्मचारियों के विश्राम के बारे में निर्णय किया गया। इसके अंतर्गत रेलवे कर्मचारियों के काम के घंटों के नियम बनाये गये। जिन कर्मचारियों को काम बीच में विराम के साथ (सविराम) करना पड़ता था उनका समय अधिकतम ८४ घंटे प्रति सप्ताह कर दिया गया तथा अन्य लोगों के लिए ६० घंटे प्रति सप्ताह। ओवरटाइम (अधिसमय) का वेतन सामान्य वेतन का सवा गुना स्वीकार किया गया। इन नियमों के अंतर्गत कुछ श्रेणियों के रेलवे कर्मचारियों के लिए, जिनका काम अनिवार्यतः सविराम नहीं होता है, निश्चित अवधि के बाद विश्राम की भी व्यवस्था की गयी है।

न्यायमूर्ति जी. एस. राजाध्यक्ष के १९४७ के पंचाट का परिशीलन करते हुए १९५१ में रेलवे कर्मचारी (सेवा के घंटे) नियम बनाये गये। इन नियमों के अंतर्गत रेलवे कर्मचारियों की निम्नांकित श्रेणियां की गयी हैं: (१) अत्यधिक परिश्रमी, (२) अनिवार्यतः सविराम, (३) बहिर्गत, और (४) अविराम।

"अत्यधिक परिश्रमी" कर्मचारीवृन्द के लिए ४५ घंटे, "अनिवार्यतः सविराम" कर्मचारीवृन्द के लिए ७५ घंटे तथा "अविराम" कर्मचारीवृन्द के लिए ५४ घंटे प्रति सप्ताह नियत हैं। 'परिश्रमी' और 'अविराम' कर्मचारियों को ३० घंटे का अनवरत विश्राम, तथा "अनिवार्यतः सविराम" कर्मचारी को इकट्ठे २४ घंटों का साप्ताहिक विश्राम देना चाहिए जिसमें पूरी रात शामिल हो; "बहिर्गत" कर्मचारी को एक मास में ४८ घंटों का अनवरत विश्राम अथवा प्रति पक्ष २४ घंटों का अनवरत विश्राम देना चाहिए। चलते-फिरते कर्मचारीवृन्द को प्रतिमास निश्चित अवधि के बाद चार बार तीस-तीस अनवरत घंटों का अथवा पांच बार बाईस-बाईस अनवरत घंटों का विश्राम मिलना चाहिए।

रेलवे में ठेके पर काम करने वाले श्रमिकों की संख्या सात लाख है। उनकी समस्या कम उलझनपूर्ण नहीं है। उनकी सेवा की अवस्थाएं असंतोषजनक हैं क्योंकि उन्हें इसी उद्योग में काम करने वाले अन्य भाइयों की भांति कोई अधिकार और रियायतें प्राप्त नहीं हैं।

नाविक (Seaman)—नाविकों की ठीक-ठीक संख्या का पता नहीं। किंतु अटकल से यह संख्या तीन लाख होगी जब कि वास्तव में ५०,००० नाविक काम में लगे हुए हैं।

भारतीय व्यापारिक जहाजी यातायात अधिनियम (Indian Merchant Shipping Act) *१९२३*—भारतीय नाविकों की सेवा की अवस्थाओं तथा कल्याण-कार्य के संबंध में एक ही अधिनियम लागू है जो भारतीय व्यापारिक जहाजी यातायात अधिनियम १९२३ के नाम से पुकारा जाता है। इसमें नवयुवकों की भरती, सेवा, डाक्टरी परीक्षण, वेतन के भुगतान

स्वास्थ्य तथा कल्याण, अनुशासन तथा मृत नाविक की संपत्ति निपटाने आदि के नियमों का उल्लेख है।

इस अधिनियम के अंतर्गत किसी भी नाविक को भारतीय, ब्रिटिश अथवा विदेशी जहाज पर जलयानपति द्वारा जहाजी यातायात के जलयानपति की उपस्थिति में निर्धारित तरीके से नौकर किया जा सकता है। सरकार को यथेष्ट बंदरगाहों पर नाविकों के नौकरी दिलाऊ-कार्यालय खोलने का अधिकार प्राप्त है जिससे वह व्यापारिक जहाजों के लिए नाविक उपलब्ध कर सकें, और व्यापारिक जहाजों के श्रमिकों की समस्या हल कर सकें, केवल घरेलू व्यापार के भारवाही जहाजों को छोड़कर जो ३०० टन से अधिक के नहीं होते हैं, प्रत्येक भारतीय और विदेशी जहाज के जलयानपति को नाविकों को नौकर रखते समय यात्रा, कार्यावस्था तथा वेतन के संबंध में उनसे विस्तृत करार करना पड़ता है। अन्य बातों के अतिरिक्त इस अधिनियम में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जब तक नाविक के पास नौकरी के लिए आवश्यक शारीरिक योग्यता का प्रमाणपत्र नहीं होगा तब तक उसे किसी भी रूप में समुद्र पर काम करने या नौकर रखने के लिए नहीं बुलाया जाएगा।

उक्त अधिनियम द्वारा १४ वर्ष से कम आयु के बालकों को कोई काम नहीं दिया जा सकता और १८ वर्ष से कम आयु के किशोरों को ट्रिमर, स्टोकर, आदि के काम पर, कुछ सुनिश्चित अवस्थाओं के अतिरिक्त नहीं लगाया जा सकता।

गोदी और बंदरगाह—गोदियों में काम करने वाले मजदूर कई अभिकर्ताओं द्वारा रखे जाते हैं। उदाहरण के लिए, बंदरगाह ट्रस्टों, जहाज पर माल चढ़ाने-उतारने वाली एजेंसियों, कोयला फर्मों, बड़ी नौकाओं के स्वामियों द्वारा नौकर रखे जाते हैं। नवीनतम आंकड़ों के अनुसार उनकी संख्या ५,७०० है।

भारतीय गोदी श्रमिक अधिनियम (Indian Dock Labourers' Act) *१९३४*—जहाजी माल घाट श्रमिक अधिनियम १९३४ में पास हुआ। यह जहाजीघाटों के कामगारों की रक्षा का पहला कानून था। भारतीय जहाजीघाट श्रमिक विनियम १९४८ में बने। इन विनियमों के अंतर्गत सरकार द्वारा नियुक्त निरीक्षकों के कर्त्तव्य स्पष्ट कर दिये गये हैं और विभिन्न सुरक्षात्मक कार्यवाहियों का विवरण किया गया है, जैसे (१) डॉक (जहाजीघाट), ह्वार्फ अथवा क्वे का प्रबंध तथा नियंत्रण करने वाले अधिकारी, (२) जहाज का स्वामी (Owner), जलमानपति (Master) या प्रभारी अधिकारी (Officer in-charge) या जहाज का अभिकर्ता (Agent); (३) जहाज का माल या ईंधन चढ़ाने या उतारने के यंत्र या संयंत्र का स्वामी; और

(४) वह व्यक्ति जो स्वयं, अथवा अपने अभिकर्ताओं या कर्मचारियों द्वारा जहाज का माल या ईंधन चढ़ाने-उतारने का भार ग्रहण करता है।

गोदी कामगार (सेवा-विनियमन) अधिनियम (Dock Workers [Regulation of Employment] Act) *१९४८*—भारत के बंदरगाहों की एक मुख्य समस्या यह है कि यहां आवश्यकता से अधिक जहाजी-घाटों के मजदूर उपलब्ध हैं और इस कारण उनमें बेरोजगारी होना तथा उन्हें कम मजदूरी मिलना स्वाभाविक है। १९३१ में भारत के राजकीय श्रम आयोग (Royal Commission on Labours) ने सिफारिश की थी कि "जहाजीघाटों में आवश्यकतानुसार श्रमिकों की उपलब्धि के लिए एक सुनिश्चित नीति बरतनी चाहिए ताकि बिचौलों की आपाधापी को ढील न मिल सके और सभी योग्य व्यक्तियों को काम करने का समुचित आधार मिलता रहे।" किंतु, जब १९४८ में गोदी-कामगार (सेवा-नियमन) अधिनियम पास हुआ तब कहीं उक्त दिशा में प्रभावशाली पग धरना संभव हो सका। अन्य बातों के अतिरिक्त, इस अधिनियम ने केंद्रीय सरकार को बड़े बंदरगाहों तथा राज्य सरकारों को अन्य बंदरगाहों के सिलसिले में गोदियों के कामगारों के पंजीकरण की योजनाएं बनाने का अधिकार दे रखा है ताकि सेवा की व्यवस्था अधिक सुंदर हो सके। इन योजनाओं का संबंध विविध विषयों से होता है। इनमें जहाजीघाटों के कामगारों के जीवन, काम, भरती, सेवा की अवस्थाएं, प्रशिक्षण और कल्याण-कार्य सभी आ जाते हैं। इस अधिनियम द्वारा एक त्रिदलीय परामर्शदात्री समिति बनाने की व्यवस्था की गयी है जिसमें सरकार, जहाजीघाटों के कामगारों और उनके नौकरीदाताओं को समान संख्या में अपने-अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। यह समिति अधिनियम तथा उसकी अंतवर्ती किसी भी परियोजना के प्रशासन में सरकार को अपनी सलाह देती है। इस अधिनियम के लिए निरीक्षकों की नियुक्ति की भी व्यवस्था की गयी है।

इस अधिनियम के अंतर्गत, बंबई, कलकत्ता और मद्रास के बंदरगाहों के जहाजीघाटों के कामगारों के लिए सेवा-नियमन योजनाएं बना दी गयी हैं। इन बंदरगाहों में त्रिदलीय गोदी-श्रमिक मंडल (Tripartite Dock Labours Boards) नियुक्त हो गये हैं।

इस योजना ने मजदूरी की दरें, काम के घंटे, साप्ताहिक छुट्टी, छुट्टियां, अवकाश, सेवा-निवृत्ति-संबंधी लाभ तथा कल्याण-कार्य की भी व्यवस्था की है।

भारी बंडलों के अंकन का अधिनियम (Marking of Heavy Packages Act) *१९५१*—इस अधिनियम के अंतर्गत किसी भी भारी बंडल पर, जो एक हजार किलोग्राम या इससे अधिक वजन का हो, उसकी तोल लिखी होनी चाहिए। चाहे यह बंडल समुद्री मार्ग से या किसी अंतर्देशीय

जलीय मार्ग से जा रहा हो, उस पर साफ और सुपठ्य शब्दों में उसका वजन लिखा होना आवश्यक है। यह अंक टिकाऊ हों। यह नियम है कि वजन दाशमिक टन, किलोग्राम, स्टैंडर्ड पौंड या मन में अंकित होना चाहिए। यह अंक अंग्रेजी या प्रादेशिक भाषा के होने चाहिए। ये ऐसी किसी स्याही या रंग से लिखे जाएं ताकि अक्षर साधारणत: मिट न सकें।

प्रन्यासी मंडलों में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व—(Labour Representation on the Boards of Trustees)—बंबई बंदरगाह प्रन्यास अधिनियम (Bombay Port Trust Act) तथा मद्रास बंदरगाह प्रन्यास अधिनियम (Madras Port Trust Act) में संशोधन करके प्रन्यासी-मंडलों में जहाजी घाटों के मज़दूरों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी। केंद्रीय सरकार को श्रमिक संगठनों से परामर्श करने के बाद उक्त प्रतिनिधियों को मनोनीत करने का अधिकार प्राप्त है।

अंतर्देशीय जलीय परिवहन—अंतर्देशीय जलीय परिवहन सेवा में कितने आदमी लगे हुए हैं, इस बारे में विश्वसनीय आंकड़े प्राप्त नहीं हैं तथा इन कर्मचारियों की सेवा-संबंधी शर्तों और कार्यावस्थाओं के नियमन के लिए कदाचित् ही कोई कानून होगा। प्राय: ये लोग बहुत देर तक काम किया करते और अपनी नौकाओं द्वारा यात्रियों तथा माल को इधर-उधर ढोते रहते हैं। जब उनकी नौकाएं घाट पर आती हैं तब कहीं उन्हें दम लेने की फुरसत मिलती है। उन पर प्रकृति की त्यौरी प्राय: चढ़ी रहती है; किंतु उनकी सेवा की शर्तें तय करते समय इसका कोई ख्याल नहीं किया जाता है; और न अभी तक जनता ने यात्रियों की सुरक्षा की ओर ही समुचित ध्यान दिया है।

हवाई परिवहन (Air Transport)—हवाई परिवहन उद्योग के दिन-पर-दिन बढ़ते हुए महत्त्व को देखकर उसका राष्ट्रीकरण आवश्यक हो गया था। विशिष्ट कार्य के लिए योग्य कर्मचारियों की उपलब्धि की दृष्टि से उसमें कार्यावस्थाओं का स्तर अन्य प्रतिष्ठानों की अपेक्षा बेहतर रखना पड़ा। इस अंचल में सरकारी क्षेत्र आदर्श कार्यावस्थाएं प्रस्तुत करके दूसरे उद्योगों के लिए उदाहरण बन सकता है।

मोटर यातायात—यह उद्योग इतना छिन्न-भिन्न है कि इसमें कितने लोग काम करते हैं उसके आंकड़ों का संकलन करना कठिन हो गया है। इस उद्योग का राष्ट्रीकरण तेजी से किया जा रहा है। नये मार्गों का प्रसार हो रहा है और देश के सभी महत्त्वपूर्ण नगरों के बीच में सड़कों का जाल बिछाने का प्रयास जारी है।

मोटर-गाड़ियां अधिनियम (Motor Vehicles Act)—उपर्युक्त मोटर यातायात के विकास के बावजूद, भारत में इस उद्योग में काम करने वाले कर्म-

चारियों की कार्यावस्थाओं की देखरेख के लिए एक ही कानून है। यह है मोटर गाड़ियां अधिनियम, १९३९ जिसको १९५६ में संशोधित किया जा चुका है। इस अधिनियम ने मोटर गाड़ी के ड्राइवर की न्यूनतम आयु १८ वर्ष और भार-वाही गाड़ी के ड्राइवर की न्यूनतम आयु २० वर्ष नियत की है। काम के घंटे प्रतिदिन ९ और सप्ताह में ५४ हैं तथा पांच घंटों के लगातार काम के बाद कम-से-कम आध घंटे का विश्राम मिलना आवश्यक है। वेतन अदायगी अधि-नियम १९३६ के उपबंध मोटर परिवहन कर्मचारियों पर भी लागू कर दिये गये हैं। राज्य सरकारें समय-समय पर अपनी अनुज्ञप्तियों द्वारा उनमें संशो-धन करती रहती हैं।

(५) दूकानें और व्यापारिक संस्थान

साप्ताहिक छुट्टी अधिनियम १९४२—इन वर्षों में, दूकानों, व्यापारिक संस्थानों, रेस्ताराओं और थ्येटरों में कार्यावस्थाओं का नियमन करने के लिए कितने ही कानून बन गये हैं जिनमें साप्ताहिक छुट्टी अधिनियम १९४२ का नाम सबसे पहले आता है यह किसी राज्य या उसके किसी क्षेत्र में तभी लागू होता है जब कि राज्य-सरकार राजपत्र में अपनी अनुज्ञप्ति प्रकाशित करके उसके लागू होने की घोषणा कर देती है। इससे दूकान, रेस्तरां या थ्येटर में नौकर किसी भी व्यक्ति को सवेतन एक साप्ताहिक छुट्टी का अधिकार प्राप्त है। राज्य सरकारों को प्रति सप्ताह आधे-दिन की एक अन्य छुट्टी देने का भी अधिकार प्राप्त है।

दूकानों और व्यापारिक संस्थानों के संबंध में राजकीय विधान—राज्यों में बंबई राज्य ने १९३९ में दूकान और संस्थान अधिनियम (Shops & Establishments Act) पास करके अगुवा का बाना धारण किया था। अन्य अनेक राज्यों ने उनका अनुकरण किया। यह अधिनियम एकबारगी संपूर्ण राज्य पर लागू नहीं हो जाता, बल्कि यह उसके कुछेक नगरों या क्षेत्रों पर लागू किया जाता है जैसा कि अधिनियम में लिखा हुआ है किंतु राज्य सरकारों को अपनी इच्छा के अनुसार इस अधिनियम को विभिन्न क्षेत्रों या नगरों पर अपनी अनुज्ञप्ति जारी करके लागू करने का अधिकार प्राप्त है।

उक्त अधिनियम की परिभाषाएं भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाती हैं। फिर भी मोटे रूप से उसमें दूकानों, व्यापारिक संस्थानों (बीमा और बैंक-व्यावसा-यिक सार्थ्य समेत), रेस्ताराओं और थ्येटरों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के अन्य स्थलों में काम करके वेतन-भोगने वाले कर्मचारी आ जाते हैं।

उक्त अधिनियमों में दूकान, आदि खोलने और बंद करने का समय, विश्राम काल, ओवरटाइम की वेतन-दर और साप्ताहिक छुट्टी के नियम दिये गये हैं।

कुछ अधिनियमों में बर्खास्त कर्मचारी को अपने मालिक के विरुद्ध समुचित अधिकारी से अपील करने की व्यवस्था है।

(६) निर्माण-कार्यरत कामगार

प्रथम पंचवर्षीय योजना समाप्त हो चुकी है और दूसरी पंचवर्षीय योजना चल रही है। इसके अंतर्गत विभिन्न परियोजनाओं को कार्यपरिणित करने के लिए अर्थात् नदीघाटी परियोजनाओं, मार्गों, रिहायशी मकानों, रेल-पटरियों, नयी फैक्टरियों तथा अन्य कार्यों के निर्माण के लिए कुशल अधसीखे तथा सामान्य कामगारों की आवश्यकता पड़ेगी। किसी बिचैल की मार्फत इन कामगारों को प्रायः भरती किया जाता है और उनके काम की शर्तों पर इस समय कोई कानून लागू नहीं होता है। हां, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के अंतर्गत उनके वेतन अवश्य निश्चित होते हैं। इसके अतिरिक्त, केंद्रीय सरकार और राज्य-सरकारों के लोक कर्म विभाग अपने-अपने निर्माण-कार्यों तथा अनुरक्षण-कार्यों के लिए एक विशाल संख्या में मजदूरों को नौकर रखते हों और जब वे ठेकेदारों को काम देते हैं तब ठेकेनामों में इन श्रमिकों की उचित मजदूरी का पूरा ख्याल रखा जाता है। यह बात केंद्रीय लोक कर्म विभाग के बारे में विशेष रूप से देखने में आती है। किंतु अनेक विषयों में इस उपबंध को अच्छी तरह लागू नहीं किया जा रहा है।

इन बिखरे और असंगठित मजदूरों के हितों की रक्षा करना, तथा उनको ठेकेदारों और अन्य अभिकर्ताओं के शोषण से बचाना आवश्यक है। इसके लिए एक कानून होना चाहिए। इस कानून में उपबंधों को लागू करने के लिए एक उचित तंत्र की स्थापना का भी उल्लेख किया गया है। अनेक नदी घाटी तथा अन्य परियोजनाएं नागरिक क्षेत्रों से दूर चल रही हैं। इसलिए उनके अंतर्गत काम करने वाले श्रमिकों की न्यूनतम सामाजिक और कल्याणकारी सुविधाओं पर कम-से-कम उन स्थलों में तो ध्यान देना ही चाहिए जहां काम तीन वर्ष से कम समय तक नहीं चलेगा।

अस्थायी तौर से परियोजनाओं में काम करने वालों को भी समय बीतने पर कुछ-न-कुछ व्यावसायिक कुशलता और अनुभव प्राप्त हो ही जाता है। जब परियोजना चालू हो जाती है तब कुछ कामगारों की छटनी कर दी जाती है। किंतु इस समय उक्त कामगारों को उनकी कुशलता और अनुभव के अनुसार दूसरा काम देने की व्यवस्था नहीं है। इससे दोहरा नुकसान होता है अर्थात् (१) सीखे-सिखाये और अनुभवी कामगार दीर्घकालिक बेरोजगारी के चंगुल में फंसाकर अपना हुनर भूल जाते हैं; और (२) कम-अनुभवी और कम-कुशल कामगारों को नदी घाटी परियोजनाओं में काम करना पड़ता है। किंतु रोजगार-

दफ्तरों की सहायता से सीखे-सिखाये कर्मचारियों की नामावली तैयार की जा सकती है; और उन्हें समय आने पर ठीक ढंग से कामकाज के लिए आवश्यक कार्यस्थलों पर रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, उन कुशल कामगारों को काम-धंधे देने के लिए स्थानीय उद्योगपतियों की सहायता लेनी चाहिए जो दूरस्थ नदी घाटी परियोजनाओं में काम नहीं करना चाहते हों।

(७) खेतिहर कामगार

खेती में लगे हुए कामगारों की संख्या दूसरे उद्योगों के समस्त कामगारों से कहीं अधिक है। उद्योगों, व्यापार-वाणिज्य तथा अन्य काम-धंधों में मिलाकर जितने लोग काम नहीं करते हैं उतने इस देश में अकेली खेती पर निर्भर हैं। इस श्रेणी के कामगारों की समस्या एक विशेष पहेली बन गयी है। इसलिए उस पर इस पुस्तक में अलग एक अध्याय लिखा गया है।

(स) निश्चित विषयों के बारे में कानून

(१) मजदूरी

स्वास्थ्य, और कार्य-स्थल पर सुरक्षा के अतिरिक्त यदि कामगार के लिए दूसरी कोई महत्त्वपूर्ण चीज है तो वह उसकी मजदूरी की समस्या है। यह मजदूरी निश्चित होनी चाहिए और उसे रोकने या कम करने का खतरा न होना चाहिए। मजदूरी के साथ कामगार के ऋणी होने का प्रश्न भी जुड़ा रहता है। इस ऋण के कारण कामगार बंदीखाने में भेजा जा सकता है। उसकी मजदूरी कुर्क हो सकती है और उसे धमकी दी जाती; उसे तंग किया जाता; तथा उससे भारी ब्याज लिया जाता है। इसलिए मजदूरी-संबंधी कानून श्रमिक-विधान का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। मजदूरी अदायगी अधिनियम १९४८ से मजदूरी की सुरक्षा कुछ सीमा तक बढ़ गयी है और न्यूनतम मजदूरी अधिनियम १९४८ से न्यूनतम वेतन की गारंटी दे दी गयी है, जो कुछ ही क्षेत्रों में लागू होती है।

मजदूरी अदायगी अधिनियम द्वारा वेतन की अदायगी ठीक समय पर न करने की अनियमितताओं को रोक दिया है। इस अधिनियम में जो बातें निर्धारित हैं उनके अतिरिक्त अन्य किसी कारण से वेतन में अनधिकृत कटौती नहीं की जा सकती और न अब वेतन के भुगतान में ही विलंब संभव है। वेतन में कटौती किन्हीं निर्धारित बातों और शर्तों के कारण ही हो सकती है।

यह अधिनियम २०० रु० से कम मासिक वेतन पाने वाले पर लागू होता है जो किसी फैक्टरी या रेलवे में नौकर हो। यह वेतन-सीमा १९३६ में निश्चित

हुई थी। तब से जीवन-निर्वाह का व्यय बढ़ने के कारण वेतन दर भी बढ़ गयी है। किंतु, उक्त वेतन-सीमा ज्यों-की-त्यों बनी रहने के कारण, अब कितने ही कर्मचारी उक्त अधिनियम की छत्रछाया से वंचित हो गये हैं।

इस अधिनियम के अंतर्गत, इष्ट सरकारों को किसी भी संस्थान, या वर्ग या गुट पर उसके उपबंधों को लेखानुसार लागू करने का अधिकार प्राप्त है। फिर भी सरकारों ने अनेक संस्थानों तक इसके प्रतिबंधों को प्रसारित करने में कम शिथिलता नहीं बरती है।

इस अधिनियम के अंतर्गत सरकार को एक विशेष तंत्र की स्थापना का अधिकार प्राप्त है जो बकाया धन की वसूली कर सकता है। यह व्यवस्था बड़ी चुस्त और कमखर्चीली है।

न्यूनतम मज़दूरी विधान (Minimum Wages Legislation)—परिश्रम के पुरस्कार के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना है। यह प्रश्न भारत में, जहां श्रम सस्ता है और जहां श्रमिक असंगठित है, बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन गया है—क्योंकि कामगार में इस अवस्था में निर्वाहन मजदूरी (living wage) की मांग करने की शक्ति कहां? न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का प्रश्न पहले राजकीय श्रम-आयोग के सामने आया था जिसने सिफारिश की थी कि बीड़ी-निर्माताओं, ऊन साफ करनेवालों, अभ्रक फैक्टरियों, लाख-निर्माताओं तथा चमड़ा-कमानेवालों, जैसे छोटे-छोटे उद्योगों की जांच करके उनके कामगारों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित तंत्र की स्थापना करने पर विचार करना चाहिए। १९२८ में अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने न्यूनतम मजदूरी निर्धारक तंत्र अभिसमय (नं. २५) को स्वीकार करके उक्त विषय को प्रोत्साहन दिया। अंत में, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम १९४८ में पास हुआ जिसने केंद्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को उन इनेगिने उद्योगों के कामगारों की न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का अधिकार दे दिया जिनमें वे एड़ी-चोटी का पसीना एक करते रहते हैं। इस अधिनियम ने सरकार को यह अधिकार भी दे रखा है कि वह देश में जिस उद्योग में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने की आवश्यकता समझे वहां यह कानून लागू कर दें। किंतु कृषि-उद्योग इसका अपवाद है। उसकी समस्याएं इतनी उलझनपूर्ण हैं कि वहां यह कार्यक्रम धीरे-धीरे ही चालू हो सकेगा।

उक्त अधिनियम के अंतर्गत जिन सेवाओं के लिए न्यूनतम वेतन-दर निर्धारित हो गयी है उनके संबंध में सरकार को अन्य बातों के अतिरिक्त काम के घंटे (विश्राम-काल समेत), साप्ताहिक छुट्टी (सवेतन) तथा कम-से-कम ओवर-टाइम की वेतन-दर देकर छुट्टी के दिन काम कराने की शर्तें निश्चित कर

सकती है। केंद्रीय तथा राज्य सरकारों ने इस अधिनियम के अंतर्गत इन तथा अन्य विषयों के सम्बंध में नियम बना दिये हैं।

यद्यपि अनुसूचित सेवाओं से न्यूनतम वेतन निश्चित करने की अवधि समय-समय पर आगे को बढ़ायी जाती रही है फिर भी कृषि तथा अन्य अधिकांश उद्योगों में मजदूरी की दरें अभी तक निर्धारित नहीं हुई हैं।

(२) ऋण-भार

ऋण-भार से कामगारों को छुटकारा दिलाने के संबंध में जो कानून विद्यमान हैं उनका स्रोत प्राय: राजकीय श्रम आयोग के अभिस्ताव हैं। अपने प्रतिवेदन में आयोग ने कितनी ही ऐसी सिफारिशें की थीं जिनसे कोई भी महाजन मजदूरों को उतना रुपया उधार देने का साहस ही नहीं कर सकता था जितना उनसे वसूल न किया जा सके।

वेतन की कुर्की—आयोग का एक अभिस्ताव था कि जिन कामगारों का "वेतन या मजदूरी ३०० रु. मासिक से कम हो उनको कुर्की के संभाव्य चंगुल से बिल्कुल मुक्त कर दिया जाए।" इस अभिस्ताव को कार्य-परिणत करने के लिए १९०८ के जाब्ता दीवननी (व्यवहार-प्रक्रिया संहिता) में संशोधन करना पड़ा इससे १०० रु. से कम वेतन पानेवाले कामगारों के वेतनों की कुर्की असंभव हो गयी तथा सरकारी कर्मचारियों के वेतन के प्रथम १०० रुपयों की कुर्की नहीं हो सकती तथा इससे ऊपर की धन-राशि का केवल आधा अंश कुर्क हो सकता है। इससे कुर्की की अवधि भी सीमित कर दी गयी है। इसमें कहा गया है कि यदि किसी कामगार का वेतन २४ महीनों के लिए कुर्क रहा है तो ऊसे शेष ऋण के भुगतान के लिए फिर आगे एक वर्ष तक कुर्क नहीं किया जा सकता।

ऋुण के लिए कारावास—१९३६ में जाब्ता दीवानी (Civil Procedure Code) में संशोधन करके ऋणियों को कारावास के डंडे से मुक्त कर दिया गया। किंतु जब ऋणी न्यायालय के प्रभाव क्षेत्र से भागने अथवा उसके आदेश के मार्ग में बाधा डालने का प्रयास करे अथवा अपनी संपत्ति को गोलमाल करके ऋण न देने की चेष्टा करे, तब वह उस दशा में कारावास के भय से मुक्त नहीं हो सकता। पंजाब सरकार ने पंजाब ऋण-भार राहत अधिनियम (Punjab Relief of Indebtedness Act) पास किया। इस अधिनियम के कारण, यदि कोंई ऋण अपने सामर्थ्य के अनुसार तथा डिग्री के सिलसिले में कुर्क होनेवाली संपत्ति के अनुसार ऋण का भुगतान करने से इनकार नहीं करता है तो उसे कारावास का दंड नहीं दिया जा सकता।

ऋणों से छूट — मध्य प्रान्त की सरकार ने १९३६ में औद्योगिक कामगारों के ऋण की व्यवस्था तथा मुक्ति अधिनियम (Adjustment and Liquidations of Industrial Workers Debt Act) पास किया। इस कानून के अंतर्गत कोई भी कामगार जिस पर ऋण उसकी संपत्ति तथा तीन मास के वेतन से अधिक है, उससे मुक्ति पाने की प्रार्थना कर सकता है। इस दशा में, न्यायालय अधमर्ण (ऋणी) के वेतन और आश्रितों की जांच-पड़ताल करके ऋण के भुगतान की राशि का निर्णय कर सकता है और आदेश दे सकता है कि वह राशि कितनी अवधी में कितनी किस्तों (प्रभागों) द्वारा चुकानी चाहिए। किस्त की राशि कामगार की मासिक आय $\frac{१}{६}$ भाग से $\frac{१}{३}$ भाग तक हो सकती है। यह अधिनियम ५० रु. मासिक आय के औद्योगिक कर्मचारियों पर लागू होती है।

औद्योगिक संस्थानों के चक्कर करना — बंगाल कामगार संरक्षण अधिनियम (Bengal Workmen Protection Act) के अंतर्गत उस महाजन को जो अपने ऋण की वसूलयाबी के लिए फैक्टरी या कर्मशाला में जाकर कामगार को घेरता है या इस उद्देश्य से उक्त संस्थानों के आसपास चक्कर काटता रहता है, जुर्माने या कारावास का दंड दिया जा सकता है।

मध्य प्रदेश ने उक्त बंगाल अधिनियम का अनुकरण करते हुए मध्य प्रांत ऋणी-संरक्षण अधिनियम १९३७ में बनाया। किंतु इसका प्रभाव क्षेत्र बंगाल अधिनियम से कहीं अधिक व्यापक है। १९४१ में मद्रास ने उक्त सरकारों के पदचिह्नों पर चल कर मद्रास कामगार संरक्षण अधिनियम बनाया। बिहार कामगार संरक्षण अधिनियम १९४० ने कुछ श्रेणियों के कामगारों को ऋण वसूल करने वाले महाजनों से संरक्षण दिया है। ये महाजन अपना रुपया वसूल करने के लिए उस स्थान पर कदम नहीं मार सकते जहां ऋणी कामगार काम कर रहे अथवा अपना वेतन ग्रहण कर रहे हों। वे वहां जाकर ऋणी कामगारों को न तो तंग कर सकते हैं और न धमकी दे सकते हैं।

(३) सामाजिक सुरक्षा

मजदूरी की सुरक्षा के बाद, आधुनिक उद्योग में कामगारों के लिए जो महत्त्वपूर्ण चीज है वह सामाजिक बीमा अथवा दुर्घटनाओं, असमर्थता, बुढ़ापे, बेरोजगारी, वैधव्य और अनाथ-अवस्था में सहायता देने वाली आर्थिक सुरक्षा है। इसके लिए कानून बने हैं। इनमें जो मुख्य कानून हैं उनमें कामगारों की हानि-पूर्ति, प्रसवकालिक सुविधा, बीमारी तथा कार्य में लगे होने के समय दुर्घटना का बीमा प्रॉविडेंट फंड और बोनस (अधिलाभांश) की व्यवस्था है।

कोयला खान प्रॉवीडेंट फंड तथा बोनस परियोजना अधिनियम १९४८—इस महत्त्वपूर्ण परियोजना का उल्लेख पहले हो चुका है जिसके अंतर्गत कोयला खनकों के लिए प्रॉवीडेंट फंड (भविष्य-निधि) की व्यवस्था की गयी है। राजपत्र में अनुज्ञप्ति प्रकाशित करके, इस अधिनियम से केंद्रीय सरकार को कोयला खान प्रॉवीडेंट फंड परियोजना बनाने का अधिभार मिल गया है जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त इस आशय का उल्लेख भी है कि यह परियोजना किन कोयला खानों पर लागू होगी, कौन-से कामगार या कामगारों की कौन-सी श्रेणी इस भविष्य-निधि में सम्मिलित होगी, किन शर्तों पर उनको इससे छूट मिल सकती है, तथा मालिक और कामगार इसमें किस दर से, किस समय और किस प्रकार अपना-अपना अंश प्रदान करेंगे ? इस परियोजना के संचालन के लिए जो व्यय होगा उसे मालिकों पर कर द्वारा जुटाया जा सकता है। इस प्रॉविडेंट फंड की देखरेख के लिए एक प्रन्यासी मंडल नियत किया जा सकता है जिसमें केंद्रीय सरकार, मालिकों और कामगारों के संगठनों के प्रतिनिधि होंगे; और कामगारों के प्रतिनिधि मालिकों के प्रतिनिधियों से कम संख्या में न होंगे। आगे १९५० और १९५१ में इस अधिनियम में दो बार संशोधन किये गये जिनका एक उद्देश्य यह भी था कि मालिकों से बकाया रुपया कैसे वसूल किया जाए। आगामी संशोधन का उद्देश्य यह है कि भविष्य-निधि की राशि पर मालिकों से ब्याज वसूल किया जाए तथा अन्य सहायक उद्योगों में इस योजना को लागू कैसे किया जाए ?

इस अधिनियम के अंतर्गत सरकार ने एक योजना चलायी है जो बिहार, पश्चिमी बंगाल, मध्यप्रदेश के उन सभी कोयला खनकों पर लागू होती है जो ३०० रु० या उससे कम मासिक वेतन पाते हैं और कोयला खान बोनस योजना के अंतर्गत बोनस प्राप्त करते हैं। कामगार प्रतिमास या प्रति सप्ताह एक आना प्रति रुपये की दर से अपने मूल वेतन में कटौती कराते हैं और इतना ही अंश नौकरीदाता देते हैं। इसके अतिरिक्त, भविष्य-निधि (प्रॉवीडेंट फंड) की व्यवस्था के लिए नौकरी दाता को और धन देना होता है जो सेवायोजक और कामगार के अंशदान का ५ प्रतिशत भाग होता है। अब उक्त योजना में संशोधन का प्रस्ताव हो रहा है ताकि मूल वेतन और मंहगाई भत्ते (द्रव्य अथवा पदार्थ के रूप में खाद्य-संबंधी रियायतें) दोनों की राशि पर भविष्य-निधि के लिए कटौती की जा सके।

कर्मचारी प्रॉवीडेंट फंड एक्ट (Employees Provident Funds Act) *१९५२*—फैक्टरियों तथा अन्य संस्थानों में काम करने वाले कर्मचारियों के फंड की व्यवस्था के लिए भारत सरकार ने नवंबर १९५१ में कर्मचारी प्रॉवीडेंट फंड अध्यादेश (Employees Provident Fund Ordi-

nance) जारी किया। यह अध्यादेश उन सब फैक्टरियों पर लागू होता था जो तीन वर्ष से चालू थीं (फिर भले ही वे बिजली से चलती थीं या नहीं) और जिनमें ५० या इससे अधिक व्यक्ति काम करते थे तथा जो सीमेंट, सिगरेट, तथा बिजली, यांत्रिक या विविध अभियांत्रिक उत्पादन, लोहा और इस्पात, कागज तथा कपड़ा बनाने में लगी हुई थीं। केंद्रीय सरकार को कर्मचारी प्रॉवीडेंट फंड योजना के निर्माण का अधिकार दिया गया था जो कर्मचारियों के विभिन्न वर्गों पर लागू हो गयी है। इसमें मालिक और कर्मचारियों, दोनों पक्षों को कामगार के मूल वेतन और मंहगाई-भत्ते का (जिसमें खाद्य रियायतों का नकद मूल्य सम्मिलित है) छठा अंश जमा करना पड़ता है। फंड के किसी सदस्य का धन किसी भी दशा में अटकाया या छीना या किसी न्यायालय के आदेश पर किसी के संबंध में कुर्क नहीं किया जा सकता है।

उक्त अध्यादेश का स्थान बाद में कर्मचारी प्रॉवीडेंट फंड अधिनियम १९५२ ने ग्रहण कर लिया। केंद्रीय सरकार ने इस अधिनियम के अंतर्गत सितंबर १९५२ में एक योजना बनायी और नवंबर १९५२ तक धीरे-धीरे उसे पूरी तरह लागू कर दिया। इस अधिनियम की परिधि में छह उद्योगों की २,२०० फैक्टरियों में काम करने वाले १५ लाख से भी अधिक कामगार आ गये हैं; तथा ३१ जुलाई १९५६ से १३ सुगठित उद्योगों के १०,००० कामगारों को इससे लाभ पहुंचने लगा है, और इस प्रकार अब उनकी संख्या लगभग ४,००,००० लाख हो गयी है। दिसंबर १९५६ में, एक संशोधन द्वारा प्रॉवीडेंट फंड योजना चाय, आदि के बागों और खानों पर लागू हो गयी।

(४) *कल्याण* (Welfare)

सभी श्रमिक कानून, चाहे उन्हें केंद्रीय सरकार ने बनाया हो या राज्य सरकारों ने, वस्तुतः श्रमिकों के कल्याण के सदुद्देश्य से अनुप्राणित हैं। यहां पर कोयला खान श्रमिक कल्याण कोष अधिनियम (Coal Mines Labour Welfare Fund Act) १९४७ तथा अभ्रक खान श्रमिक कल्याण कोष अधिनियम (Mica Mines Labour Welfare Fund Act) १९४६ के बारे में कुछ बताना आवश्यक होगा जिन्होंने निर्धारित उद्योगों के कामगारों के कल्याण-कार्यों पर व्यय के लिए उत्पादन पर उपकर लगाने का प्रथम प्रयत्न किया है। इन दोनों अधिनियमों का विवरण तथा उत्तर प्रदेश शुगर एंड पॉवर अलकोहल इंडस्ट्रीज लेबर वेलफेअर एंड डिवलपमेंट फंड एक्ट १९५० तथा अन्य महत्त्वपूर्ण अधिनियमों का वर्णन सामाजिक सुरक्षा नामक अध्याय में किया गया है। यहां पर बंबई श्रमिक कल्याण कोष अधिनियम (Bombay Labour Welfare Fund Act) १९५३ का उल्लेख करना उचित

होगा जो कल्याण-कार्य की दिशा में एक ठोस चीज है और जो कोयला खान श्रमिक कल्याण, कोष अधिनियम के नमूने पर तैयार किया गया है।

बंबई श्रमिक कल्याण कोष अधिनियम (Bombay Labour Welfare Fund Act) *१९५३*—इस अधिनियम से बंबई श्रमिक कल्याण कोष की व्यवस्था की गयी है। इस कोष में कर्मचारियों से वसूल होने वाले जुर्माने, न-चुकायी-गयी रकमें, स्वेच्छापूर्वक दिया गया दान, कोष के लिए हस्तांतरित संस्थानों के श्रमिक कल्याण कोषों का धन तथा इस अधिनियम के लिए उधार लिया गया रुपया जमा होता है। जहां तक बंबई पर मजदूरी अदायगी अधिनियम १९३६ का संशोधन लागू होता है, मालिकों को उक्त अधिनियम के अनुभाग ८ के अंतर्गत बंबई श्रमिक कल्याण कोष में उपलब्ध धन जमा करना पड़ता है। इस कोष का उपयोग निम्न प्रकार से होता है :

(१) सामुदायिक और सामाजिक शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना जिनमें वाचनालय और पुस्तकालय भी सम्मिलित हैं।

(२) बिरादरी की आवश्यकताओं पर;

(३) खेल-कूदों पर

(४) सैर-सपाटों, परिभ्रमण तथा छुट्टियां बिताने के लिए आवासों पर;

(५) खान-पान तथा अन्य मनोरंजनों पर;

(६) स्त्रियों तथा बेरोजगारों के लिए घरेलू उद्योग तथा अन्य सहायक काम-धंधों की स्थापना पर,

(७) सामाजिक ढंग की सहकारी हलचलों पर,

(८) उन कामों पर जिन्हें, राज्य सरकार श्रमिकों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने तथा उनकी सामाजिक दशाओं को सुधारने के लिए उपयोगी समझती है।

इस कोष का प्रशासन एक त्रिदलीय मंडल के हाथ में होता है और यह उसी के अधिकार में रहता है।

(५) आवास

दूसरे महासमर के बाद नगरीय और औद्योगिक क्षेत्रों की जनसंख्या में जो वृद्धि हुई है और औद्योगिक कामगारों के लिए बेहतर मकानों की जो आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है उससे कुछ सामाजिक समस्याएं पैदा हो गयी हैं जिनका यहां अलग "औद्योगिक बस्तियों में रिहायशी मकान" नामक अध्याय में वर्णन किया जायगा।

(६) बेगार (Forced Labour)

भारतीय संविधान के २३वें अनुच्छेद द्वारा मानवों की विक्री तथा बेगार और अन्य इसी प्रकार के बलात् श्रमों का निषेध किया गया है। किन्तु राज्य को सार्वजनिक कार्य के लिए किसी पर भी अनिवार्य सेवा थोपने का अधिकार प्राप्त है। भारतीय दंड संहिता (Indian Penal Code) १८६० के अनुभाग ३७४ में उस व्यक्ति के लिए कारावास या आर्थिक दंड का विधान है जो किसी से गैर-कानूनी ढंग से बलात श्रम करवाता है।

अपराधोपजीवी आदिम जाति अधिनियम (Criminal Tribes Act) १९२४ में एक साधारण कोटि की बेगार की छूट देता था। किन्तु अपराधोपजीवी आदिम जाति कानून (विलोप) अधिनियम [Criminial Tribes Laws (Repeal) Act] १९५२ ने उक्त अधिनियम को रद्द कर दिया है। इस अधिनियम के अंतर्गत सरकारों को कानून द्वारा अपराधोपजीवी आदिम जनों तथा उनके बच्चों के सुधार के लिए औद्योगिक, कृषि का तथा अन्य प्रकार की बस्तियां बसाने का अधिकार था। बाद में, कुछ अनुभव उपलब्ध होने पर बंबई और मद्रास की सरकारों ने उसके स्थान में आभ्यासिक अपराधी अधिनियम (Habitual Offenders Acts) बनाये। १९४९ में, सरकार द्वारा नियुक्त एक समिति ने उक्त अधिनियम के निरसन की सिफारिश की थी और उसके स्थान में एक केंद्रीय कानून की आवश्यकता बतायी थी। इस सिफारिश का अनुकरण करके, १९५२ में अपराधोपजीवी आदिम जाति कानून (विलोप) अधिनियम पास हुआ जिसने अपराधोपजीवी आदिम जाति अधिनियम १९२४ तथा राज्य या उसके किसी भी भाग में प्रचलित तदनुरूप कानूनों को रद्द कर दिया।

(द) औद्योगिक संबंधों के कानून

(१) मजदूर संघ

भारतीय मजदूर संघ अधिनियम १९२६ — इस अधिनियम की रचना के पीछे जिन घटनाओं का हाथ है उनकी याद अभी तक हरीभरी है। सबसे पहले १९२० में मजदूर संघों यूनियनों को वैधता देने, तथा उनके नेताओं और सदस्यों को हड़ताल के सिलसिले में फौजदारी तथा दीवानी दावों से बचाने के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया गया। इस प्रश्न को मद्रास की बकिंघम एण्ड कर्नाटक मिल्स के मामले ने उभारा था। कारण यह था कि इस मिल ने मजदूर संघी नेता पर कामगारों को हड़ताल के लिए भड़काने तथा इस प्रकार मालिकों के साथ पट्टे (कंट्रक्ट) का उल्लंघन करने का दावा ठोंक दिया था।

मद्रास उच्च न्यायालय ने इस संबंध में जो निर्णय दिया उससे भारतीय जनता को गहरा धक्का लगा और उसकी आंखें खुल गयीं। कुछ वर्षों बाद, भारतीय मजदूर संघ अधिनियम १९२६ पास हुआ जिसने पंजीबद्ध मजदूर संघों को फौजदारी तथा दीवानी अभियोगों से मुक्त कर दिया। यह पजीकरण अनिवार्य नहीं है, किंतु पंजीबद्ध संघ के लिए यह आवश्यक है कि उसके कम-से-कम आधे अधिकारी ऐसे व्यक्ति होने चाहिए जो "वास्तव में उस उद्योग में काम करते हों जिससे उनके संघ का संबंध में है।" मजदूर संघ का सदस्य उसके राजनीतिक कोष में यदि ऐसा कोई कोष हो तो धन दे सकता है किन्तु यह दान देने के कारण कोई व्यक्ति संघ का सदस्य बना लिया ही जाए, यह आवश्यक नहीं है। मजदूर संघ के हिसाब की जांच किसी योग्य लेखा परीक्षक द्वारा प्रति वर्ष होनी चाहिए।

यद्यपि उक्त अधिनियम मजदूर संघों के लिए पंजीकरण की शर्तें दी गयी हैं किंतु उसमें यह कहीं नहीं लिखा है कि मालिकों द्वारा संघों को मान्यता देनी ही पड़ेगी और इस प्रकार के पंजीबद्ध संघों के प्रति उनका क्या व्यवहार होना चाहिए। राजकीय श्रम आयोग ने निवेदन किया था कि मालिकों को चाहिए कि वे सच्चे हृदय से स्वीकार करें। किंतु १९३१ से आरंभ होनेवाली दसी में संघों की मान्यता को लेकर ही प्राय: मालिकों और संगठित श्रमिकों में संघर्ष होता रहा है। १९४७ के भारतीय मजदूर मंघ (संशोधन) अधिनियम [Indian Trade Unions (Amendment) Act] ने "प्रतिनिध्यात्मक मजदूर संघों" के मालिकों द्वारा मान्यता देना अनिवार्य कर दिया। किंतु यह संशोधित अधिनियम लागू नहीं हुआ है।

(२) औद्योगिक संबंध

१९२९ तक श्रमिक विवादों को निपटाने के लिए केवल एक कानून था और वह था १९६० का मालिक और कामगार (झगड़ा) अधिनियम इस कानून के अंतर्गत कामगारों की कुछ ही श्रेणियां आती थीं और उसका उद्देश्य यह था कि वेतन-सम्बंधी विवादों को शीघ्रता से निपटा दिया जाया करे इसके अतिरिक्त इस कानून में और भी बातें थीं। कामगारों द्वारा नौकरी की शर्तों का उल्लंघन एक फौजदारी जुर्म माना जाता था। यह कानून बना रहा किन्तु इसका प्रयोग अपने-आप बंद हो गया, यहां तक कि १९३२ में उसे रद्द कर दिया गया। झगड़ों के निपटारे के लिए पहली बार जो कानून बनाया गया वह भारतीय श्रमिक विवाद अधिनियम (Indian Trade Dispute Act) १९२९ था।

भारतीय श्रमिक विवाद अधिनियम १९२९ — इस अधिनियम में, तदर्थ

आधार पर, जांच-न्यायालयों सुलह मंडलों की स्थापना की व्यवस्था जो श्रमिक झगड़ों की जांच करके उनका निपटारा करा सकें। इसमें जनोपयोगी सेवाओं में बिना पूर्वसूचना के, हड़तालों अथवा तालेबंदियों का निषेध है। इसमें उन हड़तालों अथवा तालेबंदियों को अवैध करार दिया गया है जिनका उद्देश्य किसी व्यवसाय या उद्योग के आंतरिक श्रमिक झगड़े से न होकर कुछ और होता है और जिनका ध्येय जन-समुदाय पर भयंकर दीर्घकालिक कठिनाइयां थोपना और इस प्रकार सरकार को किसी विशेष काररवाई करने से रोकना या बंचित कर देना होता है। इस अधिनियम में, १९३८ में, संशोधन किया गया; और इसके अंतर्गत सुलह-अधिकारी नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी जो श्रमिक झगड़ों में हस्तक्षेप करके उनका निपटारा करा सकें।

भारतीय प्रतिरक्षा नियमावली का ८१ ए नियम (Rule 81 A of the Defence of India Rules) — औद्योगिक झगड़ों के कारण युद्ध-प्रयासों में विघ्न पड़ने की आशंका से, भारत सरकार ने १९४२ में भारत-प्रतिरक्षा नियमों में एक और नियम जोड़ दिया जिसे नियम ८१ ए के नाम से पुकारते हैं। यह हड़तालों और तालेबंदियों को रोकता है। इससे सरकार को स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार सामान्य या विशेष आदेश जारी करके हड़तालें अथवा तालेबंदियां रोकने का अधिकार मिल गया। उसे कोई भी श्रमिक-झगड़ा, सुलह-बोर्ड या न्यायिक निर्णय के सिपुर्द करने, मालिकों से निर्धारित सेवा-शर्तें और सेवा-अवस्थाएं मनवाने तथा न्यायिक निर्णय को स्वीकार कराने का अधिकार प्राप्त था। एक अन्य अनुज्ञप्ति द्वारा यही अधिकार राज्य सरकारों को भी प्रदान किये गये और अगस्त १९४२ में, बिना १४ दिन की पूर्व-सूचना के, हड़तालों और तालेबंदियों को निषिद्ध ठहराया गया। जब कोई श्रमिक झगड़ा विधिवत जांच, अथवा सुलह न्यायिक निर्णय के लिए भेज दिया जाय तो उस कार्यवाही की अवधि में तथा उसके निर्णय के दो मास बाद तक कोई हड़ताल या तालेबंदी नहीं की जा सकती। अप्रैल १९४३ में, भारत प्रतिरक्षा नियमों में और आगे संशोधन करके यह कहा गया कि यदि विशुद्ध श्रमिक झगड़ों को छोड़कर अन्य किसी उद्देश्य से श्रमिक अपने कर्मस्थल पर सामूहिक रूप से काम करना बंद करेंगे या काम करने से इन्कार करेंगे तो सरकार को उन संस्थानों में श्रमिकों को काम बंद करने से रोकने के लिए सभी आवश्यक कदम उठाने का अधिकार होगा जिनमें १०० या इससे अधिक कामगार काम करते होंगे; और उसे इन बंद संस्थानों को खोलने का भी अधिकार होगा।

औद्योगिक झगड़ा अधिनियम (Industrial Dispute Act) *१९४७* — आपातकालिक (युद्धकाल) विधान १९४६ में समाप्त हो गया।

युद्धकाल के अनुभव से सरकार को विश्वास हो गया कि भारत प्रतिरक्षा नियमों में नियम ८१ ए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है; और यदि उसको देश के स्थायी श्रम-कानूनों में स्थान दे दिया जाए तो उससे औद्योगिक अशांति रोकने में बड़ी सहायता मिलेगी। इसलिए १९४७ के औद्योगिक झगड़ा अधिनियम में उक्त नियम के जनोपयोगी सेवाओं-संबंधी मुख्य उपबंध शामिल कर लिये गये। १९४७ के औद्योगिक झगड़ा अधिनियम ने १९२९ के श्रमिक विवाद अधिनियम की जगह ले ली।

केंद्र के इस अधिनियम ने श्रमिक विवादों के निरोध और संराधन के दोहरे उद्देश्य से सरकार को एक तंत्र की स्थापना का अधिकार दे रखा है। इसने केंद्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को अधिकार दिया है कि उनके अधिकार-क्षेत्र में जो संस्थान १०० या इससे अधिक कामगारों को नौकर रखते हों उन्हें कामकाज-समितियां बनानी चाहिए जिनमें मालिकों तथा कामगारों के प्रतिनिधि समान संख्या में हों। इन समितियों में कामगारों के प्रतिनिधि अपने-अपने मजदूर संघों की सलाह से नियुक्त किये जाएंगे और उनका काम यही होगा कि वे दैनिक कार्यों में किसी प्रकार का झगड़ा न होने दें।

उक्त कामकाज-समितियों (Works Committee) को निरोध तथा सुलह तंत्र का निरोधात्मक अंग समझना चाहिए। उसका दूसरा अंग, जो, झगड़े पैदा होने पर या उनकी आशंका होने पर उनके निपटारे का काम करता है। इसमें सुलह-अधिकारी होते हैं जिन्हें निर्धारित क्षेत्रों में या निश्चित झगड़ों के लिए नियुक्त किया जाता है। उनके अतिरिक्त इनमें सुलह-मंडल, जांच-न्यायालय और औद्योगिक न्यायाधिकरण भी होते हैं।

इस अधिनियम की एक देखने-योग्य बात यह है कि इसने सामान्य औद्योगिक संस्थाओं और जनोपयोगी सेवाओं के बीच एक विभाजन-रेखा खींच दी है। यदि सामान्य औद्योगिक संस्थानों में कोई विवाद उठ खड़ा होता है और सार्वजनिक हित की दृष्टि से सरकार उसका निपटारा आवश्यक समझती है तो वह सुलह-अधिकारियों, सुलह-मंडलों या न्यायाधिकरणों की मार्फत उसमें हस्तक्षेप कर सकती है। किंतु यदि जनोपयोगी सेवाओं में विवाद उठ खड़ा होता है तो सुलह-अधिकारी को प्रत्येक दशा में हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा और सरकार आवश्यकतानुसार सुलह-मंडल, जांच-न्यायालय या न्यायाधिकरण नियुक्त कर देगी। यदि हड़ताल की पूर्व-सूचना यों ही ताव में आकर नही की गयी है; और उक्त कदम उठाना आवश्यक है तभी सरकार वैसा करेगी अन्यथा नहीं। जहां किसी औद्योगिक झगड़े में फसे हुए उभय पक्ष मिलकर या अलग-अलग सुलह-मंडल या न्यायाधिकरण से निपटारे की याचना करते हैं वहां सरकार उनके आवेदन पत्र पर विचार करती है और यदि संबंधित पक्ष या

पक्षों का बहुमत आवेदन करता है तो सरकार उस दिशा में कदम उठाती है।

इस अधिनियम की एक अन्य महत्त्वपूर्ण चीज यह है कि समझौते या जांच या न्यायिक निर्णय की कार्यवाही की अवधि में किसी प्रकार की हड़ताल या तालेबंदी नहीं की जा सकती। एक बार जब कोई झगड़ा सुलह (Conciliation) या न्यायिक निर्णय (adjudication) के लिए प्रस्तुत कर दिया जाता है तब उसको लेकर हड़ताल या तालेबंदी करना अनावश्यक और अनुचित हो जाता है। इसलिए जिस दिन मामला न्यायिक निर्णय या सुलह के लिए पेश किया जाए उसी दिन सरकार को हड़ताल या तालेबंदी खत्म कर देने का अधिकार प्राप्त है।

उक्त अधिनियम में, अभी हाल में, जो संशोधन किया गया है उससे खाली-बैठने के दिनों के लिए कामगारों की हानि-पूर्ति की व्यवस्था की गयी है।

अनेक औद्योगिक संस्थानों के बंद हो जाने के कारण १९५२-५३ में एक बड़ी संख्या में मजदूरों की छटनी की गयी। इसलिए भारत सरकार ने, अक्टूबर १९५३ में एक अध्यादेश जारी करके, खाली-बैठने के दिनों के लिए मजदूरों की हानि-पूर्त्ति की शर्तें निर्धारित कर दीं। आगे चलकर औद्योगिक झगड़ा (संशोधन) अधिनियम १९५३ ने उक्त अध्यादेश का स्थान ग्रहण कर लिया। इसके बाद, १९५४ में, इस अध्यादेश में आगे संशोधन करके उसे चायबागों के कामगारों पर भी लागू कर दिया गया ताकि उन्हें भी खाली-दिनों तथा छटनी की हानि-पूर्त्ति मिल सके। अप्रैल १९५७ में, सरकार ने एक दूसरा अध्यादेश जारी किया जिससे किसी संस्थान के वास्तव में बंद अथवा हस्तांतरित होने की दशा में छटनी के मजदूरों को हानि-पूर्ति मिल सके। यह अध्यादेश दिसंबर १९५६ से लागू माना गया। नवंबर १९५७ में भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय किया था कि यदि कोई नौकरीदाता वास्तव में अपना कारोबार बंद कर देता है या कोई कारोबार किसी नये स्वामी को हस्तांतरित कर दिया जाता है, तो इस दशा में औद्योगिक झगड़ा अधिनियम के अंतर्गत सेवामुक्त कामगार को छटनी की कोई हानि-पूर्ति नहीं मिल सकती है। इसलिए सरकार को उक्त अध्यादेश जारी करना पड़ा। तब से अहमदाबाद, कानपुर और पश्चिमी बंगाल में कितने ही औद्योगिक संस्थान बंद हुए या उन्होंने किसी-न-किसी बहाने से बंद करने की सूचना लगा दी और कितने ही कामगारों को एक हब्बा हानि-पूर्ति नहीं दी। इस प्रकार कितने ही कामगार बेरोजगार हो गये।

बंबई औद्योगिक संबंध अधिनियम (Bombay Industrial Relations Act) *१९४७* —भारत सरकार ने औद्योगिक झगड़ों की रोकथाम तथा निपटारे के लिए जो वैधानिक कार्यवाही की उसके अतिरिक्त औद्योगिक

दृष्टि से कुछ अधिक प्रगतिशील राज्यों ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार विशेष अधिनियम बनाये। इस दिशा में श्रमिक विवाद सुल्ह अधिनियम (Trade Disputes Conciliation Act) पास करके १९३४ में बंबई ने अन्य साथी राज्यों का मार्ग-दर्शन किया। बाद में १९३८ में बंबई औद्योगिक झगड़ा अधिनियम (Bombay Industrial Disputes Act) ने उक्त अधिनियम का स्थान ले लिया जो निर्धारित क्षेत्रों के कुछ उद्योगों पर लागू होता था और जिसके अंतर्गत विवादग्रस्त पक्षों को हड़ताल या तालेबंदी का सहारा लेने से पहले सुलह द्वारा आपसी समझौता करने की प्रेरणा देता था।

१९४७ में, उक्त अधिनियम का स्थान १९४७ के बंबई औद्योगिक संबंध अधिनियम (Bombay Industrial Relations Act) ने ग्रहण कर लिया जिसके अंतर्गत औद्योगिक झगड़ों का निपटारा अधिक शीघ्रता और योग्यता से होने लगा तथा श्रमिकों को संगठित हो जाने की नयी प्रेरणा मिली। बंबई औद्योगिक संबंध अधिनियम कुछ इने-गिने प्रदेशों के निर्धारित उद्योगों पर लागू होता है। शेष उद्योग १९४७ के औद्योगिक झगड़ा अधिनियम की परिधि में आते हैं। बंबई औद्योगिक संबंध अधिनियम की उल्लेखनीय बातें ये हैं: (१) उससे "स्वीकृत संघों" का एक नया वर्ग पैदा हो गया; (२) उसने श्रम-न्यायालयों की संस्थापना की; और (३) विभिन्न उद्योगों में मालिकों और श्रमिकों की संयुक्त समितियां स्थापित की गयीं जिनमें उभय पक्षों के प्रतिनिधि समान संख्या में होते थे।

मध्यप्रदेश का औद्योगिक झगड़ा निपटाव अधिनियम, १९४७ (Industrial Disputes Settlement Act, 1947)—मध्यप्रदेश का यह औद्योगिक झगड़ा निपटाव अधिनियम मूल रूप से बंबई औद्योगिक संबंध अधिनियम से मिलता-जुलता है। इसमें १९४८, १९४९, १९५३, १९५५ और १९५६ में संशोधन किये गये।

उत्तर प्रदेश औद्योगिक झगड़ा अधिनियम (U. P. Industrial Disputes Act) *१९४७*—उत्तर प्रदेश औद्योगिक विवाद अधिनियम ने स्पष्ट रूप से सरकार को हड़ताल और तालेबंदी रोकने, औद्योगिक झगड़ों को सुलह अथवा न्यायिक निर्णय के लिए भेजने, विवादग्रस्त पक्षों द्वारा न्यायिक निर्णय मनमाने तथा जनोपयोगी सेवाओं पर नियंत्रण रखने का अधिकार दे रखा है। इस अधिनियम में १९४७, १९५१ और १९५५ में संशोधन किये गये ताकि वह उक्त बंबई-अधिनियम के अनुरूप बन जाए।

औद्योगिक झगड़ा (अपील न्यायाधिकरण) अधिनियम (Industrial Disputes [Appellate Tribunal] Act) *१९५०*—औद्योगिक झगड़ा अधिनियम के अंतर्गत अनिवार्य न्यायिक निर्णय के सिद्धांत का परि-

पालन पहली बार आरंभ हुआ। इससे एक ऐसी प्राधिकारी व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव हुई जिसके सामने अपील की जा सके और जो अपने निर्णयों द्वारा केंद्रीय सरकार तथा राज्य-सरकारों द्वारा स्थापित विभिन्न औद्योगिक न्यायाधिकरणों की गतिविधियों को एक धागे में पिरो सके। इस औद्योगिक झगड़ा (अपील न्यायाधिकरण) अधिनियम ने अपील न्यायाधिकरण स्थापित कर दिया जो औद्योगिक झगड़ों तथा अन्य आकस्मिक मामलों को निपटाने के लिए उनमें हाथ डाल सकता था। इस अधिकरण के सामने वित्तीय मामलों, वेतन-स्तरों के वर्गीकरण, कर्मचारियों की छटनी तथा कानून के प्रश्नों की अपील की जा सकती थी। यह अधिनियम १९५६ में रद्द कर दिया गया। इससे पहले इस अधिनियम में १९५० और १९५३ में संशोधन हुआ था।

औद्योगिक झगड़ा (संशोधन और विविध-व्यवस्था) अधिनियम [Industrial Disputes (Amendment and Miscellaneous Provisions) Act] *१९५६* — भारत सरकार ने १० मार्च १९५६ से औद्योगिक झगड़ा (संशोधन और विविध व्यवस्था) अधिनियम, १९५६ के अवशिष्ट अनुबंधों को लागू कर दिया है। इनके अनुसार न्यायिक निर्णय तंत्र का त्रिखंडीय संविधान लागू हो गया है जैसे श्रम न्यायालय, न्यायाधिकरण और राष्ट्रीय न्यायाधिकरण। इसके अतिरिक्त इसके अंतर्गत निम्न बातें भी आ गयी हैं : कार्यपद्धति के परिवर्तन की पूर्व सूचना देना, विवादों को स्वेच्छापूर्वक विवाचन के लिए सौंप देना तथा न्यायिक निर्णय तंत्र के सामने विवाद उपस्थित होने के दिनों में कामगारों का बचाव करना।

कार्यपद्धति में परिवर्तन की पूर्व सूचना देने के भीतर यह बात भी आती है कि यदि मालिक ने कुछ निर्धारित विषयों के संबंध में अपने परिकल्पित संकल्पों की सूचना कामगारों को इक्कीस दिन पहले नहीं दी है तो वह उनके बारे में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता है। विवादग्रस्त पक्ष विवाचन के लिए अपना मामला स्वेच्छापूर्वक प्रस्तुत कर दें तथा इस निमित्त एक संविदा पर अपने हस्ताक्षर कर दें, यह बात भी इस अधिनियम में में शामिल है। विवाचकों की पंचाट कानून की दृष्टि से भी वैध माना जाएगा।

स्थायी आदेशों की क्रियाविधि तथा व्याख्या के बारे में विवादग्रस्त पक्षों का मतभेद होने पर उसे हल करने का उपाय भी सुझाया गया है। इस दशा में, संबंधित पक्ष श्रम न्यायालय का दरवाजा खटखटा सकते हैं।

(य) औद्योगिक आंकड़ों से संबंधित कानून

आंकड़ा संग्रह विधेयक (Collection of Statics Act), *१९५३* — प्रायः सभी श्रम अथवा औद्योगिक समितियों तथा आयोगों ने इस बात की एक

स्वर से भत्सर्ना की है कि भारत में श्रमिक तथा औद्योगिक आंकड़ों का अभाव है। आगे चलकर औद्योगिक आंकड़े नामक अध्याय में इस विषय का विस्तृत वर्णन किया गया है।

(३) प्रशासन और विधि-प्रवर्तन

समवर्ती सूची में जो विषय दिये गये हैं उनके संबंध में कानून लागू करने की जिम्मेदारी राज्यों की सरकारों पर है; और संघ की सूची के विषयों के बारे में यह दायित्व केंद्रीय सरकार ने अपने ऊपर ले रखा है। विभिन्न अधिनियमों के अंतर्गत जो निरीक्षणालय खोले गये हैं उन पर उक्त तंत्र को प्रभावशाली ढंग से लागू करने का बोझा डाला गया है। यद्यपि युद्धोत्तरकाल में कितने ही श्रम-कानून बनाये गये हैं फिर भी उक्त निरीक्षणालयों के पुनर्गठन तथा उनको शक्तिशाली बनाने की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। कानून तो किताबों में लिखे पड़े रहते हैं। जब तक उनको ठीक ढंग से कार्यपरिणित नहीं किया जाता तब तक कोई प्रगति नहीं हो सकती। कामगार हानि-पूर्ति अधिनियम, भारतीय मजदूर संघ अधिनियम तथा औद्योगिक नौकरी (स्थायी आदेश) अधिनियम, जैसे विधान हमारे सामने हैं; किंतु उनको समुचित रूप से कार्य-परिणत करने के लिए कोई निरीक्षक-वर्ग नहीं रखा गया है। इसके अतिरिक्त, जहां कहीं निरीक्षक-अधिकारी रखे गये हैं, उनको इतना अधिक, विविधमुखी कार्य-भार सौंपा गया है कि वे उस दिशा में ठीक तरह से सोच ही नहीं पाते। फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत जो निरीक्षक (Inspectors) नियुक्त हुए हैं उन पर इतना काम डाल दिया गया है कि वे एक वर्ष में अपने अंतर्वर्ती आदि क्षेत्र के संपूर्ण उद्योगों का एक पूरा दौरा भी नहीं कर पाते हैं। इसलिए उनसे समुचित जांच के बाद महत्त्वपूर्ण मामलों के हल की आशा करना कठिन होगा। उन्हें जो मामले सौंपे जाते हैं उनके परिणाम का अनुमान सहज में ही किया सकता है। निदान, अनेक अनियमित बातों का चलन जारी रहता है और उनकी ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाता है। इसके अतिरिक्त फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत काम करने वाले निरीक्षक अपने कर्त्तव्य को भलीभांति पूरा करने के लिए अच्छी तरह प्रशिक्षित और योग्य भी नहीं हैं। इस कारण अधिकांशतः श्रम-कानून जिन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं उनको पूरा करने में विफल रहते हैं।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए सुयोग्य और प्रशिक्षित कर्मचारियों को काफी संख्या में निरीक्षण के कार्य पर लगाना चाहिए। प्रत्येक निरीक्षक को उतना ही काम सौंपना चाहिए जितना वह कुशलता से कर सके। निरीक्षण का कार्य की विविध शाखाओं का समुचित समन्वय करने के लिए एक केंद्रीय

निरीक्षणालय की आवश्यकता होगी। निरीक्षक-वर्ग के अनुभवों से लाभ उठाने के लिए उचित सम्मेलनों और अभिनव पाठचर्या की अपेक्षा होगी। इन सम्मेलनों में कामकी दृष्टि से उपयोगी मानव-तत्त्वों, और सरकार द्वारा निरीक्षकों को सौंपी गयी जिम्मेदारी पर बल देना चाहिए।

उपसंहार

श्रम-विधान आधुनिक समाज की एक अत्यंत गतिशील और महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। इससे बढ़कर कदाचित् ही कोई बाह्य संगठन या बाह्य शक्ति राष्ट्रीय जीवन पर अपना प्रभाव डाल सकती है। राष्ट्रीय श्रम-विधान की प्रगति कई बातों पर निर्भर होती है। उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बातें ये हैं: कामगारों में वर्गगत एकता की वृद्धि दिन-पर-दिन अधिक जारी रहनी चाहिए; कामगारों की क्रयशक्ति में वृद्धि होनी चाहिए जिससे राष्ट्रीय उद्योगों के विकास अनवरत गति से हो सके; कामगारों के नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने और भौतिक समृद्धि बढ़ाने की ओर जनता का ध्यान जाना चाहिए क्योंकि कामगारों की दशा सुधरे बिना समाज की सर्वांगीण उन्नति नहीं हो सकती है।

देश में स्वाधीन तथा लोकप्रिय सरकार की स्थापना होने से यह स्वाभाविक है जो कि कामगारों के प्रति सरकार का रुख सहानुभूतिपूर्ण बन गया है। उसने सामाजिक न्याय की उन्नति करने तथा कामगारों के निर्वाह के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए कितने ही कानून बनाये हैं। अब सरकार की नीति यह है कि कामगारों को अपने निर्वाह के लिए आवश्यक वेतन पाने का अधिकारी ही न मानना चाहिए बल्कि औद्योगिक उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में पूंजी के साथ उन्हें एक समान भागीदार के रूप में भी ग्रहण करने की रुझान होनी चाहिए; और उन्हें उद्योग के उत्पादन में समुचित भाग मिलना चाहिए। आजकल भारत सरकार की श्रम-संबंधी नीतियों में इस भावना की स्पष्ट झलक मिलती है। भारतीय संविधान के निदेशात्मक सिद्धांतों तथा मूलभूत अधिकारों में भी उसका डंका बज रहा है! उस आशय की गारंटी दी गयी है।

अध्याय ४

वैज्ञानिकन

(Rationalization)

वैज्ञानिकन से क्या अभिप्राय है ?

सूझबूझ का तकाजा—आज भारत में श्रमिकों और व्यवस्था के आपसी संबंधों के क्षेत्र में वैज्ञानिकन (उद्योग की वैज्ञानिक व्यवस्था) का प्रश्न सबसे अधिक उलझनपूर्ण है। वैज्ञानिकन का सिद्धांत उद्योगपतियों के लिए कोई नई चीज नहीं है। न यह कोई जादू की छड़ी है जिसे घुमाते ही पुराने-धुराने कारखाने या संयंत्र नये हो जाएंगे। यह एक प्रक्रिया है जो मानव की गतिविधियों को एक सांचे पर ढालकर उनकी चूलें मिला देना चाहती है। इस रूप में उसके दर्शन सृष्टि-काल से ही होते आ रहे हैं। उद्योग में उसका प्रयोग कब किया गया ? इसके उत्तर में इतना ही जानना काफी होगा कि इस ओर मनुष्य का लगाव अपने उन प्रारंभिक दिनों में भी हो गया जान पड़ता है जबकि उसने पत्थर का अपना पहला औजार अधिक पैन[illegible] भोथरा, अधिक लंबा या छोटा देखकर उसे सुधारने की कोशिश की थी।

वास्तव में, मानव की प्रगति के मूल में वैज्ञानिकन-प्रक्रिया का हाथ है। विविध समस्याओं के वैज्ञानिकन, अनुसंधान और शोध की प्रक्रिया, जिसका लक्ष्य न्यूनतम प्रयास से अधिकतम सफलता प्राप्त करना था, मानव की प्रगति को नये-नये मोड़ों पर लाकर खड़ा करती रही है। भाप के इंजन स्पिनिंग जेनी या मशीनी करघों के आविष्कार ने उन्नीसवीं शताब्दी की उस औद्योगिक क्रांति को जन्म दिया जिसने कल्पनातीत ढंग से इस धरती का कायापलट कर दिया। तबसे विज्ञान-वेत्ताओं, आविष्कर्ताओं और प्रविधिज्ञों ने कितने ही चमत्कार कर दिखाये हैं। प्रकृति की शक्तियों के ऊपर मनुष्य का नियंत्रण इतना प्रबल हो चुका है कि यदि प्रति बार कुछ वर्षों के भीतर कोई युगांतर-कारी या चमत्कारपूर्ण अनुसंधान या आविष्कार नहीं होता तो उसके मन में हूक उठने लगती है।

यदि वैज्ञानिकन से यही अभिप्राय है कि मनुष्य की प्रेरक बुद्धि और ज्ञान का प्रयोग उसकी औद्योगिक तथा अन्य प्रकार की गतिविधियों में अनवरत रूप

से अधिकाधिक पैमाने पर किया जाता रहे तो यह कहना अनुचित न होगा कि इस सिद्धांत का परिपालन विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार से अपनी-अपनी आर्थिक अवस्थाओं और आवश्यकताओं के अनुकूल होता आ रहा है। सचमुच, वैज्ञानिकन का अर्थ यही है। इसी दृष्टि से इस विषय की समीक्षा करनी चाहिए। हम देखते हैं कि प्रथम महासमर के बाद जर्मनी में वैज्ञानिकन के सिद्धांत का बोलबाला हुआ। वहां इसे उद्योग का एक उचित संघटनकारी रूप मान लिया गया। इसे एक प्रकार का शासन मान लिया गया जिसमें उत्पादकों का स्वरूप उपयोगिता की दृष्टि से एक नये सांचे पर ढाल दिया गया। अब वे एक ऐसी नीति के अंग बन गये जिससे उत्पादित वस्तुओं में विशिष्टता प्राप्त करने, दुर्बल अंग को बिना नष्ट किये हटाने तथा नये संस्थानों पर नियंत्रण करने का द्वार खुल गया। इससे प्रारंभ में बड़े-बड़े उद्योग-गुटों तथा प्रन्यासों का जन्म हुआ। किंतु वैज्ञानिकन से केवल बड़े औद्योगिक संगठनों ही का जन्म हुआ है, यह कहना भूल होगी। वस्तुत: विभिन्न स्थानों में इसके विभिन्न रूप देखने में आये हैं।

वैज्ञानिकन की परिभाषा—वैज्ञानिकन की अनेक परिभाषाएं देखने-सुनने में आती हैं। अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन ने १९२७ में जो परिभाषा की थी उसमें बताया गया है कि वैज्ञानिकन (व्यवस्था) तकनीक और संघटन की वह शैली है जिसके अंतर्गत प्रयत्न अथवा सामग्री का कम-से-कम अंश बरबाद होता है। किंतु यह एक पुरानी परिभाषा है। वास्तव में, इस शैली के अंतर्गत श्रम की वैज्ञानिक जोड़-तोड़ की जाती है, सामग्री और उत्पादन दोनों का मानक बैठाया जाता है, क्रियापद्धति को सरल बनाया जाता है; तथा परिवहन और मंडी की व्यवस्थाओं में सुधार करते हैं। उक्त अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन की दृष्टि से, वैज्ञानिकन के ध्येय नीचे लिखे जा रहे हैं :

(१) न्यूनतम प्रयास द्वारा श्रम में अधिकतम क्षमता उत्पन्न करना,
(२) नमूनों की विविधता में कमी करके (जहां इस विविधता से कोई विशेष लाभ नहीं होता हो) प्रतिमानिक कल-पुर्जों की डिजाइनें, उनके उत्पादन, प्रयोग तथा नवीकरण में सुविधा उत्पन्न करना;
(३) कच्चे माल और बिजली को बरबाद न होने देना;
(४) माल के वितरण के तरीकों को सरल बनाना; तथा
(५) वितरण में अनावश्यक परिवहन, बोझिल आर्थिक व्यय और दलाल के अनुपयोगी हाथ को दूर रखना।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के प्रबंध के लिए नियुक्त परामर्शदात्री समिति ने वैज्ञानिकन की परिभाषा करते हुए बताया है कि वैज्ञानिकन एक प्रकार का सुधार

है जिसका अभिप्राय पुरानी-धुरानी क्रियापद्धति के स्थान में क्रमबद्ध विवेकपूर्ण क्रियापद्धति का संचार करना है। वैज्ञानिकन की एक संकीर्ण परिभाषा यह भी है कि चाहे कोई उद्योग या संस्थान, सरकारी हो या निजी, इसका उद्देश्य उसकी प्रशासनिक अथवा अन्य व्यवस्थाओं में सुधार करना है। वैज्ञानिकन की एक विशद व्याख्या यह भी है कि इसका उद्देश्य बहुत से व्यापारिक उद्योगों को संयुक्त करके उन्हें एक क्रमबद्ध शैली के आधार पर एक घटक में परिवर्तित करना है ताकि उनकी आपसी अनियंत्रित प्रतियोगिता के कारण किसी प्रकार की हानि तथा फिजूलखर्ची की गुंजाइश न रहे।

यंत्रीकरण और वैज्ञानिकन — कभी-कभी लोग वैज्ञानिकन का अर्थ भूल से यंत्रीकरण लगा बैठते हैं। किंतु जब मनुष्यों के स्थान में यंत्रों को रख दिया जाता है और इस परिवर्तन पर वैज्ञानिक अनुसंधान की छाप होती है तब वैज्ञानिकन के अर्थ में यंत्रीकरण का प्रयोग ठीक ही मानना चाहिए। यदि वैज्ञानिकन न्यायसंगत नहीं है तो उसे वैज्ञानिकन कहना ठीक न होगा। इसमें केवल आर्थिक और प्रविधिक बातें ही नहीं बल्कि सामाजिक बातें भी ध्यान में रखनी होंगी; और अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक दोनों प्रकार के परिणामों के बारे में सोचविचार करना होगा। इस विषय को, विशेषकर भारत के संबंध में, स्पष्ट कर देना अधिक उपयुक्त होगा। यहां सामाजिक समस्याओं पर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है।

सूती कपड़ा मजदूर जांच समिति, १९४० का दृष्टिकोण — बंबई की सूती कपड़ा मजदूर जांच समिति, (Textile Labours Enquiry Committee of Bombay) ने १९४० में वैज्ञानिकन के विषय पर विचार किया गया था। उस समय वह अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की इस चेतावनी से भलीभांति अवगत थी कि श्रम में कमी करने वाली क्रियापद्धति अपनाने, आधुनिक यंत्र लगाने तथा कई उद्योगों को मिलाकर एक घटक बनाने की बातें अलग-अलग हैं और इन्हें वैज्ञानिकन की एक संपूर्ण प्रक्रिया का केवल भिन्न-भिन्न अवयव मानना चाहिए। कामगारों के स्थान में केवल आधुनिक यंत्रों के लगाने से ही वैज्ञानिकन की प्रक्रिया पूरी नहीं हो जाती है। यदि कामगारों के स्थान में यंत्रों का प्रयोग बढ़ाने के साथ ही बढ़े हुए उत्पादन की खपत तथा कार्यमुक्त श्रमिकों को अन्य काम-धंधों में लगाने की न्यायसंगत प्रक्रिया नहीं अपनायी जाती है तो वैज्ञानिकन से सुधार होने के बजाय हानि की ही आशंका है। ऐसे वैज्ञानिकन से उद्योग तथा समाज दोनों को ठेस पहुंचेगी। यह परिवर्तन सच्चा वैज्ञानिकन न होकर उसका एक ढोंग ही होगा। वैज्ञानिकन की

---

* देखिए-रिपोर्ट ऑफ दि टैक्सटाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी पृ. १८३।

शैली साम्राज्यवादी शैली का विपर्यय है। उससे आर्थिक और प्रविधिक परिवर्तनों के परिणामों के साथ सामाजिक परिणामों का ध्यान रखा जाता है।

वैज्ञानिकन और कार्यप्रणाली—न्यूनतम प्रयास और साधनों द्वारा उत्पादन में अधिकतम सफलता प्राप्त करना ही वैज्ञानिकन का उद्देश्य होता है। इसका ध्येय उद्योगों के दोनों साझीदारों अर्थात् मालिकों और कामगारों, तथा उपभोक्ता-वर्ग और समाज को अधिकाधिक लाभ पहुंचाना है। वैज्ञानिकन का ढंग भी भिन्न-भिन्न होता है। जर्मनी में वैज्ञानिकन का श्रीगणेश विभिन्न फैक्टरियों का गठजोड़ करके उनकी जगह बड़े-बड़े फैक्टरी-गुट बनने से हुआ था, चाहे फिर इनका नाम प्रन्यास-मंडल, सहकारी उद्योग या राष्ट्रीय उद्योग ही क्यों न रखा गया हो। इसका परिणाम यह देखने में आया कि दुर्बलों का अंत, उन्हें विनष्ट किये बिना ही हो गया और प्रत्येक क्षेत्र में एक सर्वोत्तम ढंग से उत्पादन की शक्ति का केंद्रीकरण हो गया।

राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया में, राज्य स्वयं उद्योग के क्षेत्र में प्रवेश करता है और उसमें एक विशाल सरकारी क्षेत्र की स्थापना होती है। इस दशा में, वैज्ञानिक से सदा बड़ी सुविधा होगी। उससे उत्पादन की मात्रा में ही नहीं बल्कि उसके गुण (तत्ता) में भी वृद्धि होगी। यदि यह उद्देश्य मानवकृत आयोजन और नियंत्रण से पूरा न हो सका तो उसे पूरा करने के लिए उद्योगों को आर्थिक परिस्थितियां लाचार कर देंगी। उदाहरण के लिए, भारत के सूती कपड़ा मिलों को देखिए। इनमें कितने ही तरीके पुराने पड़ गये हैं। कितनी ही आर्थिक इकाइयों की वर्तमान दुरवस्था का कारण यही है कि उनके नियंत्रण-कर्ता जमाने की हवा के अनुसार अपनी नीति बदलना नहीं चाहते। ये श्रमिकों और उपभोक्ताओं के गले में चक्की की पाट की भांति पड़े हुए हैं। यद्यपि वे नीचे गिर रहे हैं फिर भी व्यवस्था और श्रम की आपसी सद्भावना के मार्ग में रोड़े बने हुए हैं। अपनी आर्थिक क्षमता के कारण वे आधुनिक कानूनों, पंचाटों तथा अन्य प्रगतिशील सुधारों के प्रभावक्षेत्र में नहीं आते हैं और इस प्रकार वे अपने बुनियादी दायित्वों, जैसे भविष्यनिधि, सेवानिवृत्ति-धन और छटनी की हानि-पूर्ति आदि से बचे रहते हैं। तथा पीड़ित श्रमिकों को काम-धंधा बंद करने की धमकियों से परेशान करते और सरकार पर प्रत्येक प्रकार से अनुचित दबाब डालते रहते हैं। आर्थिक परिस्थितियों की ठोकर से इन आर्थिक इकाइयों का सफाया जितनी जल्दी हो जाए उतना ही अच्छा होगा।

भारत में वैज्ञानिकन की समस्या महत्त्वपूर्ण है। इसके दो महत्त्व हैं जिन पर मालिकों की आंखें केंद्रित रहती हैं। पहला यह है कि वैज्ञानिकन से भारतीय कामगार पर पर्याप्त कार्य का भार पड़ेगा; और दूसरा यह है कि इस आधुनिक कल-युग में पुरानी-धुरानी मशीनों के स्थान में नयी तकनीक

तथा कौशल से चलने वाले यंत्र लग जाएंगे जिससे श्रम की बचत होगी। स्वचालित मशीनों की मांग जोर पकड़ती आ रही है, स्वचालित करघों की मांग तो विशेष रूप से सामने आती रही है। उधर कामगारों की मांगें कानों में पड़ती आ रही हैं। उनकी मांगें हैं कि व्यवस्था और उत्पादन की शैली में सुधार किया जाए; अवांछनीय प्रबंध-पद्धतियों का अंत किया जाए; कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था में सुधार हो; कच्चे माल की जिन्स को बेहतर बनाया जाए; मानक और विशिष्ट शैली को ऊंचा उठाया जाए; तथा कामगारों की आवश्यकताओं और सुविधाओं पर अधिक ध्यान दिया जाए।

वैज्ञानिकन से लाभ

यदि उद्योग के क्षेत्र में वैज्ञानिकन का अर्थ यह है कि उसका सर्वांगीण सुधार किया जाए अर्थात् प्रबंध-नीति में सुधार, उत्पादन शैली में सुधार, कार्यपद्धति में सुधार, कच्चे माल की कोटि में सुधार, बेहतर प्रशिक्षित कामगारों की उपलब्धि, अधिक अच्छे यंत्र या अन्य अधिक अच्छे साधन, श्रेष्ठतर मानक और विशेषोपयोजन जुटाना, आदि, तो वैज्ञानिकन केवल आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी हो जाएगा। उद्योगीकरण मुख्यत: पश्चिमी सभ्यता की देन है और यदि हमें इस क्षेत्र में तेजी से आगे बढ़ना है तो हम पश्चिम के अनुभवों और उदाहरणों की अवहेलना नहीं कर सकते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रगति—आज अमेरिका को औद्योगिक क्षेत्र में जो सर्वोच्च आसन प्राप्त है उसके कारण बड़े उद्योगों के विकास में उसकी कहानी से शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। यद्यपि अमेरिकन लोग प्राय: वैज्ञानिकन शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं फिर भी देश का उत्तरोत्तर उत्पादन बढ़ाने के लिए वैज्ञानिकन की जितनी प्रबल इच्छा कम-से-कम पिछले पचास वर्षों से, उनके हृदय में उत्पन्न हो रही है उतनी शायद ही कहीं दूसरी जगह देखने को मिलेगी। पचास वर्ष पहले, अमेरिका के मजदूर का निर्वाह-स्तर ब्रिटेन तथा अन्य योरोपीय देशों के मजदूरों के स्तर के बराबर था। किंतु इस समय एक अमेरिकन कामगार का उत्पादन पहले की तुलना में दोगुने से पांच-गुने तक बढ़ गया है, और उसकी मजदूरी ब्रिटेन तथा अन्य योरोपीय देशों के मजदूरों से डेढ़ गुनी से चारगुनी तक बढ़ी हुई है।

अमेरिकन यह नहीं कहते हैं कि वे ब्रिटिश तथा अन्य योरोपीय कामगारों से जन्मना श्रेष्ठ या अधिक बुद्धिमान हैं, किंतु उनका यह कहना है कि प्रशिक्षण, साधन और संगठन की कला के प्रयोग से उन्होंने अपने देश का उत्पादन

आश्चर्यजनक गति से बढ़ा लिया है। जिन कारणों से अमेरिका का औद्योगिक उत्पादन बढ़ गया है वे प्रायः निम्न हैं :

(१) पर्याप्त संख्या में भवन, संयंत्र और उत्पादनकारक पूंजीगत साज-सामान जिसका बहुतायत से प्रयोग होता है और जिसके स्थान में निरंतर नया सामान जुटाया जाता है ताकि वह पुराना न पड़ जाए;
(२) पर्याप्त संख्या में सीखे-सिखाये और अनसीखे कामगार जिन्हें उपर्युक्त साज-सामान का पूरा-पूरा ज्ञान होता है;
(३) कच्चे माल, ईंधन और बिजली के संभरण की पर्याप्त व्यवस्था तथा परिवहन और अन्य उपयोगी सेनाओं की पर्याप्त उपलब्धि;
(४) प्रबंध करने की कुशलता तथा प्रविधिक ज्ञान जिसे उत्पादन के संगठन तथा उत्पादन मूल्य को न्यून करने में निरंतर प्रयुक्त किया जाता है;
(५) उत्पादन की खपत के लिए हाट-बाजार तैयार मिलता है और यथेष्ट रूप से उसका उत्तरोत्तर विस्तार होता रहता है; तथा
(६) सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक स्थिरता के लिए अनुकूल लोक-मत का वातावरण।

श्री ग्राहम हट्टन की पुस्तक "वी टू केन प्रोस्पर" (We Too Can Prosper) में ब्रिटिश उद्योगों की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए कुछ सुझाव दिये गये हैं। एक विशेषज्ञ-दल ब्रिटेन से संयुक्त राज्य अमेरिका का भ्रमण करने गया था। उसने जो कुछ लिखा है उसके आधार पर अमेरिका और ब्रिटेन की अवस्थाओं की तुलना करते हुए लेखक ने उत्पादन बढ़ाने के लिए निम्न अभिस्ताव प्रस्तुत किये हैं :

(१) अपने उत्पादनकारक साज-सामान (नये और पुराने) का अधिक तत्परता से प्रयोग करना तथा उससे अधिक तेजी और सफलता से काम लेना;
(२) एक राष्ट्र के रूप में, अधिक बचत करना और उस बचत को राज्य द्वारा संचालित उद्योगों तथा निजी उद्योगों, मार्गों तथा रेल के सामानों, जहाजों, यंत्रों, औजारों और संयत्रों के निर्माण में लगाना; तथा
(३) मनुष्यों से काम के वर्तमान घंटों में अधिक परिश्रम से काम करवाना अथवा काम के घंटे बढ़ा देना।

श्री ग्राहम ने आगे लिखा है कि मनुष्यों पर काम का अधिक बोझा डालने की अपेक्षा हमारे पास जो संयंत्र हैं उनसे अधिक काम लेना तथा उनसे उत्पादन बढ़ाना अधिक समझदारी की बात होगी।

अमेरिका में औद्योगिक व्यवस्था के काम को कोरा व्यवसाय या नौकरी नहीं माना जाता है। उसे तो अधिक उत्पादन की आधारशिला कहा जाता है। आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था में कला और विज्ञान दोनों का पुट होता है, जहां कारखाने की मशीनों और तकनीकों का संबंध है, व्यवस्था करने में विज्ञान का स्थान ऊंचा है, किंतु जहां मानवों से सम्पर्क की बात आती है, उसमें कला का तमाम तत्त्व मिलेगा।

अमेरिका में उत्पादन की प्रचुरता का दूसरा कारण यह है कि आधुनिक यंत्रों का यथासंभव अधिकतम प्रयोग किया जाता है। अन्य किसी भी देश की अपेक्षा अमेरिका में यांत्रिक साज-सामान अधिक बड़े पैमाने पर प्रयोग में आता है; काम लेने के बाद उसके स्थान में अधिक शीघ्रता से नया साज-सामान लगाकर पुराने यंत्रों को बदल देते हैं। यंत्रों का मानदंड ऊंचा उठाने तथा उनकी मरम्मत करने में तेजी से काम लिया जाता है।

अमेरिकन अनुभव से शिक्षा—अनेक ब्रिटिश उत्पादन-विशेषज्ञ दलों ने अमेरिका के उद्योगों का पर्यवलोकन किया और उसके बाद उन्होंने दो प्रकार के ढंग अपनाने की सिफारिशें कीं। पहली सिफारिश यह थी कि दीर्घकालिक योजनाएं अपनायी जाएं और दूसरी यह थी कि अल्पकालिक योजनाओं पर ध्यान दिया जाए। दीर्घकालिक योजनाओं के अंतर्गत प्रति कर्मचारी पीछे उत्पादनकारक पूंजीगत साज-सामान बढ़ाने, कामगारों को फिर से काम में लगाने, उनके काम-धंधों को फिर से क्रमबद्ध करने, बेहतर यंत्रों का अधिकाधिक प्रयोग करने, अधिक अच्छे प्रशिक्षित प्रविधिज्ञों, विशेषज्ञों और प्रबंधकों की संख्या बढ़ाने तथा काम का बढ़िया पूर्वायोजन करने की सिफारिशें थीं। अल्पकालिक योजनाओं के अंतर्गत संगठन-व्यवस्था में सुधार करने तथा श्रम और विद्यमान यंत्रों का अधिक मुस्तैदी से प्रयोग करने की सिफारिशें भी थीं। ये ही बातें भारतीय उद्योगों के बारे में भी खरी उतर सकती हैं।

भारत में वैज्ञानिकन की आवश्यकता

मालिकों और कामगारों की शिकायतें—पिछले कई वर्षों से मालिक प्रायः यही शिकायत करते आये हैं कि भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ने की बात तो दूर रही, सच यह है कि वह पिछले महासमर से घट गयी है, और यदि श्रमिक अपना दैनिक कार्य ईमानदारी से करने लगें तो व्यवस्था में कोई भारी परिवर्तन किये बिना ही उत्पादन बढ़ सकता है। मालिकों के इस आक्षेप का उत्तर श्रमिक यह कह कर देते हैं कि उत्पादन में प्रायः कोई कमी नहीं हुई है और जहां कहीं यह कमी दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण स्वयं मालिकों

की अपनी सूझबूझ है क्योंकि वे घटिया कच्चा माल उपलब्ध करते हैं, यंत्रों की उपयोगिता की अवहेलना करते हैं, उत्पादन का आयोजन नहीं करते हैं और असह्य कार्यावस्थाओं में सुधार न करने का हठ पकड़ गये हैं।

ये आरोप और प्रत्यारोप दोनों ही बहुत कुछ ठीक हैं। यदि व्यवस्थापक और श्रमिक दोनों मिलकर इन दोषों को दूर नहीं करते हैं तो देश की आर्थिक अवस्था में कोई ठोस सुधार नहीं हो सकता है। निःसंदेह नयी मशीनें लगाने या अधिक श्रमिक जुटाकर वर्तमान मशीनों का अधिक प्रयोग करने से संपूर्ण उत्पादन में वृद्धि हो सकती है फिर भी उसकी स्थिति सुदृढ़ नहीं होगी और न उसकी क्षमता ही उत्तम कोटि की होगी।

भारत सरकार ने १९५० में जो राजस्व आयोग (Fiscal Commission) भारतीय श्रमिकों की न्यून उत्पादिता अथवा ह्रासोन्मुख उत्पादिता की जांच के लिए नियुक्त किया था उसने लोहा और इस्पात, तथा कोयला उद्योगों के प्रति मनुष्य-पारी पीछे उत्पादन के आंकड़ों का विश्लेषण करके बताया था कि यद्यपि तुलनात्मक आंकड़ों पर पूरा-पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता है फिर भी उनसे यह स्पष्ट है कि श्रमिकों की कार्यक्षमता में भारी गिरावट आयी है और यह एक ऐसा दोष है जिसको दूर करने में सरकार, उद्योग और श्रम को मिलकर जुट जाना चाहिए।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के संदर्भ में योजना आयोग ने अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहा था कि उत्पादिता की गति पर अनेक परिवर्तनीय बातों का प्रभाव पड़ता है : जैसे संयंत्रों के आकार-प्रकार का, काम में आनेवाले कच्चे माल का, प्रयोग में आनेवाले प्रविधिक ज्ञान का, श्रम-शक्ति की सत्ता का, और उत्पादन में सहायता देनेवाली विभिन्न व्यवस्थाओं में समन्वय करने की प्रबंधकों की योग्यता का। इन सब बातों का उत्पादिता पर प्रभाव समिष्ट रूप से दिखायी देता है; इसलिए यह कहना कठिन होगा कि उत्पादन पर किस बात का पृथक रूप से कितना प्रभाव पड़ता है।

कम उत्पादिता के कारण—यद्यपि देश में उत्पादिता के आंकड़े इतनी संख्या में उपलब्ध नहीं हैं कि उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके फिर भी उनसे महत्त्वपूर्ण उत्पादिता के बारे में इतना ज्ञान तो हो जाता है कि हवा का रुख किधर है और न्यून उत्पादिता के कारण क्या हैं ?

महायुद्ध की समाप्ति के बाद, कई बार ऐसा देखने में आया है कि कुछ कारणों से उत्पादन को धक्का लगा है। किंतु इसका कारण न तो श्रमिकों में कार्यक्षमता का अभाव था और न प्रयास की कमी ही थी। उदाहरण के लिए, १९४६ और १९४७ में कपड़ा उद्योग में भयंकर रूप से कामबंदी रही और १९४९ के उत्तरार्ध में कपड़ा और सूत-वितरण की योजना वस्तुतः ठप्प हो

गयी। इससे कपड़ा और सूत के पहाड़-पर-पहाड़ जमा हो गये। उत्पादन में विघ्न का एक और कारण १९५१ और १९५२ में बंबई में देखने को मिला जबकि बिजली की कमी के कारण काम के घंटों में कमी करनी पड़ी।

कार्य-भार की न्यूनता—मालिकों का कहना है कि उत्पादन में कमी का एक कारण यह भी है कि जहां मशीनें मिल सकती हैं वहां भी श्रमिक उन पर पर्याप्त कार्य-भार उठाने की इच्छा नहीं रखते हैं। यह ठीक है कि पिछले दो तीन दशकों में कपड़ा-मिलों, कोयला, चीनी और लोहा तथा इस्पात जैसे सुव्यवस्थित उद्योगों में वैज्ञानिकन के नाम पर कार्यभार बढ़ाने की ढुलमुल प्रवृत्ति देखने में आयी है। किंतु इन क्षेत्रों में अधिक कार्यभार की गुंजाइश विद्यमान है।

वेशी मजदूर—उत्पादिता में कमी का एक कारण और है। मालिकों का कहना है कि काफी फालतू श्रमिक उनके सिर मढ़े रहते हैं जिससे उन पर वित्तीय बोझा बढ़ जाता है। इतना ही नहीं, इस अतिरिक्त श्रम के कारण उद्योग में अक्षमता, शिथिलता तथा अन्य दोष घुस पड़ते हैं।

उत्पादन को बढ़ाने के मार्ग में क्या कठिनाइयां हैं? तथा वेशी श्रमिकों के कारण उत्पादन-मूल्य में क्या वृद्धि हो गयी है? इन बातों पर योजना आयोग (Planning Commission) ने ध्यान दिया है। संबंधित मूल्यों को ध्यान में रखकर निम्न सिफारिशें की हैं: [Footnote First Five-Year Plan, पृष्ठ ५९०]

उत्पादिता बढ़ाने के ढंग—आधुनिक यंत्रों की कितती आवश्यकता है, इसके बारे में सूचना भले प्रकार से नहीं मिलती है। फिर भी कपड़ा मिलों की मशीनों की आवश्यकता के बारे में जो सर्वेक्षण हुआ था वह बड़ा ही उपयोगी प्रमाणित हुआ है। एक प्रविधिक उपसमिति (Technical Sub-committee) ने प्रत्येक केंद्र के कुछ इनेगिने मिलों का विस्तृत सर्वेक्षण करके बताया था कि १९१० से पहले उनमें कितनी मशीनें थीं, १९१० और १९२५ के बीच में कितनी थीं; और इसके बाद कितनी हो गयीं। फिर उक्त उपसमिति ने लिखा था कि १९१० से पहले वाली मशीनों की डिजाइनें पुरानी पड़ गयी थीं। और वे बिल्कुल बेकार थीं। और उनकीं जगह दूसरी मशीनें लगनी चाहिए। दूसरी श्रेणी की मशीनें भी दस वर्ष से अधिक काम में नहीं आ सकती हैं और उनमें कुछ पर काम करना आर्थिक दृष्टि से खर्चीला बैठता है। इस अभिमत का स्वागत करते हुए समुपयोजन दल (Working Party) ने कहा था कि कारखानों में ऐसी मशीनें लगी हुई हैं जिनमें अधिकांश पुरानी ही नहीं बल्कि उनकी डिजाइनें ही पुरानी पड़ गयी हैं; और इनकी जगह नयी मशीनें लगाने से उद्योग का भला हो सकता है।

जूट मिलें भारत का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उद्योग है। इस उद्योग के बारे में जूट जांच आयोग (Jute Enquiry Commission) ने लिखा था कि भारतीय जूट मिल असोसियेशन ने सरकार के सामने ५ लाख रुपये के अनुदान की मांग प्रस्तुत की थी जिससे पुराने जूट संयंत्रों को बदलकर नया किया जा सके और आधुनिक मशीनों को भी उपलब्ध किया जा सके। इस काम में पांच वर्ष लगाना सहज बात थी। जूट मिल असोसियेशन आधुनिक मशीनें लगाने पर अब तक काफी रुपया व्यय कर चुका है।

कोयला खानों में मशीनें लगाने की समस्या ने अभी तक सिर नहीं उठाया है। दूसरी ओर, कोयला समुपयोजन दल (Working Party for Coal) ने अपने प्रतिवेदन में लिखा था कि श्रमिकों के प्रतिनिधियों द्वारा यंत्रीकरण के कड़े विरोध की आशंका थी; किंतु उन्होंने कुछ दशाओं में इस यंत्रीकरण का बाहें फैलाकर स्वागत किया है। किंतु खान-अभियंत्रक (इंजीनियर), जो मशीनों की मदद से कोयला खोदते हैं, अभी यंत्रीकरण के प्रसार का हार्दिक अनुसमर्थन करने से हिचकिचाते हैं। प्रबंधकों की इस संकीर्ण नीति का कारण यह बताया गया था कि उनका कहना है कि यंत्रीकरण तभी लाभदायक सिद्ध हो सकता है जबकि उससे प्रति खान पीछे कम-से-कम दस हजार टन कोयला प्रति मास निकलने लगे।

यहां यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि यंत्रों द्वारा ब्रिटेन की कोयला खानों से ८० प्रतिशत कोयला निकाला जाता है। यद्यपि ९० प्रतिशत कोयला यंत्रों द्वारा लादा भी जाता है। फिर भी लदान की प्रक्रिया का अभी पूरी तरह से विकास नहीं हुआ है। हां, प्रति व्यक्ति-पारी पीछे औसत उत्पादन में आश्चर्य-जनक उन्नति अवश्य हुई है। ब्रिटेन में यंत्रीकरण के विभिन्न प्रभाव पड़े हैं। किन्हीं-किन्हीं खानों में, विशेषकर ईस्ट मिडलैंड्स प्रदेश की खानों में, उत्पादन बड़ी तेजी से बढ़ा है। किंतु किन्हीं-किन्हीं खानों का प्रति व्यक्ति-पारी पीछे उत्पादन तो यंत्रीकरण के सूत्रपात से घट तक गया है।

इस स्थिति का क्या कारण है? हम जानते हैं कि यंत्रों द्वारा काम करने-वाली श्रमिक-टोलियां बनाने पड़ी हैं जिनके अंतर्गत प्रत्येक खनक का व्यक्तिगत महत्त्व घट गया है और उसमें उत्तरदायित्व की भावना तथा आरंभिक-शक्ति विलुप्त हो चली है। इस कार्यपद्धति ने काम को नीरस बना दिया है। पहले खनक को जिस कार्यदक्षता से नामवरी मिल जाती थी अब वह उससे कोसों दूर रहता है। संक्षेप में खनक की गौण स्थिति से वर्तमान कार्यप्रणाली पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है।

सुतरां, ब्रिटेन के उदाहरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उत्पादिता की समस्या को हल करने के लिए कोरा यंत्रीकरण अभीष्ट नहीं है। इसकी

सफलता के लिए कामगारों की रीति-नीति की ओर से आंखें नहीं मूंदी जा सकती हैं।

कोयला की स्थिति भारत में कुछ भी क्यों न हो, एक बात स्पष्ट है कि भारत के पुराने उद्योगों, जैसे कपड़ा मिलों और जूट मिलों की पुरानी मशीनों को बदलना ही चाहिए और उनके स्थान में नयी मशीनें लगनी चाहिए।

व्यवस्था पद्धतियों का वैज्ञानिकन—कामगार और उनके संगठन इस आशय की शिकायत बहुत समय से करते आ रहे हैं कि कुछ प्रबंधक अपने मिलों के लिए घटिया कच्चा माल मंगवाते हैं, अपनी मशीनों की उपेक्षा करते हैं और वे स्वयं अयोग्य हैं तथा उनका एकमात्र लक्ष्य यह है कि न्यूनतम समय में अधिकतम लाभ कमाया जाए।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ उत्पादिता-दल ने १९५३ में भारत में कई मास तक काम किया था और उसने भारतीय सूती कपड़ा मिलों और अभियांत्रिक (इंजीनियरिंग) उद्योगों की स्थिति पर प्रकाश डाला था। उसने इक्के-दुक्के उनके प्रबंध-संबंधी कार्यों के वैज्ञानिकन की आवश्यकता बतायी थी। उसने उदाहरण देकर बताया था कि मशीनों और कार्यपद्धतियों की ओर तनक अधिक ध्यान देने से कहीं-कहीं उत्पादिता में पर्याप्त वृद्धि हुई है जो १५ से ५० प्रतिशत अथवा इससे भी अधिक है। उसने बताया था कि किन्हीं-किन्हीं कपड़ा मिलों की अवस्थाएं बड़ी शोचनीय हैं। उसने यह भी कहा था कि जो यह सोचते हैं कि उत्पादन-लागत कम करने के लिए केवल मजदूरी घटाना या पुरानी मशीनों के स्थान में अधिक अर्वाचीन मशीनें लगाना आवश्यक है वे निश्चय ही भूल करते हैं। ऐसी नीति अपनाने से बेरोजगारी को बढ़ावा मिलता है और देसी बाजार में, क्रयशक्ति का ह्रास होने से माल की खपत घट जाती है।

विद्यमान अवस्थाओं, माल की क्वालिटी अथवा परिणामों की ओर ध्यान दिये बिना उत्पादन बढ़ाने के पीछे पड़ने के क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं, उनका वर्णन भी उक्त दल ने किया है। उसने लिखा है कि प्रति दिन तीन पारियों में मशीनों को चलाने, उनकी सफाई और उनकी मरम्मत का आवश्यक विराम न देने का परिणाम यह होगा कि तैयार माल की क्वालिटी बिगड़ चलेगी और प्रायः मशीनी गड़बड़ी के कारण उत्पाद-मात्रा भी घट जाएगी; इनके अतिरिक्त मरम्मत का व्यय और घिसने की क्षति भी बढ़ जाएगी। कुछ प्रबंधक मशीनों के फालतू कल-पुर्जे अधिक संख्या में नहीं रखते हैं। इससे मशीनी गड़बड़ी को तुरंत ठीक करने की संभावनाएं कम हो जाती हैं और इसका परिणाम यह निकलता है कि दिक्कतें सामने आने पर प्रबंधक और प्रविधिज्ञ दोनों के हाथ-पांव फूल जाते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के उक्त दल का आगे कहना था कि भारतीय कामगार जिन कार्यावस्थाओं में काम करते हैं उन्हें देखते हुए यह आशा करना एक दुराशामात्र होगी कि वे साफ हवा में सांस लेने के लिए जब तब बाहर न जाया करें। घटिया किस्म के उत्पाद का एक कारण यह भी है कि प्रबंधक काम की देखभाल अच्छी तरह नहीं करते हैं। इससे कामगार मनमाने ढंग से काम करते रहते हैं। उनका काम कहां बिगड़ रहा है, इसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता है। उक्त दल ने उत्पादिता की न्यूनता के निम्नांकित कारण बताये थे :

(१) मोहरें लुटें और कोयलों पर छाप की नीति;
(२) वैज्ञानिक रीति से औद्योगिक ज्ञान का अभाव;
(३) कामगारों तथा अन्य कर्मचारियों के प्रति सहानुभूति की कमी;
(४) उत्पाद के विषय में गौरव अनुभव करने की कमी अर्थात् उत्पाद की किस्म के प्रति उदासीनता;
(५) अनियमित विक्रय-नीति; तथा
(६) कर्मचारियों और कामगारों के प्रति समय के प्रतिकूल, स्वैरतंत्रीय नीति।

सूती कपड़ा उद्योग के कार्यदल के प्रतिवेदन से स्पष्ट है कि यद्यपि उक्त आलोचना बड़ी कठोर है फिर भी अनुचित नहीं है। यह प्रतिवेदन १९५२ में प्रस्तुत किया गया था और उक्त कार्यदल में मिल मालिक असोसियेशन के प्रतिनिधि भी शामिल थे। कार्यदल ने यह भी लिखा था कि यह बात सभी जानते हैं कि कितने मुख्य सूती कपड़ा मिल गत पिछले महासमर के बाद बिकने पर दूसरों के हाथ में चले गये हैं। इनमें से कितने ही नये व्यवस्थापकों को कपड़ा उद्योग का अनुभव तक प्राप्त नहीं है। इनके पास धन था और उनके हृदयों में उद्योगपति बनने की लालसा थी। बस क्या था, उन्होंने औद्योगिक कारखानें खरीद लिये और उद्योगपतियों की सूची में अपना नाम लिखा लिया। किंतु उन्हें औद्योगिक कारखानों के संचालन का रत्ती भर ज्ञान न था। कुछ ऐसे भी कपड़ा मिल थे जिनकी पूर्ववर्ती प्रबंध-व्यवस्था अनुकरणीय थी। उनका साज-सामान ठीक था और वे प्रविधिक ज्ञान से भरपूर थे। किंतु नये अल्पज्ञानी प्रबंधकों के हाथ में जाने पर उनकी कार्यप्रणाली में अनुचित हस्तक्षेप होने लगा। उनकी पूर्वागत प्रबंधकर्त्री अभिकर्ता-व्यवस्था ही नहीं लड़खड़ा उठी बल्कि नये प्रबंधकों में औद्योगिक लगन न होने के कारण उद्योग में ह्रास भी आरंभ हो गया और कामगारों के हृदयों में भी इन प्रबंधकों

के प्रति आदर की भावना कम हो चली। ये नये प्रबंधक केवल धनी होने के कारण ही इस क्षेत्र में घुस पड़े थे।

भारतीय सूती कपड़ा उद्योग पर १९५३ में जो पुस्तक लिखी गयी है उसमें लेखक ने कुछ दोषों का संकलन किया है। उसने लिखा है कि उन भारतीय कपड़ा मिल समवायों (कंपनियों) की संख्या बीस से अधिक न होगी जिनमें परिव्ययांकन विभाग की उत्तम व्यवस्था है और जो लागत-संबंधी सच्चे तथा विश्वसनीय आंकड़े प्रस्तुत कर सकते हैं जिनके आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सके।

वैज्ञानिकन का सामाजिक स्वरूप

उन्नत और अनुन्नत देश—बिना सामाजिक समस्याओं पर यथेष्ट ध्यान दिये कोई भी व्यक्ति वैज्ञानिकन-संबंधी आवश्यक सुधारों को एकाएक नहीं अपना सकता है। उन प्रगतिशील देशों में तो इन सामाजिक समस्याओं का महत्त्व और भी अधिक है जहां श्रमिकों की संख्या कम है; और मशीनों की उपलब्धि प्रचुरता से होती है। कम-उन्नत तथा प्रचुर-जनसंख्या वाले देशों में बेरोजगारी की समस्या इतनी प्रचंड होती है कि उसके समाधान के लिए उद्योग-प्रधान तथा कम-जनसंख्या वाले देशों की कहानी से कोई शिक्षा ग्रहण नहीं की जा सकती है। न उनसे कोई आवश्यक प्रेरणा मिल सकती है और न मार्गदर्शन ही संभव है।

भारत में वैज्ञानिकन के पक्ष में जो बात कही जाती है उसका आधार यह है कि संसार के सभी प्रगतिशील देशों में वैज्ञानिकन चालू है। किंतु यहां लोग इस बात को भूल जाते हैं कि उन देशों से भारत की सामाजिक और आर्थिक अवस्थाएं भिन्न हैं। यदि हम भारत में वैज्ञानिकन की समस्या पर केवल औद्योगिक दृष्टि से विचार करते हैं तो हम यह कहे बिना नहीं रह सकते हैं कि मालिकों की वैज्ञानिकन-संबंधी मांग ऊटपटांग नहीं है। किंतु हमें तो देश की आर्थिक समस्या पर समिष्ट रूप से विचार करना होगा जिसमें बेरोजगारी की समस्या, गरीबों की समस्या और देश के औद्योगिक क्षेत्र में इस असामयिक कार्य से असंतोष फैलने की संभावनाएं भी शामिल हैं। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो हमें इस दिशा में किसी सही निष्कर्ष पर पहुंचने में सफलता मिलनी कठिन है।

मानवीय स्वरूप—यह सुझाव दिया जाता है कि भारत में वैज्ञानिकन को ऐसे क्रमिक ढंग से कार्यान्वित करना चाहिए कि जो श्रमिक छटनी के चक्कर में आ जाएं उन्हें शीघ्र ही दूसरी जगह काम-धंधों में खपाया जा सके।

एक बात और यह कही जाती है कि वैज्ञानिकन के कारण कपड़े तथा अन्य उपभोक्ता माल के मूल्य कम हो जाएंगे। इससे उनकी खपत बढ़ जाएगी। ये बातें संभव हैं। परंतु इस बात की पक्की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है कि छटनी वाले मजदूरों को दूसरी जगह काम में लगा दिया जाएगा? तथा "अस्थायी छटनी" शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? यदि वैज्ञानिकन के दुष्परिणामों को अधिकाधिक संख्या में दूर नहीं किया जाता है तो उससे मालिकों की खपत-संबंधी आशाएं भली भांति पूरी नहीं हो सकती हैं।

यहां यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि भारत सरकार ने १९५३ में बीड़ी-बनाने की कम श्रमसाध्य मशीनों का प्रयोग करने की मनाही कर दी थी। यदि उसकी यह निषेधाज्ञा सामने न आयी होती तो देश के देहाती क्षेत्रों में बीड़ी बनाने में लगे हुए छह लाख कामगारों में से पांच लाख बेरोजगार हो गये होते। इसलिए, वैज्ञानिकन के मानवीय स्वरूप को देखते हुए यही कहना होगा कि सरकार ने उक्त कदम सही दिशा में उठाया था।

भारत में बेरोजगारी और अल्प आय—भारत में बेरोजगारी और अल्प आय की समस्या विकट बन गयी है। इस संबंध में जो थोड़े-बहुत आंकड़े मिलते हैं उनसे यही साबित होता है कि देश में बेरोजगारी बढ़ रही है। योजना आयोग का अनुमान है कि दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंत में नौकरी ढूंढ़ने वालों की संख्या एक करोड़ ५३ लाख होगी।

महात्मा गांधी ने १९२६ में चरखे की उपयोगिता की वकालत करते हुए लिखा था कि भारत की ७१ प्र. श. से भी अधिक जनसंख्या खेती पर निर्भर है और इस जनसंख्या का एक बड़ा भाग लगभग छह महीने काम की कमी के कारण हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रहता है। उसे अनुपूरक उद्योग की आवश्यकता है। यह कमी चरखे के प्रयोग से दूर हो सकती है। फिर भी आज स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

बेरोजगारी का, विशेष कर देहाती अंचल में, एक और पहलू है। कृषि श्रमिक जांच समिति (Agricultural Labour Enquiry Committee) द्वारा प्रकाशित आंकड़ों ने खेतिहर मजदूरों की दयनीय दशा का पर्दा फाश कर दिया है। उनकी मजदूरी और संपूर्ण आय दोनों की ही शोचनीय अवस्था है, खेतिहर मजदूरों में रोजनदारी पर काम करने वालों—आकस्मिक श्रमिकों की संख्या ८५ प्रतिशत है। उनमें प्रति मनुष्य को १ रु. १ आ. ६ पा. और प्रति स्त्री को ११ आ. प्रति दिन उजरत मिलती है जबकि फैक्टरी में काम करने वाले कामगार की औसत पगार ३ रु. ६ आ. प्रति दिन है। प्रति व्यक्ति पीछे खेतिहर मजदूर की वार्षिक औसत आय १०४ रु. बताते हैं जबकि समस्त जनसंख्या के लिए प्रति व्यक्ति

पीछे यही आय २६४ रु. है। इन आंकड़ों से प्रकट होता है कि भारत के खेतिहर मजदूरों की पेट पालने की समस्या कितनी विकट है जबकि उसकी जनसंख्या समूचे देश की जनसंख्या का एक-तिहाई भाग है। यह खेतिहर मजदूर वर्ष का एक-तिहाई भाग बेरोजगारी में बिताता है। देहाती अंचल में रोजगारी की इस अवस्था में यदि तनिक और गिरावट आ जाए तो वह भयावह बन सकती है क्योंकि खेतिहर मजदूर में बेकारी का अधिक झटका झेलने की ताकत नहीं होती है।

सूती कपड़ा जांच समिति ने दूसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में प्रति व्यक्ति पीछे कपड़े की खपत बढ़ जाने की आशा प्रकट की थी। उसके खयाल से यह खपत १५ गज से बढ़कर १८ गज प्रति व्यक्ति हो जाएगी। इस वृद्धि का संबंध खेतिहर परिवार की व्यय-पद्धति से है। भारत में प्रत्येक खेतिहर मजदूर-परिवार की औसत वार्षिक आय ४४७ रु. और व्यय ४६१ रु. है। इस व्यय में ७ रु. की वह राशि सम्मिलित नहीं है जो औसतन उसके उत्सवों पर खर्च होती है। इस प्रकार केवल उपभोक्ता-माल की मद में उसके वार्षिक आयव्ययक (बजट) में १४ रु. का घाटा रहता है। उसका कुल व्यय ४६८ रु. है जिसमें ३९३ रु. भोजन पर; २९ रु. वस्त्रों और जूतों पर तथा ३९ रु. अन्य आवश्यकताओं, जैसे आवास, ईंधन, प्रकाश आदि पर तथा ७ रु. उत्सवों पर व्यय होते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का मत—नगरीय और देहाती, दोनों क्षेत्रों में बढ़ती हुई बेरोजगारी को देखकर, अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों ने वैज्ञानिकन के विषय में एक विचार अभिव्यक्त किया था, उसका उल्लेख करना यहां कम रोचक न होगा। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ वर्षों से वैज्ञानिकन, अधिक उत्पादिता और उसके अनुसार अधिक पुरस्कार का प्रचार करता आ रहा है। किंतु १९५४ के अपने प्रकाशन* में उसने लिखा है कि जहां बेशी श्रमिक पड़े हुए हों, जहां उत्थापित श्रमिकों को काम-धंधों में खपाना कठिन हो रहा हो, और जहां यह जान पड़ता हो कि वैज्ञानिकन के लिए देश तैयार नहीं है, वहां उच्चतर उत्पादिता की अपेक्षा उत्पादन और रोजगार की वृद्धि पर ही ध्यान देना बेहतर होगा। इस प्रकार के देशों में अधिक उत्पादिता की उपलब्धि के लिए जो कार्यवाही की जाए उसका उद्देश्य जहां एक ओर उत्पादन बढ़ाना हो वहां दूसरी ओर धिकाधिक संख्या में लोगों को रोजगार देना भी होना चाहिए। जिन देशों में कों की भरमार हो तथा मजदूरी-दर नीची हो, और पूंजी दुर्लभ तथा

. O. : Higher Productivity in Manufacturing ries].

महार्घ हो, वहां वैज्ञानिकन की घुसपैठ ठीक न होगी। संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा जैसे देशों में पूंजी-बहुल तथा परिश्रम-बचतवाली कार्यप्रणालियां ठीक हो सकती हैं। कम-उन्नत देशों में, जहां पूंजी की कमी और श्रमिकों की भरमार है, वहां प्रति कामगार पीछे उत्पादन बढ़ाने की अपेक्षा प्रति मशीन अथवा प्रति एकड़ भूमि पीछे उत्पादन बढ़ाना ही ठीक होगा।

जब १९५३ में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ उत्पादिता दल भारत में आया था तब उसने ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है, ठीक वही करके दिखा दिया था। उसने विद्यमान मशीनों के बेहतर अनुरक्षण और बेहतर प्रयोग से उत्पादिता तथा उत्पादन दोनों बढ़ा दिये थे; और स्पष्ट दिखा दिया था कि एक भी मजदूर की छटनी किये बिना तथा एक भी मशीन के स्थान में नयी मशीन लगाये बिना उत्पादन तथा उत्पादिता बढ़ सकती है।

एक अन्य प्रकरण* में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने १९५३ में कहा था कि पूंजीगत साज-सामान में वृद्धि या प्राकृतिक साधनों के रिक्तीकरण द्वारा यह सदा संभव है कि श्रम की उत्पादिता बढ़ जाती है। किंतु ये तरीके अनुपूरक साधनों पर निर्भर होते हैं और प्रत्येक प्रकार के उत्पादन (output) तथा आदान (input) की दृष्टि से, उनसे उत्पादन घटने की ही आशंका रहती है। कम उन्नत देशों में ये तरीके अत्यंत भयावह हो सकते हैं। वहां श्रम-उत्पादिता बढ़ते हुए भी सामान्य उत्पादिता घट सकती है और जनता के कल्याण-कार्यों में घुन लग सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने १९५३ में एशियाई प्रदेश पर जो विशेष प्रतिवेदन एशियाई प्रादेशिक सम्मेलन को समर्पित किया था उसमें उसने लिखा था कि जो कुछ अतिरिक्त साज-सामान बनाया जाएगा उससे वर्तमान बेशी श्रमिकों को काफी बड़ी संख्या में काम में जुटाना होगा। इन परिस्थितियों में, वर्तमान उत्पादक इकाइयों की उत्पादिता सबसे पहले बढ़ानी होगी। यह काम आरंभिक चरणों में, मुख्यतः उन तरीकों से किया जाना चाहिए जिन पर स्वल्प पूंजी या न-बराबर पूंजी लगती हो।

संयुक्त राष्ट्र का भी यही अभिमत† है कि जहां की अर्थव्यवस्था देश की आवश्यकता से अधिक जनसंख्या के भार से दबी जा रही है वहां मेहनत बचाने वाली प्रविधियों से अधिक लाभ नहीं उठाया जा सकता है। वहां तो उन प्रविधियों की खोजबीन होनी चाहिए जिससे प्रति एकड़ भूमि की पैदावार

---

* World Labour Report (1953).

† U. N. O. : Measures for the Economic Development of Under-developed Countries.

बढ़ सके या थोड़ी पूंजी लगाने से द्वितीय पंक्ति के उद्योगों में रोजगारों की संख्या अधिक की जा सके।

निदान, अर्धोन्नत देशों में वैज्ञानिकन की समस्याएं प्रगतिशील औद्योगिक देशों से भिन्न हैं। इसलिए इन कम-उन्नत देशों में वैज्ञानिकन के जो "अल्प प्रभावशाली कार्य" किये जाएं उनमें निम्नांकित बातें सम्मिलित होनी चाहिए :

(१) वर्तमान मशीनों के उत्पादन में वृद्धि;
(२) नौकरियों की संख्या में वृद्धि; तथा
(३) अधिक नौकरियों और औद्योगिक गतिविधि के विस्तार द्वारा अधिक उत्पादन के उद्देश्य से उपलब्ध किये जाने वाले पूंजीगत साधनों का उपयोग जिससे बेशी श्रमिकों को काम-धंधों में लगाया जा सके। एकाध अंचल में तनक सुधार करने से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता है।

ध्यान रहे कि अर्द्धोन्नत देशों में आर्थिक गतिविधियां बढ़ाने के साथ ही उत्पादिता में भी वृद्धि की जा सकती है।

योजना आयोग (Planning Commission) *का मत*—भारत के सरकारी निकायों ने समय-समय पर इस प्रश्न पर विचार किया है कि क्या इस देश में वैज्ञानिकन को स्थान मिल सकता है। स्वाधीनता के बाद, मालिकों के संगठनों से इस आशय की शिकायतें आये दिन मिलती रही हैं कि वैज्ञानिकन के विभिन्न स्वरूपों के प्रति मजदूरों का प्रतिरोध इतना बढ़ गया है कि यहां उसकी कल्पना करना असंभव हो गया है। इन शिकायतों पर केंद्रीय उद्योग एवं श्रम परामर्शदात्री परिषद (Central Advisory Council of Industries and Labour) तथा उसके अधीनवर्ती संगठनों में प्रायः यहां तक विचार-विनिमय किया कि संयुक्त परामर्शदाता मंडल (Joint Consultative Board) की संस्थापना करनी पड़ी। इन विचार-विनिमयों के कारण १९५१ में जो मतैक्य हुआ उसके आधार पर उसके बारे में, पहली पंचवर्षीय योजना के लिए, सिफारिशें की गयीं।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में दिन पर दिन बढ़ती हुई बेरोजगारी पर ध्यान दिया गया है, जिससे मजदूरों की मनोवृत्ति पर वैज्ञानिकन की चर्चा का बुरा प्रभाव पड़ता है। फिर भी यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता है कि वर्तमान उत्पादन-तकनीक की क्षमता एक निश्चित बिंदु पर स्थिर कर देना सामान्यतः विकासाभिमुख अर्थतंत्र के लिए अच्छा नहीं होगा। इसलिए वैज्ञानिकन को अपनाने की कोशिश की जानी चाहिए; किंतु यह ऐसे अनुकूल समय पर होनी चाहिए कि उससे बेरोजगारी को किसी प्रकार का बढ़ावा न मिल सके। इसके

अतिरिक्त वैज्ञानिकन को कामगारों के संगठनों का आशीर्वाद भी प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकरण में एक बात और कहना आवश्यक है कि वैज्ञानिकन का समावेश तभी होना चाहिए जबकि मजदूरों की कार्यावस्थाओं में सुधार हो जाए; और इसकी गारंटी दी जा सके कि उससे भविष्य में जो लाभ होगा उसका पर्याप्त अंश मजदूरों को भी मिलेगा।

वैज्ञानिकन के अवसर—कामगार-वर्ग को भय है कि वैज्ञानिकन से श्रम की स्थिति बिगड़ जाएगी। इस कारण वह उसका विरोध करता है। योजना आयोग ने संघर्षकारी पक्षों में समझौता कराने तथा कुछ क्षेमोपायों द्वारा वैज्ञानिकन के मार्ग को प्रशस्त कराने की संभावनाओं पर प्रकाश डाला है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में ये क्षेमोपाय निम्न हैं :

(१) कच्चे माल, पूंजी बाजार की अवस्था, पूंजीगत माल की उपलब्धि, और औद्योगिक-उत्पादन की मांग को ध्यान में रखकर, जहां कहीं औद्योगिक अवस्थाएं अनुकूल हों वहां नयी मशीनें लगायी जाएं।

(२) प्रबंध-वर्ग और श्रम-वर्ग द्वारा चुने गये विशेषज्ञ जो प्रविधिक जांच करें उसके आधार पर कामगारों की संख्या और कार्य-भार निश्चित होना चाहिए। इसके साथ ही, कार्यावस्थाओं का एक मानदंड स्थिर होना चाहिए। मानदंड लागू करने से पहले, एक निश्चित अवधि तक नयी मशीनों का परीक्षण भी होना चाहिए।

(३) जहां कहीं वैज्ञानिकन को लागू करने का विचार हो रहा हो वहां नयी भरती बंद कर देनी चाहिए; तथा कामगारों की मृत्यु और अवकाश ग्रहण करने से जो स्थान रिक्त हों उनको न भरना चाहिए।

(४) जहां कहीं संभव हो वहां बेशी कामगारों को अन्य विभागों में काम दे दिया जाए और उनकी सेवा का तार न टूटने पाये तथा यथासंभव उनके वेतन में भी कमी न की जाए।

(५) कामगारों को स्वेच्छापूर्वक अवकाश ग्रहण करने के लिए अनुग्रह-धन का प्रलोभन देना चाहिए।

(६) जिन लोगों को हाल में नौकरी दी गयी है उनमें ही छटनी की जानी चाहिए।

(७) जहां व्यवस्था-पक्ष और श्रमिक आपस में राजी हों, वहां सात दिन प्रति सप्ताह काम करने की पद्धति अस्थायी तौर पर अपनायी जा सकती है।

(८) वैज्ञानिकन के कारण जहां कामगारों को नौकरी से हाथ धोना पड़ा हो वहां उनको अन्य काम-धंधे के लिए फिर से प्रशिक्षण की सुविधाएं

मिलनी चाहिए। यह प्रशिक्षण-अवधि नव मास तक की हो सकती है। सरकार, मालिकों और कामगारों को मिलकर प्रशिक्षण-योजना बनानी चाहिए।

(९) प्रशिक्षण-काल में कामगार के भरण-पोषण का दायित्व प्रबंध-पक्ष पर होना चाहिए। प्रशिक्षण का व्यय सरकार को उठाना चाहिए।

(१०) सरकार ने जिन विभिन्न परियोजनाओं को चालू किया है उनमें बेशी श्रम को काम देने की संभावनाओं पर पूरा ध्यान देना चाहिए।

(११) कामगारों को ऊंचा वेतन देकर तथा उनके जीवन-स्तर को बेहतर बनाकर, उन्हें वैज्ञानिकन के लाभ में भागीदार बनाना चाहिए और इस प्रकार उन्हें बढ़ावा देना चाहिए। जहां कामगारों के अतिरिक्त प्रयत्नों से लाभ हो वहां उन्हें अधिग्रहीत लाभ में भाग मिलना चाहिए—इस दशा में, जहां वेतन निर्वाह के स्तर से नीचा हो वहां तो उक्त लाभ का अधिकांश उन्हीं को देना चाहिए। जहां प्रबंध-पक्ष का कुछ पूंजीगत विनियोग हो वहां कामगारों का उक्त लाभांश नियत करते समय उसका ध्यान रखना चाहिए। इस सबका ध्येय यही है कि वैज्ञानिकन के जरिए, कामगारों को निर्वाह-योग्य वेतन प्राप्त करने की प्रक्रिया में सुविधाएं उपलब्ध की जाएं।

कामगारों के संगठनों ने इस आशय की कितनी ही शिकायतें भेजी हैं कि अनेक मालिकों ने योजना आयोग की उक्त सिफारिशों का उल्लंघन किया है। कामगारों के एक प्रमुख केंद्रीय संगठन का कहना है कि मालिक वैज्ञानिकन की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए छटनी करने लगे हैं जो योजना आयोग की परियोजना की भावना के प्रतिकूल कार्य हैं। मालिकों और कामगारों ने उक्त परियोजना का अर्थ अपने-अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए भिन्न-भिन्न लगाया है।

यद्यपि आयोग के उक्त प्रस्तावों की भावना छटनी के विरुद्ध है फिर भी उनकी भाषा प्रायः मालिकों के पक्ष में बोलती प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए, एक क्षेमोपाय में कहा गया है कि बेशी श्रमिकों को जहां तक संभव हो उनकी सेवा का तार टूटे बिना अन्य विभागों में काम दे देना चाहिए और यथासंभव उनका वेतन कम न होना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि मालिक के लिए यह कहने का द्वार खुला पड़ा है कि जब समान शर्तों पर नौकरी चालू रखने की सभी संभावनाएं समाप्त हो गयीं तभी उन्हें कामगारों की छटनी करनी पड़ी और फिर उनके सामने इसके सिवा और क्या चारा था कि छटनी वाले कामगार को अन्य काम कम वेतन पर दे दिया जाए।

सरकार विवादों के निपटारे के लिए सदा चिंतित रहती है और इस कारण वह प्रायः ऐसे काम चलाऊ समझौतों पर ही संतोष कर बैठती है जो दैनिकचर्या की कठिनाइयों के सामने अधिक नहीं टिक सकते हैं। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि मालिकों और कामगारों के संविदे इतने स्पष्ट और सुलझे हुए होने चाहिए कि विभिन्न पक्ष उनका भिन्न-भिन्न अर्थ न लगा सकें।

इसके अतिरिक्त, योजना आयोग ने जो क्षेमोपाय बताये हैं उनमें कुछ भारत की वर्तमान अवस्थाओं में सरलता से कार्यान्वित नहीं किये जा सकते। उदाहरण के लिए, प्रबंध और श्रमिक पक्षों द्वारा चुने गये विशेषज्ञों ने जो प्राविधिक जांच-पड़ताल की थी उसके आधार पर यह सुझाव दिया गया था कि एक श्रमिक के कार्य की मात्रा निश्चित कर देनी चाहिए। समय और गति के आधार पर वैज्ञानिक कार्यभार की सीमा निर्धारित करने का कार्य बहुत उलझनपूर्ण है। औद्योगिक दृष्टि से समुन्नत देशों में, जहां श्रमिक और प्रबंध पक्ष इस कार्य के लिए अपने-अपने विशेषज्ञ नियुक्त कर सकते हैं वहां इस कार्य से लाभ प्राप्त हुआ है। किंतु भारत जैसे देश में मजदूर संघों से उक्त प्रकार के विशेषज्ञों की नियुक्ति की आशा करना उनकी वर्तमान स्थिति की अवहेलना करना होगा।

योजना आयोग के कुछ सुझावों में बेशी श्रमिकों के लिए बदले के काम-धंधों का प्रयोग किया गया है। यद्यपि वैज्ञानिकन के विषय पर जो पुस्तकें और लघुपुस्तिकाएं प्राप्य हैं उनमें इस सिफारिश का जोरदार शब्दों में उल्लेख किया गया है। यह सिफारिश उनकी अवस्था को देखते हुए पश्चिमी देशों में उपयोगी भले ही हो किंतु भारत जैसे देश में जहां श्रमिकों में एक जगह से दूसरी जगह चले जाने की क्षमता ही संभव नहीं है। छोटे नगरों की कौन कहे, जो श्रमिक देश के भीतरी प्रदेशों से आकर कलकत्ता और बंबई में पड़े हुए हैं, अवसर मिलने पर वे भी वहां से दूसरे स्थानों को जाने में आनाकानी करते हैं। वे अपने आवासों को सहज में नहीं त्यागना चाहते। इसके अलावा, यदि कोई कामगार किसी कार्य में यत्किंचित् दक्ष नहीं है और यदि वह जहां जाएं वहां सफलतापूर्वक काम करने का आत्मविश्वास नहीं रखता है तो उसे अपना व्यवसाय बदलने के लिए कैसे फुसलाया जा सकता है? ऐसा करने से, उसने पहले से जो यत्किंचित् दक्षता प्राप्त कर रखी है केवल वही बरबाद न होगी बल्कि उस नये प्रकार के कार्य को छूने तक में उसका कलेजा कांपने लगेगा जिसकी सफलता अभी संदिग्ध और जिसका मार्ग कांटों से भरा पड़ा है।

जुलाई १९५७ में भारतीय श्रम-सम्मेलन ने आयोजित अर्थतंत्र की पेचीदगियों की दृष्टि से वैज्ञानिकन के प्रश्न पर गौर किया था। इस सम्मेलन ने यह बात मान ली थी कि सरकार वैज्ञानिकन के उन उपायों में हाथ न डाले

जिनसे देश की विद्यमान अवस्थाओं में वास्तविक आर्थिक हितों के परिपोषण की संभावना नहीं है। सरकार यह नीति उन दोनों क्षेत्रों में बरतेगी अर्थात् जहां वैज्ञानिकन की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई है और जहां वैज्ञानिकन के नये उपायों के सूत्रपात पर सोच-विचार किया जा रहा है।

वैज्ञानिकन मालिकों तथा कामगारों, दोनों की राजी से होना चाहिए। यदि इन दोनों पक्षों में मतैक्य संभव न हो तो वैज्ञानिकन के जिन सिद्धातों को उक्त सम्मेलन ने स्वीकार कर लिया है उनके आधार पर विवाचन या न्यायिक निर्णय करवाना अभीष्ट है। इस सम्मेलन ने वैज्ञानिकन की किसी भी योजना के लिए निम्नांकित बातें अनिवार्य मानी थीं :

(१) वर्तमान कर्मचारियों में किसी की छटनी न होनी चाहिए और न उनकी कमाई में कोई कमी आनी चाहिए;

(२) वैज्ञानिकन से जो लाभ हो उसका समाज, कामगारों तथा मालिकों में उचित वितरण होना चाहिए;

(३) विशेषज्ञ कार्य-भार का उचित निदान करें और यह विभिन्न पक्षों की सहमति से होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, कार्यावस्थाओं में भी उचित सुधार होना चाहिए।

इसका मतलब यह नहीं है कि बेशी श्रमिकों को न बनाये रखा जाए और न उन्हें बदले के काम में लगाया जाए। किंतु इसका अर्थ यह है कि यह कार्य-प्रणाली स्वेच्छापूर्वक नहीं चल सकती है, चाहे दोनों पक्षों में सहमति भले ही विद्यमान हो।

अतएव, इस प्रकार के जटिल किंतु महत्त्वपूर्ण काम के लिए समुचित कानून बनाकर तथा समुचित प्रशासकीय व्यवस्था करके राज्य को स्वयं इसका दायित्व उठाना चाहिए।

क्या कदम उठाया जाए

नया ढंग — वैज्ञानिकन की आर्थिक और प्रविधिक आवश्यकता तथा सामाजिक स्थिति के बीच जो संघर्ष चल रहा है उसने भारत में वैज्ञानिकन की गति मंद कर दी है; तथा किन्हीं-किन्हीं अवस्थाओं में वैज्ञानिकन स्थगित करने के लिए लाचार कर दिया है। वैज्ञानिकन के विषय में भारत को स्वयं अपनी नीति निर्धारित करनी होगी। दूसरे देशों का अनुभव इस दिशा में सोलहो आने उसका ठोस पथ-प्रदर्शन करने में विफल होगा। अब तक भारत के लिए कोई हू-ब-हू उदाहरण नहीं है। कदाचित् रूस को छोड़कर, ऐसा कोई देश नहीं है जिसकी जन-संख्या विशाल हो और बेरोजगारी बेहद सिर उठा रही

हो, फिर भी उसने ऐसे बड़े पैमाने पर तथा ऐसी तेजी से, जैसीकि भारत की इच्छा है, अपने यहां आधुनिक विशाल औद्योगिक राज्य बनाने की कोशिश की है।

भारत और रूस की राजनीतिक व्यवस्थाओं में आकाश और पाताल का अंतर होने के कारण, सोवियत संघ का अनुभव इस देश के लिए क्या लाभकारी हो सकता है ? रूस की निर्विरोध शासनप्रणाली में जिस दो-टूक तरीके से काम किया जाता है वह भारत की सेवा-व्यवस्था में संभव नहीं। इसलिए यहां उस प्रकार की सफलता की आशा करना भी एक दुःस्वप्न होगा। भारत में प्रगति का दारमदार कुछ मुट्ठीभर लोगों के इंगित पर नहीं बल्कि अनेक लोगों की सहमति पर निर्भर है। उस सहमति का अनुसरण और कार्यान्विय एक ढंग से करना चाहिए।

वैज्ञानिकन का विषय दूसरी पंचवर्षीय योजना की सफलता के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह ठीक ही है कि इस योजना में देश के उद्योगीकरण पर बल दिया गया है जबकि पहली पंचवर्षीय योजना में खेतीबारी को अधिक बढ़ावा दिया गया था। पहली पंचवर्षीय योजना की अवधि में जो उत्साहवर्धक फल प्राप्त हुआ था उसका कारण यह था कि प्रविधिक तरीकों का प्रयोग किया गया तथा भूमि को अनुपस्थित भूमिपतियों अथवा महाजनों के हाथ से लेकर उसे उसके जोतनेवाले किसानों को दे दिया गया। इस प्रकार के भूमि सुधार से एक अनुकूल वातावरण उत्पन्न हो गया। इसके अतिरिक्त सदुद्देश्य और दृढ़ता से नयी स्फूर्ति पैदा हुई। वही भावना और अध्यवसाय दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत औद्योगिक क्षेत्र में सफलता के लिए नयी शक्ति को जन्म देगी।

यदि भारत तेजी से उद्योगीकरण करके आर्थिक स्वाधीनता और प्रमुखता पाना चाहता है तो उसको इतनी औद्योगिक क्षमता बढ़ानी होगी कि वह संसार के बाजारों में अपना तैयार माल भेज सके। इस उद्देश्य को पूरा करते समय उसे यह भी देखना होगा कि इससे उसका भीतरी अर्थतंत्र बिगड़ने न पाये और जनता में व्यापक असंतोष पैदा न हो।

देश की जनशक्ति और भौतिक साधनों के अधिकाधिक प्रयोग द्वारा उसकी श्रीवृद्धि करने के लिए सहानुभूतिपूर्ण किंतु सुदृढ़ कार्यवाही की आवश्यकता होगी ताकि उससे यथासंभव उत्तम फल प्राप्त हो सके और मालिक श्रमिक-वर्ग का शोषण-दोहन न कर सकें। यदि कामगार जी तोड़कर परिश्रम करने में जुट जाते हैं तथा देश का उत्पादन पर्याप्त मात्रा में बढ़ाने में सफल होते हैं; और यदि मालिक लाभ का एक बड़ा भाग कामगारों को देकर उनके जीवन को सुखी और समुन्नत बनाने का प्रयास करते हैं तो इसका परिणाम यह होगा

कि देश की आर्थिक शक्ति ही नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा और पदवी भी बढ़ जाएगी।

सरकार का निर्देशन — एक बड़े पैमाने पर कार्यवाही करने से पहले, जिससे कहीं श्रमिक और प्रबंधक वर्गों के बीच कोई बुनियादी संघर्ष पैदा न हो जाए, सरकार को चाहिए कि वह अपनी नीति निर्धारित करने तथा उसको कार्यपरिणत करने के संबंध में अपनी बानगी प्रस्तुत करे। यह बात दूसरों को देखने-सुनने में बड़ी बेतुकी और ओछी जान पड़ेगी; किंतु इस देश में उसका महत्त्व कम नहीं आंकना चाहिए क्योंकि यहां श्रमिक-वर्ग और प्रबंधक-वर्ग दोनों ही पहल के लिए सरकार का मुंह ताकते आये हैं। आयोजन की आवश्यकता ने उनकी इस परंपरा को और भी मजबूत बना दिया है। दूसरी पंचवर्षीय योजना तथा समाजवादी ढांचे के समाज की रचना के सिद्धांत के अंतर्गत दोनों वर्गों की राज्य का मुखापेक्षी रहने की प्रवृत्ति को और भी बढ़ावा मिलेगा।

इसलिए, चाहे वह केंद्रीय सरकार हो या राज्य सरकारें, सबको एक निश्चित मार्ग पर चलना चाहिए। सबको एकता और अनुशासन का दृष्टांत प्रस्तुत करना चाहिए। सरकार को एक सुस्पष्ट और ग्राह्य नीति निर्धारित करनी चाहिए ताकि उसमें भ्रम की गुंजाइश न हो और उसके मनमाने अर्थ न लगाये जा सकें। सबसे आवश्यक यह है कि सरकार के विभिन्न अंचलों में किसी समस्या पर बोलते समय एक ही दृष्टिकोण का परिशीलन करना चाहिए। इसकी उपादेयता तब और भी बढ़ जाती है जबकि उस समस्या से विभिन्न हितों का संबंध होता है।

मजदूर संघों की एकता — वैज्ञानिकन की सफलता के लिए एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मजदूर संघ आंदोलन में एकता का अंकुर उचित रहना चाहिए। यहां मजदूरों की कितनी ही स्वतंत्र यूनियनें (संघ) हैं जिनकी निष्ठा किसी केंद्रीय संगठन से बंधी हुई नहीं है। किंबहुना, स्वयं केंद्रीय संगठनों की संख्या भी चार है जिनके देश के भिन्न-भिन्न भागों में अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र हैं। कुछ केंद्रीय संगठन और कितने ही संघ कमजोर हैं और उनका ढांचा शिथिल है। उनकी सदस्य-संख्या का दावा अत्युक्तिपूर्ण, और उनकी वित्तीय स्थिति डांवाडोल है। इन कारणों से वे कोई वैज्ञानिक अध्ययन और परीक्षण करने में असमर्थ हैं। उनके अनुयायियों में कितना अनुशासन हो सकता है, यह सोचा जा सकता है। इसीलिए वे समय-समय पर कोई-न-कोई ऐसी हलचल छेड़ते रहते हैं जिससे प्रतिस्पर्धा संघों के ऊपर उनकी धाक जमी रहे नहीं तो उनका अपना अस्तित्व मिट जाने का खतरा पैदा हो जाता है। यहां मजदूर संघों में जो आपसी प्रतिस्पर्धा चलती रहती है तथा उनमें झूठे वायदे करने की जो होड़-सी चल पड़ी है उसके कारण आजकल कितनी

ही उलझनें पैदा हो गयी हैं जिनका श्रमिकों के हितों पर दुष्प्रभाव पड़ता है। ये दोष तभी दूर हो सकते हैं जबकि स्वयं श्रमिक-वर्ग के बीच में निःस्वार्थ-भाव और लगन से सेवा करनेवाले मजदूर पैदा होने लगें।

इस देश में मजदूर संघों की दृढ़ता के लिए एक सुधार की आवश्यकता है। यह सुधार उनकी सामयिक पैंतरेबाजी तथा भावुकता की अपेक्षा आंतरिक संघठनात्मक शक्ति पर कहीं अधिक निर्भर है। यह सुधार क्या है? सब संबंधित व्यक्तियों को यह मान लेना चाहिए कि प्रत्येक इकाई के लिए एक मजदूर संघ होना चाहिए और एक क्षेत्र में प्रत्येक उद्योग के लिए एक संघ या संधान (फेडरेशन) बनना चाहिए जिसे वहां श्रमिकों की ओर से बोलने का अन्यापवर्जी पूर्ण अधिकार प्राप्त हो।

केंद्रीय नियंत्रण मंडल—न्याय और समुचित वैज्ञानिकन के कार्यान्विय के बारे में निम्नांकित बातों को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक होगा :

(१) उद्योगों की चालू कार्यावस्थाओं को ध्यान में रखकर समुचित कार्य-भार निश्चित करना तथा अपेक्षाकृत अधपेटे कामगारों की शक्ति को जानना ताकि अधिक कार्यभार उठानेवाले को पर्याप्त हानिपूर्ति मिलती रहे;

(२) देखभाल करके इस बात को पूरी तरह ध्यान रखना कि जितनी नयी मशीनें लाने की स्वीकृति दी गयी है उससे अधिक मशीनें न लायी जाएं;

(३) वैज्ञानिकन की यह पहली शर्त है कि बेशी कामगारों को बदले के काम में लगाया जाए। या तो उन्हें नयी यूनिटों में लगा दिया जाए या विद्यमान यूनिटों में जो स्थान रिक्त हों उनमें नियुक्त कर दिया जाए;

(४) विभिन्न यूनिटों का सामयिक निरीक्षण होना चाहिए जिससे यह देखा जा सके कि मशीनों की देखभाल भलीभांति की जाती है या नहीं; कहीं उनकी उपेक्षा तो नहीं की जा रही है;

(५) समय रहते, सुधार करने की दिशा में कदम उठाया जा सके;

(६) कुप्रबंधग्रस्त यूनिटों का प्रशासन अपने हाथ में लेना।

उक्त उत्तरदायित्व एक उच्च अधिकार प्राप्त स्वतंत्र तथा अधिकृत अभिकरण को सौंपा जा सकता है जिस पर किसी प्रकार का कोई विशेष राजनीतिक दबाव न हो और जिस पर निहित स्वार्थों का प्रभाव न पड़ सके। १९४० में नियुक्त बंबई सूती कपड़ा मजदूर जांच समिति ने सुझाव दिया था कि

वैज्ञानिकन की योजना की जांच-पड़ताल तथा स्वीकृति के लिए कामगारों और सेवायोजकों के विशेषज्ञों और प्रतिनिधियों की एक वैज्ञानिकन समिति (Rationlization Committee) स्थापित की जाए। सूती कपड़ा उद्योग के समुपयोजन दल (१९५२) ने प्रबंध-पक्ष और श्रम-पक्ष द्वारा स्वीकृत विशेषज्ञों की एक नामावली रखने का सुझाव दिया था जिसमें से विशेषज्ञों की एक तदर्थ समिति निर्धारित समस्याओं के अध्ययन के लिए नियुक्त की जा सके। यद्यपि इस प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता प्रत्येक स्तर पर पड़ सकती है फिर भी कोई बड़ा कदम उठाने के लिए केवल उससे काम न चल सकेगा।

इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए वह शक्ति पर्याप्त नहीं है जो उद्योग (विकास तथा नियमन) अधिनियम [Industries (Development and Regulation) Act] द्वारा प्रदान की गयी है और न उसके द्वारा बनाये-गये अभिकरण ही पर्याप्त सक्षम हैं। यह कहना ही होगा कि यद्यपि केंद्रीय सरकार विधि-विहित तथा अन्य प्रकार की नीति निर्धारित करने के लिए ठीक है फिर भी उस नीति के दैनिक कार्यान्विय में सफलता के लिए उसका मुंह ताकना ठीक नहीं होगा। उक्त अधिनियम के अंतर्गत जिस केंद्रीय सलाहकार परिषद (Central Advisory Council) तथा विकास परिषदों (Development Councils) की व्यवस्था की गयी है वे प्रायः परामर्श दाता का ही काम करती हैं। ये भारी-भरकम परिषदें किसी भी प्रकार से उस नीति को कार्यान्विय कराने में सफल नहीं हो सकतीं जिसके दूरगामी परिणाम निकालना अवश्यंभावी हैं। यदि कोई शासी निकाय लगन से काम करना चाहता है और विभिन्न समस्याओं को निपटाने के लिए आवश्यक निर्णय करना चाहता है तो उसका आकार-प्रकार छोटा होना चाहिए।

इसलिए उन सब उद्योगों के लिए एक केंद्रीय नियंत्रण मंडल (Central Control Board) की स्थापना करना चाहिए जिनमें वैज्ञानिकन तथा अन्य कार्यवाही करना अभीष्ट है। इस नियंत्रण मंडल के अधिकारों और कर्त्तव्यों को विधि-विधान द्वारा निर्धारित कर देना चाहिए तथा संबंधित अधिनियम में स्पष्टतः उल्लिखित परिस्थितियों को छोड़कर उसके कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना वर्जित होना चाहिए।

केंद्रीय नियंत्रण मंडल को विशेषज्ञ समितियां नियुक्त करनी होंगी जो कार्यभार, अतिरिक्त देय वेतन, भुगतान की उत्साहवर्धक पद्धतियों, यंत्रों तथा साज-सामान के प्रविधिक सर्वेक्षण तथा बेशी श्रमिकों को काम देने की परि-योजनाओं जैसी महत्त्वपूर्ण समस्याओं की जांच-पड़ताल करें।

पर्याप्त कार्यभार—यह कहां संभव है जबकि देश में विकास का काम तेजी

आवश्यक होंगी ? यह देखना होगा कि बिजली, मशीनों, कच्चे माल तथा खपत की कमी से काम बंद न होना चाहिए; मशीनें और कच्चा माल बढ़िया होना चाहिए; तथा उनका अनुरक्षण भी अच्छे ढंग से करना चाहिए; और उत्पादन के मार्ग में कोई अड़चन न आनी चाहिए। शिकायतें दूर करने के लिए आवश्यक व्यवस्था करनी होगी। उपस्थिति के आधार पर भी मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी का प्रबंध करना होगा। ठीक है कि यह वेतन बहुत ऊंचा नहीं हो सकता। अनिच्छापूर्वक अथवा लाचारी से निठल्ले बैठने की हानि-पूर्ति भी देनी पड़ेगी। उत्पादन के आधार पर अधिलाभांश (बोनस) वितरण करने की एक उचित पद्धति निकालनी होगी। यह बोनस प्रत्येक वेतन अवधि के अंत में दिया जा सकता है।

प्रबंध-व्यवस्था की देखभाल—यह पहले कहा जा चुका है कि प्रबंध-संबंधी दायित्वों का पूर्ण निबाह न होने के कारण कितनी ही बुराइयां सिर उठाने लगीं हैं। अभी हाल में जांच-पड़ताल करने से पता चला था कि यंत्रों की बुरी तरह से उपेक्षा की जाती रही है। प्रकाश, तापमान, नमी, धूल, गंदगी, संकीर्ण स्थान आदि के बारे में तीव्र आलोचनाएं सुनने में आती रही हैं। इन सब बातों का उद्योगों की कार्यावस्थाओं पर सीधा प्रभाव पड़ता है। यदि लापरवाही से नये यंत्र टूट-फूट जाते हैं तो यह राष्ट्र की क्षति समझनी चाहिए।

बंबई और अहमदाबाद मिल-मालिक संघ का कहना* है कि योजना आयोग के आंकड़ों के अनुसार देश की ४५७ मिलों में १५० मिलें आर्थिक दृष्टि से भारस्वरूप हैं। यह निःसंदेह एक विचारणीय विषय है जिसकी जांच-पड़ताल होनी चाहिए। इनमें कितनी मिलें व्यवस्थापकों की उपेक्षा तथा अयोग्यता से अपनी वर्तमान बुरी दशा में पड़ गयी हैं, यह देखना चाहिए। निःसंशय कोई भी मिल टटपूंजिया-रूप में चालू नहीं होती है। यदि फिर भी वह समय की अनुकूलता के बावजूद एक ना-कमाऊ उद्योग बन जाती है तो इसके लिए प्रबंध व्यवस्था को ही उत्तरदायी ठहराना चाहिए।

जिस केंद्रीय नियंत्रण मंडल का उल्लेख पहले हो चुका है उसे यूनिटों का समुचित निरीक्षण करने तथा उनके दोषों और कमियों को दूर करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। योग्य प्रविधिक कर्मचारीवर्ग उक्त यूनिटों का निरीक्षण समय-समय पर करता रहे ताकि नियंत्रण-मंडल यह जान सके कि विभिन्न संयत्रों और कारखानों की अवस्था कैसी है। जब संयंत्र इतनी बुरी तरह टूट-फूट गये हों कि उनकी मरम्मत ही संभव नहीं है, तब उनका निरीक्षण करने से क्या भला होगा ?

---

*दे.—फैक्ट्स एबाउट दि मिल इंडस्ट्री

उद्योगों की असह्य कार्यावस्थाओं के बिरुद्ध जो शिकायतें आयी हैं उनमें बहुतों का उल्लेख अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के उत्पादिता दल के प्रतिवेदन में किया गया है। प्रत्यक्ष है कि या तो फैक्टरी अधिनियम का अंतवर्ती प्रशासन दोषपूर्ण है या उसके अनुबंधों में ऐसी पर्याप्त व्यवस्था नहीं है जो कामगारों के लिए उचित कार्यावस्थाओं का प्रबंध करवा सके। इसलिए नियंत्रण मंडल को यह भी काम सौंपना होगा कि वह इस उद्देश्य के लिए समय-समय पर उद्योगों का निरीक्षण करता रहे, विशेषकर उन उद्योगों का जहां से इस आशय की शिकायतें आयी हों

नयी मशीनें लगाना—जब पुरानी मशीनें काम लायक न रहें या निकम्मी हो जाएं तब उनकी जगह नयी मशीनें लगाना आवश्यक होता है। इस जगह यह बात सोचने के योग्य है कि क्या वर्तमान मशीनें काम लायक नहीं रही हैं? या नयी मशीनें मंगवाकर केवल धन का दुरुपयोग किया जा रहा है? यदि संबंधित उद्योग की प्रतिनिध्यात्मक यूनियन (संघ) तथा प्रबंधकवर्ग में इस विषय पर मतभेद हो तो केंद्रीय नियंत्रण मंडल को आवश्यक प्रविधिक सर्वेक्षण करके उसके बारे में निर्णय देने का अधिकार होना चाहिए। निदान बिना नियंत्रण मंडल की अनुमति के एक निश्चित धनराशि से अधिक की मशीनें आयात करने की आज्ञा न दी जानी चाहिए।

स्वचालित यंत्र और मेहनत-बचानेवाली युक्ति—स्वचालित यंत्रों (मशीनों) को लगाने तथा मेहनत बचानेवाली युक्तियों को काम में लाने की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यह उचित न होगा कि स्वचालित (automatic) मशीनों के लगाने पर कठोर प्रतिबंध लगा दिया जाए। यह ठीक है कि उक्त प्रकार की मशीनों पर अधिक कठोर नियंत्रण रखना आवश्यक है। यदि चालू मशीनें पुरानी पड़ गयी और घिस गयी हों तो स्वचालित मशीनों को लगाया जा सकता है क्योंकि ऐसा न करने से तथा अन्य प्रकार की मशीनें लगाने से आधुनिक स्वचालित मशीनों के युग में उद्योग को अपेक्षाकृत लंगड़ा बना देना होगा। यहां पर यह भी संभव है कि बड़ी संख्या में स्वचालित मशीनों के प्रयोग से बेरोजगारी की कठिन समस्या उठ सकती है तथा ऐसी स्थिति में इस प्रकार की मशीनों को कुछ वर्षों की अवधि में फैला कर लगाना होगा यहां तक कि फिलहाल उनका लगाना स्थगित किया जा सकता है। इसलिए स्वचालित मशीनों के लगाने की अनुमति नियंत्रण मंडल (Control Board) द्वारा पूरी जांच करने के बाद ही देनी चाहिए। इससे पहले यह भी आश्वासन मिल जाना चाहिए कि उनके लगाने से कोई बेरोजगारी नहीं फैलेगी।

जो काम हाथों से किये जाते हैं उनके यंत्रीकरण करने का प्रश्न एक भिन्न

चीज है क्योंकि ऐसा करने से काम-धंधों में लोगों को खपाने का क्षेत्र कम हो जाएगा। यदि यंत्रीकरण के बिना किसी महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में उत्पादन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता हो तो उसका प्रयोग केवल अर्थतंत्र को बदलने के लिए उचित न होगा।

छटनी का प्रश्न—वैज्ञानिकन की सभी योजनाओं का प्रभाव कामगारों की संख्या पर पड़ता है। वैज्ञानिकन के अंतर्गत चाहे कार्यभार बढ़ाओ या नयी आधुनिक मशीनें लगाओ, उन सबका परिणाम यही होगा कि पूर्ववर्ती उत्पादन-मात्रा पर पहुंचने के लिए पहले की अपेक्षा कम व्यक्ति लगाने होंगे। इससे विभिन्न पैमाने पर छटनी का प्रश्न सामने आ जाता है। लोग इस छटनी को मामूली, हल्की-फुल्की और तोले में रत्ती बराबर बताने के आदी हो गये हैं। मालिक और उनके संगठन छटनी को एक सामान्य और अस्थायी बेरोजगारी की समस्या का नाम देते हैं ताकि मजदूरों में असंतोष की भावना न बढ़े। वे कहा करते हैं कि इन बेरोजगारों को फिर काम पर बुलाने में अधिक समय न लगेगा। किंतु कामगार बेरोजगारी की समस्या के प्रति कम सतर्क नहीं। वे प्रायः इस प्रकार के बहकावे और फुसलाने में नहीं आते हैं। यदि उत्थापित कामगारों को बदले के काम-धंधों का प्रबंध नहीं हो सकता है तो बेहतर यही है कि किसी प्रकार की नयी योजना को कार्यपरिणत करने की अनुमति ही न दी जाए।

कुटीर उद्योग (Cottage Industries)—राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणों से वैज्ञानिकन का सर्वेक्षण पहले ही हो चुका है; और भारतीय उद्योग में, वैज्ञानिकन पर आधारित तरीकों का प्रयोग कहां तक किया जाना चाहिए, इस विषय पर भी प्रकाश डाला जा चुका है।

यह पहले बताया जा चुका है कि अनुन्नत अर्थतंत्र में वैज्ञानिकन के सूत्रपात में सबसे प्रबल अड़ंगा व्यापक बेरोजगारी तथा स्वल्प कमाई द्वारा उत्पन्न होता है। इस दिशा में घरेलू धंधों तथा छोटे उद्योगों की आवश्यकता पैदा हो जाती है। जिससे आवश्यक संख्या में लोगों के लिए रोजगार के अवसर पैदा हो जाएं। कपड़ा जांच समिति (Textile Enquiry Committee) ने १९५४ में अपने प्रतिवेदन में कहा था कि हथकरघों के उद्योग में कपड़ा मिल उद्योग की अपेक्षा २० गुने लोग काम में लगे हुए हैं। इसलिए बड़े पैमाने के उद्योगों के विस्तार में हिचकिचाहट की आवश्यकता नहीं है तथा इसके साथ ही कुछ क्षेत्रों को घरेलू धंधों तथा छोटे उद्योगों के लिए निधड़क रूप से सुरक्षित रखा जा सकता है। चाहे कोई काम हाथ से किया जाय या यंत्रों से, उसकी मात्रा पर्याप्त होनी चाहिए। जिस प्रकार यदि कोई आदमी अपने सिर पर भार रखकर ले जाता है तो वह भार पर्याप्त मात्रा में होना

चाहिए और उसे पर्याप्त गति से चलना चाहिए—वह इन दोनों में से किसी काम से इन्कार नहीं कर सकता है, उसी प्रकार मशीनों पर काम करने में आवश्यक सुधार से तथा पुरानी पड़ जाने पर उनके स्थान में नयी लगाने से कोई इन्कार नहीं करेगा। दूसरे शब्दों में, चाहे वह मशीनों का काम हो या हाथों का, यदि काम करने की योग्यता और क्षमता को तगड़ा नहीं रखा जाता है तो किसी प्रकार की प्रगति नहीं हो सकती है।

यहां यह बताना आवश्यक होगा कि जापान और जर्मनी में कुटीर उद्योगों में भी बिजली से मशीनें चलती हैं और ये मशीनें आधुनिक मॉडल की होती हैं। इनसे देहाती क्षेत्रों के लाखों आदमियों को काम मिलता है तथा इनके उत्पादन से बड़े उद्योगों का पेटा भरता रहता है। भारत को इन देशों का अनुकरण करके अपने यहां कुटीर उद्योगों का एक जाल बिछा देना चाहिए। सरकार को इन कुटीर उद्योगों के माल को बेचने में सहायता देनी चाहिए। उसे उसके लिए राज्यों के प्रधान नगरों में प्रदर्शनकारी दूकानें खोलनी चाहिए।

सरकार की नीति—कोई भी व्यक्ति इस बारे में निर्णय करने में समर्थ नहीं है कि भारत जैसे देश में, जो कम उन्नत है और जिसमें जनसंख्या की भरमार है, वैज्ञानिकन के विषय में क्या नीति अपनायी जाए।

१९५३ में कांग्रेस महासमिति के अजमेर क्षेत्र में यह संकल्प दोहराया गया था कि कांग्रेस अधिकतम उत्पादन करने, सबको काम-धंधा तथा सामाजिक और आर्थिक न्याय देने को अपना ध्येय मानती है। उसने इस बात पर भी बल दिया था कि उस बेहतर तकनीक से अर्थतंत्र में समृद्धि की जायगी जो आजकल आवश्यक और उपयोगी है किंतु इससे किसी कदर बेरोजगारी में वृद्धि न होने दी जाएगी।

महात्मा गांधी ने अहमदाबाद के कपड़ा उद्योग के कताई विभाग में वैज्ञानिकन के बारे में एक संविदा तैयार किया था। उन्होंने उसमें निम्नांकित तीन सूत्रों का उल्लेख किया था :

(१) वैज्ञानिकन से बेरोजगारी न फैलनी चाहिए;
(२) यदि कोई अतिरिक्त कार्यभार कामगार पर डालना पड़े तो वह इतना अधिक न होना चाहिए कि उसके स्वास्थ्य पर उसका दुष्प्रभाव पड़े; तथा
(३) वैज्ञानिकन के लाभ को मालिकों और मजदूरों के बीच न्यायोचित रूप से बांटना चाहिए।

गत वर्षों में इन सूत्रों का परीक्षण किया जा चुका है। कहना न होगा कि ये परीक्षण सफल रहे हैं। यदि आज भी उनका अनुसरण किया जाय तो कोई कारण नहीं है कि उनसे कामगारों के हितों की उचित रक्षा न हो सके।

अध्याय ५

प्रबंध-व्यवस्था में श्रमिकों का स्थान

श्रमिक-प्रबंधक सहयोग

सहयोग का महत्त्व—एक औद्योगिक कारखाने में श्रमिकों और व्यवस्था-पक्ष के बीच आपसी सद्भावना और सहयोग की कितनी आवश्यकता होती है, इस पर अधिक बल देना व्यर्थ होगा। भारत में तो इसकी बहुत आवश्यकता है क्योंकि इस देश का अर्थतंत्र एक निर्धारित योजना पर टिका हुआ है और यहां कोई भी औद्योगिक बखेड़ा समूचे देश के विकास के मार्ग में रोड़ा बन सकता है। इसलिए, यहां यह प्रश्न उठता है कि श्रमिकों तथा व्यवस्थापकों को कैसे और कहां तक एकजीव किया जा सकता है और उनके हृदयों में एक बिरादरी तथा एक सामान्य लक्ष्य की भावना कैसे उत्पन्न की जा सकती है।

सहयोग के उद्देश्य—कामगारों की क्या आवश्यकताएं हैं? प्रबंधक उनसे क्या चाहते हैं? इस द्वितंत्रीय आधार पर श्रम-प्रबंध पक्षों के सहयोग की दृढ़ स्थापना की जा सकती है। जहां तक प्रबंध-वर्ग की चाह का प्रश्न है, उसे दोटूक शब्दों में यों कहा जा सकता है कि वह न्यूनतम वेतन-भार उठाकर बदले में अधिकतम उत्पादन चाहता है। निःसंदेह वह औद्योगिक शांति को अधिकतम उत्पादन का एक अविच्छिन्न अंग मानता है। इसलिए कामगारों की व्यक्तिगत शारीरिक और मानसिक दशाओं तथा श्रमिक-वर्ग के सामाजिक जीवन पर ध्यान दिये बिना काम नहीं चल सकता है। श्रमिकों और प्रबंधकों के बीच सहयोग बढ़ाने के दो उद्देश्य हैं: पहला उद्देश्य आर्थिक है अर्थात् उत्पादन वृद्धि; और दूसरा उद्देश्य नैतिक तथा मानवीय तत्त्व के महत्त्व को मानना और उसके अनुसार किसी भी कारखाने के काम में कामगारों की अधिक लगन पैदा करने का द्वार खोलना।

ये दोनों उद्देश्य अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि बिना मानवीय दृष्टिकोण के उत्पादन-वृद्धि किसी ऊंचे धरातल पर अधिक समय तक स्थिर नहीं रखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त और कुछ कारण हैं जिससे उक्त दोनों बातों पर समान ध्यान देना आवश्यक है। एक लोक मंगलकारी राज्य (Welfare State) में

प्रत्येक कामगार की प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व का ध्यान रखते हुए उसे सबसे पहले एक मानव मानना होगा। उसे उत्पादन की वर्तमान दैत्याकार जटिल मशीनों का कोरा एक कल-पुर्जा नहीं माना जाएगा। चाहे कोई पूंजीवादी अर्थतंत्र हो, या समाजवादी, दोनों का उद्देश्य उत्पादन में वृद्धि करना है। यदि पूंजीवादी उद्योगों की निगाह सदा अधिक-से-अधिक लाभ कमाने पर रहती है तो समाजवादी उद्योग समाज के हित का अधिक ध्यान रखते हैं, अर्थात् उसका उद्देश्य उत्पादन में लगे हुए कामगारों का शोषण किये बिना ही उत्पादन की लागत घटाने का होता है। इस प्रकार, पूंजीवादी प्रणाली में मानव-तत्त्व का ध्यान रखा जाता है किंतु वहां उसका मुख्य स्वरूप उत्पादन बढ़ाने और अधिक लाभ कमाने के यंत्र के रूप में सामने आता है जबकि समाजवादी प्रणाली में कामगार की संवर्धमान उत्पादन-क्षमता के साथ-साथ उसकी राज्य-के-एक-नागरिक होने की प्रतिष्ठा पर भी आंच नहीं आने दी जाती है।

मानव के व्यवहार को प्रभावित करने वाली बातें—यदि व्यवस्थापक कामगार का सहयोग प्राप्त करना चाहता है तो उसे मानवीय तत्त्व भलीभांति स्वीकार करना पड़ेगा। जिन बातों का मानव के व्यवहार पर प्रायः प्रभाव पड़ता है, वे निम्नांकित हैं :

(१) मनुष्य की आत्मप्रतिष्ठा की भावना, उसका यह विश्वास कि उसे ऐसे बुनियादी मानवीय अधिकार प्राप्त हैं जिनके प्रति आदर-भावना प्रदर्शित की जानी चाहिए।

(२) दूसरों से सम्मान की आवश्यकता।

(३) जीवित रहने की प्राकृतिक इच्छा। इसके लिए इस आश्वासन की आवश्यकता है कि प्रत्येक मनुष्य और उसके परिवार को भोजन, वस्त्र, आवास तथा आधुनिक शिष्ट जीवन के योग्य अन्य उपयोगी चीजें मिलती रहेंगी।

(४) सुरक्षा की अभिलाषा।

(५) सामाजिक नैसर्गिक प्रवृत्तियां।

सहयोग की अन्य शर्तें—प्रबंधक-वर्ग को चाहिए कि वह उक्त प्रभावोत्पादक बातों को ध्यान में रखकर अपनी सेविवर्ग-संबंधी नीति निर्धारित करे। श्रमिक-प्रबंधक सहयोग निम्नांकित बातों पर निर्भर होगा :

(१) दोनों पक्ष सहयोग करने के योग्य होने चाहिए;

(२) दोनों पक्ष आपसी विश्वास का अविराम प्रदर्शन करते रहें और वे अपने-अपने मन में किसी प्रकार का छिपाव-दुराव न रखें;

(३) प्रबंधक मजदूर संघ के दमन के लिए श्रमिक-पक्ष के सहयोग का दुरुपयोग न करे तथा जो बातें सामूहिक सौदाकारी तय होने के लिए हों उनके संबंध में उक्त प्रकार का सहयोग पाने के लिए कोई तिकड़म न भिड़ाएं;

(४) यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि उक्त सहयोग का अर्थ यह न होगा कि मजदूर अपने लिए उचित मजदूरी, अथवा अच्छी कार्यावस्थाओं और निर्वाह के स्तर की मांग करना छोड़ देंगे;

(५) उच्च उत्पादिता से उपलब्ध होने वाले लाभ के बंटवारे में प्रबंधक श्रमिकों को भी भाग दें;

(६) कारखाने के मामलों में समझबूझ दिखाने और उनमें भाग लेने के लिए श्रमिकों को प्रबंधक आवश्यक बातों की जानकारी देते रहें;

(७) प्रबंधकों को सेविवर्ग-संबंधी नीति में कामगारों की सहमति प्राप्त करने के उद्देश्य से, सभी मामलों में उनका परामर्श लेना चाहिए; तथा

(८) प्रबंधकों को चाहिए कि वे कामगारों को प्रशिक्षण और प्रगति के विषय में सुविधा दें।

रीति-नीति में हेरफेर की आवश्यकता—समाजवाद की रूपरेखा में जो परिवर्तन हो रहे हैं उसके कारण सभी विचारधाराएं बदलती जा रही हैं। इसलिए उद्योगों में सहयोग का अर्थ भी उसी तरह बदलना चाहिए। स्वाधीनता के बाद, भारत ने अपने यहां एक मंगल-राज्य स्थापित करने का अपना लक्ष्य बनाया है जिसे दूसरे शब्दों में सहकारी सार्वधन (Cooperative Commonwealth) कहा जाता है। दुर्भाग्यवश अभी तक देश की प्रगति के पैरों में उस पूंजीवादी अर्थतंत्र की बेड़ियां पड़ी रही हैं जो हमें पूर्ववर्ती शासन से एक वसीयत के रूप में मिला था। इस अर्थतंत्र ने कामगारों को शोषण-दोहन से बचाने की कोशिश नहीं की। प्राय: श्रमिकों और प्रबंध पक्ष के बीच सेतुबंधन के लिए उपयोजन समितियां तथा संयुक्त समितियां सभी जगह मिलती हैं। किंतु इस देश में ये समितियां निकट अतीत में ही बनी हैं तथा उनकी क्षमता पर अभी पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता है। यदि इस

देश में समाजवादी ढांचे के अर्थतंत्र की संस्थापना करनी है जो समय आने पर समाजवादी राज्य तथा वर्गहीन समाज की रचना भलीभांति कर सके, तो उद्योग में सहयोग की वर्तमान विचारधारा पर फिर से विचार करना होगा और सहयोग को प्रभावशाली तथा सफल बनाना होगा।

समाजवादी ढंग का समाज—भारत का समाजवाद किसी दूसरे देश के समाजवाद की नकल न होगा, भारतीय समाजवाद अपनी व्यावहारिक आवश्यकताओं पर आधारित होगा और अपनी जलवायु के अनुकूल होगा। उद्योगों में किसी भी प्रकार के समाजवाद का बुनियादी रूप क्या होता है ? इसका अर्थ है कि उद्योगों के संपूर्ण महत्त्वपूर्ण अंचलों का स्वामित्व तथा प्रशासन राज्य के हाथ में होना चाहिए तथा जो बचेखुचे अंचल निजी क्षेत्र के पास छोड़ दिये जाएं उन पर भी राज्य का दृढ़ नियंत्रण हो। एक बात और है कि चाहे किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो गया हो या वह उद्योगपतियों के निजी हाथों में हो, यह राज्य का कर्त्तव्य है कि वह धन तथा उद्योग से उपार्जित लाभ का उचित वितरण करवाए। यह बटवारा उद्योग के साझेदारों की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि, समस्त राष्ट्र की दृष्टि से उचित होना चाहिए।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इंडियन नेशनल कांग्रेस) ने उक्त विचारधारा की व्याख्या इस प्रकार की थी : "आयोजन का लक्ष्य देश में समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना होनी चाहिए जिसमें उत्पादन के प्रमुख साधनों पर समाज का स्वामित्व अथवा नियंत्रण रहे, उत्पादन की गति में निरंतर तेजी आती जाए तथा राष्ट्रीय धन का न्यायोचित वितरण हो"।

उक्त विचारधारा सब स्थानों की उन्मुक्त और प्रगतिशील विचारधारा से मेल खाती है। समाजवादी स्वामित्व और नियंत्रण स्वयं लक्ष्य नहीं होते हैं; वे तो उस समाजवादी समाज के विकास के साधनमात्र हैं जहां उत्पादन किसी व्यक्ति अथवा गुट्ट की लिप्सा अथवा तृप्ति की सामग्री न होकर सर्वसाधारण के संभरण का उपादान होता है।

कामगारों के उत्तरदायित्व में वृद्धि—समाजवादी ढंग के समाज से राज्य की उत्पादनकर्ता शक्तियों पर विशाल भार आ जाता है। औद्योगिक क्षेत्र में वह भार प्रायः कामगारों के मजबूत कंधों को उठाना पड़ता है। पूंजीवादी ढांचे में, कामगारों का अधिकांश समय उपयुक्त शर्तों तथा कार्यावस्थाओं के सुधार के लिए प्रबंधकों से सौदा करने में व्यतीत होता है और उत्पादन बढ़ाने तथा उसमें नये-नये मोड़ देने का दायित्व एकमात्र प्रबंधक-वर्ग पर छोड़ दिया जाता है। किंतु समाजवादी समाज में, यदि देशभक्ति की भावना प्रबंधकों की मुनाफाखोरी की लिप्सा के ऊपर नहीं उठती है तो व्यवसाय का दूसरा साझीदार अर्थात् कामगार-वर्ग स्वयं उत्पादन के विषय में पहल करने को मैदान में उतर

आता है। जैसा आगे चलकर बताया गया है कि कम्युनिस्ट प्रणाली में कामगारों पर बेहद जिम्मेदारी डाल दी गयी है, जहां कामगार, विशेषतः स्टाखनोवाइट, संचालक अथवा निर्देशक को उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए अरई लगाता रहता है।

समाजवादी समाज का मूल सिद्धांत यही है कि प्रत्येक संभव उपाय से अधिकतम उत्पादन का लक्ष्य प्राप्त किया जाए। यदि राज्य कामगार के लिए है तो कामगार भी राज्य के लिए है। जब तक कामगार राज्य के एक नागरिक की अपनी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखकर तथा अपने स्वास्थ्य को हानि पहुंचाये बिना राज्य के उत्पादन की वृद्धि में योगदान करने में समर्थ है तब तक वह कितना योगदान करे, इसका कोई परिणाम निश्चित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार, समाज-पद्धति में परिवर्तन होने से कामगार के कंधों पर केवल संवर्धमान उत्पादन का भार ही नहीं आ पड़ा है बल्कि उत्तरोत्तर अधिक उत्पादन का दायित्व भी आ गया है।

विभिन्न देशों की श्रम-व्यवस्थाएं

ब्रिटेन—ब्रिटेन में, समय-समय पर विभिन्न प्रकार के संयुक्त समझौता-वार्ता चलाने वाले तथा संयुक्त परामर्शदाता तंत्र स्थापित होते रहे हैं। उभय पक्षों में स्वेच्छापूर्वक समझौता करने की भावना ने इन तंत्रों को जन्म दिया है; किंतु कभी-कभी उनकी स्थापना के पीछे सरकार का भी हाथ रहा है। समझौता-वार्ता चलाने वाले तंत्र का उद्देश्य बहुधा श्रमिकों और प्रबंध के आपसी मतभेद और विवाद को निपटाने का होता है। किंतु परामर्शदाता तंत्र का उद्देश्य, जैसाकि उसके नाम से स्पष्ट होता है, प्रबंध-व्यवस्था के व्यापक स्वरूप पर ध्यान देना है। पहले महासमर के अंतिम दिनों में, ह्विटले समिति ने प्रत्येक उद्योग के लिए राष्ट्रीय संयुक्त परिषदें, जिला परिषदें और संयुक्त कामकाज समितियां बनाने की सिफारिश की थी। संयुक्त कामकाज समितियों में प्रत्येक उद्योग के प्रबंधक तथा श्रमिक-वर्ग के प्रतिनिधि होने चाहिए। इनका उद्देश्य कामगारों को विद्यमान कार्यावस्थाओं में अपने काम के प्रति अधिक लगाव दिखाने तथा उसकी अधिक जिम्मेदारी उठाने का अवसर देना है ताकि वे सामूहिक समझौतों द्वारा बनाये गये नियमों को अच्छी तरह कार्यपरिणत कर सकें और यथासंभव प्रत्येक प्रकार की कशमकश और गलतफहमी से दूर रह सकें।

किंतु संयुक्त परामर्शदाता तंत्र का विकास दो कारणों से आशा के अनुकूल न हो सका। पहला, प्रबंधक अपने व्यवस्थापकीय अधिकारों के परित्याग के

लिए अनिच्छुक थे। दूसरा, संयुक्त समितियों द्वारा सामान्य मजदूर-संघी नीति की उपेक्षा करने की आशंका बनी रहती थी। दूसरे महासमर की अवधि में संयुक्त उत्पादन समितियां बहुत लाभकारी साबित हुईं, किंतु उसके समाप्त होते ही उनके पैर लड़खड़ा उठे। निदान, १९४७ से, सरकार के इंगित पर इस बात का प्रयास होता आ रहा है कि एक संयुक्त परामर्शदाता तंत्र की स्थापना की जाए जो परामर्श दे सके। किंतु उसका निर्माण स्वेच्छापूर्वक किया जाए।

ब्रिटेन में श्रमिक-प्रबंधक सहयोग के क्षेत्र में अनेक परीक्षण किये गये हैं। अनेक व्यावसायिक कोठियों ने व्यक्तिगत रूप से अपने यहां श्रमिकों और प्रबंधकों के बीच लाभ-वितरण, आपसी साझेदारी तथा अन्य सहयोगपूर्ण संबंधों की योजनाएं चालू की हैं।

लाभ-वितरण की स्थिति सबको विदित है। मालिक अपने कामगारों से इस बात पर सहमत हैं कि जिन कारखानों पर लाभ-बटवारे की योजना लागू है उनमें उन्हें अपने पारिश्रमिक या वेतन के अतिरिक्त लाभ का भी एक निश्चित अंश मिलेगा। यद्यपि कामगार को लाभ में भाग मिलता है फिर भी उसे कारखाने की प्रबंध-व्यवस्था में अधिक हाथ डालने का अधिकार नहीं है।

किंतु आपसी साझेदारी के नियम से कामगार को प्रबंध-व्यवस्था में कुछ अधिक अधिकार मिल गया है जिसका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा रहा है :

(१) उद्योग में प्रचलित मजदूरी-दर के अतिरिक्त, कामगार को उसके शुद्ध लाभ में से अथवा उत्पादन-अर्थतंत्र के शुद्ध लाभ में से कुछ अंश मिलना चाहिए।

(२) कामगार को अपने लाभ का अंश अथवा उसका कोई भाग, वह जिस व्यापारिक प्रतिष्ठान की सेवा कर रहा है उसकी पूंजी में लगा देना चाहिए तथा इस प्रकार उसे एक भागीदार (शेअर होल्डर) का सामान्य अधिकार और दायित्व ग्रहण कर लेना चाहिए।

(३) अपनी साझेदारी समितियां बनाकर कामगार को व्यवसाय के नियंत्रण में कुछ हाथ रखना चाहिए। इस प्रकार भीतरी प्रबंध में उसकी आवाज सुनी जाने लगेगी।

इस प्रकार कामगार को लाभ के बंटवारे में हिस्सा ही नहीं मिलता है, बल्कि आपसी साझेदारी की योजना के अंतर्गत वह अपने व्यावसायिक उद्यम का एक भागीदार भी बन जाता है और उसकी भीतरी व्यवस्था में उसकी आवाज भी सुनी जाने लगती है।

साझेदारी के अगले चरण में कामगार अपने प्रतिनिधि की मार्फत प्रबंधक के साथ विभिन्न स्तरों पर सीधे संपर्क में आ जाता है। कहीं-कहीं वह संचालक-मंडल (Board of Directors) में भी स्थान पा जाता है। किंतु इस प्रकार की योजनाएं अभी कम देखने में आयी हैं।

ब्रिटेन में, प्रारंभ में सरकार ने ऐसी योजना को एकदम अस्वीकार कर दिया था जिसके अंतर्गत मजदूर संघों या मालिकों के संगठनों को अपने संगठनों के नाते उन उद्योगों की व्यवस्था में सीधा भाग लेने दिया जाए जिनका राष्ट्रीकरण हो चुका था। उसने इन उद्योगों के संचालक-मंडलों में उक्त कोटि के व्यक्तियों को स्थान अवश्य दिया था, लेकिन उन्हें यह स्थान स्वतंत्ररूप से मिला था—संगठनों के नाम पर नहीं। वास्तव में, इन संचालक-मंडलों में भूतपूर्व मालिकों और मजदूर संघों के भूतपूर्व अधिकारी हैं; किंतु वे उक्त नाते से नहीं, बल्कि अपनी योग्यताओं के आधार पर लिए गये हैं। उन्हें अपनी इस नियुक्ति के साथ, अपने औद्योगिक स्वार्थों अथवा मजदूर संघों के संपर्क का परित्याग करना पड़ा है।

जिन अधिनियमों से विभिन्न उद्योगों का राष्ट्रीकरण हुआ है उनमें परामर्श के लिए, विशेषतः नौकरी की शर्तों तथा कार्यावस्थाओं के तय-तोड़ के लिए, समुचित संयुक्त परिषद की भी व्यवस्था की गयी है। इसी के अनुसार विभिन्न उद्योगों के लिए सम्मिलित औद्योगिक परिषदें (Joint Industrial Councils) स्थापित की गयी हैं।

कनाडा—मालिकों के साथ कामगारों के क्या संबंध होने चाहिए, इसके विषय में कनाडा ब्रिटेन की परंपरा का अनुकरण कर रहा है। कनाडा की सम्मिलित उत्पादन-समितियां ब्रिटिश उद्योगों की समितियों से अनेक प्रकार से मिलती-जुलती हैं। यद्यपि इन समितियों का काम परामर्श देना है फिर भी इनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। अनेक व्यावसायिक सार्थ अपनी कार्य-परिषदों में अपनी उच्चस्तरीय नीति पर विचार करते और अपने भावी कार्यक्रमों की रचना का सिंहावलोकन करते हैं। समवायों की वित्तीय स्थिति तथा लाभ के वितरण के प्रश्नों पर भी इनमें विचार होता है। इसका परिणाम यह है कि इन परिषदों में मजदूरों के सामने वित्त का वह कच्चा चिट्ठा पेश किया जाता है जो कभी शीर्षस्थ प्रबंधकों को ही दिखाया जाता था।

संयुक्त राज्य अमेरिका—संयुक्त राज्य अमेरिका में, दूसरे महायुद्ध की अवधि में उत्पादन बढ़ाने के लिए सम्मिलित उत्पादन समितियां स्थापित की गयी थीं। किंतु युद्ध समाप्त होने पर इनमें से अधिकांश समितियों का अंत हो गया और इस समय इनमें कुछ इनीगिनी बच रही हैं। यहां पर प्रबंध में श्रमिकों के हाथ बटाने की नीति को बढ़ावा नहीं दिया जाता है। इस नीति को प्रबंधक ही

नहीं वरन् श्रमिक भी पसंद नहीं करते हैं। अधिकांश प्रबंधक उद्योगों की व्यवस्था में श्रमिकों के भाग लेने के प्रस्ताव का प्रतिरोध करते हैं। प्रबंधकों का कहना है कि लाभ कमाना उनका काम है और उसमें भाग लेने के लिए श्रमिक सौदेबाजी कर सकते हैं। उधर श्रमिक स्वयं प्रबंध-व्यवस्था में भाग लेने को उत्सुक नहीं दिखते हैं। उनकी इस उदासीनता का कारण क्या है? वे किसी भी उद्योग को सफल बनाने का पूर्ण दायित्व प्रबंधकों पर ही रखना चाहते हैं और उससे उसे किसी प्रकार तनक भी निश्चित नहीं करना चाहते।

संयुक्त राज्य अमेरिका की वर्तमान औद्योगिक समृद्धि के मूल में उसके सामाजिक संगठन की शक्ति काम करती है। इसमें मालिकों और श्रमिकों की संगठन-शक्ति का भी कम योगदान नहीं है। अमेरिका में प्रबंधक-वर्ग इतना शक्तिशाली है कि श्रमिक-वर्ग उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देख सकता और न उसके काम में हस्तक्षेप करने का साहस करता है। दूसरी ओर, अमेरिकन श्रमिक-वर्ग स्वयं इतना तगड़ा और आत्मविश्वासी है कि वह प्रबंधक-वर्ग से अधिक से अधिक लाभ उठा सकता है और उसके साथ ऐसा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संबंध कभी नहीं बनाता है जिससे उसकी सौदा-शक्ति बढ़ी-चढ़ी न बनी रहे।

यद्यपि अमेरिकन लोग श्रमिक-प्रबंधक संपर्क में आस्था नहीं रखते हैं फिर भी श्रमिकों ने सामूहिक सौदाकारी से निम्नांकित अधिकार उपलब्ध कर लिये हैं:

(१) श्रमिकों को अपने समवायों (कंपनियों) का लेखाजोखा देखने का अधिकार है; समवायों के असामान्य व्यय के बारे में जब निर्णय किया जाता है तब उनकी आवाज पर भी ध्यान दिया जाता है; घिसाई तथा ऋण-भुगतान, आदि की मदों पर उनकी बात सुनी जाती है।

(२) अभेदभाव-मूलक नीति बरती जाए।

(३) काम-सिखाने के कार्यक्रमों पर उनका परामर्श लिया जाए।

(४) किस काम पर कितने व्यक्ति लगाये जाएं, इस बारे में उनकी बात सुनी जाए।

(५) प्रौद्योगिक परिवर्तनों के कारण कार्यमुक्त कामगारों को फिर से काम में लगाने के बारे में उनकी सलाह ली जाए।

(६) परिवेदनाएं सुनने की कार्यवाही में उनके संघों के प्रतिनिधि बुलाए जाएं।

(७) नौकरी निर्धारण करने, काम की दर निश्चित करने तथा अन्य इसी प्रकार के कामों में उनकी सलाह ली जाए।

स्कैंडेनेवियाई देश—स्कैंडेनेवियाई देशों में कामकाज-समितियों का काम केवल सलाह देना होता है। मालिकों को विचाराधीन पुनर्गठनात्मक कार्यवाही, व्यापार-संचालन तथा सेवा की कार्यावस्थाओं में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों, नयी उत्पादित वस्तुओं, उत्पादन के नये ढंगों और उत्पादन तथा विक्रय के कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए उपयोगी आर्थिक अवस्थाओं पर आवश्यक सूचनाएं देनी होती हैं। स्वीडन में, उत्पादन-समितियों को लेन-देन के लेखे, लाभ-हानि के लेखे तथा संचालकों और लेखा-परीक्षकों के प्रतिवेदनों के निरीक्षण का अधिकार होता है। डेनमार्क और नार्वे में इस बात के समझौते का चलन है कि उत्पादन-समितियों के सदस्यों को वही सूचना मिलनी चाहिए जो भागीदारों (Shareholders) के पास भेजी जाती है। मोटे रूप से, उक्त योजनाएं स्कैंडेनेवियाई देशों में सफल सिद्ध हुई हैं।

फ्रांस—फ्रांस गणतंत्र का जो संविधान दिसंबर १९४६ में लागू हुआ था उसमें अन्य अनेक बातों के साथ उद्योगों की व्यवस्था, सार्वजनिक सेवाओं और एकाधिकारों पर सामूहिक स्वामित्व में श्रमिकों को भी भाग मिला था। आर्थिक मामलों में देश की संसद तथा मंत्रिमंडल की सहायता के लिए एक आर्थिक परिषद स्थापित करने की व्यवस्था की गयी थी। इस आर्थिक परिषद में १५० सदस्य होते हैं जिनमें दो-तिहाई सदस्य उद्योगों और कृषि के कामगार-संगठनों के प्रतिनिधि होते हैं। किंतु यह परिषद केवल परामर्श दे सकती है।

फ्रांस में श्रमिक प्रबंध-व्यवस्था में बहुत दूर-दूर तक हाथ बटाने लगे हैं और राष्ट्रीकरण के क्षेत्र में उनका यह स्वरूप सुसंगठित हो गया है; किंतु निजी उद्योगों के क्षेत्र में ऐसा देखने में नहीं आता है। इसका कारण यह है कि राष्ट्रीकरण करने वाले अधिनियम में मजदूर संघों के कर्त्तव्यों और अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है। लिखा है कि राष्ट्रीकरण वाले उद्योगों की व्यवस्था में उनका क्या हाथ होगा। निजी उद्योगों को प्रबंध से श्रमिकों का कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता है—हां वहां पर आपको प्रबंधकों और श्रमिकों के बीच सहयोग अवश्य दिखायी देगा। किंतु सहयोग के इस क्षेत्र में कोई एकरूपता नहीं है। इसके भिन्न-भिन्न रंगढंग दिखायी देते हैं। सहयोग के तरीके और सहयोग की सीमाएं भी भिन्न-भिन्न हैं।

जर्मन गणतंत्र—युद्धोत्तरकाल जर्मन संघीय गणतंत्र में विधि-विधान द्वारा अनेक कारखानों के लिए कामकाज परिषदें स्थापित कर दी गयीं। सरकार ने कोयलाखानों तथा लोह और इस्पात उद्योग में श्रमिकों द्वारा सह-व्यवस्था (co-management) का सूत्रपात कर दिया है। इस सह-व्यवस्था में मजदूर संघों और मालिकों के प्रतिनिधियों को बराबर का पद प्राप्त है। इस प्रबंध पद्धति के अंतर्गत प्रत्येक कारखाने को संचालक-मंडल में ग्यारह सदस्य

होते हैं जिनमें पांच को भागीदार चुनते हैं और छह को मजदूर संघों के अधिकृत केंद्रीय संगठन नामजद कर देते हैं जिनमें एक मेहनतकश कामगार तथा एक वेतनभोगी कर्मचारी संबंधित कारखाने का होना चाहिए और एक स्वतंत्र व्यक्ति हो सकता है। यह अंतिम व्यक्ति पंच और मध्यस्थ का भी काम करता है। संचालक-मंडल (Board of Directors) के अधीन व्यवस्थापक-मंडल (Board of Management) होता है जिसे संचालक-मंडल ही नियुक्त करता है और जिसमें तीन सदस्य होते हैं। इन तीन सदस्यों में एक कामगारों के बीच से लिया जाता है जिसे संचालक-मंडल में पदारूढ़ मजदूर संघी प्रतिनिधियों के बहुमत की स्वीकृति के बिना न तो नियुक्त ही किया जा सकता है और न पदच्युत ही किया जा सकता है।

अंत में, इनमें से प्रत्येक उद्योग के लिए एक परिषद बनी हुई है जो उसका निरीक्षण और पथ-प्रदर्शन करती है। इसमें मालिकों और कामगारों के संगठनों के प्रतिनिधि समान संख्या में सरकार द्वारा नियुक्त होते हैं। यह सह-व्यवस्था की पद्धति उन सभी कारखानों में लागू है जिनमें एक हजार से अधिक मजदूर काम करते तथा जिसमें दस लाख मार्क से अधिक की पूंजी लगीं होती है।

सोवियत रूस—रूस जैसे देश में जहां अर्थतंत्र विकट रूप से केंद्रित और समाजवादी है, प्रबंधकों के साथ श्रमिकों का संबंध नितांत भिन्न होता है। रूस में कुछ छोटी-छोटी दस्तकारियों को छोड़कर, शेष उद्योगों का राष्ट्रीकरण हो चुका है। जहां उद्योगों का स्वामी राज्य होता है वहां मुनाफाखोरी, लाभ में बटवारे, आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। पूंजीवाद पद्धति की ये समस्याएं वहां बिल्कुल भिन्न प्रकार का चोला पहने हुए होती हैं। फिर भी वहां प्रबंध-व्यवस्था को श्रमिकों के घनिष्ट सहयोग की आवश्यकता होती है। कारण यह है कि उसका भी लक्ष्य उत्पादन बढ़ाने का होता है, और इसके लिए मजदूरों का सहयोग सर्वत्र सदा ही आवश्यक है।

सोवियत रूस के किसी भी औद्योगिक फर्म (यूनिट) में संचालक मंडल नाम का कोई व्यवस्थापक मंडल न मिलेगा। वहां तो फर्म का संचालक ही संचालक मंडल का काम करता है। उस एक व्यक्ति के हाथ में संपूर्ण प्रशासकीय अधिकार केंद्रित होता है, और वही अपने फर्म के लिए उत्तरदायी है। अपने फर्म के वार्षिक योजना तथा समस्त उत्पादन-कार्यों की जिम्मेवारी उसी पर होती है। फिर भी उसके ऊपर एक अंकुश होता है। उसे कितना भी अधिकार और शक्ति प्राप्त क्यों न हो, विभिन्न श्रेणियों के कामगारों के प्रतिनिधियों के सुझावों और आलोचनाओं के प्रति उसे ध्यान देना पड़ता है। ये लोग उसकी गतिविधि पर कड़ी दृष्टि रखते हैं।

जनता उद्योगों के प्रबंध में जो हाथ बटाती है वह सोवियत सैद्धांतिक रीति-नीति की कुंजी है। यहां जनता से तात्पर्य है प्रबंध विभाग से अलग रहने वाले कामगारों का। उद्योगों के प्रबंध में इस सार्वजनिक सहयोग के चार रूप देखने को मिलते हैं: पहला, कामगार अपने फर्म में प्रबंधकों के काम का निरीक्षण करते और उनकी त्रुटियों तथा कमियों की कठोर आलोचना करते हैं; दूसरा, कामगार विशेषतः कामगार-सम्मेलनों द्वारा सुझाव देते रहते हैं; तीसरा, कामगार स्वयं प्रशासकीय काम को कर दिखाते हैं, वे ये कार्य अपने नियमित काम के अतिरिक्त करते हैं; तथा चौथा, सामान्य कामगार निरंतर पदवृद्धि द्वारा प्रबंध विभाग में पहुंचते रहते हैं। इस सार्वजनिक सहयोग का परीक्षण केवल समृद्धि-काल ही में नहीं वरन् कठिनाई के दिनों में भी अधिक से अधिक किया जाता है।

उत्पादन-सम्मेलनों द्वारा प्रबंध-वर्ग के साथ सामान्य कामगारों की विशाल संख्या का संबंध स्थापित किया जाता है। कभी-कभी कारखानों के समस्त मजदूर इन सम्मेलनों में भाग लेने आते हैं। किंतु एक विभाग अथवा एक दूकान अथवा प्रत्येक छोटी यूनिट के मजदूर प्रायः सम्मेलन करते रहते हैं। इन छोटी यूनिटों को ब्रिगेड कहते है। इन सम्मेलनों में कारखाने का संचालक अथवा विभाग का अध्यक्ष अथवा दूकान का अध्यक्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है जिस पर सभी लोग विचार करते और अपनी सम्मतियां प्रकट करते हैं तथा उत्पादन-कर्ता घटकों के कार्य में सुधार के लिए सुझाव देते हैं।

उत्पादन बढ़ाने के लिए उक्त सम्मेलनों का महत्त्व अनुपेक्ष्य है। इनको "उत्पादन तीव्रक" कहते हैं। उत्पादन-सम्मेलनों में सब भाग लेते हैं और उनमें छोटी-छोटी बातों तक पर विचार किया जाता है। इसके विपरीत, उत्पादन तीव्रकों में गिनेचुने गुटों के लोग होते हैं और संबंधित विषय पर ही उनकी दृष्टि केंद्रित होती है। इसमें सर्वोत्तम व्यक्ति भाग लेते हैं, ऐसा माना जाता है। इन तीव्रकों में प्रबंध विभाग के कनिष्ठ कर्मचारी, अभियंत्रक, प्रविधिज्ञ तथा "स्टाखनोवाइट" कामगार होते हैं। इनका चुनाव बड़ी सावधानी से होता है। बड़े उद्योगों में इनकी संख्या कभी-कभी सैकड़ों में पहुंच जाती है; किंतु वाद-विवाद में प्रायः थोड़े ही लोग भाग लेते हैं। प्रविधिज्ञता की दृष्टि से ये लोग कामगारों में कुशाग्र बुद्धि वाले और दक्ष होते हैं तथा उन्हें कार्यपद्धति का ज्ञान होता है; इसलिए संचालक की तीव्र आलोचना करना उनके बाएं हाथ का खेल होता है।

इन दो प्रकार के सम्मेलनों — प्रचुर (बड़े पैमाने पर) उत्पादन सम्मेलन (Mass Production Conference) तथा प्रवर उत्पादन-तीव्रक सम्मेलन — (Select Actives' Conference) — के अतिरिक्त फर्मों के

संचालकों को एक और शक्ति का सामना करना पड़ता है। यह स्टाखनोव-आंदोलन है। इसका सूत्रपात स्टाखनोव नामक एक कोयला-खनक ने किया था जिसने ७ टन के स्थान में १०२ टन कोयला एक दिन में खोदकर दिखाया था। इस उदाहरण से जनता को प्रेरणा मिली और आंदोलन का अविर्भाव हुआ जिसका उद्देश्य है कि योग्यता तथा लगन और बेहतर प्राविधिक ज्ञान तथा कार्य-संगठन से उत्पादन में वृद्धि की जाए।

सोवियत रूस में दो शक्तियां प्रबल रूप से काम करती दिखायी देती हैं—ये हैं देशभक्ति और समाजवाद की उन्नति की रचनात्मक भावना। स्टाखनोव-आंदोलन ने फुटकर काम की पद्धति में आशा से अधिक विस्तार कर दिया। इस कार्यपद्धति के अंतर्गत कामगार प्रबंधक-वर्ग के साथ काम का दायित्व उठाता और आरंभकशक्ति में योगदान करता है। वह कभी-कभी कार्य-संघटन तथा यांत्रिक तथा प्राविधिक क्रियाओं के वैज्ञानिकन में सूझ प्रदान करता है। खुदाई के यंत्रों में सुधार की सूझ तथा कार्यपद्धति के संशोधन ने कभी-कभी आश्चर्यजनक परिणाम उपस्थित कर दिये हैं। भारत में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के उत्पादिता दल ने इस विषय पर लोगों का ध्यान केंद्रित किया था। किंतु इस कोटि के परिवर्तन के लिए आरंभकशक्ति और उत्पादन बढ़ाने के विषय में कामगार की तीव्र आकांक्षा आवश्यक है। स्टाखनोव जैसे व्यक्ति निर्देशक के लिए कांटा बन सकते हैं। कारण यह है कि यदि संचालक काम की विद्यमान प्रगति से संतुष्ट रहेगा और वह स्टाखनोवों के सुझावों की ओर ध्यान न देगा तथा वह उत्पादन बढ़ाने के लिए विभिन्न विभागों के कार्यों के समन्वय में कुशलता न दिखायेगा तो वह निःसंशय पद से हटा दिया जाएगा।

युगोस्लेविया —सोवियत रूस में औद्योगिक आयोजन तथा उसकी व्यवस्था पर राज्य तथा कम्युनिस्ट दल का पूरा नियंत्रण है फर्म का संचालक कामगारों की भांति ही राज्य का सेवक होता है। किंतु युगोस्लेविया की इस व्यवस्था में कुछ भिन्नता है। वहां यह नारा सुनने में आता है: फैक्टरियां कामगारों की हैं, भूमि किसानों की है।

१९५० में युगोस्लेविया की संसद ने कामगारों के संघों द्वारा राज्य के आर्थिक उद्योगो तथा उच्चस्तर आर्थिक संगठनों की व्यवस्था के बारे में एक बुनियादी कानून पास किया था। इस कानून के अनुसार फैक्टरियों. खानों, संचार-परिवहन तथा कुछ अन्य उद्योगों की व्यवस्था का काम कामगार-संघों को मिल गया है। व्यवस्था और कामगारों के बीच संपर्क के लिए कामगार-परिषदें तथा व्यवस्थापक-मंडल काम करते हैं। कामगार-परिषद कामगार-संघों की प्रतिनिध्यात्मक सभा होती है जो व्यवस्थापक मंडल का चुनाव करती तथा उसकी सभा आमंत्रित करती है तथा साथ ही आर्थिक और

सामाजिक विषयों में उसकी सामान्य नीति निर्धारित कर देती है। व्यवस्थापक-मंडल कारखाने का काम चलाता है और कामगार परिषद तथा इस विषय में अधिकारी राज्य-संस्था के प्रति उत्तरदायी होता है। इसे उद्योग की आधारभूत योजनाएं बनाने तथा उसके ठीक-ठीक संचालन की जिम्मेदारी प्राप्त होती है।

कामगार-परिषद और व्यवस्थापक-मंडल, दोनों का चुनाव एक वर्ष के लिए होता है। व्यवस्थापक-मंडल के एक-तिहाई सदस्यों का चुनाव फिर किया जा सकता है और कोई भी सदस्य लगातार दो बार से अधिक नहीं चुना जा सकता। व्यवस्थापक-मंडल की सदस्यता-काल में सदस्य अपने काम को करता रहता है और उसे उसके लिए कोई अतिरिक्त वेतन नहीं मिल सकता है। उच्चतर आर्थिक संघ का व्यवस्थापक-मंडल उद्योग के संचालक की नियुक्ति करता है जो उद्योग के काम की देखभाल करता है, किंतु कामगार-परिषद या व्यवस्थापक-मंडल उसको हटाने की सिफारिश कर सकता है। कामगार-परिषद के सदस्यों की संख्या १५ से २०० तक तथा व्यवस्थापक-मंडल के सदस्यों की संख्या ३ से १५ तक होती है। दोनों परिषदों में कर्मचारी मंडल के प्रतिनिधि होते हैं जो बहुमत से चुनकर आते हैं। व्यवस्थापक-मंडल के कम-से-कम तीन-चौथाई सदस्य वे कामगार होने चाहिए जो प्रत्यक्षतः उत्पादन के काम में लगे हों। शेष सदस्य प्राविधिक कर्मचारियों, इंजीनियरों (अभियंत्रकों) तथा अन्य कर्मियों में से चुने जा सकते हैं। किसी भी कारखाने के मजदूर कामगार-परिषद का चुनाव करते हैं जबकि व्यवस्थापक परिषद का चुनाव तत्संबंधी कामगार परिषद करती है। कारखाने का संचालक व्यवस्था-परिषद का पदेन सदस्य होता है। मजदूर संघ ये चुनाव करवाते हैं।

सारांश यह है कि राज्य के विधि-विधान की अपेक्षा कामगारों का केंद्रीय मजदूर संघी संगठन कामकाज समितियों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का निर्णय करता है। ये कामकाज-समितियां किसी भी कारखाने के प्रबंधक-वर्ग के साथ पूरी तरह हिलमिलकर काम करती हैं। जब उनकी दृष्टि में कोई कार्य कामगारों के हित के लिए घातक अथवा कारखाने की भलाई के प्रतिकूल होता है तब वे उसे उच्चतर मजदूर संघी संस्थाओं के पास भेज देती हैं।

विभिन्न देशों की स्थिति का विश्लेषण—विभिन्न देशों में उद्योगों के विकास के साथ यह विचार सामने आया है कि यदि कामगारों और उनके संगठनों को उद्योगों के नियंत्रण में कुछ स्थान न दिया गया तो इससे केवल औद्योगिक संबंध ही न बिगड़ेंगे बल्कि स्वयं उद्योगों की नींव हिलने लगेगी। इसलिए कितने ही उद्योगों में उत्पादन-परिषदें तथा अन्य परिषदें इसलिए स्थापित कर दी गयीं ताकि कामगार यह अनुभव करने लगे कि वे केवल अपने

लिए ही नहीं बल्कि देश की प्रगति के लिए भी उद्योगीकरण में योगदान कर रहे हैं और उनका सहयोग तथा उनकी सेवाएं आवश्यक हैं। प्रत्येक देश में प्रबंध-व्यवस्था के साथ कामगारों का सहयोग भिन्न-भिन्न प्रकार का देखने में आता है। उक्त संबंधों पर प्रत्येक देश की परंपरा, कार्यपद्धति और आस्था की गहरी छाप लगी हुई है। राज्य की रीति-नीति के अनुसार भी इन संबंधों में परिवर्तन होता रहता है।

पूंजीवादी देशों की अवस्थाओं के एक सामान्य विश्लेषण से स्पष्ट हो जाएगा कि उनमें परामर्शदात्री समितियों का बहुत चलन है। कुछ देशों में इन समितियों को वित्तीय मामलों तक की जानकारी प्राप्त करने का अधिकार होता है। इसलिए प्रबंध-व्यवस्था पर उनका पर्याप्त प्रभाव होता है। कुछ देशों में लाभ-वितरण, सम्मिलित साझेदारी तथा प्रबंध-विभाग में कामगारों के प्रतिनिधियों के समावेश का स्वैच्छिक चलन है। कुछ देशों में यह विचार ग्राह्य हो चुका है कि संचालक मंडल में मजदूरों के प्रतिनिधियों को स्थान देने का विधान बना दिया जाए। परामर्शदात्री परिषदों द्वारा मजदूरों के प्रतिनिधियों का व्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ता है। रूस में इस पद्धति का बोलबाला है। किंतु कुछ दूसरे देशों में, जहां अर्थतंत्र का पूर्वायोजित ढांचा होता है, उसे व्यवहार में लाया जा रहा है। इन देशों का अनुभव है कि प्रबंध में कामगारों के सीधे संपर्क से कुछ लाभ ही हुआ है। किसी उद्योग की सफलता के लिए कामगारों और प्रबंधकों, दोनों की योग्यता की आवश्यकता होती है। एक-दूसरे की तकनीक सुधारने की दिशा में दोनों में आदान-प्रदान की भावना अनुपेक्ष्य है। इसका अर्थ यह है कि मालिकों को उत्पादन के मामले में कामगारों के सुझावों को ग्रहण करने के लिए उत्सुक होना चाहिए और उसका मधुर फल मिल-बांटकर खाना चाहिए।

प्रबंध-व्यवस्था के साथ श्रमिकों के संपर्क तथा उद्योगों के उत्तरोत्तर राष्ट्रीकरण, और निजी उद्योगों पर राज्य के उत्तरोत्तर नियंत्रण से मजदूर संघों की गतिविधि में परिवर्तन होता जा रहा है। औद्योगिक कारखानों का प्रबंध संचालकों को सौंप दिया जाता है किंतु मजदूर संघ राज्य के आर्थिक संस्थानों तथा समितियों की कार्यवाही से संबंधित रहते हैं तथा योजनाओं के निर्माण का काम करते हैं। इसके बाद, यद्यपि आर्थिक योजनाओं के कार्यान्विय का औपचारिक दायित्व संचालकों पर डाल दिया जाता है फिर भी संघों को इस काम में बहुत दूर तक सहायता देनी होती है। भारत की दृष्टि से यह बात जानना बहुत उपयोगी है कि पूर्वायोजित अर्थतंत्र में मजदूर संघों का एक महत्त्वपूर्ण काम यह है कि वे कारखानों के मजदूरों में अनुशासन की भावना बनाये रखें। इसमें संदेह नहीं है कि मजदूर संघों का कर्तव्य श्रमिकों के आधार-

भूत अधिकारों की रक्षा करना है किंतु उसी प्रकार उनका कर्त्तव्य यह भी है कि वे मजदूरों में चरित्रबल, ईमानदारी और योग्यता का भी विकास करते रहें और उनसे अधिकतम उत्पादन करवाएं ताकि उद्योग तथा देश को अधिक लाभ पहुंचे, क्योंकि यह लाभ अंत में प्रबंध-व्यवस्था, कामगारों और समाज में बंट जाता है।

भारत में श्रमिकों और प्रबंध का सहयोग

श्रमिक-प्रबंध संबंधों की वर्तमान स्थिति—इस समय भारतीय उद्योगों की दशा बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती है। मालिक और कामगार दोनों प्रायः उनकी बुराइयां गिनाते रहते हैं और दोनों ही एक-दूसरे की आलोचना में लगे रहते हैं। मालिकों की शिकायतों में जो मुख्य बातें होती हैं उनमें कहा जाता है कि उत्पादिता की सामर्थ्य का ह्रास हो रहा है; अनुशासनहीनता बढ़ रही है; श्रम का पुरस्कार ऊंचा उठ रहा है; अनुपस्थितियों की रोकथाम नहीं हो रही है; औद्योगिक मुकदमें आये दिन चलने लगे हैं; और बेशी श्रमिकों की उपस्थिति सिर दर्द बढ़ा रही है। कामगार न्यून वेतन, उत्साह बढ़ाने वाले पुरस्कारों के अभाव, प्रबंध द्वारा लाभ को दोनों हाथों से समेटकर स्वयं डकार जाने, असतोषजनक कार्यावस्थाओं, कुप्रबध, प्रबंधकों की बदनीयती, मशीनों की बुरी हालत, घटिया कच्चे माल तथा श्रमिकों के साथ उपेक्षापूर्ण व्यवहार की शिकायतें किया करते हैं। यद्यपि उभय पक्षों ने अपनी शिकायतें नमक मिर्च लगाकर पेश की हैं फिर भी उनको एक बारगी नहीं ठुकराया जा सकता है। दोनों पक्षों के लक्ष्यों में संघर्ष है और उनमें केवल "युद्ध-विराम" जैसी मित्रता हो सकती है। हां, कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं जहां श्रमिक-प्रबंध के आपसी संबंध बड़े मधुर हैं। फिर भी सामान्यतः भारतीय उद्योगों में श्रमिक-प्रबंध के आपसी संबंधों की कहानी अधिक उत्साहवर्धक नहीं है।

इस दुरावस्था का कारण स्पष्ट है। कुछ वर्षों पहले तक मजदूर संघ आंदोलन की दुर्बलता, कामगारों के प्रति जनता की सहानुभूति के अभाव और सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति के कारण, प्रबंधकों की धींगामुश्ती जारी रही और उन्होंने तब शायद ही श्रमिकों की भलाई के लिए कोई कार्य किया होगा। उन दिनों यदि किसी मालिक ने मजदूरों के कल्याण के लिए कोई काम किया तो इसका कारण या तो उन पर कानून का दबाव था या स्वयं उनके अतरात्मा की पुकार थी।

स्वाधीनता के बाद, विधि-विधान तथा लोकमत दोनों ने ही मजदूरों की दशा सुधारने की दिशा में बहुत कुछ किया है और उसमें उन्हें कुछ दूर तक

सफलता भी मिली है। इससे कुछ अपवादों के साथ मालिकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने नये कानूनों और व्यवस्थाओं का पालन किया है। इसमें उन्होंने कभी क्षोभ और कभी उदारता प्रकट की, किंतु फिर भी उनके हृदय का, सच्चे अर्थ में परिवर्तन नहीं हुआ है। मालिक केवल श्रमिकों के ही नहीं बल्कि सरकार की श्रम-नीति के विरुद्ध जो शिकायतें करते रहते हैं उनसे पता चलता है कि वे अभी असलियत तक नहीं पहुच सके हैं। अभी तक उद्योगपतियों के मन में इस भाव का अंकुर नहीं फूटा है कि वे राष्ट्र के उत्थान के लिए काम करें और उन्हें जो कुछ उचित लाभ मिले उससे संतुष्ट रहें। इसके विपरीत, वे तो इस बात का ढोल निरंतर पीटने में लगे रहते हैं कि पूंजी को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता है।

इससे औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि में बाधा पड़ती है। निजी पूंजी को उद्योगपतियों की दृष्टि से नहीं बल्कि राष्ट्र की दृष्टि से पर्याप्त लाभ के लिए काम में लगाना चाहिए। उद्योगपतियों को अवशिष्ट लाभ राष्ट्र के चरणों में अर्पित कर देना चाहिए जो स्वयं यह निर्णय करे कि कामगारों, उपभोक्ताओं और राज्य के बीच उसका बंटवारा किस प्रकार किया जाए। इस दशा में ही, वे कामगारों की प्रवृत्ति सुधारने और उनसे अधिक काम लेने में सफल हो सकते हैं। इसी तरीके से एक सहकारी सार्वधन (Cooperative Commonwealth) की रचना हो सकती है जिसका लक्ष्य देश में समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना होगी।

इसी प्रकार कामगारों को उत्पादन-वृद्धि के विषय में अपने उत्तरदायित्व को सोचकर उद्योग की सुव्यवस्था और उत्पादन में सच्चे हृदय से अपना पूरा सहयोग देना चाहिए। यदि प्रत्येक पक्ष दूसरे का छिद्रान्वेषण करने में समय न गवाकर स्वयं अपने दोषों के उन्मूलन में लग जाए तो देश में औद्योगिक नव-जीवन की लहर दौड़ सकती है।

कामकाज समितियां (Works Committee)—इस समय श्रम और प्रबंध के बीच सहयोग कराने वाली व्यवस्था बड़ी दुर्बल है। १९४७ के औद्योगिक झगड़ा अधिनियम के एक अनुबंध में कामकाज समितियों की स्थापना का उल्लेख है जो "मालिकों तथा कामगारों के बीच सौमनस्य और सद्भावना उत्पन्न कर सकें।" किंतु वे इस काम में असफल रही हैं और इसके अनेक कारण बताये जाते हैं। किंतु इसका मुख्य कारण यह है कि यद्यपि मालिकों और कामगारों के हृदयों में अभीष्ट परिवर्तन नहीं हुआ है फिर भी कामकाज समितियों के सविधान को राज्य का कानून स्वीकार कर लिया गया है। कामगारों के संगठनों ने कामकाज समितियों की विफलता का दोष मालिकों

की अड़ंगेबाजी की नीति के सिर पर मढ़ दिया है। उनका यह भी एक आरोप है कि कामगारों के प्रतिनिधियों के चुनाव का ढंग असंतोषजनक है क्योंकि कामकाज समितियों में मालिकों के मन-चाहते कामगार-प्रतिनिधि पहुंचा दिये जाते हैं। दूसरी ओर मालिक विफलता का सेहरा मजदूर संघों द्वारा सहयोग की कमी के सिर बांधते रहते हैं। सत्य क्या है, यह नहीं कहा जा सकता है। किंतु एक बात साफ है कि जो कामकाज समितियां कामगारों और मालिकों के बीच औद्योगिक झगड़ों को दिन-पर-दिन मिटाने तथा गलतफहमी को दूर कराने के प्रयोजन से बनायी गयी थीं उनसे केवल निराशा हुई है।

बोनस के रूप में लाभ-वितरण—भारत में कुछ मालिकों ने लाभ के बंटवारे की योजनाएं चालू कीं ताकि कामगार उत्पादन बढ़ाने में उत्साह दिखाने लगें। फिर भी इन मालिकों के दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वे कामगार के साथ न्याय का व्यवहार कैसे कर सकते थे? उन्हें उद्योग के काम-काज में कामगार का परामर्श कहां सुहाता था? वे सामान्य-हित के विषयों पर भी कामगार को सूचना न देना चाहते थे। जब कामगारों ने समवायों (कंपनियों) के हिसाब-किताब को देखना चाहा तब उन्होंने उनके इस काम को एक अनधिकार-चेष्टा बताया। इस रवैये से लाभ-बंटवारा योजना की अकाल मृत्यु हो गयी। जहां बोनस-वितरण की योजनाएं चालू भी हैं वहां बोनस की धनराशि क्या होनी चाहिए, इस विषय को लेकर औद्योगिक विवाद छिड़ते आरहे हैं और मजदूरों में असंतोष का दौरदौरा बना रहा है। जिन उद्योगों में लाभ-बंटवारा योजना चालू न थी वहां भी मजदूरों ने बोनस की मांग की किंतु मालिकों ने उसे अस्वीकार कर दिया। जब ये विवाद मेलमिलाप से न सुलझ सके तब सरकार ने अपनी शक्ति का प्रयोग करके उन्हें अनिवार्य न्यायिक निर्णय के लिए भेज दिया।

औद्योगिक न्यायाधिकरण ने मालिकों के इस तर्क को अस्वीकार कर दिया है कि लाभ में बंटवारा करके बोनस देना एक प्रकार का पुरस्कार है और उसके बारे में अपनी समझ से निर्णय करने का पूर्ण अधिकार प्रबंधकों को प्राप्त है। उसका कहना था कि उक्त बोनस मजदूरों का एक प्रकार का निलंबित वेतन कहा जा सकता है जो निर्वाह के वेतन की न्यून मात्रा को पूरा करने के लिए प्रति वर्ष लाभ में बंटवारा द्वारा दिया जाता है। लाभ में बंटवारा द्वारा बोनस देने की योजना की विफलता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि औद्योगिक न्यायाधिकरण के सामने बोनस-विवादों के मामलों के ढेर के ढेर लग गये थे।

भारत में इन व्यवस्थाओं की असफलता का एक मुख्य कारण यह है कि मालिकों और मजदूरों की रीति-नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। वे

यह नहीं समझते हैं कि उद्योग में मालिकों और मजदूरों के हितों के अतिरिक्त उपभोक्ताओं का स्वार्थ भी समाहत है। इसलिए मालिकों और मजदूरों की रीति-नीति में परिवर्तन करवाना आवश्यक है।

श्रमिक और प्रबंध की आपसी खींचतान के वर्तमान युग में किसी भी राजकीय तंत्र का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वह उन्हें सीधे संघर्ष से दूर रखे ताकि सामान्य उत्पादन के मार्ग में अड़ंगा न पड़े। किंतु यह तंत्र, जिन दोषों और कठिनाइयों का उल्लेख पहले किया जा चुका है उन सबको दूर कर देगा, ऐसी आशा करना मूर्खता होगी। जब तक प्रबंधकवर्ग प्रबंध-व्यवस्था पर अपने एकाधिपत्य का दावा करता रहेगा तब तक मजदूर न तो अपनी भरपूर शक्ति लगाकर काम करेगा और न वह मजदूरी बढ़ाने तथा अन्य चीजों और कार्य-व्यवस्थाओं के सुधार की मांगों से ही विरत हो सकता है।

प्रत्येक स्तर पर श्रमिक-प्रबंध परामर्श—श्रमिक और प्रबंध का बुनियादी संघर्ष उनको एक-दूसरे के निकट लाकर दूर किया जा सकता है। यदि प्रबंधक अपनी पूंजी पर समुचित लाभ उपलब्ध करके संतुष्ट हो सकते हैं तो फिर श्रमिकों या उनके प्रतिनिधियों द्वारा उनकी रीति-नीति की छानबीन से उन्हें भयभीत होने की क्या आवश्यकता है? यदि कामगार अपने समवाय की समृद्धि को अपनी समृद्धि समझता है तो फिर उसे बाहरी लोगों की मदद की आवश्यकता क्यों होनी चाहिए? वास्तव में उभय पक्षों के बीच एक गहरी खाई विद्यमान है जिसे पाटने की विशेष आवश्यकता है।

अन्य उपयोगी व्यवस्थाओं के न होने से कामकाज समितियां तथा लाभ-बंटवारा योजनाएं असफल हो गयी हैं और जब तक मालिक मजदूरों के साथ न्याय का व्यवहार नहीं करेगा तब तक वे सफल नहीं हो सकती हैं। इसी स्थिति को देखकर समय-समय पर यह सुझाव दिया जाता रहा है कि प्रबंध-व्यवस्था के प्रत्येक स्तर पर कामगारों को प्रबंध-व्यवस्था में अपना प्रभावशाली योग देने का अवसर मिलना चाहिए। कुछ देशों में इस प्रकार के परीक्षण सफलतापूर्वक किये गये हैं और इस देश में भी उनके सफल होने की आशा है बशर्ते देश की वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखा जाए।

संचालक-मंडल में कामगारों के प्रतिनिधि को स्थान देने का प्रश्न विचारणीय अवश्य है किंतु जब तक देश में कामगारों के संगठनों की वर्तमान अवस्था में सुधार नहीं होता है तब तक इस परीक्षण से पर्याप्त परिणाम नहीं निकल सकता है। कामगारों के संगठन दुर्बल हैं और ऊपर बाहरी लोगों का नियंत्रण है; तथा प्रबंध में भाग लेने की क्षमता सामान्य कामगार में अत्यंत सीमित है। कुछ को छोड़कर अधिकांश कामगारों में, जिन्हें कामगारों का नेता बनने का

सौभाग्य मिल सकता है, उस प्रशासकीय और प्राविधिक प्रतिभा का अभाव है जिसकी प्रबंधकों के साथ चोटी के स्तर पर व्यवस्था में भाग लेते समय आवश्यकता पड़ेगी। इसके अतिरिक्त, भारत में मजदूर संघों की आर्थिक अवस्था बहुत बुरी है और वे वर्तमान समस्याओं के अध्ययन के लिए किसी विशेषज्ञ की सेवाएं तक उपलब्ध नहीं कर सकतीं। निदान, संचालक-मंडल में अल्पमत होने के साथ-साथ, कामगारों के प्रतिनिधि नीति-निर्धारक निर्णयों के विचार-विनिमय में भाग लेने के लिए पूरी तैयारी भी नहीं कर सकते हैं।

समय से पहले संचालक-मंडल में कामगारों के प्रतिनिधियों को स्थान देने से दो दुष्परिणाम निकल सकते हैं : पहला, या तो उन्हें प्रबंधक घूस देकर अपनी ओर मिला लेंगे या यदि वे ईमानदार साबित हुए तो इतने दृढ़ बन जाएंगे कि वे पग-पग पर प्रबंध के काम में टांग अड़ाने लगेंगे। इस प्रकार न तो श्रमिक आंदोलन का ही भला होगा और न उत्पादन को ही बढ़ावा मिल सकेगा। इसलिए जब तक मजदूर संघ का आंदोलन इतना मजबूत नहीं बन जाता है कि उसके श्रमिक प्रतिनिधि समवायों के शीर्षक संचालकों से लोहा न ले सकें तब तक संचालक-मंडलों में मजदूरों के प्रतिनिधित्व की कल्पना करना लाभकारी न होगा।

सभी स्तरों पर श्रमिकों का सहयोग—भारत में इस बात के परीक्षण का समय आ गया है कि उद्योगों के संचालन तथा उद्योग पद्धति के नियंत्रण में कामगारों के प्रतिनिधियों की आवाज को स्थान दिया जाए। कामगारों का यह सहयोग दिखावटी और थोथा न होकर वास्तविक और ठोस होना चाहिए। इस बात को मानकर आगे बढ़ने में कोई हानि न होगी कि श्रमिक तथा प्रबंध में एक बुनियादी संघर्ष है और एक सामान्य उद्देश्य को पूरा करने के लिए दोनों पक्षों को एक-दूसरे के निकट लाने तथा संघर्ष को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। इसीलिए उद्योगों के संचालन यथा नियंत्रण के प्रत्येक स्तर पर कामगारों के प्रतिनिधियों का प्रबंधकों के साथ संपर्क रहना चाहिए। तभी दोनों पक्षों का उत्साह और विवेक उन्हें एक सामान्य लक्ष्य की ओर प्रेरित कर सकेगा।

उक्त प्रकार का संपर्क नीचे से आरंभ होकर उद्योग तथा कारखाने की चोटी तक होना चाहिए। केवल संचालक-मंडल में कामगारों के प्रतिनिधियों को बैठाने से काम न चलेगा। उनकी इस उपस्थिति से कदाचित् ही कामगारों में यह भावना उत्पन्न होगी कि उन्हें भी उद्योग के प्रबंध में भाग मिला हुआ है। वास्तव में निहित स्वार्थ उसका अनर्थ करेंगे और उससे गलतफहमी बढ़ेगी। सरकारी अंचल की कुछ औद्योगिक यूनिटों के संचालक-मंडलों में श्रमिकों को प्रतिनिधित्व मिला हुआ है। किंतु यह अनुभव अभी तक बहुत

उत्साहप्रद प्रतीत नहीं हो रहा है। बंबई और मद्रास बंदरगाह प्रन्यास अधिनियम (Bombay and Madras Port Trust Act) द्वारा प्रन्यासी-मंडल (Board of Trustees) में मजदूरों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है। फिर भी इससे श्रमिकों के प्रति बंदरगाहों के अधिकारियों के रवैये में पिछले कुछ वर्षों से कोई परिवर्तन नहीं हो सका है। यही बात सिंद्री केमीकल एंड फर्टलाइजर्स लि., विशाखापत्तनम् जहाज-निर्माण प्रांगण तथा एअर कार्पोरेशन के विषय में देखी जाती है जहां संचालक-मंडलों में मजदूरों के प्रतिनिधियों को स्थान प्राप्त है। इसका कारण क्या है? प्रत्यक्ष है कि चोटी पर मजदूरों के प्रतिनिधियों को रख लिया गया है किंतु नीचे के स्तरों पर उनको साथ लेने की कोई चेष्टा नहीं की गयी है।

प्रबंध परिषदें—श्रमिक-प्रबंध सहयोग की दिशा में पहला कदम यह होना चाहिए कि औद्योगिक संस्थानों में प्रत्येक स्तर पर ऐसी प्रबंध-परिषदें स्थापित की जाएं जिनमें प्रबंधकों और श्रमिकों को समान-संख्या में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। इन परिषदों का कार्यक्षेत्र व्यापक होना चाहिए। सामूहिक सौदाकारी के विषयों को छोड़कर, संस्थानों की सब बातों पर विचार करने का अधिकार उन्हें प्राप्त होना चाहिए। प्रबंधकों को चाहिए कि वे कामगारों के प्रतिनिधियों के प्रश्नों का यथासंभव विस्तृत उत्तर दें। यद्यपि परिषदों का काम सलाह देना होगा फिर भी प्रबंधकों को उनकी सलाह और सिफारिश मान्य होने की रीति अपनानी होगी। प्रत्येक पक्ष दूसरे में अपने प्रति कितना विश्वास पैदा कर सकता है और एक-दूसरे के सुझावों को मानने तथा कार्यपरिणत करने को कितना उत्सुक है, इस पर ही इन परिषदों की सफलता निर्भर होगी। उचित रवैया और व्यवहार होने पर, राज-कानून और विशेष अधिकारों के अभाव से किसी काम में बाधा न पड़ेगी। प्रबंध-परिषदों के काम करने पर पता चल जाएगा कि क्या कामगार प्रबंध में पूरी तरह भाग लेने के योग्य है? या वह कब योग्य हो जाएगा? क्या उक्त परिषदें कामगार को प्रबंध में भाग दिलाने के लिए आवश्यक हैं? प्रत्येक स्तर पर श्रमिक और प्रबंध के बीच वे सेतु का प्रभावशाली कार्य करेंगी; उनसे मालिक श्रमिकों का विश्वास और सहयोग प्राप्त कर सकेंगे; तथा वे सहयोग के अन्य साधनों की उपयोगिता में चार चांद लगा देंगी।

प्रत्येक स्तर पर प्रबंध के साथ श्रमिक के सहयोग के निम्न परिणाम निकलेंगे : (१) उत्पादिता बढ़ जाएगी जिससे उद्योग, कामगार और समाज तीनों पक्षों का भला होगा; (२) उद्योगों में कामगारों का क्या महत्त्व है, उसके काम में तथा उत्पादन की प्रक्रिया में उनका क्या स्थान है, इसका उन्हें अधिक ज्ञान हो सकेगा; (३) कामगार में आत्माभिव्यक्ति की जो टीस होती है वह

शांत हो जाएगी और इस प्रकार औद्योगिक शांति में तथा मजदूर-प्रबंधकों के आपसी संबंधों के सुधार और सहयोग में वृद्धि होगी।

पंद्रहवें भारतीय श्रम-सम्मेलन ने जो त्रिदलीय समिति नियुक्त की थी उसने सरकारी और निजी क्षेत्र के उन उद्योगों की एक सूची स्वीकार की जिनके प्रबंध में श्रमिकों को भाग दिया जायगा। निजी क्षेत्र में इन उद्योगों के नाम थे—सूती कपड़ा मिल, जूट मिल, इंजीनियरिंग, रासायनिक पदार्थ, तंबाकू, कागज, चीनी, सीमेंट, खान और चाय-उद्यान। मालिकों ने मजदूर संघों से सलाह लेकर उन कारखानों के नामों की सूची पेश करने का वादा किया जिनमें श्रमिक-प्रबंध सहयोग की परियोजना चालू की जाएगी। सरकारी क्षेत्र में उक्त समिति ने जिन उद्योगों के नामों की सिफारिश की वे थे रेलवे कारखाने और कर्मस्थल, डाक और तार, बंदरगाह, जहाजी प्रांगण, परिवहन, कर्मशालाएं, खानें, छापेखाने और बिजलीघर।

इसके अलावा, इस समिति ने आपसी करार का वह संविदा भी स्वीकार कर लिया जिस पर मालिक और संबंधित मजदूर संघ की सहमति लेकर प्रबंध-परिषदें स्थापित की जाएंगी। इन परिषदों का उद्देश्य कर्मचारियों की कार्यावस्थाओं का सुधार करना, उत्पादिता बढ़ाना, प्रबंध और कर्मचारियों के बीच सूत्र पिरोये रखना तथा कर्मचारियों के हृदयों में प्रबंध में भागीदार होने की भावना को पुष्ट करना होना चाहिए।

इस समिति ने बताया कि उक्त परियोजना का सूत्रपान करने के लिए किस प्रकार के कारखानों को चुनना चाहिए : (क) ये कारखाने मजबूत नींव पर टिके हों और सुव्यवस्थित हों तथा उनमें एक दृढ़ मजदूर संघ काम कर रहा हो; (ख) जिस कारखाने में उक्त परियोजना लागू की जाए उसमें कम-से-कम ५०० कामगार काम करते हों; (ग) यदि यह कारखाना निजी क्षेत्र में है तो उसका मालिक संघ का एक प्रमुख सदस्य होना चाहिए, तथा उसी प्रकार उसका मजदूर संघ भी किसी केंद्रीय मजदूर संघी संधान (फेडरेशन) से जुड़ी होनी चाहिए; और (घ) संबंधित कारखाने का औद्योगिक संबंधों का रिकार्ड काफी अच्छा होना चाहिए।

यह जानकर संतोष होता है कि फरवरी १९५८ में श्रमिक-प्रबंध के विषय पर एक गोष्ठी हुई थी जिसमें उद्योगों की संयुक्त परिषदों के संविधान की रूपरेखा, उनकी कार्यप्रणाली तथा उनके कार्यक्षेत्र का निर्णय किया गया था। इसमें जो आदर्श समझौता हुआ था। उसकी प्रस्तावना में कहा गया था कि संयुक्त परिषद का उद्देश्य अन्य बातों के साथ उद्योगों की उत्पादन-क्षमता बढ़ाना होना चाहिए जिससे यूनिट, उसके कामगारों और अखिल देश को

लाभ पहुंचे। इसके अतिरिक्त उसे उद्योगों के कामगारों के मन में साझेदारी की भावना उत्पन्न करनी चाहिए।

इन परिषदों को कल्याण-कार्यों की व्यवस्था करने, सुरक्षा-कार्यों की देखभाल करने तथा काम और छुट्टियों का नक्शा बनाने का दायित्व होगा। वे अपने संबंधित कारखानों के संचालन, उत्पादन, विक्रय-कार्यक्रम, आर्थिक अवस्था, आदि के बारे में विचार-विमर्श करके सुझाव देने की अधिकारी हैं। प्रबंध व्यवस्था को स्थायी आदेशों के प्रशासन के संबंध में उसका परामर्श लेना चाहिए तथा काम चालू रखने अथवा बंद करने के बारे में भी सलाह लेनी चाहिए।

परिषद की सदस्य-संख्या ६ से १२ तक होनी चाहिए तथा इसके निर्णय तभी वैध माने जाएंगे जब वे सर्व-सम्मत होंगे। उसके आधे सदस्य मजदूर संघ द्वारा चुने गये होंगे तथा शेष आधे प्रबंध द्वारा नामजद किये जाएंगे। इस परिषद का कार्यकाल दो वर्ष होगा और इसका अध्यक्ष (Chairman) तथा उपाध्यक्ष बारी-बारी से कामगारों का प्रतिनिधि हुआ करेगा।

उक्त परीक्षण किसी सुसंगठित उद्योग में किया जाना चाहिए जहां मजदूर संघ प्रबंधकों के साथ अपना कर्त्तव्य डट कर पूरा कर सकें। प्रत्येक स्तर पर इस बात का ध्यान रखना होगा कि कहीं कामगारों के प्रतिनिधि अपना निजी स्वार्थ पूरा न करने लगें। उन्हें कामगारों के साथ अपना संपर्क रखना होगा और अपने संस्थान की मजदूर-पंजी में उनका नाम लिखा रहेगा। कामगारों के प्रतिनिधियों तथा संघों के पदाधिकारियों को मालिक हानि न पहुंचाने पाएं, इसका आवश्यक ध्यान रखना होगा।

प्रत्येक स्तर पर श्रमिक प्रबंध का यह आपसी संपर्क श्रमिक और प्रबंध के बीच की खाई पाट देगा और आपसी संदेह तथा अविश्वास के बादल तितर-बितर हो जाएंगे तथा दुराग्रह का स्थान सहयोग ग्रहण कर लेगा।

कामगारों को अपना विशाल और कठिन दायित्व निबाहने के लिए तैयार करना चाहिए। मजदूर संघों को प्रत्येक संभव ढंग से अपनी शक्ति संगठित करनी चाहिए। बाहरी लोगों की जगह धीरे-धीरे कामगारों के भीतर से उत्पन्न स्वयं कामगार नेताओं को लेनी होगी। इस समय आंदोलन में फूट और प्रतिस्पर्धा का जो घुन लगा हुआ है उसे निकाल फेंकना होगा तथा उसमें एकता और शक्ति का संचार करना होगा। इसके अतिरिक्त संघों के लिए धन इकट्ठा करना होगा ताकि संगठन तथा और कल्याणकारी कार्यों पर उसे व्यय किया जा सके। जब तक मजदूर संघी संगठन में शक्ति पैदा नहीं हो जाती है तब तक दूसरे लोग उस पर अपना उल्लू सीधा करते रहेंगे। ज्यों-ज्यों उसमें शक्ति और आत्मविश्वास बढ़ता जाए त्यों-त्यों प्रबंध के क्षेत्र में दायित्व ग्रहण करने के लिए उसे कदम बढ़ाते जाना चाहिए।

मालिकों और कामगारों का दायित्व—प्रत्येक स्तर पर प्रबंध में कामगारों को भाग मिलने से वे काम की ओर अधिक ध्यान देने लगेंगे। मालिक ऐसी बहुत-सी बातों का सुझाव समय-समय पर देते आये हैं जिनसे मजदूर वास्तव में परिश्रम करने लगें। यह तरीका इस दिशा में लाभकारी सिद्ध होगा। कामगार की सुविधा का पूरा ध्यान रखना चाहिए और साथ ही यदि वह काम में सहयोग नहीं देता है या उसकी उपेक्षा करता है तो उसके साथ कड़ा व्यवहार भी आवश्यक है। यदि कामगारों के प्रतिनिधियों की सम्मति और सहयोग से कार्य-व्यवस्था की जाती है तो उक्त दोनों बातें संभव हैं। इस दशा में, जनता भी उनकी उपेक्षा और धृष्टता का तिरस्कार करने लगेगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना पर ४,८०० करोड़ रुपये की धनराशि सरकारी क्षेत्र पर व्यय होगी जिसका एक बड़ा भाग औद्योगिक क्षेत्र के लिए निश्चित किया गया है। इसलिए राष्ट्र के निर्माण के लिए संगठन और सहयोग की आवश्यकता है। कामगारों को इस काम में अपनी बुद्धि, संकल्प-शक्ति और शारीरिक शक्ति लगानी होगी। काहिल और डांवाडोल चित्त का श्रमिक-वर्ग अच्छी सेवा करने में समर्थ नहीं हो सकता है। जिन मजदूरों के मन में खटास है उन्हें उत्साह-वर्धक वेतन-प्रणाली तथा बोनस से भी कोई प्रेरणा नहीं मिल सकती है। यदि मजदूर और मालिक मिलकर प्रगति करना चाहते हों तो मालिकों को मजदूरों का यह संदेह निवारण करना होगा कि मालिक उनके परिश्रम से भारी लाभ उठा रहा है और बदले में उन्हें न-कुछ के बराबर मिल रहा है। कामगार किसी भी औद्योगिक कारखाने में एक प्रमुख साझीदार है जिसके सहयोग और अच्छे काम, अनुशासन और ईमानदारी के बिना न तो कारखाना उन्नति कर सकता है और न अधिक लाभ ही कमा सकता है। चाहे कारखाने की मशीनें कितनी बढ़िया क्यों न हों, यदि उसका मानव-तत्त्व हृदय से सहयोग नहीं करता है तो उद्योग नहीं पनप सकता। इसलिए मालिक, कामगार और समाज में लाभ का बंटवारा होना चाहिए। इस बटवारे में बड़ा भाग कामगार को मिलना चाहिए क्योंकि वह संपत्ति का उत्पादनकर्ता है।

सरकार और मालिकों को सरकारी और निजी क्षेत्रों में यह बात भलीभांति बता देनी चाहिए कि वे धमकी और दबाव के आगे न झुकें और इस बात को न भूलें कि जो अच्छा और न्याय्य है वह सदा ही अच्छा और न्याय्य रहेगा। प्रत्येक मामले में समझ-बूझ कर सिद्धान्तों के आधार पर काररवाई की जाए और यह काररवाई सही ढंग से अपनाई जाए।

सरकारी तथा निजी, दोनों क्षेत्रों में सरकार तथा उसके अफसरों, और कामगारों को मजदूरों की समस्याएं तथा मानसिक स्थिति समझने की चेतना होनी चाहिए ताकि औद्योगिक शांति कायम रखने के लिए जो दृष्टिकोण

आवश्यक है वह उनमें पैदा हो सके। जिन उद्योगों में मालिकों को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान है और कामगारों के संघ सुसंगठित हैं जो मजदूरों के पक्ष को प्रस्तुत कर सकती हैं, उनमें औद्योगिक विराम संधि हो जानी चाहिए। मालिकों और कामगारों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन होना चाहिए जो साझेदारी के आधार पर नये सिद्धान्तों की रचना करे और उत्पादन की मात्रा पर निश्चित समझौता कर ले तथा उद्योग के सरकारी तथा निजी अंचलों की संचालन-व्यवस्था के विषय की समस्त बातों का निर्णय कर ले।

यदि कामगार देश के औद्योगिक अर्थतंत्र में अपना सही स्थान प्राप्त करना चाहते हैं तो उन्हें अपने उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों की ओर अधिक ध्यान देना होगा और उन्हें स्वाधीनता का अर्थ अक्खड़पन तथा स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छंदता से न लगाना होगा। उन्हें तोड़फोड़ और प्रत्येक प्रकार की हिंसा से हाथ दूर रखना चाहिए तथा मन, वचन और कर्म में दुर्भावना की पुट न होनी चाहिए। तभी इस देश में एक समाजवादी लोकतंत्र की स्थापना हो सकती है जिसमें औद्योगिक संबंध उच्च कोटि के होंगे और उनसे देश तथा समाज का उपकार होगा।

उग्र परिवर्तनों की आवश्यकता—यदि दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत १२० लाख व्यक्तियों को रोजगार देना है, यदि प्रति व्यक्ति की आय समय रहते दोगुनी करनी है, यदि ७० प्र. श. जनता को जो अपनी जीविका के लिए खेतीबारी पर निर्भर है, यह अनुभव कराना है कि उसकी दशा सुधर रही है, यदि औद्योगिक कर्मचारी को यह विश्वास दिलाना है कि राष्ट्र-निर्माण के नाम की ओट में उसका शोषण नहीं हो रहा है, यदि राष्ट्र को नदी-घाटी योजनाओं जैसी कुछ ही निर्माण-योजनाओं पर संतोष नहीं कर लेना है, और यदि, संक्षेप में, उसे एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करनी है तो प्राचीन काल की अनुदार तथा गतिहीन केंचुल से लिपटी हुई जो हमारी आर्थिक और राजनीतिक पद्धति चली आ रही है उसमें अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन करने होंगे। नये समाज की रचना में श्रमिक तथा प्रबंध दोनों को महान् जिम्मेदारी पूरी करनी है। उनके आपसी संबंधों में किन-किन हेरफेरों की आवश्यकता है; और राष्ट्र के उत्पादन तथा समृद्धि को किसी प्रकार की क्षति पहुंचाये बिना उन्हें क्या करना है; इन सब बातों का निर्णय स्वयं उन्हें ही करना है।

अध्याय ६

राष्ट्रीय मजदूरी-नीति

परिचय

मजदूरी-नीति का महत्त्व—मजदूरी की नीति बनाने (Wage Policy) का प्रश्न श्रमिकों, प्रबंधकों और सरकार तीनों पक्षों के लिए विचारणीय है। कामगार के सामने जितनी भी समस्याएं मौजूद हैं उनमें मजदूरी की समस्या सबसे अधिक प्रभावशाली है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। वह क्या कमाई करता है, यह बात उसके जीवन में सुख-दुःख की कुंजी बन गयी है क्योंकि उसकी जीविका की मात्रा पर उसके और उसके परिवार के रहन-सहन का मानदंड निर्भर होता है। भारतीय कामगार के जीवन पर उसकी कमाई का और भी गहरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि यहां सामाजिक सेवाएं और सामाजिक सुरक्षाएं इनीगिनी हैं और उनसे अप्रत्यक्ष रूप से बहुत कम राहत मिलती है। उसके लिए मजदूरी का प्रश्न कितना टेढ़ा है, इसका प्रमाण यही है कि वह जिन विवादों में उलझा रहता है उनमें अधिकांश विवादों का संबंध मजदूरी की समस्या से होता है।

मालिक की दृष्टि में मजदूरी एक महत्त्वपूर्ण चीज होती है क्योंकि इसका प्रभाव उत्पादन की लागत (Cost of Production) पर पड़ता है। उदाहरण के लिए सूती कपड़ा मिलों में कपडे की उत्पादन-लागत का लगभग २५ प्र० श० भाग मजदूरों की मजदूरी होती है। मजदूरी का प्रभाव मालिक पर भी पड़ता है। मजदूरी ऊंची करने और कार्यावस्थाओं में सुधार करने की मांगों का प्रभाव प्रबंध-व्यवस्था पर पड़ता है क्योंकि वे वस्तुओं के मूल्य मंडी और उत्पादन की समस्याओं से संबंध रखती हैं। औद्योगिक योग्यता से भी मजदूरी की समस्या का लगाव है क्योंकि जब तक मजदूरों को अच्छी मजदूरी प्राप्त नहीं होगी तब तक उसकी योग्यता ऊंचे स्तर पर दृढ़ न रह सकेगी; और या तो वह काम ही छोड़ देगा या उसकी प्रतिभा का ह्रास हो जाएगा।

इस प्रकार मजदूरी की समस्या कामगार और मालिक दोनों से सीधा संबंध रखती है। किंतु सरकार को भी इस पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिए क्योंकि

समाज के प्रत्येक अंग के साथ न्याय करवाने का दायित्व उसी पर होता है और मजदूरी-नीति की बड़ी समस्याओं को सुलझाने का भार उसी पर है। वास्तव में स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, आवास, शिक्षा, मनोरंजन, आदि के बारे में मजदूरों की अवस्था सुधारने के लिए जो कल्याणकारी योजनाएं चालू हैं उनकी तुलना में भी मजदूरों को समुचित पारिश्रमिक देने की गारंटी कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है क्योंकि मजदूरों और मालिकों का औद्योगिक संबंध इस आधार पर मधुर बन जाता है और इसके परिणामस्वरूप देश की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है। मजदूर को सतोषजनक मजदूरी मिलने से उसके सहयोग का मार्ग खुल जाता है और राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रम में उसकी साझेदारी की स्पष्ट झलक मिलने लगती है जिसे चिरकाल से स्वीकार किया जा रहा है।

भारत का संविधान—भारतीय संविधान में मजदूरी की नीति के महत्त्व की ओर ध्यान दिया गया है। अनुच्छेद ४३ को इस बारे में राजकीय नीति का निदेशात्मक सिद्धांत माना जा सकता है। इसमें लिखा है कि राज्य समुचित विधि-विधान द्वारा, आर्थिक संगठन द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से समस्त कामगारों—खेतिहर, औद्योगिक तथा अन्य—के लिए निर्वाह-योग्य वेतन तथा उन कार्यावस्थाओं की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा जिससे मजदूरों का जीवन-स्तर सुंदर बन सके और वे अवकाश तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसरों का आनंद भोग सकें। संविधान के ३९वें अनुच्छेद में राजकीय नीति के निदेशात्मक सिद्धांत में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि स्त्री और पुरुष मजदूरों को समान वेतन मिलना चाहिए।

विदेशों में मजदूरी की स्थिति—सभी प्रगतिशील देशों में मजदूरी की नीति का महत्त्व स्वीकार किया जा चुका है। मजदूरी की दरों को कानून द्वारा अमल में लाना एक सामान्य बात बन गयी है। चाहे यह कानून देश की संसद द्वारा बनाया गया हो या उभय पक्षों के समझौते से निर्धारित हो गया हो या किसी तीसरे पक्ष ने पंचाट के रूप में थोप दिया हो। राज्य द्वारा बनाये हुए मजदूरी-कानून ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमेरिका और कुछेक देशों में चल रहे हैं। व्यापार-मंडलों (Trade Boards) ने ब्रिटेन और दक्षिण अफ्रीका में मजदूरी की दरें निश्चित कर दी हैं। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में तो विवाचन द्वारा मजदूरी सदा से निश्चित होती आ रही है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ और मजदूरी की नीति

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के ध्येय—अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के संविधान की प्रस्तावना में जिन ध्येयों का स्पष्ट अंकन किया गया है उनमें समान कोटि के कार्य

के लिए समान पारिश्रमिक के सिद्धांत को स्वीकार तथा निर्वाह के लिए पर्याप्त मजदूरी की व्यवस्था की गयी है। फिलाडेल्फिया की उद्घोषणा में अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने ये बातें स्वीकार की थीं : "यह संघ संसार के राष्ट्रों में उन कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करने का पवित्र दायित्व ग्रहण करता है जिनसे जीवन के स्तर का मानदंड ऊंचा उठ सकेगा...... जिनसे मजदूरी और कमाई, काम के घंटों तथा दूसरी कार्यावस्थाओं-संबंधी नीतियों को बढ़ावा मिलेगा, जिनका उद्देश्य यह है कि उन्नति के फल को सभी उचित रूप से भोग सकें, और जिनसे सभी कर्मचारियों को निर्वाह के लिए न्यूनतम मजदूरी तथा आवश्यकता पड़ने पर परिरक्षण प्राप्त हो सकेगा।"

अभिसमय (Convention)—जिन देशों में औद्योगिक कामगारों के लिए न्यूनतम मजदूरी नहीं मिलती है वहां ऐसी व्यवस्था करने पर उनके जीवन-स्तर में पर्याप्त सुधार हो जाएगा। इस बात को स्वीकार करने के बाद, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने न्यूनतम मजदूरी नियमन के तरीकों और सिद्धांतों पर विशेष ध्यान दिया है। इसके परिणामस्वरूप, इस विषय में तीन अभिसमय, कई अभिस्ताव और प्रस्ताव स्वीकार किये गये हैं।

१९२८ में न्यूनतम मजदूरी-निर्धारणतंत्र अभिसमय* के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के प्रत्येक सदस्य-देश को, जिसने इस अभिसमय को स्वीकार कर लिया है, एक ऐसी व्यवस्था करनी अथवा रखनी पड़ती है जो उन निर्धारित उद्योगों अथवा उनके अंगभूत भागों में काम करने वाले लोगों के लिए न्यूनतम मजदूरी दर निश्चित कर सकता है जिनमें सामूहिक समझौते आदि की प्रक्रिया द्वारा मजदूरी निर्धारित करने की कोई प्रभावशाली व्यवस्था नहीं है अथवा जिनमें मजदूरी दर अत्यंत अल्प है। मजदूरी तथा काम के घंटों के आंकड़े-संबंधी अभिसमय† में मजदूरी और काम के घंटों के आंकड़े का न्यूनतम कार्यक्रम दिया गया है जिसे अभिसमय स्वीकार करने वाले देशों ने प्रस्तुत किया है। मजदूरी, जहाज पर काम के घंटे तथा कर्मचारी भरती अभिसमय (१९४८ में संशोधित)‡ ने नाविकों की अंतर्राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी की राशि नियत कर दी है।

एशियाई देशों में मजदूरी-नीति—उपर्युक्त तीन अभिसमयों के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर एशियाई देशों की श्रम-व्यवस्था के अन्य अंगों पर ध्यान दिया है और उनके बारे में अनेक सिफारिशें और

---

* (I. L. O. Convention, No. 26.)
† (I. L. O. Convention, No. 63.)
‡ (I. L. O. Convention, No. 93.)

प्रस्ताव पास किये हैं। १९४७ में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के तत्त्वावधान में जो आरंभिक एशियाई प्रादेशिक श्रम-सम्मेलन नयी दिल्ली में हुआ था उसमें मजदूरी-नीति के संबंध में एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया था। इसमें कहा गया था कि एशियाई देशों के उद्योगों और व्यवसायों में कामगारों की मजदूरी मे जहां कमी है, वृद्धि होनी चाहिए ताकि वे निर्वाह-योग्य पगार पाने लगें। विभिन्न कारणों से सरकार यह अनुभव करती है कि उसे कामगारों की मजदूरी निश्चित करने तथा उसे लागू करने के लिए सक्रिय पग उठाना चाहिए। इस सम्मेलन ने एशियाई देशों की सरकारों से प्रार्थना की कि जहां संभव हो वहां वे सामूहिक समझौतों द्वारा अथवा समझौतों द्वारा मजदूरी का नियमन कर दें अथवा कानून द्वारा वेतन-बोर्ड स्थापित कर दें जिनमें कामगारों और मालिकों के प्रतिनिधियों को समान संख्या में स्थान प्राप्त हो। इनको उचित मजदूरी या प्रमाप मजदूरी (Standard Wage) निश्चित करने, सूचनांकों तथा संशोधित सूचकांकों और परिवार बजट-संबंधी पूछताछ के आधार पर भत्ता निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ से एशियाई देशों के सामूहिक समझौतों, वेतन-बोर्डों तथा औद्योगिक न्यायाधिकरणों की कार्यपद्धति का अध्ययन करने की प्रार्थना की गयी। इन्हें कामगारों को उचित मजदूरी दिलाने के कार्य में कहां तक सफलता मिली है, वह उसका भी अध्ययन करे तथा अपने अंतर्राष्ट्रीय अनुभव से यह बताये कि समस्त कामगारों को उचित मजदूरी दिलाने के लिए और क्या कार्यवाही की जाए।

जब १९५३ में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के तत्त्वावधान में एशियाई प्रादेशिक श्रम सम्मेलन का तीसरा सत्र टोक्यो में हुआ तब उसमें उक्त विषय पर फिर विचार किया गया और उसमें एशियाई देशों में मजदूरी नीति के ध्येयों, मजदूरी नियम के तरीकों तथा उनको प्रभावशाली ढंग से कार्यपरिणत करने के उपायों की फिर घोषणा की गयी। उक्त सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पास करके घोषणा की कि सरकार, मालिकों तथा कामगारों का एक सामान्य ध्येय है यथासभव अधिक से अधिक मजदूरी निर्धारित करना जो देश की आर्थिक दशा के अनुकूल हो। इस मजदूरी का उद्देश्य यह है कि भविष्य में विकास के कारण देश में जो आर्थिक समृद्धि बढ़े उसमें मजदूरों को उचित लाभांश दिया जाए। मजदूरी निर्धारित कराने के लिए सामूहिक समझौतो से बढ़कर और कोई बेहतर उपाय नहीं है, इस आशय की सिफारिश करते हुए उक्त प्रस्ताव में आगे कहा गया है कि जब तक देश में सामूहिक वार्ता द्वारा समझौता करने की प्रभावशाली क्रियापद्धति का समारंभ न हो जाए तब तक उस क्रियापद्धति को जन्म देने के लिए राज्य उन देशों के प्रत्येक व्यवसाय में मजदूरी के नियमन

के लिए कानून बना दे जहां सामूहिक सौदाकारी से सफलता नहीं मिल रही है या जहां अभी सामूहिक भावताव करने की पद्धति का आविर्भाव नहीं हुआ है। राज्य के कानून द्वारा न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करते समय त्रिदलीय व्यवस्था का सहारा लेना चाहिए। उक्त प्रस्ताव में यह भी लिखा है कि प्रत्येक देश में राज्य के कानून द्वारा निर्धारित मजदूरी-प्रणाली को कार्यपरिणत करने के लिए कानून द्वारा स्थापित एक अधिकारी व्यवस्था होनी चाहिए जिसके पास पर्याप्त कर्मचारी और साधन हों जो मजदूरी-प्रणाली को लागू कर सकें और मजदूरी-नियमन तथा भावी आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के बीच पटरी बैठाते रहें। सरकार, मालिकों तथा कामगारों के बीच आपसी परामर्श के लिए उचित व्यवस्था होनी चाहिए ताकि इन दोनों क्षेत्रों की विविध नीतियों में समन्वय करके उनको कार्यपरिणत किया जा सके।

भारत में वेतन-नियमन का इतिहास

आरंभिक काल — उद्योगीकरण के आरंभिक काल में भारत में मजदूरी दरें प्राय: आवश्यकता और पूर्ति के सिद्धांत द्वारा निर्धारित होती थीं। किंतु आगे चलकर ग्रामीण अर्थतंत्र छिन्न-भिन्न होने और दस्तकारों तथा खेतिहर कामगारों के बड़ी संख्या में बेरोजगार हो जाने से कामधंधे की खोज में व्यस्त श्रमिकों की संख्या में बाढ़-सी आ गयी। ये लोग प्राय: अनसीखे कामगार थे और उद्योगों में काम टटोलने के लिए घूमते रहते थे। इस प्रकार श्रमिक की पूर्ति आवश्यकता से बहुत अधिक हो गयी है। उस समय कामगारों की आवाज उठाने वाला कोई श्रम-आंदोलन न था जो उनको उचित मजदूरी दिला सकता। निदान, मजदूरी की दरें अल्प हो गयीं। धीरे-धीरे कामगारों में श्रमिक संघटन की भावना पैदा हो गयी, और वे अपने जीवन की बिगड़ी हुई हालत और काम की बुरी अवस्थाओं पर झींक उठे। अब वे जाग पड़े और अधिक मजदूरी और बेहतर कार्यावस्थाओं के लिए हाथ-पांव मारने लगे। किंतु, फिर भी किसी पक्ष या सरकार के कानों पर पहले महासमर के अंत तक इस बात की जूं तक न रेंगी कि उसे मजदूरी के नियमन का प्रयास करना चाहिए।

लगभग द्वितीय महासमर के आगमन तक औद्योगिक संबंधों में सरकारों का हाथ ही ऊंचा दिखता रहा। उन्होंने इस क्षेत्र में अबंध नीति (Doctrine of Laissez Faire) का सूत्रपात किया। जब १९३७ में प्रांतों में लोकप्रिय सरकारें बन गयीं, तब औद्योगिक विवादों में सरकार का हस्तक्षेप बढ़ गया। युद्धकाल में और उसके बाद, विभिन्न राज्य सरकारों और केंद्रीय सरकार ने मजदूरी-संबंधी झगड़ों के निपटारे के लिए औद्योगिक न्यायालय और पंच

नियुक्त किये। इनके निर्णयों से देश के विभिन्न उद्योगों के कितने ही मजदूरों की मजदूरी की दरें तय हो गयी हैं।

औद्योगिक विराम-संधि — १९४७ में इस देश में एक अनसुनी औद्योगिक अशांति देखने में आयी। इससे १६६ लाख श्रमिक दिनों की हानि हुई जो १९३९ के बाद की सबसे बड़ी संख्या है। उत्पादन में चारों ओर कमी देखने में आती थी और "उत्पादन करो या बरबाद हो जाओ" के नारे सुनायी देते थे। दिसंबर १९४७ में, केंद्रीय सरकार ने राज्य-सरकारों, मालिकों और मजदूरों के प्रतिनिधियों का एक त्रिदलीय सम्मेलन बुलाया जिसके सामने विचारने का विषय यह था कि उक्त स्थिति का क्या उपचार किया जाए।

सम्मेलन ने सर्वसम्मति से वह प्रस्ताव स्वीकार किया जिसे औद्योगिक विराम प्रस्ताव कहते हैं। इस प्रस्ताव का उद्देश्य था कि वे उपाय काम में लाये जाएं जिनसे श्रमिकों और मालिकों का आपसी संबंध सुधरने लगे जो उस समय दिन-पर-दिन बिगड़ता जा रहा था; और इस प्रकार उत्पादन बढ़ सके। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि देश के अर्थतंत्र के लिए उत्पादन बढ़ाना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और वह बिना श्रमिकों और प्रबंधकों के आपसी सहयोग के, संभव नहीं।

औद्योगिक विराम प्रस्ताव (Industrial Truce Resolution) का अनुशीलन करते हुए, उचित मजदूरी समिति (Fair Wages Committee) और लाभ-बंटवारा बोनस समिति (Profit-Sharing Bonus Committee) केंद्रीय सरकार द्वारा स्थापित की गयीं। इन समितियों में त्रिदलीय प्रतिनिधि थे।

उचित मजदूरी समिति — उचित मजदूरी समिति ने अपने प्रतिवेदन में न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wage) और निर्वाह मजदूरी (Living Wage) की व्याख्या की थी। उसमें लिखा था कि वर्तमान राष्ट्रीय आय को देखते हुए इस समय निर्वाह-मजदूरी निश्चित करना संभव नहीं है। इसलिए विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखकर न्यूनतम मजदूरी और निर्वाह-मजदूरी के बीच में उचित मजदूरी निश्चित कर देना चाहिए। इन परिस्थितियों में सबसे महत्त्वपूर्ण परिस्थिति किसी कारखाने की मजदूरी देने की क्षमता थी। केवल उचित कार्य-भार के लिए ही उचित मजदूरी देना ठीक था। किसी उद्योग में कितनी मजदूरी देने की क्षमता है? यह प्रत्येक प्रदेश में उसके विशेष उद्योग द्वारा ही निश्चित होनी चाहिए। "देने की क्षमता" का वाक्यांश स्वयं अस्पष्ट है। इसकी परिभाषा लचर है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि कोई उद्योग मजदूरी पर उतना ही व्यय करेगा जिससे उद्योग का उत्पादन अच्छी तरह चालू रहे और जहां संभव हो बढ़ जाए, तथा वर्तमान

मजदूर-संख्या को रोजगार मिला रहे। इसलिए समिति का यह विचार कदापि नहीं था कि मजदूरी की दर इतनी ऊंची होनी चाहिए जिससे एक बड़े पैमाने पर मजदूरों की छटनी करनी पड़े और उससे बेरोजगारी को बढ़ावा मिले। जहां समान कार्य के लिए समान मजदूरी देने का सिद्धांत स्वीकार किया गया है, उक्त प्रतिवेदन में कहा गया था कि कामगार की आवश्यकताओं के आधार पर मजदूरी-दर निर्धारित की गयी है इसलिए कामगार की तुलना में कामगारिन (कामिन) का परिवार छोटा मानना चाहिए। समिति ने जिस उचित मजदूरी की परिकल्पना की है उसको निश्चित करने वाली व्यवस्था के सदस्य ये हैं : केंद्र में अपील समन्वयकर्ता मंडल (Appellate Coordinating Board) और प्रत्येक राज्य में एक राज्य-मंडल (State Board)। इस राज्य-मंडल के अंतर्गत आवश्यकतानुसार तदर्थ प्रादेशिक मंडल स्थापित किया जा सकता है।

उचित मजदूरी विधेयक (Fair Wages Bill)—उचित मजदूरी समिति के प्रतिवेदन के आधार पर, १९५० में केंद्रीय सरकार ने संसद में उचित मजदूरी विधेयक प्रस्तुत किया। बीच में चालू संसद भंग होने के कारण इस विधेयक का काल समाप्त हो गया और तब से इस संबंध में अभी कोई दूसरा कदम नहीं उठाया गया है।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (Minimum Wages Act)—संसद में उचित मजदूरी विधेयक प्रस्तुत किये जाने से पहले, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम १९४८ पास हो गया था। इस अधिनियम ने केंद्रीय और राज्यों की सरकारों को कुछ उद्योगों के कामगारों की मजदूरी की न्यूनतम दरें निश्चित करने का अधिकार दे दिया। ये उद्योग थे ऊनी गलीचे-बनाने तथा शाल-बुनने वाले संस्थान, चावल, आटा अथवा दाल मिलें, तंबाकू (बीड़ी समेत) निर्माता संस्थान, चाय-उद्यान, तेल-मिलें, स्थानीय प्राधिकारियों के अंतर्गत रोजगार-धंधे, सड़क-निर्माण अथवा भवन-रचना, पत्थर की गिट्टी तोड़ने वाले तथा लाख निर्माता, अभ्रक का काम, सार्वजनिक मोटर परिवहन, चमड़ा कमाने तथा चमड़ा का काम करने वाले संस्थान तथा कृषि। इस अधिनियम ने समुचित सरकार को इस बात का अधिकार दे रखा है कि वह जिस उद्योग में कानून द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी निश्चित करना ठीक समझे वहां ऐसा कर सकती है। इस अधिनियम में मजदूरी निश्चित करने तथा मजदूरी में संशोधन करने के लिए समुचित सरकार की सहायता को समितियां, उपसमितियां, सलाहकार समितियां, सलाहकार उपसमितियां, सलाहकार मंडल तथा एक केंद्रीय सलाहकार मंडल नियुक्त करने की व्यवस्था है। ये संस्थाएं त्रिदलीय होंगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना में मजदूरी-नीति के महत्त्व पर बल दिया गया है। जब यह योजना बन रही थी तब मुद्रास्फीति अपना सिर उठा रही थी। युद्धकाल में तथा उसके बाद मूल्य तेजी से बढ़ गये। योजना आयोग ने बताया था कि यदि मजदूरी कुछ और बढ़ गयी तो देश की आर्थिक स्थिरता के लिए संकट पैदा हो जाएगा; तथा मजदूरी की वृद्धि से कदाचित् कामगारों को भी कोई वास्तविक लाभ न होगा क्योंकि उसका प्रभाव उत्पादन परिव्यय तथा वस्तुओं के मूल्य पर पड़े बिना नहीं रहेगी। इसलिए आयोग ने इस शर्त पर मजदूरी सीमित करने के उपाय बरतने की सिफारिश की कि उनके साथ लाभ-वितरण पर भी अंकुश रखने की कार्यवाही की जाएगी। फिर भी योजना का संचालन करते समय प्राधिकारियों ने उस सिद्धांत की ओर से आंखें मूंद लीं और औद्योगिक अंचल में जब मजदूरी का कोई विवाद छिड़ा तब या तो न्यायाधिकरणों के पंचाटों या सामूहिक सौदाकारी से उसका निपटारा कर दिया गया तथा लाभ का वितरण निर्बाध रूप से होता रहा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना ने मजदूरी के संबंध में निम्नांकित महत्त्वपूर्ण सिफारिशें और की हैं :

(१) सरकारी कारखानों में मजदूरी निजी उद्योगों में चालू मजदूरी से कम न होनी चाहिए।
(२) त्रिदलीय आकार-प्रकार का स्थायी वेतन-बोर्ड स्थापित किया जाए।
(३) मजदूरी, लाभ तथा भुगतान की शर्तों और अवस्थाओं के प्रश्नों के अध्ययन तथा मजदूरी और बोनस की परिस्थितियों और स्तर का निर्देश करने के लिए देश तथा विदेशों के योग्य प्राविधिक विशेषज्ञ उपलब्ध करने चाहिए।
(४) मजदूरी का मानक स्थिर करने में देर न होनी चाहिए और उसका प्रयोग यथासंभव एक विशाल क्षेत्र में करना चाहिए।
(५) विभिन्न व्यवसायों और उद्योगों में आनुपातिक कार्यभार का वैज्ञानिक ढंग से निर्णय करना चाहिए।
(६) महंगाई भत्ता समिति ने जो यह सिफारिश की थी कि महंगाई भत्ते का ५० प्रतिशत अंश केंद्रीय सरकार के कर्मचारियों के मूल वेतन में शामिल कर देना चाहिए, वह निजी क्षेत्र के कामगारों पर भी लागू होना चाहिए।
(७) न्यूनतम मजदूरी अधिनियम को पूरी तरह प्रभावशाली ढंग से कार्यपरिणत करना चाहिए तथा खेतिहर कामगारों के लिए न्यूनतम मज-

दूरी निर्धारित करने की दिशा में सीमित रूप से आरंभिक कदम उठाना चाहिए।

आयोग की ऊपर बतायी गयी अधिकांश सिफारिशें अभी कागजों पर लिखी हुई पड़ी हैं और उनके बारे में अभी तक कोई ठोस कार्यवाही नहीं हुई है।

यद्यपि न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के बारे में कुछ कार्यवाही की गयी है फिर भी अभी इस कार्यवाही का केवल समारंभ ही समझना चाहिए।

पिछली मजदूरी निर्धारित करने के सिद्धांत

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के दोष—यद्यपि न्यूनतम मजदूरी अधिनियम १९४८ के अंतर्गत विभिन्न अनुसूचित सेवाओं के कामगारों की मजदूरी विभिन्न राज्यों में निश्चित हो गयी है फिर भी इस अधिनियम में न्यूनतम मजदूरी की कोई निश्चित और स्पष्ट व्याख्या न होने के कारण उसकी व्याख्या करने तथा न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के सिद्धांत अपनाने में विभिन्न मजदूरी-निर्धारक प्राधिकारियों ने भिन्न-भिन्न सिद्धांत अपनाये हैं तथा उसके भिन्न-भिन्न अंगों पर बल दिया है। निदान, आजकल मजदूरी की दरें आश्चर्यजनक रूप से भिन्न-भिन्न है। यह मानना होगा कि मजदूरी की दरों में एकरूपता का सिद्धांत न तो ग्राह्य है और न व्यावहारिक ही है। फिर भी विभिन्न राज्यों के आधारभूत सिद्धांतों में समन्वय और थोड़ी-बहुत एकरूपता होनी ही चाहिए। आधारभूत-सिद्धांतों से तात्पर्य है न्यूनतम मजदूरी की राशि तथा अन्य बातें जिनका संबंध कामगारों के परिवार के आकार-प्रकार से होता है, जिस पर मजदूरी-निर्धारक प्राधिकारियों को ध्यान देना पड़ता है। सहयोग और एक-रूपता की आवश्यक भावना अभी तक विलुप्त है।

मजदूरी की राशि निर्धारित—मजदूरी की राशि निर्धारित करने के विषय में प्राधिकारियों ने उचित मजदूरी समिति की व्याख्या को ग्रहण किया है। इस व्याख्या के अनुसार न्यूनतम मजदूरी का अर्थ यह नहीं कि कामगार को भर-पेट भोजन दिया जाए बल्कि इसका अर्थ यह भी है कि कुछ सीमा तक उसकी शिक्षा, चिकित्सा और अन्य सुविधाओं का भी ख्याल रखा जाए ताकि उसकी कार्य-क्षमता कम न होने पाए। इस न्यूनतम मजदूरी की राशि निर्धारित करने के लिए प्राधिकारियों ने कुछ परिवार-बजट तैयार करवाये थे जिनसे आवश्यक न्यूनतम मजदूरी का पता चल सके। किंतु बाद में, इस न्यूनतम मजदूरी में उद्योगों की मजदूरी-अदायगी की क्षमता को देखते हुए कटौती कर दी गयी। बंबई की एक समिति का कहना था : "अपने सभी उद्योगों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वैध रूप से न्यूनतम मजदूरी उतनी नियत करनी

संतोष है कि उन्होंने केवल अनसीखे कामगारों के लिए न्यूनतम मजदूरी-दर निश्चित कर दी है।

महंगाई भत्ता—विभिन्न राज्यों ने मजदूरी-दरें निश्चित करने में भिन्न-भिन्न रीति-नीति अपनायी है, यहां तक कि एक ही राज्य ने विभिन्न सेवाओं के कामगारों के प्रति विभिन्न नीति अपनायी है। मध्यप्रदेश, पंजाब, बंबई और बिहार की सरकारों ने सब-कुछ मिलाकर मजदूरी-दरें निश्चित की हैं जबकि मद्रास, असम और पश्चिम बंगाल ने प्रायः मूल मजदूरी-दर तथा महंगाई भत्ता अलग-अलग नियत किया है। दिल्ली में मूल मजदूरी और महंगाई भत्ता मिलाकर मजदूरी-दर नियत है। किंतु यहां निर्वाह के व्यय के सूचकांकों के उतार-चढ़ाव के साथ मजदूरी में भी बढ़ोतरी और कटौती होती रहती है।

अब प्रश्न यह है कि क्या महंगाई भत्ते को निर्वाह के व्यय के सूचकांकों से संबंधित करना चाहिए ? यदि हां, तो निर्वाह के व्यय की वृद्धि को कहां तक रोका जा सकता है, यह प्रश्न उचित सूचकांकों से संबंधित है। इस रोकथाम के प्रश्न अर्थात् महंगाई के भत्ते के बारे में मतभेद हैं और जो कोई भी निर्णय किये गये हैं, वे कुछ-न-कुछ मनगढ़ंत हैं। प. बंगाल में यह प्रतिशतक भत्ता चावल मिलों में ३१.५, आटामिलों में ४४ तथा चमड़ा कमाने तथा चमड़े का सामान बनाने वाले संस्थानों में ४५ है। उद्यान समिति (Committee for Plantations) ने बागों के मजदूरों के भत्ते की राशि इस प्रकार हिसाब लगाकर निकाली थी कि कामगार की प्रस्तावित कुल न्यूनतम मजदूरी में से बुनियादी मजदूरी की राशि घटा दी थी।

सामान्य अंगीकृत सिद्धांत—न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने में, अन्य देशों की भांति इस देश के मजदूरी-निर्धारणकारी प्राधिकारियों ने निम्नलिखित तीन सिद्धांतों का अनुशीलन किया है : (१) निर्वाह-मजदूरी; (२) उचित मजदूरी तथा (३) उद्योग की क्षमता के अनुसार मजदूरी। इन सिद्धांतों पर समय-समय पर न्यूनाधिक बल दिया जाता रहा है। विभिन्न परिस्थितियों का इस पर प्रभाव पड़ता रहा है। उदाहरण के लिए, केंद्रीय वेतन आयोग, बंबई औद्योगिक न्यायालय (बंबई में सूती कपड़ा उद्योग के विषय में) तथा संयुक्त प्रांत श्रमिक जांच समिति ने न्यूनतम मजदूरी निर्धारण के लिए निर्वाह मजदूरी पर बल दिया था किंतु न्यायिक निर्णयकारियों तथा न्यायाधिकरणों ने उचित मजदूरी के सिद्धांतों पर बल दिया है और बहुत-कुछ मनगढ़ंत पैमाने के आधार पर न्यूनतम मजदूरी नियत कर दी है।

न्यूनतम मजदूरी निर्धारण के मौलिक सिद्धांतों के अतिरिक्त जिन बातों का प्रभाव इस प्रश्न पर पड़ता है उनकी ओर मजदूरी-निर्धारक प्राधिकारियों ने बहुत थोड़ा ध्यान दिया है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय अर्थतंत्र में उद्योग का स्थान, राष्ट्रीय आय का स्तर और श्रमिक की क्षमता पर प्राय: ध्यान नहीं दिया गया है।

न्यूनतम मजदूरी और निर्वाह-मजदूरी

न्यूनतम मजदूरी — न्यूनतम मजदूरी निर्धारित का मूल उद्देश्य कामगार-जनसंख्या के उन भागों के जीवन-स्तर को सुधारना है जिनको बहुत कम मजदूरी मिल रही है और जिनकी अवस्था भौतिक दृष्टि से असंतोषजनक है। आरंभ में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने की मांग उन लोगों ने की जो "काम करने में पसीना बहाते" थे और फिर भी पेट भर भोजन न पाते थे। इसलिए आरंभिक काल में न्यूनतम मजदूरी का कानून उन सेवाओं पर ही लागू रहा जहां मजदूरी अनुचित रूप से कम थी। तब से अन्य कम परिश्रम वाले उद्योगों में भी न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने की मांग जोर पकड़ने लगी, विशेषकर उन फैक्टरियों में जहां श्रमिकों का संगठन नहीं हुआ है अथवा दुर्बल है।

न्यूनतम वेतन का विधान उस सामान्य सामाजिक विधान का अंग है जिसका प्रादुर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी* के उत्तरार्ध में कुछ देशों में हुआ था। प्राय: आरंभ से ही, न्यूनतम मजदूरी नियमन में दो अन्य सारगर्भित चीजें दिखायी देती हैं जो धीरे-धीरे महत्त्वपूर्ण बन गयीं। ये हैं : (अ) औद्योगिक विवादों की रोकथाम की आवश्यकता और (ब) राष्ट्रीय जीवन-स्तर सुधारने अथवा उसकी रक्षा करने की इच्छा। निदान, दो प्रकार के मजदूरी नियमों का प्रादुर्भाव हुआ : पहला असंगठित और कम मजदूरी-भोगी कामगारों के गुटों के हित की रक्षा के लिए स्पष्ट कानून द्वारा नियमन। इन कामगारों की श्रेणी में परिश्रम-साध्य व्यवसायों के कामगार तथा स्त्रियां और अल्पवयस्क कामगार आते हैं। दूसरा, अनिवार्य सरकारी सुलह अथवा विवाचन द्वारा औद्योगिक विवादों के निपटारे की अवधि में मजदूरी का नियमन। पहले प्रकार का उपचार ब्रिटिश व्यापार और वेतन-बोर्ड द्वारा अपनाया गया है; उसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों के विधान में, कनाडा के प्रांतों के विधान में तथा दक्षिण अमेरिका के कुछेक देशों के विधान में भी

* I. L. O. Report on Minimum Wage Fixing Machinery, p. 9.

अपनाया गया है। दूसरे प्रकार का उपचार आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड जैसे देशों में दिखायी देता है।

जिन देशों ने न्यूनतम मजदूरी के नियमन के लिए विधि-विधान बनाये हैं, उनमें कुछ ने तो अधिनियम या आसंप्ति द्वारा देश में कामगारों के वर्गों या किसी वर्ग को कितनी न्यूनतम मजदूरी मिलनी चाहिए उसकी उद्घोषणा कर दी है; तथा अन्य देशों ने अपने यहां न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने या उसकी दरों में संशोधन करने के लिए एक स्थायी मजदूरी-निर्धारक तंत्र स्थापित कर दिया है। उदाहरण के लिए, न्यूजीलैंड में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम द्वारा यह निश्चित कर दिया गया है कि वयस्क कामगार और कामगारिन (कामिन) को कितना-कितना वेतन मिलना चाहिए। आस्ट्रेलिया के कुछ राज्यों में न्यूनतम मजदूरी-संबंधी कानून प्रचलित हैं। सामान्यतः कानून बनाने का उद्देश्य यह होता है कि राष्ट्रीय मजदूरी अथवा व्यापार-बोर्ड स्थापित किये जाएं जिनको न्यूनतम मजदूरी दर निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त है। इन निकायों में प्रायः सभी को प्रतिनिधित्व दिया जाता है जो कोई निर्णय करते समय सभी बातों का ध्यान रखते हैं।

अधिकांश मजदूरी कानूनों में न्यूनतम मजदूरी निर्धारण के लिए निर्वाह मजदूरी के सिद्धांत का सहारा लिया गया है। किंतु निर्वाह-मजदूरी की परिभाषाओं में आकाश और पाताल का अंतर है। किन्हीं-किन्हीं देशों (कोस्टारीका और पानामा) में कामगारों की सामान्य आवश्यकताओं का मामूली उल्लेख किया गया है; किंतु किन्हीं-किन्हीं में निर्वाहकारी स्तर के प्रत्येक विषय पर स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त दो बातों पर और ध्यान दिया गया है। विभिन्न देशों के मजदूरी नियामकों ने "उचित मजदूरी" (अर्थात् समान निपुणता, कठिनाई अथवा अरुचि का कार्य करने वाले कामगार को समान मजदूरी देने) तथा उद्योग की मजदूरी देने की क्षमता पर भी ध्यान दिया है। बंबई सूती कपड़ा मजदूर जांच समिति ने बताया है कि "निर्वाह-मजदूरी को आधार मानकर जहां न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की गयी है वहां एक बिल्कुल बाहरी मानदंड कायम हो गया है। किंतु, वास्तव में, जहां कहीं मजदूरी निर्धारित करने अथवा पंचाट देने में निर्वाह-मजदूरी का सिद्धांत काम में लाया गया है वहां अन्य व्यावहारिक परिस्थितियों का भी प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रहा है।"

निर्वाह-मजदूरी—१९०७ में एक न्यायालय ने निर्वाह-मजदूरी की परिभाषा की। कामनवेल्थ सुलह और विवाचन न्यायालय (आस्ट्रेलिया) के अध्यक्ष न्यायमूर्ति हिग्गिस ने कहा था कि "बुनियादी मजदूरी वह न्यूनतम मजदूरी है जो एक अनसीखे श्रमिक को उस औसत कामगार की आव-

श्यकताओं को ध्यान में रख कर दी जा सकती हैं जिसे सभ्य समाज में रहने वाला व्यक्ति माना जाता हो।" न्यायमूर्ति हिग्गिंस के कथनानुसार निर्वाह-मजदूरी कामगार के भोजन, आवास, वस्त्र, समुचित आराम तथा दुर्दिन के संकटों के निवारण की व्यवस्था के लिए पर्याप्त होती है। एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा था कि "पाणिग्रहण संस्कार वयस्क का सामान्य आचार है और जो मजदूरी वैवाहिक जीवन का मार्ग प्रशस्त नहीं करती तथा एक घर में लगभग पांच व्यक्तियों का भरण-पोषण करने में समर्थ नहीं होती है, उसे निर्वाह-मजदूरी नहीं माना जा सकता है।" १९१२ के दक्षिण आस्ट्रेलियाई अधिनियम के अनुसार, निर्वाह-मजदूरी का अर्थ "उस धन-राशि से है जो काम के किसी क्षेत्र में रहने वाले सामान्य कामगार की सामान्य और न्यायसंगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त हो।"

१९१९ में संयुक्त राज्य अमेरिका की अन्वीक्षात्मक आयव्ययक जांच की अवधि में, श्रम आंकड़ा कार्यालय के आयोग ने तीन दृष्टियों से बजटों का विश्लेषण किया था; अकिंचनता तथा दरिद्रता का स्तर, न्यूनतम निर्वाह-स्तर, तथा न्यूनतम स्वास्थ्य और आराम-स्तर, और अंतिम चीज को निर्वाह-मजदूरी निर्धारित करने में अपनाया था। आस्ट्रेलिया-संघ के लिए नियुक्त राजकीय बुनियादी वेतन आयोग ने उक्त प्रणाली को स्वीकार करके न्यूनतम स्वास्थ्य और आराम-स्तर को अपनाया था क्योंकि इसमें भरण-पोषण की कुछ ऊंची व्यवस्था थी। इसमें केवल भोजन, आवास और शारीरिक आच्छादनों की ही व्यवस्था न की गयी थी किंतु इसमें शरीर के आराम के लिए पर्याप्त वस्त्रों, वस्त्रधारण करने वाले की आत्मसम्मान और शिष्टता की भावना के अनुरक्षण, अधिक भयावह आपत्तियों विकलांगता तथा अग्नि से बचाव, बच्चों की सुशिक्षा, कुछ मनोरंजनों तथा आत्म-विकास पर कुछ व्यय की व्यवस्था थी।

भारत में निर्वाह-मजदूरी का उक्त सिद्धांत स्वीकार किया गया है। संयुक्त प्रांत श्रमिक जांच समिति ने जीवन-स्तर को चार स्तरों में विभक्त किया है : दरिद्रता-स्तर, न्यूनतम निर्वाह-स्तर, निर्वाह में आराम स्तर और आराम स्तर, और उसने जिसे "न्यूनतम निर्वाह-मजदूरी" कहते हैं उसका आधार निर्वाह आराम स्तर को चुना था। बंबई कपड़ा मजदूर जांच समिति, १९३७ ने पहले विभिन्न देशों की निर्वाह-मजदूरी के सामान्य सिद्धांतों का उल्लेख किया और फिर सामान्य स्थितियों और व्यवस्थित बजटों का विवरण देकर उसने यह दिखाने का प्रयास किया कि बुनियादी मजदूरी कितनी होनी चाहिए ताकि वह विशेष देश-काल की परिस्थितियों की दृष्टि से निर्वाह-मजदूरी के मानक के निकट आ सके।

न्यूनतम मजदूरी-निर्धारक तंत्र (Minimum Wage-Fixing

Machinery) में जिसे अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने प्रकाशित किया है, निम्नांकित अभिमत प्रकट किया गया है :

"विभिन्न देशों में निर्वाह-मजदूरी की राशि निर्धारित की गयी है किंतु अनुसंधाताओं के दृष्टिकोणों में विभिन्नता होने के कारण उनके आकलनों को कम-से-कम निम्नांकित तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) केवल निर्वाह के लिए आवश्यक धन-राशि;
(२) स्वास्थ्य और सुरुचिता के लिए आवश्यक धन-राशि; तथा
(३) आराम की एक सीमा तक व्यवस्था करने के लिए आवश्यक धन-राशि ।"

संसार के विभिन्न भागों में निर्वाह-मजदूरी के बारे में जो विचार हैं उनके ऊपर लिखे संक्षिप्त विवरण से उसका सामान्य रूप स्पष्ट हो जाता है । निर्वाह-मजदूरी के सिद्धांत के अंतर्गत कमाने वाले पुरुष की इतनी कमाई होनी चाहिए कि वह स्वयं और अपने परिवार को केवल भोजन, वस्त्र और आवास ही उपलब्ध न कर सके बल्कि अपने बच्चों की शिक्षा, उनके स्वास्थ्य की रक्षा, आवश्यक सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति, अधिक भयावह आपत्तियों से रक्षा और बुढ़ापे में खाने-पीने की व्यवस्था भी कर सके ।

उचित मजदूरी

परिभाषा—न्यूनतम मजदूरी और निर्वाह-मजदूरी का अर्थ कुछ भी क्यों न हो, आजकल श्रमिकों की सबसे महत्त्वपूर्ण मांग यह है कि उन्हें उचित मजदूरी की गारंटी दी जाए । उचित मजदूरी शब्द को यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है । इसकी परिभाषा इस कल्पना के आधार पर कर दी गयी है कि कुछ उद्योगों और स्थानों में उचित मजदूरी पहले से ही मिल रही है, और दूसरे स्थानों की मजदूरी से उसकी तुलना करने पर, परिश्रम-वाले उद्योगों में अथवा जहां मजदूरों में सौदाकारी की शक्ति नहीं है, वहां अपने-आप उचित मजदूरी मिलने लगेगी ।

उदाहरण के लिए, सामाजिक विज्ञान विश्वकोश में लिखा है कि उचित मजदूरी वह राशि है जो समान निपुणता, कठिनाई और अरुचि का काम करने वाले कामगार की मजदूरी की राशि के बराबर होती है । इसका तात्पर्य यह है कि जब मजदूरी-निर्धारक तंत्र ने मजदूरी निश्चित करना आरंभ किया तब उसके सामने कोई निर्धारित मानदंड था जिसकी तुलना में विचारणीय बातों पर ध्यान दिया जा सकता था ।

यही बात अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के न्यूनतम मजदूरी-निर्धारण तंत्र की सिफा-

रिश* के बारे में कही जा सकती है। इसमें कहा गया है कि "मजदूरी की न्यूनतम दरें निर्धारित करने के उद्देश्य से, उन विभिन्न व्यवसायों में समान कार्य के लिए दिये जाने वाली मजदूरी की दरों की ओर ध्यान देना चाहिए जहां कामगार अच्छी तरह संगठित हो गये हैं, और उन्होंने प्रभावशाली ढंग से सामूहिक करार कर लिये हैं। यदि इस प्रकार की मजदूरी-दरें फिलहाल तय न करायी जा सकें तो देश में प्रचलित सामान्य मजदूरी-दरों अथवा क्षेत्र विशेष में प्रचलित मजदूरी-दरों पर ध्यान दिया जा सकता है।"

मार्शल के मत से किसी भी व्यवसाय में वे चालू मजदूरी-दरें "उचित ही हैं जो समान कठिनाई और अरुचि के तथा समान प्रतिभा और समान व्यय-साध्य प्रशिक्षण के अन्य व्यवसायों में समान काम की औसत मजदूरी-दरों के लगभग बराबर होती हैं।" प्रो० पिगो ने उचित मजदूरी की दो कसौटियां स्वीकार की हैं अर्थात् "संकीर्ण रूप से उचित" तथा "व्यापक रूप से उचित।" उनके मत से, वह मजदूरी-दर संकीर्ण रूप से उचित माननी चाहिए जो उसी व्यवसाय में तथा पड़ोस में समान काम करने वाले कामगार की चालू मजदूरी के बराबर है तथा वह मजदूरी-दर व्यापक रूप से उचित माननी चाहिए जो सभी व्यवसायों में तथा देश भर में समान काम के लिए प्रायः दी जाती है। इन परिस्थितियों में मजदूरी-दरों को तुलनात्मक दृष्टि से तय किया गया है, किंतु जिन उद्योगों में तथा जिन प्रदेशों में श्रमिक अच्छी तरह संगठित हैं वहां वे सामूहिक सौदाकारी से अपना उद्देश्य सफल कर सकते हैं।

उचित मजदूरी निर्धारित करने में जिन सिद्धांतों को कसौटी माना जा सकता है उनमें न्यूनतम मजदूरी तथा निर्वाह-मजदूरी के सिद्धांतों की ओर सबसे पहले ध्यान जाता है और उनका वर्णन इस पुस्तक में पहले हो चुका है। विदेशों में, विशेषतः आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा में, जहां राष्ट्रीय आय बहुत अधिक है, निर्वाह-मजदूरी न्यूनतम मजदूरी का प्रमुख आधार है। इन देशों में निर्वाह-मजदूरी (निर्वाहिका) तथा न्यूनतम मजदूरी में कोई बड़ा अंतर दिखायी नहीं देगा।

उद्योग की क्षमता—इन दो बातों के अतिरिक्त, एक तीसरी बात का उचित मजदूरी-निर्धारण पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यह है किसी उद्योग की अपनी निजी क्षमता अथवा सामान्य क्षमता। न्यूनतम मजदूरी कानूनों में इसका उल्लेख नहीं किया गया है, किंतु व्यवहार में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। मजदूरी और उद्योग की क्षमता में एक घनिष्ट संबंध होता है। मजदूरी-निर्धारण के लिए उसे एक आधार बनाने की दृष्टि से यह बात कैसी बेतुकी

* Recommendation No. 30.

होगी कि निर्वाह-मजदूरी की कल्पना उस सीमा पर की जाए जो उद्योग की भुगतान करने की क्षमता के बाहर है। निःसंदेह इस दशा में पृथक्-पृथक् उद्योग अथवा उसकी प्रत्येक शाखा की क्षमता पर नहीं बल्कि समस्त उद्योग की क्षमता पर ध्यान देना होगा। इसलिए किसी उद्योग की मजदूरी देने की क्षमता, जैसा कि ऊपर उसका विश्लेषण किया जा चुका है, मजदूरी-निर्धारण का एक महत्त्व-पूर्ण और व्यावहारिक आधार है।

निर्वाह-मजदूरी का लक्ष्य—यद्यपि नियमानुसार निर्वाह-मजदूरी ही लक्ष्य है फिर भी, यहां तक कि प्रगतिशील देशों में भी इस पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है जिनमें अन्य उद्योगों में मजदूरी का सामान्य स्तर तथा निर्दिष्ट उद्योग की मजदूरी देने की क्षमता का प्रश्न सबसे पहले आता है। इस सूत्र को प्रायः उन सभी प्राधिकारियों ने अपनाया है जिन्हें मजदूरी-निर्धारण का काम सौंपा गया था।

उचित मजदूरी बनाम निर्वाह-मजदूरी—प्रत्येक सभ्य देश का लक्ष्य कामगारों के लिए निर्वाह-मजदूरी चालू करना है। विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय उद्घोषणाओं में इसका डंका बज रहा है। यद्यपि भारत का भी यही लक्ष्य है किंतु वर्तमान अवस्था में वह उचित मजदूरी से अपना काम चला रहा है क्योंकि फिलहाल उसके मार्ग में अनेक कठिनाइयां उपस्थित हैं। उचित मजदूरी को निर्वाह-मजदूरी के शिखर पर पहुंचने की एक सोपान माना जा सकता है।

उचित मजदूरी बनाम न्यूनतम मजदूरी—एक बात साफ है कि उचित मजदूरी किसी भी दशा में न्यूनतम मजदूरी से कम न होनी चाहिए। औद्योगिक अधिकरणों तथा न्यायालयों ने मजदूरी का जो स्तर नियत किया है उसे फिल-हाल शायद उचित माना जा सकता है। किंतु ये अधिकरण और न्यायालय कामगार को निर्वाह का न्यूनतम आधार उपलब्ध कराने में लगे रहे हैं। कितने ही समझौते और निर्णय बीच का रास्ता निकालकर किये गये हैं। न्यायालयों और अधिकरणों ने अपने निर्णयों में केंद्रीय वेतन आयोग की सिफारिशों को, जो मुख्यतः सरकारी कर्मचारियों के संबंध में थीं, अनुचित महत्त्व दिया है। भावी वेतन-बोर्ड अपना निर्णय करते समय अधिकरणों और न्यायालयों द्वारा निर्धारित वेतन-दरों पर अवश्य ही ध्यान रखेंगे किंतु उन पर कितना बल दिया जाना चाहिए यह निर्णय उन्हें स्वयं ही करना होगा।

इससे प्रतीत होता है कि सामूहिक समझौतों, विवाचनों और न्यायिक निर्णयों द्वारा जो मजदूरी निर्धारित की गयी है उसे न्यूनतम मजदूरी के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इन्हें आरंभिक चरण माना जा सकता है और जहां किसी उद्योग की मजदूरी देने की क्षमता अधिक है, वहां जो अधिक मजदूरी दी जाती है उसे उचित वेतन मानना चाहिए। सारांश यह है कि यदि प्रतिस्पर्धात्मक

अवस्थाओं में कोई उद्योग पूर्ण निर्वाह-मजदूरी देने में सक्षम हो सकता है तो निर्वाह-मजदूरी ही उचित वेतन माना जाएगा। न्यूनतम मजदूरी के मानक ने उस स्तर को, उस निम्नतम स्तर अथवा उस आधार को, जन्म दिया है जिससे कम किसी कामगार को दिया ही नहीं जा सकता। न्यूनतम मजदूरी से ऊपर उठकर एक उचित मजदूरी निश्चित करनी होगी जिसका लक्ष्य विभिन्न सोपानों को पार करके निर्वाह-मजदूरी के शिखर पर पहुंचना होगा।

उपसंहार

अल्प मजदूरी प्रगति के मार्ग का रोड़ा—यद्यपि संसार के आठ प्रमुख औद्योगिक देशों में भारत का भी नाम है फिर भी यह देश प्रायः अर्द्धविकसित देश है। स्वाधीन होने के बाद, भारत ने आर्थिक उन्नति और सामाजिक पुनर्निर्माण का विशाल कार्यक्रम अपनाया है। इस विकास का एक अत्यंत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अंग यह है कि मजदूरी-भोगी जनता के अधिक गरीब भाग की वास्तविक (असल) आय बढ़ाकर उसका जीवन-स्तर ऊंचा उठाया जाए। न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करके और सामान्य मजदूरी-ढांचे का वैज्ञानिकन करके श्रमिक वर्गों की मजदूरी के स्तरों में सुधार करना आवश्यक है क्योंकि कामगारों को अधिक अल्प मजदूरी मिलने से राष्ट्र की प्रगति में अनेक प्रकार की बाधाएं पड़ती हैं। पहली, अल्प मजदूरी मिलने से कामगार में अधिक योग्यता होने की आशा कैसे की जा सकती है। दूसरी, जब कामगार की असल आय कम होगी तब अनेक प्रकार की उत्पादित वस्तुओं की मांग सीमित हो जाएगी क्योंकि उनमें क्रय-शक्ति ही न होगी तथा उन वस्तुओं की खपत का बाजार न बढ़ने के कारण आर्थिक हलचलों में शिथिलता बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त, यह सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय, मानवीय दृष्टि से अन्यायपूर्ण तथा राजनीतिक दृष्टि से खतरनाक है कि जनता का एक अंग न-बराबर कमाई से अधिक न कर सके। निदान, स्थायी वेतन-ढांचा आयोजन तथा संविधान के अंतर्गत न्यूनतम मजदूरी की गारंटी की भावना के अनुकूल नहीं है। असल मजदूरी लगातार बढ़ती रहनी चाहिए।

इस विषय में एक राष्ट्रीय मजदूरी-नीति बनाना आवश्यक है जो समय-समय पर सामने आने वाली आवश्यकताओं को पूरा कर सके और लक्ष्य तक पहुंचने का मार्ग साफ हो सके। यदि इस नीति से श्रमिकों को इतनी मजदूरी मिलने लगती है कि वे उससे संतुष्ट हो सकें तो उनमें कार्यक्षमता भी बढ़ जाएगी और इस प्रकार विकास-योजनाओं की सफलता का द्वार खुल जाएगा। किसी भी आर्थिक और सामाजिक नीति की भांति ही मजदूरी-नीति के कुछ बड़े ध्येय होते हैं जिनमें यहां निम्नांकित बातों का उल्लेख करना ठीक होगा :

(१) सब को काम-धंधे में लगाना तथा संपूर्ण साधनों का सर्वोत्तम प्रयोग करना;
(२) आर्थिक प्रगति के श्रेष्ठ स्तर के अनुकूल आर्थिक स्थिरता की सर्वोच्च सीमा कायम रखना; तथा
(३) समाज के सभी अंगों के लिए अधिकतम आय की सुरक्षा।

आगे, राष्ट्रीय मजदूरी-नीति का उद्देश्य यथासंभव उस उच्चतम स्तर पर मजदूरी कायम करना है जो देश की आर्थिक दशा को देखते हुए ठीक हो; इसके साथ ही उसे इस बात की भी व्यवस्था करनी है कि कामगार को देश की विकासमान आर्थिक समृद्धि में अपना समुचित भाग प्राप्त होता रहे। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में प्रति व्यक्ति पीछे आय में १७ से २० प्र. श. तक की वृद्धि की कल्पना की गयी है। इस वृद्धि का एक बड़ा अंश मजदूरों को अपनी मजदूरी के रूप में मिलना चाहिए।

मजदूरी नीति की रचना के स्तम्भ— इन ध्येयों को पाने के लिए जो मजदूरी-नीति उचित है उसकी रचना करते समय निम्नांकित तीन बातों पर मुख्य रूप से विचार करना चाहिए:

(१) मजदूरी निर्धारित करना और उसकी अदायगी;
(२) मजदूरी का स्तर और ढांचा; तथा
(३) वेतन-सुरक्षा।

१. मजदूरी निर्धारित करना और उसकी अदाएगी—विभिन्न देशों और विभिन्न उद्योगों में मजदूरी के भुगतान की बहुत-सी विभिन्न प्रणालियां देखने में आती हैं। किंतु इन सबके मूल में दो मुख्य प्रणालियों के दर्शन होते हैं— पहली, समयानुसार मजदूरी (अमानी) देने की प्रणाली, तथा दूसरी, कार्यानुसार मजदूरी (उजरत) देने की प्रणाली। प्रथम प्रणाली के अंतर्गत प्रत्येक कामगार को प्रत्येक घंटे, दिन अथवा सप्ताह के लिये, बिना कार्य की राशि देखे, पूर्व-निश्चित मजदूरी मिलती है। कामगार इस प्रणाली को प्रायः पसंद करते हैं क्योंकि इससे उनकी एकता को बल मिलता है; अन्य किसी प्रणाली की अपेक्षा इसके अंतर्गत अधिक सुरक्षा का भाव है; कार्य की गति तीव्र करने के लिए कोई अनुचित भार वहन नहीं करना पड़ता है; तथा सामूहिक सौदे द्वारा उपार्जित मजदूरी-स्तर में कटौती का खतरा नहीं होता है। जिन उद्योगों में कार्य की गति मशीनों, आदि पर निर्भर होती है तथा व्यक्ति के सामर्थ्य पर निर्भर नहीं है और जिनमें उत्पादन को किसी निश्चित यूनिट से नहीं मापा जा सकता है, उनमें समय के अनुसार मजदूरी की अदाएगी को प्रायः स्वीकार किया गया है।

इसके विपरीत, कार्य के अनुसार मजदूरी देने की प्रणाली के अंतर्गत

कामगार को जो उजरत मिलती है उसका संबंध उसके उत्पादन या कार्य की मात्रा से अथवा उसकी श्रेणी के कामगारों के गुट्ट के औसत उत्पादन से होता है। यह संबंध सरल होता है जैसा कि अलग-अलग काम करने वाले कामगारों के विषय में देखा जाता है अथवा यह संबंध कहीं-कहीं जटिल भी होता है जैसा कि कुछ बोनस-प्रणालियों में बरता जाता है। यह प्रणाली उन उद्योगों अथवा व्यवसायों में आवश्यकतानुसार बरती जाती है जिनमें कामगारों या कामगारों के गुट्टों का उत्पादन उचित ढंग से नापा-तोला जा सकता है तथा जिनमें उत्पादन के आकार-प्रकार पर नियंत्रण संभव है। यह प्रणाली भारत में प्रचलित है और इस समय सभी उद्योगों के लगभग ६० प्र. श. काम की मजदूरी इसी प्रणाली* के अंतर्गत मिलती है।

यदि सामान्य दृष्टि से विचार करें तो कोई भी मजदूरी-भुगतान प्रणाली ऐसी नहीं है जो सभी अवस्थाओं में सबके लिए सर्वोत्तम सिद्ध हो सके। सभी में कुछ-न-कुछ गुण-दोष पाये जाते हैं। अतः किसी भी मजदूरी-प्रणाली अथवा मजदूरी-प्रणाली-वृन्द को अपनाने से पहले यह देख लेना चाहिए कि वह सरल है या नहीं तथा उसे कामगार सहज में समझ सकते हैं या नहीं।

प्रायः यह सभी मानते हैं कि केवल उत्पादिता की वृद्धि से ही मजदूरी में उत्तरोत्तर बढ़ोतरी हो सकती है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के विशेषज्ञों ने अभी हाल में जो अध्ययन किया था उससे प्रकट होता है कि भारतीय उद्योगों को अधिकतम संभावित उत्पादिता के लक्ष्य पर पहुंचने के लिए एक लंबा मार्ग पार करना होगा। इसलिए मजदूरी-प्रणाली ऐसे ढंग की होनी चाहिए जिससे कामगारों को अधिक परिश्रम करने के लिए बढ़ावा मिले और साथ में कामगार आये दिन अपने परिश्रम के फल का अधिकाधिक उपभोग करने में समर्थ हो सकें। संभवतः इस लक्ष्य की पूर्ति तभी हो सकती है जबकि कार्य के अनुसार मजदूरी की प्रणाली का प्रयोग एक विस्तृत क्षेत्र में प्रारम्भ कर दिया जाए।

यह परम आवश्यक है कि विशेषज्ञ एक उचित मजदूरी वितरण-प्रणाली का विकास करने में उन वेतन-बोर्डों का मार्ग-दर्शन करें जिन्हें विभिन्न उद्योगों में मजदूरी निर्धारण की समस्याएं सौंपी गयी हैं। जो लोग कार्याधिक्य द्वारा अपना स्वास्थ्य खो बैठते हैं उन्हें इस दिशा में अनुत्साहित करने के लिए इस प्रणाली में रोकथाम की व्यवस्था होनी चाहिए। यह तभी सम्भव है जबकि कामगार की अधिकतम अर्जित आय की सीमा निश्चित कर दी जाए

* योजना आयोग के श्रम-विचारक मंडल ने २० फरवरी १९५६ को मजदूरी, उत्पादिता तथा वैज्ञानिकन उपसमिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन पर विचार किया था।

(जैसा कि हालैंड की राष्ट्रीय मजदूरी-प्रणाली में है) अथवा फुटकर मजदूरी दरें ऐसी होनी चाहिए जिनसे कामगारों को अधिकतम उत्पादन के मयार से आगे जाने की इच्छा ही न हो। यह बहुत आवश्यक है कि मजदूरी वितरण-प्रणाली सामान्य कामगार के लिए भी सरल, स्पष्ट और सुबोध होनी चाहिए, नहीं तो उससे गलतफहमी, संदेह और औद्योगिक विवाद पैदा होना अवश्यंभावी है।

२. *मजदूरी का स्तर और ढांचा*—किसी देश में अधिकतम आर्थिक और सामाजिक कल्याण की उपलब्धि के लिए अधिकतम काम-धंधों और कमाई की स्थिरता के साथ केवल अच्छे-से-अच्छा मजदूरी-स्तर होना ही आवश्यक नहीं है बल्कि विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योगों में सगोत्रीय मजदूरी ऐसे ढंग की होनी चाहिए जिससे (अ) अर्थतंत्र के विभिन्न भौगोलिक खंडों, व्यवसायों तथा उद्योगों में अधिक से अधिक राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने में श्रमिकों को प्रोत्साहन मिले; (ब) अभीष्ट अर्थतंत्र के सभी साधनों का पूर्ण प्रयोग किया जा सके; तथा (स) आर्थिक उन्नति की परम वांछनीय गति का द्वार खुल सके।

प्रायः मजदूरी-दरों में दो प्रकार का अंतर दिखायी देता है—व्यावसायिक और प्रादेशिक। इसका कारण है श्रम-बाजार में अधकचरी होड़ या श्रमिकों का एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थानों को जाने की अनिच्छा या मजदूरी प्रणालियों की भिन्नता का प्रभाव या मालिक तथा कामगारों की आपसी सौदाकारी की शक्ति, या लिंगजन्य भेद। जहां तक मजदूरी श्रमिक की विभिन्न उत्पादनक्षमताओं अथवा विभिन्न स्थानों में एक ही प्रकार के श्रम के लिए विभिन्न दरों के रूप में प्रकट होती है वहां तक उसे न्यायपूर्ण माना जा सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि देश की मजदूरी-नीति इस प्रकार निर्धारित की जानी चाहिए जिससे स्त्री और पुरुष, विभिन्न श्रेणियों के कामगारों तथा विभिन्न क्षेत्रों अथवा प्रदेशों के कामगारों की मजदूरी-दरों में बहुत अधिक अंतर न हो, और जहां कहीं यह अंतर हो भी, वहां न्यायसंगत आधारों पर निर्भर हो; तथा इस भेद-भाव को धीरे-धीरे कम करके मिटा देना चाहिए।

भारत में मजदूरी-दरों में एक रूपता का अभाव तथा भारी भेद देखने को मिलता है। यह भेद विभिन्न केंद्रों में ही नहीं बल्कि एक ही केंद्र के विभिन्न उद्योगों में भी मिलेगा। इसके अतिरिक्त, महंगाई भत्ते की राशियों में विभिन्नता मिलती है। इसकी विभिन्न दरें हैं और विभिन्न मजदूरी-स्तरों के अनुसार उसका हिसाब लगाया जाता है। न्यायिक निर्णयकारियों तथा औद्योगिक अधिकरणों ने मजदूरी तथा महंगाई भत्ते निर्धारित करने में सदा एक नीति अपनायी है। जहां तक आधारभूत मजदूरी का संबंध है, वह युद्धपूर्व के

निर्वाह-सूचकांकों द्वारा निश्चित की गयी है। जहां तक संभव है उसमें युद्धपूर्व-कालिक स्तर पर कामगार और उसके परिवार के निर्वाह की आवश्यकताओं का ध्यान रखा गया है। अब राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो जाने से उसकी असल युद्धपूर्वकालिक मजदूरी के स्तर में वृद्धि की कोशिश की जानी चाहिए ताकि उसे पेट भरने लायक धन प्राप्त होने के साथ-साथ शिक्षा, चिकित्सा तथा अन्य सुविधाओं पर व्यय करने का भी धन मिलने लगे।

यद्यपि न्यायिक निर्णयकारियों तथा औद्योगिक अभिकरणों के प्रयासों और न्यूनतम मजदूरी अधिनियम द्वारा इन वर्षों में अनेक उद्योगों में कामगारों का मजदूरी-स्तर पहले से ऊंचा हो गया है फिर भी यह मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि आज भी अनेक उद्योगों में कामगारों को केवल पेट भरने लायक मजदूरी प्राप्त होती है और अनेक कामगारों की असल मजदूरी या तो युद्ध पूर्वकालके स्तर पर है या उससे भी नीचे है। इसलिए उन सब अंचलों में जहां असल मजदूरी का सामान्य स्तर बहुत नीचा है और जहां कामगार तथा उसका परिवार मुश्किल से पेट भर पाता है, मजदूरी को ऊंचा उठाने के लिए डटकर कोशिश करनी होगी।

महंगाई भत्ते की भुगतान-प्रणाली में भी हेरफेर की आवश्यकता है। भारत में महंगाई भत्ता एक विचित्र चीज है जो कामगार को इसलिए दिया जाता है कि वह अपने निर्वाह के व्यय की वृद्धि का समाधान कर सके। अब यह भारतीय मजदूरी-ढांचे का एक अंग बन चुका है। इसका तिरस्कार करके अन्य किसी पद्धति को अपनाना कठिन हो गया है। सचमुच बढ़ते हुए निर्वाह-व्यय के निराकरण के लिए समान सिद्धांत और रीति-नीति अपनानी चाहिए और इस उद्देश्य से इस समस्या पर फिर से विचार करना चाहिए। महंगाई भत्ते को निर्वाह-व्यय तथा इसी प्रकार के अन्य आकस्मिक व्यय के सूचकांकों पर आधारित करना चाहिए। इसका उद्देश्य असल मजदूरी को बनाये रखना तथा उसकी वृद्धि होना चाहिए।

इस समस्या का एक दूसरा अंग भी है जो फिलहाल हमारे सामने आया है। यह है कि महंगाई भत्ते का एक भाग मूल मजदूरी में मिला दिया जाए। यह प्रायः स्वीकार किया जा रहा है कि मूल्य संभवतः अब युद्धपूर्वकालिक स्तर पर न लौटेंगे और मूल मजदूरी को युद्धपूर्वकालिक सूचकांकों से जोड़ना उचित नहीं है। इसका संबंध पेंशन, ग्रेच्युटी (अनुग्रह दान) तथा अन्य सेवा निवृत्ति विषयक लाभों से है क्योंकि ये बुनियादी मजदूरी की राशि पर अवलंबित होते हैं। महंगाई भत्ते का एक अंश बुनियादी मजदूरी में जोड़ने से कामगार को उक्त प्रकार के लाभ अपने-आप मिलने लगेंगे। १९५२ के प्रॉवीडेंट फंड अधि-नियम से कुछ दोष कुछ सीमा तक कम हो गये हैं क्योंकि प्रॉवीडेंट फंड

(भविष्यनिधि) के लिए कटौती बुनियादी मजदूरी तथा महंगाई भत्ते की सम्मिलित राशि पर होती हैं। किंतु यह अधिनियम कुछ ही उद्योगों पर लागू है। गाडगिल समिति ने केंद्रीय सरकार के कर्मचारियों के महंगाई भत्ते का ५० प्रतिशत भाग उनके मूल वेतन में मिलाने की सिफारिश की है क्योंकि उसकी यह धारणा थी कि वस्तुओं के मूल्य अखिल भारतीय सूचकांक २६० (आधार १९३९ : १००) के स्तर से नीचे गिरने की सम्भावना नहीं है। भारत सरकार ने यह सिफारिश पहले ही कार्यपरिणत कर दी है और अब उसे निजी उद्योगों के क्षेत्र पर लागू करना आवश्यक है।

निःसंदेह, महंगाई भत्ते के एक अंश को बुनियादी मजदूरी में मिलाने में अनेक अड़चनें हैं। इस समय महंगाई भत्ते की प्रणालियों में बहुत विभिन्नता है। भिन्न-भिन्न केंद्रों और उद्योगों में भिन्न-भिन्न प्रणालियां चालू हैं। इसके अतिरिक्त, एक समान आधार पर निर्वाह-व्यय के सूचकांक प्राप्य नहीं तथा इन सूचकांकों की गणना के तरीके तक भिन्न-भिन्न हैं।

बोनस तथा लाभ-वितरण — भारतीय कामगारों की बुनियादी मजदूरी में विभिन्न प्रकार के भत्तों या बोनसों से प्रायः आय की वृद्धि होती रहती है। इनका उद्देश्य कामगारों की नियमित उपस्थिति तथा उनके अच्छे काम को बढ़ावा देना है।

दूसरे महासमर से कुछ उद्योगों में नियमित समय पर लाभ-वितरण के रूप में बोनस मिलता आ रहा है। इस बोनस की राशि कितनी होनी चाहिए तथा इस योजना को अन्य उद्योगों पर भी लागू किया जाए, आदि प्रश्नों को लेकर कितने ही औद्योगिक विवाद उठते रहे हैं।

३. *वेतन-सुरक्षा* — आय-सुरक्षा अर्थात् मजदूरी सम्बंधी गारंटी, राष्ट्रीय मजदूरी-नीति की एक अन्य समस्या है। मजदूरी की गारंटी निम्नांकित तीन प्रकार की होनी चाहिए :

(१) गारंटी दी हुई मजदूरी (इस व्यवस्था के अंतर्गत मालिक पहले ही यह गारंटी करता है कि चाहे काम हो या न हो, वह अपने कामगारों को एक निर्धारित समय तक एक पूर्वनिश्चित धनराशि देता रहेगा);

(२) काम-बंदी की पूर्वसूचना-अवधि (इसके अंतर्गत मालिक अपने कामगारों को, एक निश्चित समय रहते, यह पूर्वसूचना देता है कि काम बंद होने वाला है तथा इस पूर्वसूचना की अवधि तक या तो वह उसे रोजगार देता है या उसकी मजदूरी) तथा

(३) बर्खास्तगी की मजदूरी (इसके अंतर्गत मालिक उस कामगार को, जिसकी सेवा समाप्त कर दी गयी है, एक पूर्व-निश्चित धन-राशि देता है)।

भारत में अभी ऐसी व्यवस्था कोसों दूर है जिसके अंतर्गत सभी प्रकार के कर्मचारियों का बीमा किया जा सके। फिर भी औद्योगिक झगड़ा (संशोधन) अधिनियम १९५३ के अंतर्गत सभी कर्मचारियों को, जो कामबंदी या छटनी के कारण बेरोजगार हो जाएं, आय-सुरक्षा देने की दिशा में कुछ किया गया है। इस अधिनियम के अंतर्गत मालिक अधिक से अधिक ४५ दिन तक (छुट्टियों के दिन छोड़कर) उस कामगार को उसकी बुनियादी मजदूरी तथा महंगाई भत्ते का ५० प्रतिशत भाग देता है जो काम बंदी के कारण बेरोजगार हो गया है। छटनी के संबंध में इस अधिनियम ने यह व्यवस्था दी है कि जो कामगार किसी मालिक के नीचे लगातार एक वर्ष या इससे अधिक समय से काम कर रहा है उसे एक मास का नोटिस (अथवा एक मास की मजदूरी) तथा सेवा के प्रत्येक वर्ष पीछे १५ दिन की औसत मजदूरी ग्रेच्युटी के रूप में देनी होगी। इसे उस प्रयास का श्रीगणेश मानना चाहिए जिसका लक्ष्य सभी उद्योगों तथा व्यवसायों के कामगारों की आय की सुरक्षा प्रदान करना है।

मजदूरी नियमन तंत्र — जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भारत में औद्योगिक झगड़ों के कारण न्यायिक निर्णयों, अधिकरणों अथवा औद्योगिक न्यायालयों ने मजदूरी-स्तर निर्धारित किये हैं या स्वयं सरकार ने न्यूनतम मजदूरी अधिनियम १९४८ के अंतर्गत मजदूरी निर्धारित की है। न्यूनतम मजदूरी अधिनियम द्वारा स्थापित तंत्र तथा न्यायिक निर्णय व्यवस्था को तदर्थ आधार का परिशीलन करना पड़ा है। यदि किसी व्यवस्था द्वारा कामगारों की आवश्यकता के अनुकूल मजदूरी-स्तर निर्धारित करना है और देश के अर्थतंत्र की अवस्था को निश्चित करना तथा उभय पक्षों और समूचे देश के हित की रक्षा करना है तो उसमें एकरूपता, स्थिरता और विशदता होना आवश्यक है। किंतु उक्त तंत्रों में इन बातों का नितांत अभाव था। इसलिए काफी लंबे अर्से तक काम करने के बावजूद, यह पद्धति मजदूरी-निर्धारण का कोई भी सर्वग्राह्य सिद्धांत तथा कार्यशैली प्रस्तुत करने में विफल रही है और आज भी विभिन्न उद्योगों और प्रदेशों में जो मजदूरी दरें प्रचलित हैं वे बहुधा भिन्न-भिन्न हैं और उनमें एकरूपता का नाम भी नहीं है।

दिसंबर १९५६ में नयी दिल्ली के श्रममंत्री-सम्मेलन में भारत सरकार का कुछ "चुने हुए राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों" के लिए वेतन-बोर्ड नियुक्त करने का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया था। ब्रिटेन तथा अन्य देशों में, वेतन-बोर्ड केवल उन्हीं उद्योगों के लिए स्थापित किये जाते हैं जिनमें कामगारों को अपने खून

का पसीना करना पड़ता है। जब वेतन-बोर्ड नियुक्त किया जाए तब वेतन-स्तरों की तुलनात्मक स्थिति, उद्योगों की मजदूरी देने की क्षमता तथा मजदूरों की सौदाकारी की शक्ति का ध्यान रखना चाहिए। जिन उद्योगों में मजदूर भलीभांति संगठित हैं उनके लिए वेतन-बोर्ड नियुक्त करना व्यर्थ होगा क्योंकि वहां मजदूर स्वयं मालिकों से सीधा सौदा कर सकता और उन्हें अपनी शर्तें मनवा सकता है। इस दशा में वेतन-बोर्डों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे राज्य के कानून द्वारा स्थापित होते हैं और उनका निर्णय विभिन्न पक्षों पर अनिवार्यतः लागू होता है। मालिक अथवा कामगार वेतन-बोर्ड के निर्णयों को तभी स्वीकार करते हैं जब वे उनके लिए लाभकारी होते हैं; नहीं तो वे उनकी ओर आंख उठाकर भी देखना पसंद नहीं करते हैं। इस दशा में वेतन-बोर्ड दोनों पक्षों की समस्या का हल प्रस्तुत करने के स्थान में उनके विवाद को छेड़ने के लिए चिनगारी का काम करता है।

जिन उद्योगों में कामगार संगठित नहीं हैं और जहां कामगारों को अपनी एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता है वहां वेतन-बोर्डों की स्थापना आवश्यक हो सकती है। इन वेतन-बोर्डों को मजदूरी-दरों, भत्तों, आदि की सिफारिश सरकार के पास भेजने तथा उसे लागू कराने का अधिक अधिकार मिलना चाहिए। वे केवल सलाहकार परिषदों के रूप में ही ग्रहण न किये जाने चाहिए।

प्रश्न यह है कि नीचे लिखे हुए तंत्रों में कौन-सा तंत्र भारत की आवश्यकताओं और अवस्थाओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। ये तंत्र हैं: प्रत्येक उद्योग के लिए व्यापार-बोर्ड या वेतन-बोर्ड, अथवा सब उद्योगों के लिए एक सामान्य वेतन-बोर्ड।

यदि प्रत्येक उद्योग के लिए एक व्यापार-बोर्ड अथवा वेतन-बोर्ड नियुक्त किया जाता है तो उससे एक लाभ यह है कि उसके सदस्यों को उस एक उद्योग की सभी विशेष समस्याओं का व्यापक ज्ञान हो जाएगा और वे कोई मजदूरी-योजना निकालते समय उस उद्योग की विभिन्न अवस्थाओं का पूरा ख्याल रखेंगे। किंतु इस पद्धति में एक दोष यह है कि विभिन्न बोर्डों की गतिविधियों के समन्वय के लिए कोई एक केंद्रित सत्ता होनी चाहिए। यदि यह केंद्रीय सत्ता न होगी तो एक ही प्रदेश में एक ही प्रकार के उद्योगों के मजदूरी क्रमों में विकट विभेद पैदा हो सकता है। अतः सबके लिए एक सामान्य बोर्ड बनने से विभिन्न बोर्डों के कार्यों के समन्वय की समस्या अवश्य हल हो सकती है। किंतु यहां याद रखना चाहिए कि यह सामान्य बोर्ड विभिन्न उद्योगों के लिए पृथक-पृथक स्थापित बोर्डों की भांति सक्षम और योग्य प्रमाणित नहीं हो सकता है।

उचित मजदूरी समिति का यह मत था कि भारत जैसे विशाल देश में जहां मजदूरी के ढांचे पर नियंत्रण नहीं है और जहां समन्वय की व्यवस्था भी नहीं है, वहां विभिन्न वेतन-बोर्डों की हलचलों में समन्वय करने का काम उतना ही महत्त्वपूर्ण होगा जितना विशेषज्ञों द्वारा प्रत्येक व्यापार की स्थिति का अध्ययन करके उसका ज्ञान उपलब्ध करना आवश्यक है। अतः व्यापार-बोर्ड तथा सामान्य बोर्ड की एक संयुक्त प्रणाली कम से कम कुछ समय तक संतोषजनक हल प्रस्तुत करती रहेगी। इस समिति ने प्रत्येक उद्योग के लिए स्थापित प्रादेशिक बोर्डों की हलचलों के समन्वय के लिए त्रिदलीय राज्य बोर्ड (Tripartite State Boards) बनाने की सिफारिश की थी।

समस्त देश में वर्तमान मजदूरी ढांचे को यथासंभव एकरूपता देने तथा उसके वैज्ञानिकन की आवश्यकता को ध्यान में रखकर स्वेच्छापूर्वक त्रिदलीय आधार पर एक अखिल भारतीय वेतन आयोग (All-India Wage Commission) स्थापित होना चाहिए जो (१) जहां तक बुनियादी मजदूरी तथा महंगाई भत्ते का संबंध है उसको दृष्टिगत करके वर्तमान मजदूरी-ढांचे के वैज्ञानिकन के लिए उचित युक्तियों पर विचार करे; (२) अभीष्ट समाजवादी नमूने के समाजवाद की स्थापना के लिए वर्तमान मजदूरी-ढांचा कहां तक उपयुक्त है, इसकी छानबीन करे; तथा (३) मजदूरी की पुनर्व्यवस्था अपने-आप हो जाए, इसके लिए उपयोगी कार्यवाहियों की सिफारिश करे। विभिन्न उद्योगों के लिए अलग-अलग वेतन-बोर्ड बनने चाहिए जिसमें अखिल भारतीय वेतन आयोग के सदस्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो और जिसमें देश के नौकरीदाताओं तथा कामगारों के प्रतिनिधियों को भी सहवृत्त (Co-opted) सदस्यता दी जाए। इस प्रकार इस आयोग के सदस्यों के प्रयास से आशा की जा सकती है कि उससे प्रत्येक उद्योगों में मजदूरी की एकरूपता तथा सभी उद्योगों के मजदूरी-ढांचे में समव्यता स्थापित हो जाएगी। इस बोर्ड में उद्योगपतियों के प्रतिनिधि होने के कारण उनके विशेष ज्ञान का लाभ उठाया जा सकेगा। बोर्ड के विचार-विनिमय पर उस ज्ञान का सम्यक प्रभाव पड़ेगा। निःसंदेह वेतन-बोर्ड वेतन-स्तरों की प्रादेशिक कमीवेशी पर विचार करेगा और यथासंभव उस अंतर को दूर करने के लिए आवश्यक युक्तियां बताएगा।

वेतन-बोर्डों के सिद्धांतों और आचारों में एकरूपता लाने के अतिरिक्त, अ. भा. वेतन-आयोग को आवश्यकतानुसार वेतन-बोर्डों के निर्णयों में संशोधन करने का भी अधिकार होना चाहिए ताकि कहीं भी वेतन-बोर्डों के निर्णय सामान्य वेतन-नीति का उल्लंघन न करने पाएं।

उक्त तंत्र की स्थापना से एक लाभ यह होगा कि कामगारों के मन में सरकार के प्रति यह विश्वास पैदा हो जाएगा कि वह सचमुच ही श्रमिक-वर्ग

का जीवन-स्तर ऊंचा उठाना चाहती है। इस भावना का उदय होने से कामगार दूसरी पंचवर्षीय योजना की लक्ष्यपूर्ति के लिए काम में प्राणपण से जुट जाएगा।

राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, न्यूनतम मजदूरी तथा निर्वाह मजदूरी के बीच में असल मजदूरी होनी है जो कामगार को दी जाएगी। यह असल मजदूरी निर्धारित करने में कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है, जैसे श्रम की उत्पादिता, मजदूरी की चालू दरें, राष्ट्रीय आय का स्तर और उसका वितरण तथा देश के अर्थतंत्र में उद्योग का स्थान। जहां तक न्यूनतम मजदूरी का संबंध है, सबसे महत्त्वपूर्ण, यद्यपि सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण नहीं, बात यह है कि एक स्वीकृत स्तर पर, कामगार तथा उसके परिवार की आवश्यकताओं का विचार किया जाना चाहिए। जिस देश में उद्योगों के असंगठित अंचल में तथा सामान्यतः कृषि-उद्योग में मजदूर असंगठित हैं, वहां आय का एक सामान्य स्तर बनाने तथा जीवन-स्तर में सुधार करने की दिशा में उस सीमा तक न्यूनतम मजदूरी-निर्धारण को एक सुधारवादी पग माना जाएगा जहां पहुंचने से कामगार को केवल भर-पेट भोजन ही नहीं बल्कि शिक्षा, चिकित्सा और कर्यक्षमता की अनुरक्षक सुविधाओं के निमित्त धन व्यय करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिए राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण का प्रश्न विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाता है। राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी का अभिप्राय उस पारिश्रमिक से है जिससे कम देश में किसी अर्जनकर्ता को न मिलना चाहिए। केंद्रीय सलाहकार बोर्ड ने अप्रैल १९५४ में इस प्रश्न पर ध्यान दिया था। उसने राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने की पहल करने के पक्ष में अपना अभिमत प्रकट किया था। बोर्ड का कहना था कि इस देश के विभिन्न भागों की आर्थिक दशाओं तथा चालू मजदूरी-स्तरों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न प्रदेशों तथा सेवाओं के अनुकूल न्यूनतम मजदूरी के विभिन्न स्तर निर्धारित किये जाने चाहिए। अभी इन सिफारिशों का अनुशीलन करना शेष है।

प्रवर्त्तन-तंत्र—यदि राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण तथा मजदूरी-ढांचे के संशोधन और वैज्ञानिकन से देश के असंगठित क्षेत्रों तथा अलग-थलग पड़े भागों के वेतन-भोगियों को लाभ पहुंचाना अभीष्ट है तो केंद्रीय सरकार तथा राज्य-सरकारों को नये मजदूरी-स्तरों को लागू करने के लिए दृढ़ता से कदम उठाना होगा। इसके अतिरिक्त संबंधित पक्षों के क्रियात्मक सहयोग तथा लोकमत के समर्थन द्वारा एक सुसंगठित निरीक्षणालय स्थापित करना होगा जो निरीक्षकों के काम के लिए अधिक अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर सके। श्रमिक-कानूनों के कार्यान्वय में सुगठित मजदूर संघ भी बड़े उपयोगी सिद्ध

होते हैं। वे मजदूरों के हितों की रखवाली करते हैं और यदि कहीं कानूनों का अतिक्रमण होता है तो वे उसकी ओर प्राधिकारियों का ध्यान खींचते रहते हैं।

इस प्रसंग में, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के तृतीय एशियाई श्रम सम्मेलन (टोक्यो, सितंबर १९५८ में) द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव का उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा सकता। इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राजकानून द्वारा मजदूरी-दरें लागू करायी जानी चाहिए और जो मालिक उनको अपनाने में आनाकानी करें उनको कठोर दंड मिलना चाहिए। प्रत्येक देश में इस दायित्व को निबाहने के लिए एक प्राधिकारी-तंत्र होना चाहिए जिसके पास पर्याप्त साधन और कर्मचारी हों। इसी प्रस्ताव में आगे लिखा हुआ है कि उक्त प्राधिकारी-तंत्र की कार्यपद्धति को सुविधाजनक बनाने के लिए स्पष्ट और सुबोध भाषा में मजदूरी-नियमों का वर्णन होना चाहिए; निरीक्षणालय के कर्मचारी योग्य तथा भलीभांति प्रशिक्षित होने चाहिए ताकि वे मालिकों और कामगारों, दोनों के विश्वासपात्र बन सकें, और मजदूरी-नियमों के उल्लंघन के बारे में प्राधिकारियों से शिकायत करने की भी व्यवस्था होनी चाहिए ताकि कामगारों की जीविका को खतरे डाले बिना अधिकारियों का ध्यान उस ओर खींचा जा सके।

अध्याय ७

सामाजिक सुरक्षा

प्रस्तावना

प्राचीन काल की सामाजिक सुरक्षा—संसार के अन्य भागों की भांति, भारत के अधिकांश लोग दिन भर काम करके जो दैनिक मजदूरी कमाते हैं उसी से अपना पेट पालते हैं। यदि किसी कारण से वे काम करने में असमर्थ हो जाते हैं तो उन्हें आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ता है। प्राचीन काल और मध्य काल में बिना काम-धंधे के पुरुषों की देखरेख का भार अविभक्त परिवार अथवा संपूर्ण ग्राम-समाज पर आ पड़ता था। जब फसल पर काम बढ़ जाता था तब सभी लोग अपने सामर्थ्य के अनुसार काम में जुट जाते थे। इस प्रकार संपूर्ण समाज अथवा परिवार उत्पादन का भागीदार बन जाता था। परिवार के बुढ्ढों, बालकों तथा रोगियों की सेवा करना उसके अन्य सदस्यों का कर्त्तव्य था। यह प्रथा अब धीरे-धीरे कम होती जा रही है।

उद्योगीकरण का परिणाम—औद्योगिक क्रांति के कारण संसार के आर्थिक और औद्योगिक ढांचे में एक गतिशील परिवर्तन उत्पन्न हो गया है। इसमें संदेह नहीं है कि औद्योगिक प्रविधि तथा संगठन के आधुनिक रूप दरिद्रता की जड़ को उखाड़-फेंकने तथा जीवन की भौतिक समृद्धि बढ़ाने के लिए उपयोगी माने जा रहे हैं और वे मनुष्य की आशाओं का केंद्र बन गये हैं। किंतु फिर भी लगभग सभी जगह उद्योगीकरण से प्राचीन और नवीन स्वरूपों, नीतियों और मानवीय मूल्यों में एक संघर्ष पैदा हो गया है। इससे उन लोगों को क्षति पहुंची है जिनका प्राचीन समाज में अपना स्थान था किंतु इस नये समाज में उनकी सुरक्षा अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। उद्योगीकरण का अर्थ है नगरों का निर्माण करना। जो ग्रामीण गांवों से उठ कर नगरों में आ गये हैं वे अपने पूर्वजों की देहरी से बिछुड़ गये हैं। बेरोजगार, बीमार तथा बूढ़े होने पर और अचानक किसी संकट में फंसने पर उन्हें फिर अपना कोई सहारा नहीं सूझता है।

आधुनिक युग की विचारधारा—इस समय सामाजिक सुरक्षा का जो

अभिप्राय समझा जाता है वह आधुनिक युग की एक गतिमान विचारधारा है जिसका समाज-नीति और आर्थिक-नीति दोनों पर प्रभाव पड़ रहा है। राज्य उन सभी संकटों का सामना करने के लिए उन सामान्य व्यक्तियों की सुरक्षा की व्यवस्था करता है जो इस युग में व्यक्तिगत रूप से अथवा अपने साथियों के साथ मिलजुलकर उन्हें झेलने में असमर्थ हैं।

सामाजिक बीमा अथवा सामाजिक सहायता—इस आधुनिक युग में राज्य ने सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था में जो योगदान किया है उसके कारण उसके दो रूप बन गये हैं। पहला रूप सामाजिक बीमा (Social Insurance) है जिसमें संबंधित व्यक्ति, मालिक और राज्य तीनों मिलकर कुछ धन देते रहते हैं जिससे कामगार को बेरोजगारी, बीमारी, बुढ़ापे तथा आकस्मिक संकट के दिनों में सहायता पाने का अधिकार होता है बशर्ते वह उसके योग्य हो। दूसरे शब्दों में, सामाजिक बीमा सामान्य आय के लोगों को उनके अधिकार के रूप में लाभ पहुंचाने की एक युक्ति मानी जा सकती है। यह लाभ एक धन-राशि के रूप में होता है, जिसमें बीमाशुदा व्यक्ति के अपने चंदे की राशि के अतिरिक्त उसके मालिक और राज्य द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता भी सम्मिलित होती है। दूसरा रूप आर्थिक सहायता है जो जनता पर कोई आकस्मिक आपत्ति पड़ने पर राज्यों अथवा स्थानीय निकायों द्वारा प्रदान की जाती है। इसमें विभिन्न पक्षों द्वारा अपने अंशदान का प्रश्न नहीं उठता है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक सहायता का तात्पर्य उस धन-राशि से है जो विभिन्न पक्षों द्वारा चंदा देकर जमा नहीं की जाती है और बालकों, माताओं, विक्षिप्तों, वृद्धों, विकलांगों, आदि के भरण-पोषण के लिए सहायता के रूप में दी जाती है। इसका प्रयोग बेरोजगारी के दिनों में भी होता है। इसलिए सामाजिक सहायता वह धन-राशि कही जा सकती है जो छोटी-आय के व्यक्तियों को उनके अधिकार के रूप में तथा न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में करों तथा सामान्य राजस्व की निधि से लेकर प्रदान की जाती है।

सामाजिक बीमे का मूल इतिहास पश्चिमी देशों, विशेषकर ब्रिटेन, में लिखा गया है। इसके मूल में परोपकारी समाजों का हाथ है। यह प्रणाली सबसे पहले पश्चिमी देशों, विशेषकर ब्रिटेन में विकसित हुई। अकिंचनों की सहायता के कानूनों (Poor Laws) का श्रीगणेश भी उसी समय इन्हीं देशों में हुआ था। वास्तव में, ब्रिटेन में, जहां अब पालने से मरघट तक सभी मनुष्यों को सामाजिक सुरक्षा प्राप्त है, सामाजिक बीमा एक मुख्य चीज है। मनुष्यों को अपने हिस्से का चंदा देकर यह बीमा अनिवार्यतः करना पड़ता है और फिर वे उसका लाभ उठाते हैं। जो लोग इस प्रकार बीमा नहीं करा

सकते अथवा जिन्हें उक्त प्रकार का लाभ दुष्प्राप्य है उनका भरण-पोषण सामाजिक सहायता से होता है।

अर्वाचीन घटनाएं इस बात की द्योतक है कि सामाजिक बीमा और सामाजिक सहायता एक दूसरे के निकट आती जा रही हैं। वास्तव में वे न्यूजीलैंड और डेनमार्क जैसे देशों में एक जीव हो गयी हैं जहां यह कहना कठिन है कि दोनों में से किसका अधिक बोलबाला है। इस प्रकार के देशों में सामाजिक सुरक्षा की एक राष्ट्रीय पद्धति चालू है।

ठीक तो यही है कि देश की समस्त जनता के लिए सामाजिक सहायता की व्यवस्था होनी चाहिए। इस सामाजिक सहायता को कितना व्यापक बनाया जा सकता है यह राष्ट्रीय आय की प्रचुरता पर निर्भर है; और कम-उन्नत देशों में यह सहायता पर्याप्त नहीं हो सकती है। दूसरी ओर, सामाजिक बीमा व्यक्तिगत उद्योग की क्षमता पर निर्भर है। इस दृष्टि से, इसका विभिन्न उद्योगों में क्रम से लागू किया जा सकता है अर्थात् पहले अधिक समृद्धिशील उद्योगों में और बाद में अन्य उद्योगों में लागू करना चाहिए। भारत जैसे देश में इस समय समस्त जनता के लिए सामाजिक सुरक्षा चालू करना संभव नहीं है। अतएव यहां सामाजिक बीमा पर ही फिलहाल संतोष करना होगा।

सामाजिक सुरक्षा का महत्त्व—किसी भी कम-विकसित देश में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्थाओं का दोगुना महत्त्व है। जहां एक ओर उनसे कामगारों के निर्वाह-स्तर और कार्यावस्थाओं में सुधार होता है वहां दूसरी ओर उनका उनसे भविष्य में दैव के प्रकोप से भी बचाव संभव है। इनसे औद्योगिक योजनाओं के कार्यान्वय में भी सहायता मिल सकती है क्योंकि उनके उपभोग के कारण कामगारों में योग्यता बढ़ती है और औद्योगिक झगड़े कम होने से कम बरबादी होती है। बीमारी और निर्योग्यता के कारण श्रमिक-दिवसों की जो हानि होती है उसका कामगार के सीमित साधनों तथा देश के औद्योगिक उत्पादन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। सामाजिक सुरक्षा की कमी के कारण उत्पादन-वृद्धि में अड़चन पड़ती है और देश में स्थायी तथा कुशल श्रमिक वर्ग की रचना में बाधा खड़ी हो जाती है। इसलिए सामाजिक सुरक्षा को किसी प्रकार का बोझा समझना भूल होगी। सचमुच यह तो एक बुद्धिमत्तापूर्ण विनियोग है जिससे भविष्य में लाभ ही होना चाहिए।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ तथा सामाजिक सुरक्षा

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की देन—फिलाडेल्फिया उद्घोषण के अंतर्गत, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ को यह जिम्मेदारी सौंपी गयी है कि वह "सामाजिक सुरक्षा के

साधनों का विस्तार उन सब के लिए करे जिन्हें आधारभूत आय और उपयुक्त चिकित्सा-व्यवस्था की अपेक्षा है।" इस उद्घोषणा का अनुसरण करते हुए, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने कई अभिसमय (Conventions) और सिफारिशें (Recommendations) स्वीकार की हैं जिनमें कामगारों की हानिपूर्ति, चिकित्सा-व्यवस्था, रुग्णावस्था की आर्थिक सहायता, बेरोजगारी की आर्थिक सहायता, बुढ़ापे की आर्थिक सहायता तथा प्रसूति-काल की आर्थिक सहायता के बारे में अंतर्राष्ट्रीय मानक निर्धारित कर दिये गये हैं।

एशियाई देश—अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने एशियाई देशों पर विशेष ध्यान दिया है। १९४७ में आरंभिक एशियाई प्रादेशिक श्रम सम्मेलन नयी दिल्ली में हुआ था! उसने सामाजिक सुरक्षा के विषय में एक स्पष्ट प्रस्ताव पास करके सिफारिश की थी कि विभिन्न एशियाई देशों में सामाजिक सुरक्षा की परियोजनाओं के कार्यान्वय की प्रगति तेज करनी चाहिए। सामाजिक सुरक्षा के विषय हैं बीमारी, प्रसव, असमर्थता, रोजी-रोटी कमाने वाले की मृत्यु तथा सेवाकाल की चोट; और औद्योगिक कामगार के संबंध में बुढ़ापा तथा किन्हीं अवस्थाओं में बेरोजगारी भी इसी श्रेणी में आती है। उक्त प्रस्ताव में यह भी सिफारिश की गयी कि सामाजिक बीमा द्वारा आय-सुरक्षा की जानी चाहिए और सामाजिक बीमा नीति निर्धारित करते समय सामाजिक बीमा की एक सुव्यवस्थित दीर्घकालिक योजना चरणबद्ध होनी चाहिए तथा बुढ़ापे और मृत्यु के खतरों के संबंध में पर्याप्त व्यवस्था की जानी चाहिए।

प्रविधिक सलाह—सामाजिक सुरक्षा का अंतर्राष्ट्रीय मानक स्थिर करने के अतिरिक्त, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने अपने सदस्य-देशों को सामाजिक सुरक्षा योजनाओं की रचना, कार्यान्वय तथा प्रशासन में प्रविधिक सलाह देने का भार भी ग्रहण कर रखा है। उसने भारत को कर्मचारियों की राज्य बीमा-योजना की रचना में भी आवश्यक सलाह दी थी।

विदेशों में सामाजिक सुरक्षा परियोजनाएं

ब्रिटेन—आधुनिक युग में जिन देशों ने दरिद्रता पर साहसिक प्रहार किया है, उनमें ब्रिटेन का नाम सबसे पहले आता है। एलिजाबेथन काल में पहली बार गरीबों की सहायता के कानून (Poor Laws) बनाकर ब्रिटेन ने अपने सहृदय दृष्टिकोण की परंपरा को जन्म दिया था। इन कानूनों की स्वीकृति ने १६०१ में घोषणा कर दी कि गरीबों और अनाथों के प्रति राज्य का क्या दायित्व है। ये कानून वास्तव में निरोधक थे; और 'दरिद्रता' तब एक प्रकार का सामाजिक अभिशाप मानी जाती थी। किंतु नागरिकों के

व्यक्तिगत कल्याण का दायित्व राज्य ग्रहण करे, यह सिद्धांत अभी कुछ वर्षों से ही स्वीकार किया गया है। आधी शताब्दी पहले, राज्य की इस कार्यवाही के विरोधी कहा करते थे कि बालकों के भोजन, वस्त्र और शिक्षा की जिम्मेदारी उनके माता-पिता की होती है तथा उन्हें बीमारी, बेरोजगारी, बुढ़ापे तथा अन्य संकटों का सामना करने के लिए धन बचाकर रखना चाहिए।

ब्रिटेन में सामाजिक सुरक्षा के संबंध में जो अन्य कानून पास हुए वे निम्नांकित हैं : कामगार हानि-पूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act) १८९७, वृद्धावस्था पेंशन अधिनियम (Old Age Pension Act) १९०८, राष्ट्रीय बीमा अधिनियम (National Insurance Act) १९११ तथा कामगारों के अंशदान पर आधारित पेंशन अधिनियम (Contributary Pension Act) १९२५। राष्ट्रीय बीमा अधिनियम (National Insurance Act) १९४६ द्वारा अनिवार्य बेरोजगारी बीमा की तथा अंशदान पर आधारित पेंशन अधिनियम द्वारा अनाथों के भत्ते और पुरुषों तथा विधवाओं की पेंशनों की व्यवस्था की गयी है।

सामाजिक संभरण की उक्त परियोजनाएं अधूरी और अस्पष्ट प्रतीत हुईं। अतः सामाजिक बीमा तथा संबंधित सेवाओं के प्रश्न पर विचार करने के लिए सर (अब लार्ड) विलियम बीवरिज की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी और बीवरिज-प्रतिवेदन (१९४२) में पहली बार यह बात साफ तौर पर सार्वजनिक रूप से कही गयी कि राज्य को व्यक्तिगत नागरिकों के सहयोग से सामाजिक सुरक्षा की व्यापक सेवा के लिए उत्तरदायी माना जाए। इस सामाजिक सुरक्षा का ध्येय आवश्यकता, बीमारी, अज्ञानता, मलिनता और काहिली के विरुद्ध संघर्ष करना है जो सामाजिक प्रगति के मार्ग के पांच बड़े रोड़े हैं।

बीवरिज-प्रतिवेदन की सिफारिशों के अनुसार ब्रिटेन में निम्नांकित सुविधाओं का चलन हुआ :

(१) परिवार-भत्तों की प्रणाली चल पड़ी : इसके अंतर्गत विभिन्न लाभों के अतिरिक्त नकद धन दिया जाता है।

(२) राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम लागू किया गया : इसके अंतर्गत सभी इच्छुक नागरिकों को भली भांति निःशुल्क चिकित्सा उपलब्ध है।

(३) अंशदायी तथा अनंशदायी, दोनों प्रकार की परियोजनाओं के अंतर्गत बुढ़ापे की पेंशनों की दरों में पर्याप्त वृद्धि। तथा,

(४) भयंकर मंदी के दिनों की व्यापक बेरोजगारी को फैलने से रोकने के लिए बेरोजगारी के लाभों की अवधि का विस्तार तथा, राज्य की

नीति के एक मूलभूत सिद्धांत के रूप में सब को रोजगार देते रहने की नीति का परिशीलन ।

इन परियोजनाओं के अतिरिक्त, ब्रिटेन में एक राष्ट्रीय सहायता परियोजना लागू है जिसके अंतर्गत उन लोगों को आर्थिक सहायता दी जाती है जो अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ हैं और जिन्हें सामाजिक सेवाओं के भीतर लाभ प्राप्त नहीं हो सकता है । जो क्षेत्र राज-नियमों के अंतर्गत नहीं आते हैं उनमें उक्त राज्य-सेवाओं के अतिरिक्त स्थानीय निकाय तथा कितनी ही परोपकारी संस्थाएं बुद्धों तथा अपाहजों की सहायता करती हैं ।

स्वीडन—सामाजिक बीमा सबसे पहले जिन देशों में चालू हुआ उनमें स्वीडन का भी नाम है । इस समय स्वीडन की सामाजिक बीमा परियोजना में निम्नांकित बातें सम्मिलित हैं :

(१) राष्ट्रीय पेंशनें;
(२) बच्चों के भत्ते;
(३) प्रसवकालिक सहायता समेत बीमारी के भत्ते;
(४) औद्योगिक चोटों का बीमा;
(५) बेरोजगारी का बीमा ।

यद्यपि आरंभ में सामाजिक बीमा को कामगारों पर ही लागू माना जाता था, फिर भी प्रथम महासमर आरंभ होने से पहले अनिवार्य वृद्धावस्था तथा विकलांगता पेंशनें चालू हो गयी थीं । इस योजना के श्रीगणेश होते ही, सभी नागरिक सिद्धांतः इस सामाजिक सुरक्षा पद्धति के भीतर आ गये । फिर भी स्वीडन के लोगों को स्वेच्छापूर्वक बीमा कराने के सिद्धांत को तिलांजलि देकर इस अनिवार्य सामाजिक सुरक्षा पद्धति को अपनाने में काफी समय लगा ।

स्वीडन की सामाजिक सुरक्षा पद्धति की एक विशेष बात यह है कि मालिकों की ओर से मुख्य सामाजिक बीमा परियोजना में कोई धनराशि नहीं दी जाती है । वे औद्योगिक क्षत-विक्षत बीमा परियोजना में धन देते हैं । वास्तव में, यह बीमा प्रायः मालिकों के धन से ही कराया जाता है । इसका कारण यह है कि स्वीडन केवल कामगारों के लिए नहीं बल्कि समस्त जनता के बीमा की व्यवस्था करना चाहता है । इससे ही "भरण-पोषण के सिद्धांत" का जन्म हुआ है जो विशेषकर वृद्धावस्था की पेंशन के रूप में सामने आया है । इसका अर्थ यह है कि इस मद पर व्यय के लिए जो धनराशि अभीष्ट है वह चालू राष्ट्रीय आय पर कर-उगाही द्वारा एकत्र कर ली जाए । चाहे उनकी आय

अथवा आर्थिक स्थिति कैसी भी हो, सभी पेंशनयापताओं को राष्ट्रीय पेंशन बराबर मिलती है।

१९५२ से, सोलह वर्ष से कम आयु के बालकों को भत्ता मिलने लगा है। इन बालकों के माता-पिता की आय कितनी है, इस पर ध्यान दिये बिना यह भत्ता सबको समान राशि में प्राप्त होता है। दस वर्ष से कम आयु के बच्चों का भरण-पोषण करने के लिए रंडुओं और विधवाओं को पूरक भत्ते मिलते हैं।

स्वीडन में बीमारी का बीमा अपनी इच्छा से कराया जाता है। स्वीडन में स्वतंत्र बीमा सोसाइटियां १८८० से काम कर रही हैं। जिन स्वतंत्र परियोजनाओं को सरकारी सहायता प्राप्त है उनकी देखरेख का भार बीमार हितकारी सोसाइटियों पर है जो राष्ट्रीय पेंशन बोर्ड के एक विभाग के अंतर्गत हैं। इसका लाभ यह है कि पुरुषों को बीमारी की आर्थिक सहायता और चिकित्सा की सुविधा मिलती है तथा स्त्रियों को इन लाभों के अतिरिक्त प्रसूति-सहायता भी दी जाती है। चिकित्सा की सहायता के अंतर्गत, एक निश्चित दर पर चिकित्सा-व्यय का दो-तिहाई भाग बीमा देता है। बीमारी की सहायता के अंतर्गत, बीमारी से कार्यक्षमता में होने वाली कमी को पूरा किया जाता है, चिकित्सा-सहायता अर्थात चिकित्सा-व्यय के ⅔ भाग के लिए समय की कोई सीमा निश्चित नहीं है जब कि बीमारी की सहायता अर्थात आर्थिक सहायता के लिए दो वर्ष से अधिक का समय होना चाहिए।

स्वीडन के अधिकांश कामगार स्वैच्छिक बेरोजगारी बीमा परियोजना के भीतर आ जाते हैं जिसे राज्य की आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। कुछ शर्तें पूरी होने के बाद ही, किसी बीमाशुदा व्यक्ति को लाभ मिल सकते हैं। ये शर्तें हैं: ६ से १२ दिन का प्रतीक्षा-समय, एक वर्ष में १२० से १५६ दिन की निश्चित अवधि, ५२ सप्ताह का चंदा तथा किसी सार्वजनिक काम-दिलाऊ कार्यालय में नाम पंजीकृत कराना और फिर भी नौकरी न मिलना। इन शर्तों के अंतर्गत बीमाशुदा व्यक्ति को आधारभूत दैनिक लाभ प्राप्त हो सकता है। इस लाभ की दर उसके वेतन की राशि अथवा जिस क्षेत्र में वह निवास करता है उसके रिहायशी व्यय की मात्रा पर निर्भर होगी। इस परियोजना का प्रशासन बेरोजगारों की सोसाइटियों के हाथ में है जिनमें राज्य की देखरेख में बीमाशुदा कामगार ही काम करते हैं। इसकी आय का स्रोत कामगारों का चंदा और राज्य की आर्थिक सहायता है। मालिक इस परियोजना में धन नहीं देते हैं। यही स्वीडन की एक विशेषता है।

स्वीडन की जनता के विशाल समुदायों को विभिन्न परियोजनाओं के अंतर्गत जो लाभ प्राप्त हैं उनके अतिरिक्त उन्हें बीमारी और बुढ़ापे की दशा में भी अपने भरण-पोषण के अन्य सामाजिक लाभ भी प्राप्त हैं। राज्य कर्म-

चारियों को सेवानिवृत्ति की पेंशनें तथा बीमारी की वेतन-क्षतिपूर्ति भी मिलती है। नाविकों के लिए तो राज्य की आर्थिक सहायता से विशेष बीमा परियोजना चालू है।

दो चीजें स्वीडन को सामाजिक सहायता के क्षेत्र में सबके आगे लाकर खड़ा कर देती हैं। पहली, सामाजिक सुरक्षा की विभिन्न परियोजनाएं एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं और आय की सुरक्षा के विरुद्ध सामान्य खतरों का निवारण करने में एक दृढ़ साधन का काम देती हैं। दूसरी, सामाजिक बीमा परियोजनाओं को दृढ़ तथा सर्वांगीण बनाने के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा, परिवार, बाल तथा युवक कल्याण सेवा जैसी सुसंगठित संस्थाएं तथा आवास-नीति और सार्वजनिक सहायता की व्यवस्थाएं काम कर रही हैं।

न्यूजीलैंड—न्यूजीलैंड में सामाजिक सुरक्षा की अत्यंत प्रगतिशील पद्धति है। यद्यपि अपने जन्म काल से ही न्यूजीलैंड का राष्ट्र समृद्धिशाली चला आ रहा है फिर भी पिछली मंदी के थपेड़े खाने के बाद उसमें सामाजिक सुधारों की गति तेज हो गयी थी। न्यूजीलैंड एक नया देश है और उसमें सरकार का हस्तक्षेप खुले रूप से देखने में आता रहता है। किंतु इसका एक सुखद परिणाम यह हुआ है कि उससे वहां सामाजिक बीमा के विकास में पर्याप्त सहायता मिली है।

न्यूजीलैंड में सामाजिक सुरक्षा के अंतर्गत एक देश व्यापी स्वास्थ्य सेवा है और इसके अतिरिक्त उन लोगों को राज्य की आर्थिक सहायता मिलती है जो बुढ़ापे, बीमारी, वैधव्य, आनाथावस्था, बेरोजगारी अथवा अन्य विशेष परिस्थितियों के कारण अपना पेट पालने में असमर्थ होते हैं। इस परियोजना के अंतर्गत गरीबों को एक वर्ग विशेष के रूप में ग्रहण नहीं किया जाता है। इसके अंतर्गत उन सभी व्यक्तियों की सहायता की जाती है जिन्हें अल्पकाल अथवा दीर्घकाल के लिए धन का अभाव खटक रहा है अथवा जिन्हें चिकित्सा की आवश्यकता है।

न्यूजीलैंड में जिसे सामाजिक सुरक्षा परियोजना के कार्यान्वय का आधारभूत कानून माना जा सकता है वह सामाजिक सुरक्षा अधिनियम, १९३८, है। इस अधिनियम के अंतर्गत, उन लोगों को आर्थिक सहायता मिलती है जो वृद्धावस्था, बीमारी, वैधव्य, अनाथावस्था, बेरोजगारी अथवा अन्य विशेष परिस्थितियों के कारण अयोग्य हो गये हैं; इसके अंतर्गत उन लोगों को चिकित्सा तथा अस्पताली चिकित्सा उपलब्ध हो सकती है जो उसका लाभ उठाना चाहते हैं; तथा इसके अंतर्गत समाज के सामान्य कल्याण तथा लोगों के स्वास्थ्य की अनुरक्षा के लिए सभी आवश्यक साधन जुटाये जाते हैं।

वृद्धावस्था के लाभ से अभिप्राय यह है कि जिन लोगों की आयु ६० पर पहुंच गयी है और जो लोग आवास-संबंधी शर्तें पूरी करते हैं, उन्हें पेंशन मिलती है। एक पति को, जिसकी पत्नी को पेंशन नहीं मिल सकती है, सामाजिक सुरक्षा आयोग के निर्णय से, कुछ शर्तें पूरी करने पर, एक अतिरिक्त लाभ प्राप्त हो सकता है। विधवाओं को बुनियादी पेंशन मिलने का अधिकार है।

न्यूजीलैंड में कोई भी व्यक्ति जिसकी आयु १६ से अधिक हो और जो बीमारी अथवा दुर्घटना के कारण अस्थायी रूप से अपनी जीविका कमाने में असमर्थ हो गया हो, बीमारी-संबंधी लाभ पा सकता है। उसको यह लाभ अपनी असमर्थता की अवधि तक अथवा जब तक वह फिर कमाने लायक न हो जाए, मिलते रहेंगे। उसको यह सहायता रोगी को सहायता के नाम से मिलेगी। यह सहायता उन लोगों को दी जाती है जो स्थायी रूप से काम करने में अक्षम हैं तथा जिनकी आयु १६ वर्ष के ऊपर है और जिन्हें आयु-संबंधी कोई लाभ प्राप्त नहीं हो रहा है; किंतु यह असमर्थता अपने हाथों जानबूझकर पैदा न कर ली गयी हो।

न्यूजीलैंड में कामगार की हानिपूर्ति (खनकों के व्यावसायिक कारणों से उत्पन्न रोगों को छोड़कर) का एक अन्य कानून है। इसके अंतर्गत कामगार को सेवाकाल में शारीरिक चोट लगने के विरुद्ध अपना अनिवार्य बीमा कराना होता है। इसके अंतर्गत ठेके या शिक्षुता (Apprenticeship) के आधार पर काम करनेवाले सभी कर्मचारी (हाथ की मेहनत करनेवाले, क्लर्क अथवा अन्य कर्मचारी) तथा नाविक और नागरिक उड्डयन के कर्मचारी आते हैं। कुछ स्थितियों को छोड़कर अन्य सभी स्थितियों में मालिक को बीमा की किश्त (अधिशुल्क) देनी होती है जिसकी राशि कारखाने में खतरों की दृष्टि से आंकी जाती है।

अन्य अनेक चीजें सामान्य सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के अंतर्गत आती हैं। इनमें चिकित्सा, औषधि तथा प्रसूति-संबंधी सुविधाओं के नाम सबसे पहले गिनाये जा सकते हैं। रोगियों को कुछ फीस डाक्टरों के हाथों पर अवश्य धरनी पड़ती है। अन्य चीजें बे-पैसे मिलती हैं।

आस्ट्रेलिया—पिछले पचास वर्षों में आस्ट्रेलिया में नागरिकों की सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था में बहुत प्रगति हुई है। इस शताब्दी के आरंभ होने से पहले, आस्ट्रेलिया में सार्वजनिक स्वास्थ्य और सार्वजनिक शिक्षा ही सामाजिक सेवा के अंग थे; किंतु आजकल अधिकांश देशवासियों की आय और स्वास्थ्य के खतरों से बचाव के लिए इसके अंतर्गत व्यवस्था है।

आस्ट्रेलिया की सामाजिक सुरक्षा सेवाओं के लिए एक सरल ढंग से धन इकट्ठा किया जाता है। इसकी व्यवस्था आस्ट्रेलियन सामाजिक सेवा दृढ़ीकरण

अधिनियम (Australian Social Sarvices Consolidation Act) १९४७ द्वारा की गयी है। इसके अंतर्गत वृद्धावस्था की पेंशन, रोगियों की पेंशन, विधवाओं की पेंशन, प्रसूति-कालिक भत्ते, बालकों के प्राभृत, वेरोजगारी की सहायता, बीमारी की सहायता और अंत्येष्टि की सहायता का प्रवंध है। इस विस्तृत परियोजना के अतिरिक्त, कामगारों की हानिपूर्ति और वकाया राहतों के लिए राज्य सेवा के लाभ भी उपलब्ध हैं।

बुढ़ापे की पेंशनें ६५ वर्ष के ऊपर के पुरुषों तथा ६० वर्ष से ऊपर की स्त्रियों को मिलती है। विकलांगों की पेंशनें स्थायी रूप से विकलांग व्यक्तियों को मिलती हैं।

बेरोजगारी की सहायता उन लोगों को मिलती है जिनकी आयु १६ और ६५ वर्ष के बीच होती है तथा जो भले प्रकार से काम कर सकते हैं किंतु जिन्हें उचित प्रयास करने पर भी काम नहीं मिल पाया है। स्त्रियों के बारे में यह आयु की ऊंची सीमा ६० वर्ष होती है। जो व्यक्ति बेरोजगारी की सहायता चाहता है उसे अपना पिछला सेवा-संबंधी विवरण देने की जरूरत नहीं है और वह आदमी जो अभी तक अपना काम करता रहा है, बेरोजगारी की सहायता पा सकता है बशर्ते वह नौकरी करने को तैयार हो। बीमारी का भत्ता उन लोगों को मिल सकता है जो किसी बीमारी अथवा दुर्घटना के कारण अस्थायी रूप से काम करने में असमर्थ हो गये हों।

विधवाओं की पेंशनों के अंतर्गत कई प्रकार की आश्रित स्त्रियों को भी "विधवा" की श्रेणी में सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार की विधवाओं को कितनी सहायता मिलनी चाहिए इस उद्देश्य से तत्संबंधी अधिनियम में उन्हें चार श्रेणियों में बांट दिया गया है जो आयु तथा उनके आश्रित बच्चों की संख्या पर आधारित हैं। यदि (१) जिस स्त्री का पति जेल में है, अथवा (२) बीमारी के कारण अस्पताल में पड़ा हुआ है, अथवा (३) जिस स्त्री को तलाक मिल गया है, अथवा (४) जिस स्त्री को पति छोड़ गया है, वह "विधवा" की पेंशन पाने का दावा कर सकती है।

आस्ट्रेलिया में प्रसूतिकालिक भत्ते बहुत दिनों से मिलते आ रहे हैं। १९४७ के अधिनियम द्वारा उनकी धन-राशि बढ़ा दी गयी है। बाल-पोषण-सहायता के अंतर्गत माताओं को बालकों की १६ वर्ष की आयु तक उनके भरण-पोषण, प्रशिक्षण तथा उन्नति के लिए भत्ता दिया जाता है। इसी अधिनियम द्वारा वृद्धावस्था तथा रुग्णावस्था की पेंशन पाने वालों की अंत्येष्टि के लिए भी आर्थिक सहायता दी जाती है।

आस्ट्रेलिया के सभी राज्यों में कामगारों की हानिपूर्त्ति का कानून है जो ब्रिटेन के हानिपूर्ति-कानून से मिलता जुलता है।

आस्ट्रेलिया की सामाजिक सुरक्षा परियोजना के अंतर्गत पेंशनें, भत्ते, धर्मस्व और आर्थिक सहायताएं एक राज-कानून द्वारा स्थापित राष्ट्रीय कल्याण निधि से दी जाती हैं। इस निधि में सामाजिक सेवाओं के लिए मिलने वाले चंदों तथा करों की उगाही से धन आता है। ये कर आयकर कानून के अंतर्गत लगाये जाते हैं।

आस्ट्रेलिया में रहन-सहन का स्तर काफी ऊंचा है; और यदि इस दशा में वहां की सामाजिक सुरक्षा-पद्धति इतनी विशद और व्यापक है तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है। इसके अतिरिक्त, देश के कुछ क्षेत्रों में जनसंख्या सघन होने तथा वहां अन्य प्राचीन देशों जैसी व्यापार-श्रेणियों को जन्म देने वाली संस्थाएं न होने के कारण उक्त सामाजिक सुरक्षा के विकास में सहायता मिली है।

संयुक्तराज्य अमेरिका—संयुक्तराज्य अमेरिका में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्थाओं का उद्देश्य यह है कि जीवन-निर्वाह का न्यूनतम मानक प्रत्येक व्यक्ति की पहुंच के भीतर बना रहे। उसका उद्देश्य संकटों से व्यक्तियों की अलग-अलग रक्षा करना नहीं है। इस सामाजिक सुरक्षा पद्धति में विभिन्न सरकारी कार्यक्रम मिलेजुले रूप में दिखायी देंगे—कोई पूर्णतः संघीय कार्यक्रम होते हैं, कोई राज्यीय कार्यक्रम होते हैं और किसी पर दोनों की पुट लगी होती है। इन कार्यक्रमों के बुनियादी सिद्धांतों में भी अंतर होता है। कोई-कोई सामाजिक बीमा के सिद्धांतों पर और कोई व्यक्तिगत वित्तीय आवश्यकता के सिद्धांत पर टिके हुए हैं। कुछ स्वास्थ्य और कल्याण सेवाओं के साधनों द्वारा सामान्य लोक कल्याण की उन्नति में संलग्न हैं।

१९३५ के सामाजिक सुरक्षा अधिनियम (Social Security Act, 1935) को संयुक्तराज्य अमेरिका की संगठित सामाजिक सुरक्षा पद्धति की स्थापना का प्रथम उल्लेखनीय प्रयास मानना होगा। संघीय सामाजिक बीमा पद्धति, जिसके अंतर्गत वृद्धावस्था तथा परिवार के लिए रोटी कमाने वाले व्यक्ति की मृत्यु के कारण आय बंद हो जाने के विरुद्ध कामगारों का बीमा किया जाता है, उक्त अधिनियम के भीतर आता है। एक संघीय-राज्यीय कार्यक्रम के अंतर्गत उन अधिकांश औद्योगिक तथा व्यावसायिक कामगारों को शरण दी जाती है जो बेरोजगारी के कारण कमाई से वंचित हो जाते हैं। सामाजिक सुरक्षा अधिनियम के कारण प्रत्येक राज्य को बेरोजगारी बीमा कानून बनाने तथा उसे लागू करने का उत्साह मिला है। इस अधिनियम में बेरोजगारी बीमा कार्यक्रम के लिए संघ सरकार से अनुदान मिलने की व्यवस्था भी है। इस अधिनियम के अंतर्गत जो तृतीय आय-अनुरक्षण कार्यक्रम की व्यवस्था की गयी है वह वित्तीय सहायता के इच्छुक व्यक्तियों के विशेष गुट

के लिए एक केंद्रीय-राज्यीय सहायता कार्यक्रम है। उक्त गुट के अंतर्गत बुढ्ढों, अंधों, आश्रित बालकों तथा स्थायी रूप से पूर्ण विकलांग व्यक्तियों को स्थान दिया गया है। अनेक राज्यों में यह सार्वजनिक सहायता कार्यक्रम चालू है जिसे केंद्रीय सरकार से अनुदान् दिया जाता है जिससे वे प्रसूता और शिशु स्वास्थ्य सेवा, विकलांग बालक सेवा तथा शिशु कल्याण सेवा में सुधार कर सकें।

सामाजिक सुरक्षा अधिनियम के अंतवर्ती उक्त कार्यक्रमों के अतिरिक्त, राज्यों के कामगारों तथा संघीय (केंद्रीय) सरकार के कर्मचारियों, बंदरगाही कामगारों तथा अन्य लोगों के लिए कामगार की हानि-पूर्त्ति की व्यवस्था है। अ-व्यावसायिक किस्म की अयोग्यता के सिलसिले में बीमारी अथवा अयोग्यता के आरंभिक काल में जो हानि होती है उससे कामगार का बचाव किया जाता है। राज्यीय अथवा स्थानीय पैमाने पर एक सामान्य सहायता कार्यक्रम होता है जिसके अंतर्गत उन कामगारों को सहायता मिलती है जो सुनिश्चित केंद्रीय-राज्यीय कार्यक्रमों से लाभ उठाने में वंचित रहते हैं।

संयुक्तराज्य अमेरिका में सामाजिक सुरक्षा योजना का एक महत्त्वपूर्ण अंग यह है कि उसके अंतर्गत कामगारों के एक विशेष गुट के लिए संघीय सामाजिक बीमा की व्यवस्था है। इस गुट में अंतःराज्यीय व्यापार में लगे हुए रेल-कर्मचारियों के वर्ग आते हैं। इसके अंतर्गत इन्हें बेरोजगारी का बीमा, सेवानिवृत्ति, वृद्धावस्था अथवा अयोग्यता-संबंधी आर्थिक सहायता, बीमारी तथा प्रसूतिकालिक सहायता सुलभ होती है। ये लाभ अब नाविकों को भी मिलने लगे हैं।

१९४९ के सामाजिक सुरक्षा अधिनियम में वृद्धावस्था आदि के लिए ७ प्रकार के लाभों की व्यवस्था है जो ६५ वर्ष की आयु के सेवानिवृत्त व्यक्ति को प्राप्त हो सकते हैं। ये हैं मूल बीमा का लाभ, पत्नी की सहायता, विधवा की सहायता, माता-पिता की सहायता, बच्चे की सहायता, विधवा का चालू बीमा धन तथा मृत्यु के उपरांत एकमुश्त धन-राशि। ये लाभ प्रायः वाणिज्य तथा उद्योग विभाग के कर्मचारियों को ही प्राप्त होते हैं। मूल बीमा की राशि को देख कर ही उक्त सहायता की धन-राशि नियत की जाती है। मूल बीमा की राशि कामगार के औसत मासिक वेतन की राशि पर निर्भर होती है।

अमेरिका में जिन लोगों को बीमा का लाभ प्राप्त नहीं है और जो वृद्धावस्था में आर्थिक सहायता चाहते हैं उन्हें वृद्धावस्था-सहायता-कार्यक्रम के अंतर्गत सहायता प्राप्त होती है।

सामाजिक सुरक्षा अधिनियम १९३५ ने कर मुजरा करने की नीति द्वारा राज्यों को बेरोजगारी बीमा प्रणाली स्थापित करने के लिए उत्साहित किया। यह प्रणाली संघीय सरकार के कुछ मानकों का परिशीलन करती है। अधि-

कांश राज्यों ने उक्त अधिनियम से भी आगे बढ़कर अपने कार्यक्रम चालू किये हैं जो औसत साप्ताहिक मजदूरी अथवा वेतन पाने वाले प्रत्येक चार व्यक्तियों में से कम से कम तीन व्यक्तियों पर तो लागू होता ही है। इस अधिनियम में बताया गया है कि कर्मचारियों को कितना साप्ताहिक लाभ प्राप्त होगा। यह लाभ पूर्ण साप्ताहिक मजदूरी के ५० प्र० श० भाग से कम नहीं होता है। यह उल्लेखनीय है कि दो राज्यों को छोड़कर अन्य सभी राज्यों ने बेरोजगारी के बीमे की व्यवस्था कर्मचारियों के वेतन से २·७ प्रतिशत कटौती करके की है।

सेवाकाल में चोट लगने से यदि कामगार सेवा के अयोग्य हो जाता है तो उसकी हानि-पूर्त्ति की सुलभ व्यवस्था की गयी है। इसके लिए कामगार हानि-पूर्त्ति कानून बने हुए हैं।

बीमारी की सहायता सात दिन तक प्रतीक्षा करने के बाद प्राप्त होती है। यह धन-राशि मजदूरी की राशि के अनुसार नियत की जाती है। दीर्घकालिक अयोग्यता अथवा अ-व्यावसायिक दुर्घटना से उत्पन्न होने वाली अयोग्यता के संबंध में जो बीमा कार्यक्रम है वह रेल-कर्मचारियों पर ही लागू है।

सोवियत रूस—सामाजिक सुरक्षा सोवियत रूस की बुनियादी सामाजिक नीति का एक अभिन्न अंग है। सोवियत संघ का एक दावा यह है कि रूस में सभी कामगारों और कर्मचारियों का सामाजिक बीमा है। इस बीमा की एक महत्त्वपूर्ण चीज यह है कि यह कामगार वर्ग के कल्याण का ही स्तंभ न होकर देश के उत्पादन बढ़ाने का प्रबल साधन बन गया है। वहां सामाजिक सुरक्षा परियोजना के संगठन, प्रशासन तथा अधीक्षण का काम मजदूर यूनियनों के हाथ में है और प्रत्येक संस्थान से चंदा इकट्ठा करके इस परियोजना के व्यय को पूरा करते हैं।

अकतूबर क्रांति के बाद सामाजिक बीमा सोवियत सामाजिक नीति की आधारशिला बन गया। १९३३ में प्रथम पंचवर्षीय योजना के श्रीगणेश से पहले इस नीति का लक्ष्य श्रमिक-वर्ग की अधिकतम सुरक्षा करना था। किंतु जब १९३८ में अधिकतम उत्पादन लक्ष्य बना लिया गया तो उस सिद्धांत को तिलांजलि दे दी गयी। श्रमिक अभिकर्ताओं के सातवें अखिल रूसी सम्मेलन के एक प्रस्ताव में बताया गया था कि रूस में सामाजिक बीमा का सिद्धांत क्या है। इसका सामाजिक बीमा अभिकरणों की ऐसी पुनर्व्यवस्था करना, उनके काम का ऐसा पुनर्गठन करना था ताकि देश में समाजवादी पुनर्निर्माण के कार्य में अधिकतम सफलता प्राप्त की जा सके।

सोवियत रूस में स्वास्थ्य बीमा के रूप में समय-समय पर परिवर्तन होता आया है। प्रारंभ में इसके अंतर्गत सभी कामगारों को बीमारी की अवधि में अपने वेतन के बराबर आर्थिक सहायता दी जाती थी। किंतु १९३१ में इसमें

संशोधन कर दिया गया और अब इसके अंतर्गत आर्थिक सहायता तब दी जाती है जब कि पहले यह देख लिया जाता है कि कामगार की सेवा की अवधि कितनी है और वह पहले नौकरी कहां करता था। सात उद्योगों—कोयला तथा लोहे की खानों, धातु-खानों, मशीन बनाने के कारखानों, रसायनों के कारखानों, रेलों तथा जलमार्गों—में विशेष तथा रियायती बीमा कोष भी स्थापित किये गये थे। जब १९३८ में सामाजिक बीमा के संबंध में एक कानून बन गया तब इसमें और भी परिवर्तन हो गये। इस योजना के अंतर्गत किसी कामगार ने अपने पिछले पद तक लगातार कितने समय तक सेवा की है, उसके अनुसार उसे आर्थिक सहायता दी जाती है। यदि किसी कामगार ने खानों तथा धात्विक कारखानों, रासायनिक कारखानों तथा कुछेक अन्य महत्त्वपूर्ण उद्योगों में किसी एक ही स्थान पर लगातार एक वर्ष काम किया है तो उसे बीमार होने पर उसके औसत वेतन की शतप्रतिशत राशि प्रदान की जाती है। जिन कामगारों को काम करते एक वर्ष नहीं हुआ है उन्हें उनकी कमाई का ६० प्र० श० भाग दिया जाता है। राष्ट्रीय अर्थतंत्र की अन्य शाखाओं में मज-दूरी तथा वेतन-भोगी कामगारों को रुग्णावस्था की सहायता उनके वेतन का ५० से १०० प्र० श० मिलती है। इसे निश्चित करते समय किसी कारखाने या कार्यालय में सेवा की अवधि का ध्यान रखा जाता है। यदि उनका सेवा-काल तीन वर्ष से कम होता है तो उन्हें अपनी कमाई का ५० प्र० श० ही मिलता है।

जो कामगार अनुशासन-हीनता या इसी प्रकार के अन्य अपराध के कारण बर्खास्त कर दिये गये हैं अथवा जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक अपनी नौकरी छोड़ दी है वे उक्त प्रकार की सहायता का दावा तब तक नहीं कर सकते हैं जब तक कि वे नयी नौकरी कम-से-कम छः महीने तक न कर दिखाएं।

बीमारी की आर्थिक सहायता बीमाशुदा कामगारों तथा उनके आश्रितों को दी जाती है। जब किसी कामगार का बच्चा अपनी दो वर्ष की आयु तक बीमार पड़ता है तब उसकी मां को अवकाश दे दिया जाता है चाहे उसके घर उस बीमार बालक की देखभाल के लिए और कोई हो या नहीं। यदि आव-श्यकता हो तो कामगार को भी परिवार के बीमार-सदस्य की देखभाल के लिए छुट्टी मिल सकती है। इन सभी परिस्थितियों में कामगार को सामाजिक सुरक्षा कोष से सहायता दी जाती है। बीमारी की सहायता बीमार होने के पहले दिन से उस समय तक मिलती रहती है जब तक वह पूरी तरह चंगा न हो जाए। यदि बीमारी लंबी (४ से ६ मास तक) खिच जाए तो उसे तब तक सहायता मिलती रहेगी जब तक चिकित्सा आयोग उसे असाध्य रोगी उद्घोषित न कर दे। उस दिन से उसे स्थायी अयोग्यता की पेंशन मिलने लगेगी।

जो मजदूरी (भृति) तथा वेतन-भोगी कामगार काम करते समय दुर्घटना तथा व्यावसायिक रोगों के कारण स्थायी रूप से अयोग्य हो गये हैं उन्हें पेंशन देते समय उनके सेवाकाल पर ध्यान नहीं दिया जाता तथा यह पेंशन-दर उससे अधिक होती है जो कामगार को सामान्य रोग से उत्पीड़ित होकर स्थायी रूप से अयोग्य हो जाने पर मिलती है। पेंशन की यह राशि अयोग्यता, अयोग्यता की गहराई तथा जिस राष्ट्रीय कारखाने में कामगार काम करता है उसके महत्त्व और अयोग्य होने से पहले उसकी आय पर निर्भर होती है।

सामान्य रोग से अयोग्य हो जाने के लिए मजदूरी तथा वेतन-भोगी कामगार की, जो बीस वर्ष से अधिक आयु का है, पेंशन-दर उसकी सेवाकाल को देखकर निश्चित की जाती है। किंतु जिनकी आयु बीस वर्ष से कम है उनकी सेवा की अवधि पर ध्यान दिये बिना ही पेंशन नियत कर दी जाती है।

सोवियत रूस में उत्तराधिकारी के बीमे के मूल में यह भावना काम करती है कि बीमाशुदा (बीमा-आगोपित) के सभी उत्तराधिकारियों को बीमा का लाभ प्राप्त नहीं होता है; यह लाभ केवल उन लोगों को मिलता है जो या तो काम नहीं कर सकते या बीमाशुदा व्यक्ति पर आश्रित थे। यह शर्त उन माता-पिता या पत्नी-पति पर लागू नहीं होती है जो क्रमशः ५५ (स्त्री) और ६० (पुरुष) वर्ष के हो चुके हैं।

एक निश्चित आयु के हो जाने अथवा एक निश्चित अवधि तक काम करने के बाद सभी मजदूरी तथा वेतन-भोगी कामगार वृद्धावस्था की पेंशन पाने के अधिकारी हो जाते हैं। इसमें उनके स्वास्थ्य का ख्याल नहीं किया जाता है। पुरुष ६० वर्ष का होने अथवा २५ वर्ष तक सेवा करने के बाद वृद्धावस्था की पेंशन पा सकता है। स्त्री को पेंशन के अधिकार के लिए २० वर्ष सेवा करनी या ५५ वर्ष की आयु पार करनी होती है। वृद्धावस्था की पेंशन पाने वालों को पेंशन मिलती रहती है चाहे वे कहीं काम क्यों न करते रहें।

सोवियत संघ में बेरोजगारी के बीमे की व्यवस्था नहीं है। काम करने का मूलभूत अधिकार सबको प्राप्त है और यहां १९३० से बेरोजगारी कानूनी तौर पर उन्मूलित कर दी गयी है। छटनी अथवा कामबंदी के कारण बेरोजगारों को पेंशन मिलती है। इस कामबंदी में कामगार को कोई अन्य राहत नहीं मिलता है क्योंकि पेंशन के कारण उसका प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रायः रूस के मजदूर संघ ही देश की सामाजिक बीमा परियोजनाओं का संचालन करते हैं। अखिल-संघीय केंद्रीय मजदूर संघ परिषद सामाजिक बीमा पद्धति के प्रशासन के लिए एक केंद्रीय संस्था है। इसका एक सामाजिक बीमा विभाग अलग है। इसका मुख्य काम मजदूर संघों के उन सब विभागों पर अंकुश रखना है जिन्हें सामाजिक बीमा के प्रशासन का

भार सौंपा गया है। यह समस्त सामाजिक बीमा बजट तैयार करता है जिस पर सरकार की स्वीकृति लेना अनिवार्य है। यह सामाजिक बीमा कानूनों के प्रारूपों की रचना भी करता है। विभिन्न संघ इसके अभिकर्ता के रूप में अपने-अपने उद्योगों में काम करती हैं; तथा दूकान के मुनीम स्थानीय क्षेत्र में उसके अभिकर्ताओं का काम करते हैं। उनकी सहायता के लिए कितने ही कारखानों में बीमा-परिषदें स्थापित हो चुकी हैं।

भारत में सामाजिक सुरक्षा

आरंभ—सामाजिक सुरक्षा का जो अर्थ आजकल समझा जाता है उसकी दृष्टि से वह भारत के लिए कोई बिल्कुल नयी चीज नहीं है। कुछ मालिक अपने कर्मचारियों को पेंशन, प्रॉवीडेंट फंड (भविष्यनिधि) तथा ग्रेच्युटी (अनुग्रह-धन) वर्षों से देते आये हैं तथा उनके कल्याण की कुछ व्यवस्थाएं भी करते आये हैं। इस दिशा में भारत में कानूनों का भी पूर्ण अभाव नहीं रहा है। यहां कामगार हानिपूर्ति अधिनियम १९२३ में पास हुआ था तथा अनेक राज्यों में प्रसूति-कालिक लाभ अधिनियम १९४७ से पहले बनाये गये। किंतु इन अधिनियमों से समस्या का हल प्राप्त नहीं हुआ है। वे विषय को छूकर ही रह गये हैं। वास्तव में, इन अधिनियमों के बनने पर भी, सामाजिक सुरक्षा का मुख्य भार मालिकों पर ही छोड़ दिया गया है जिनमें उसकी व्यवस्था करने की सहृदयता अधिक नहीं पायी जाती है। उनमें कम प्रगतिशील मालिक तो इसके विरुद्ध ही दीखते हैं।

विधि-विधान के क्षेत्र में १९४८ के कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम का नाम सबसे पहले उल्लेखनीय है जो आजकल उन सब फैक्टरियों पर लागू है जिनमें बिजली से इंजन चलते हैं तथा २० या उससे अधिक लोग काम करते हैं। कोयला खान प्रॉवीडेंट फंड तथा बोनस योजना १९४८ और कर्मचारी प्रॉवीडेंट फंड योजना अन्य मुख्य कानूनी व्यवस्थाएं हैं। कर्मचारी प्रॉवीडेंट फंड योजना १९५२ में ६ बड़े उद्योगों में चालू हुई थी और १९५६ में कुछ अन्य उद्योगों में भी लागू कर दी गयी। १९५८ में इस अधिनियम में फिर संशोधन हुआ। अब यह सरकारी उद्योगों तथा स्थानीय निकायों पर भी लागू हो गया है। औद्योगिक झगड़ा (संशोधन) अधिनियम १९५३ के अंतर्गत छटनी तथा कामबंदी के संबंध में आर्थिक सहायता की व्यवस्था की गयी है।

सामान्यतः सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में बीमा योजनाएं कामगार की उस दशा में सहायता करती हैं जबकि वह सेवा करते समय चोटिल अथवा किसी रोग से पीड़ित हो जाए। इन योजनाओं के अंतर्गत कामगारों को इस बात की

गारंटी मिली रहती है कि यदि वह काम करने में किसी कारण से असमर्थ होगा तो वह तथा उसका परिवार भूखों न मरेगा।

कामगारों की हानिपूर्ति—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस दिशा में भारत में सबसे पहला कदम १९२३ का श्रमिक हानिपूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act) है। मूलत: यह अधिनियम रेलवे, ट्राम, फैक्टरी, खान, समुद्र, जहाजघाट, भवन, व्यापार, कूड़ा-करकट और अग्निशामक (फायर ब्रिगेड) के कामगारों पर लागू होता था। इसके अंतर्गत सेवाकाल में चोट की गंभीरता के अनुसार कामगारों को हानिपूर्ति दी जाती थी। मालिक निर्धारित स्तर पर हानिपूर्ति देने के जिम्मेदार होते हैं। फैक्टरियों के कामगारों को मिलाकर अन्य २७ प्रकार की व्यावसायिक सेवा करने वाले लोग, जिनका वेतन ४०० रु० मासिक से अधिक नहीं होता है, इसके अंतर्गत आते हैं। इसमें मृत्यु, स्थायी व्यापक अयोग्यता, स्थायी आंशिक अयोग्यता और दुर्घटना अथवा व्यावसायिक रोग से उत्पन्न अस्थायी अयोग्यता के लिए हानिपूर्ति की व्यवस्था की गयी है। इस हानिपूर्ति की छमाही अदायगी होती है और अयोग्यता आरंभ होने के आठवें दिन से शुरू हो जाती है। स्थायी रूप से अयोग्यता अथवा मृत्यु के कारण हानिपूर्ति एकमुश्त दे दी जाती है।

यह स्पष्ट उल्लिखित है कि हानिपूर्त्ति की धन-राशि से किसी दावे का भुगतान नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक राज्य में कामगारों की विवादग्रस्त हानिपूर्ति का निर्णय करने के लिए आयुक्त (कमिश्नर) होते हैं। वे हानिपूर्ति संबंधी दावों का फैसला करते हैं।

इस अधिनियम के अंतर्गत हानिपूर्ति की अदायगी के लिए कुछ मालिकों ने अपने-अपने सार्थों (फर्मों) का बीमा भी करवा रखा है।

प्रसूतिकालिक लाभ—प्रसूतिकालिक अवकाश की व्यवस्था न होने से कामगारिनों को अपनी नौकरी अनिश्चित काल तक सुरक्षित रखने में बड़ी कठिनाई होती थी। इसलिए अब लगभग सभी राज्यों ने प्रसूतिकालिक लाभ अधिनियम पास कर दिये हैं जिनसे प्रसूता कामगारिनों (कामिनों) को वैतनिक छुट्टी तथा अन्य सुविधाएं प्रसव से पहले और बाद में मिल जाती हैं। सबसे पहले बंबई राज्य ने १९२९ में उक्त विषय का कानून पास किया था। केंद्रीय सरकार ने केंद्रीय खान प्रसूति-सुविधा अधिनियम लागू कर रखा है।

इन अधिनियमों के अतर्गत मालिकों को धन देना पड़ता है। संतान उत्पन्न होने से पहले तथा उसके बाद में कुछ काल के लिए अनिवार्य रूप से छुट्टी देनी होती है। विश्रामकाल आठ सप्ताह का होता है और उसका वेतन मिलता है किंतु किसी-किसी केस में यह विश्रामकाल १२ सप्ताह तक का होता है और कुछ को ७ सप्ताह की ही छुट्टी मिलती है। छुट्टी का वेतन सबको समान दर

पर मिलता है। किसी-किसी केस में समान दर तथा मजदूरी-दर में जो अधिक राशि होती है वह दी जाती है; तथा किसी-किसी को उक्त दरों में जो कम होती है उसके हिसाब से वेतन दिया जाता है।

स्वास्थ्य बीमा—इस उद्देश्य की परियोजनाओं में एक दोष यह है कि इनके अंतर्गत हानिपूर्ति का दायित्व व्यक्तिगत मालिकों पर डाल दिया गया है तथा जिन मालिकों को अंतरात्मा की पुकार नहीं सुनायी देती है वे हानिपूर्ति देने में अनाकानी कर जाते हैं; तथा यदि कामगार अपने अधिकार को नहीं पहचानते हैं तो वे उससे लाभ उठाने में चूक जाते हैं। किसी भी उचित सामाजिक सुरक्षा योजना में हानिपूर्ति का दायित्व व्यक्तिगत मालिक पर न होकर राज्य पर अथवा अन्य स्वतंत्र संगठन पर निर्भर होना चाहिए।

जब से अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने उद्योग, वाणिज्य तथा कृषि के कामगारों के बारे में स्वास्थ्य बीमा का अभिसमय (कन्वेंशन) स्वीकार कर लिया है तब से भारत सरकार सामाजिक बीमा परियोजना के कार्यान्वय के प्रश्न पर विचार करती आ रही है। उस समय भारत सरकार का कहना यह था कि भारत की तत्कालीन आर्थिक दशा को देखते हुए उक्त अभिसमय को भारत सरकार स्वीकार करने में असमर्थ है। कुछ समय बाद भारत में श्रम की जांच के लिए नियुक्त किये गये राजकीय आयोग ने उक्त प्रश्न पर विचार करके सिफारिश की थी कि "उन (श्रमिकों) की वर्तमान कठिनाइयों को कम करने के लिए सभी उपायों की खोज करनी चाहिए।" उसने विशेष रूप से यह सिफारिश की थी कि बीमारी के आंकड़े इकट्ठे किये जाने चाहिए जिनके आधार पर स्वास्थ्य बीमा की एक व्यापक परियोजना बनायी जा सके। श्रम-मंत्रियों के सम्मेलन का यह अभिमत था कि स्वास्थ्य बीमा परियोजना को फिलहाल परीक्षण के तौर पर आरंभ किया जाए।

इसके बाद स्वास्थ्य बीमा, प्रसूतिकालिक सहायता तथा सेवाकालिक चोट के लिए सामाजिक सुरक्षा की एक समासित परियोजना चालू की गयी। इस परियोजना के आधार पर कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम को भारत के स्वाधीन होने के बाद १९४८ में राज कानून बना दिया गया।

इस अधिनियम को कार्यान्वित करने के लिए एक निगम (कार्पोरेशन) बना हुआ है जिसमें मालिकों, कर्मचारियों, चिकित्सा व्यवसाय, केंद्रीय तथा राज्यीय सरकारों और संसद के प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया है। चिकित्सा सहायता परिषद केवल परामर्श दे सकती है। निगम की एक स्थायी समिति इस परियोजना की देखभाल करती है किंतु इसके अधिशासन का उत्तरदायित्त्व प्रधान कार्यालय के महासंचालक पर है।

प्रत्येक स्तर पर सहयोग की अपेक्षा के कारण प्रादेशिक बोर्ड और स्थानीय समितियां बनायी जा रही हैं जिनमें श्रमिकों, मालिकों, राज्यीय सरकारों और निगम के प्रतिनिधि होते हैं। विवादग्रस्त प्रश्नों का निपटारा करने के लिए राज्य-सरकारों ने कर्मचारी बीमा न्यायालय स्थापित कर दिये हैं।

इस परियोजना के भीतर वे सब कर्मचारी आते हैं जिनकी कुल आय ४०० रु. मासिक से अधिक नहीं होती है। इस परियोजना के अंतर्गत निम्नांकित लाभ प्राप्त होते हैं :

(१) बीमार होने और सेवाकाल में क्षत-विक्षत हो जाने पर निःशुल्क चिकित्सा, क्ष-रश्मिकी (radiological) तथा व्याधिकीय (pathological) सेवाओं की व्यवस्था समेत।

(२) महिला कर्मचारियों की निःशुल्क प्रसूतिकालिक देखभाल। प्रसूतिकालिक अवकाश १२ सप्ताह तक का हो सकता है जिसमें प्रसव से अधिक से अधिक छह सप्ताह पहले अवकाश ग्रहण किया जा सकता है।

(३) सेवाकाल में चोट लगने से यदि कर्मचारी ७ दिन से अधिक काल के लिए काम करने के अयोग्य हो जाता है तो वह उस अयोग्यता के लिए नकद धन पाने का अधिकारी है। यह धन-राशि अयोग्यता-काल के लिए उसके आधे वेतन की दर पर मिलेगी।

(४) पूर्ण रूप से स्थायी अयोग्य होने पर कर्मचारी को उसके वेतन की आधी राशि पेंशन के रूप में जीवन भर मिलती रहती है तथा आंशिक रूप से स्थायी अयोग्य होने पर जितना उसे मिलना है उसीके अनुपात से उसकी आजीवन-पेंशन नियत कर दी जाती है।

(५) यदि चोटिल होकर आदमी मर जाता है तो उसके वेतन की आधी राशि उसके परिवार अथवा आश्रितों को पेंशन के रूप में मिलने लगती है।

कामगार हानिपूर्ति अधिनियम के अंतर्गत एकमुश्त धन-राशि देने के चलन को अधिक उपयोगी माना जाता है। इससे सामाजिक सुरक्षा का उद्देश्य अधिक सफल होता है। इस परियोजना के किसी क्षेत्र में चालू होते ही, उसी दिन से, वहां के कामगारों को चिकित्सा-विषयक सुविधाएं मिलने लगती हैं तथा कुछ शर्तें पूरी होने पर नकद धन-राशि भी दी जाने लगती है।

इस परियोजना पर जो धन व्यय होता है वह मालिकों तथा कामगारों के चंदों और केंद्रीय तथा राज्य सरकारों के अनुदानों द्वारा इकट्ठा किया जाता है।

कामगारों से चंदा इकट्ठा करने में उनकी आर्थिक क्षमता का ख्याल रखा जाता है। इस उद्देश्य से उनकी आठ वेतन-श्रेणियां बनायी गयी हैं। जो काम-

वह उसे किसी भी औद्योगिक, व्यापारिक, कृषिक तथा अन्य संस्थानों पर लागू कर सकती है। इस परियोजना के अंतर्गत एक सामान्य सामाजिक बीमा परियोजना का नमूना तैयार करना है।

बीमाशुदा व्यक्तियों के परिवारों को चिकित्सा की सुविधा देने की मांग पहले से ही होती आ रही है। इसलिए निगम के लेन-देन की जांच-पड़ताल इस उद्देश्य से की गयी कि चंदे की वर्तमान दरों को देखते हुए क्या वह उक्त प्रकार की चिकित्सा-व्यवस्था कर सकता है। जांच-पड़ताल करने के बाद जो सिफारिश की गयी उसके अनुसार निगम ने परिवारों की चिकित्सा की व्यवस्था करना स्वीकार कर लिया।

कोयला खनकों को बोनस और प्रॉवीडेंट फंड—प्रायः लोगों के सामने आकस्मिक खर्चे आ जाते हैं। इसलिए जिन कामगारों को नपा-तुला वेतन मिलता है वे प्रायः महाजन के चंगूल में फंस जाते हैं। किंतु यदि उनके मालिक उन्हें बोनस नियमित रूप से देते हैं तो वे ऐसी स्थिति का डट कर सामना कर सकते हैं। कोयला खनकों की कठिनाइयां और स्थितियां विचित्र होती हैं और जिन कामगारों को परिरक्षण की जरूरत है उनमें उनका नाम सबसे पहले आता है। इसलिए सुलह (कोयला खनक विवाद) बोर्ड [Board of Conciliation (Colliery Disputes)] की सिफारिशों के आधार पर कोयला खनकों को उनकी बुनियादी मजदूरी के हिसाब से चार मास की मजदूरी के बराबर बोनस मिलने लगा है तथा उनके लिए प्रॉवीडेंट फंड की भी व्यवस्था की गयी है। इसके लिए कोयला खनक प्रॉवीडेंट फंड तथा बोनस परियोजना अधिनियम (Coal Mines Provident Fund and Bonus Schemes Act) है।

जिन लोगों को बुनियादी मजदूरी ३०० रु० मासिक तक मिलती है, उनको बोनस दिया जाता है। कामगारों को अपनी बुनियादी मजदूरी के एक-तिहाई भाग के बराबर धन त्रैमासिक बोनस के रूप में पाने का अधिकार है बशर्ते उनकी आवश्यक उपस्थिति ठीक हो।

कामगारों को जो कुल मजदूरी, जिसमें महंगाई-भत्ता तथा खाद्य-भत्ता भी सम्मिलित है, मिलती है उसके प्रति रुपया एक आना की दर से प्रॉवीडेंट फंड के लिए चंदा कटवाना होता है। इतनी ही धन-राशि मालिक को देनी पड़ती है। इस फंड का प्रशासन प्रन्यासी मंडल (Board of Trustees) करता है जिसमें कामगारों, मालिकों और केंद्रीय तथा राज्यीय सरकारों के प्रतिनिधि होते हैं। इसका दैनिक प्रशासन, कोयला खनक प्रॉवीडेंट फंड कमिश्नर (आयुक्त) के निर्देशों के अंतर्गत, एक केंद्रीय कार्यालय चला रहा है।

इस प्रशासन का व्यय न तो मालिक के अंशदान से और न ही उनके धन-विनियोग की आय से लिया जाता है। इसके लिए मालिक धन देता है जो संयुक्त अंशदान की पूंजी पर ५ प्रतिशत पृथक कर लगाकर उपलब्ध कर लिया जाता है।

प्रॉवीडेंट फंड के दावे यथाशीघ्र निपटाने की कोशिश की जाती है, कामगार को अपना पूर्ण अंश तथा अपनी सेवा की अवधि के अनुसार मालिक का अंशदान मिल जाता है। पूर्ण सेवा, मृत्यु अथवा स्थायी रूप से सेवा के लिए अयोग्य होने पर पूरी राशि मिल जाती है।

कोयला खनक बोनस तथा प्रॉवीडेंट फंड परियोजनाओं ने कोयला खनकों में सुरक्षा की भावना कुछ सीमा तक उत्पन्न की है। इससे आकस्मिक व्यय की दशा में उन्हें सहारा बंध गया है तथा सेवा से निवृत्त होने पर वे अब अपने को नितांत अनाथ अनुभव नहीं करते हैं।

कर्मचारियों का प्रॉविडेंट फंड—कोयला खनक प्रॉवीडेंट फंड परियोजना की सफलता ने अन्य उद्योगों में इसी प्रकार की परियोजना की मांग का सूत्रपात किया। इसलिए १९५२ का कर्मचारी प्रॉवीडेंट फंड अधिनियम (Employees Provident Funds Act) बनाया गया।

इस अधिनियम के अंतर्गत जो परियोजना बनी वह छह बड़े उद्योगों—सीमेंट, सिगरेट, इंजीनियरिंग (विद्युदीय, रासायनिक और सामान्य), लोहा और इस्पात, कागज और कपड़ा—पर लागू होती है। जुलाई १९५६ में प्रॉवीडेंट फंड अधिनियम १९५२ को तेरह औद्योगिक श्रेणियों पर लागू कर दिया गया तथा दिसंबर १९५६ में यह परियोजना चाय, आदि के बागों और खानों पर भी लागू हो गया। मई १९५८ में कर्मचारी प्रॉवीडेंट फंड अधिनियम में फिर संशोधन किया गया जिससे वह सरकारी अथवा स्थानीय प्राधिकार के संस्थानों पर भी लागू हो गया। इस संशोधन से प्रॉवीडेंट फंड के क्षेत्र में सरकारी और निजी क्षेत्रों के साथ बराबरी का व्यवहार होने लगा। अब इस अधिनियम से लगभग आठ लाख कर्मचारियों को लाभ पहुंच रहा है।

इन प्रॉवीडेंट फंडों के चंदे की दर वही है जो कोयला खनक प्रॉवीडेंट फंड परियोजना के अंतर्गत चालू है। दूसरे शब्दों में, कुल वेतन-राशि में छह नये पैसे प्रति रुपया कटौती होती है। सरकार प्रॉवीडेंट फंड की कटौती की दर ६$\frac{1}{4}$ प्र० श० से बढ़ाकर ८$\frac{1}{2}$ प्र० श० करने का विचार कर रही है। नवम्बर १९५७ के अंत में ६,२२५ कारखानों तथा संस्थानों के २३.२२ लाख कामगारों का प्रॉवीडेंट फंड कट रहा था। फंड के धन पर ३$\frac{1}{2}$ प्र० श० ब्याज मिलता है। एक केन्द्रीय प्रन्यासी मंडल जिसमें केंद्रीय तथा राज्यीय सरकारों, मालिकों और कामगारों के प्रतिनिधि होते हैं, इस परियोजना का प्रशासन करता

है। प्रादेशिक कमिश्नरों के अंतर्गत बीस प्रादेशिक कार्यालय खोले गये हैं। इनमें निरीक्षक तथा अन्य कर्मचारी भी काम करते हैं। प्रादेशिक कमिश्नर (आयुक्त) केंद्रीय प्रॉवीडेंट फंड कमिश्नर के प्रति उत्तरदायी हैं जो बोर्ड का प्रधान अधिशासी अधिकारी होता है। इसके अतिरिक्त, प्रादेशिक समितियां भी हैं जो केंद्रीय बोर्ड को परामर्श देती रहती है।

५५ वर्ष की आयु पर सेवा से निवृत्त होने अथवा किसी शारीरिक या मानसिक अक्षमता के कारण अवकाश ग्रहण करने अथवा भारत को छोड़ कर किसी दूसरे देश में स्थायी रूप से बसने के कारण, कोई भी कामगार अपने हिसाब की धन-राशि प्रॉवीडेंट फंड से वापस ले सकता है। यदि प्रॉवीडेंट फंड परियोजना का कोई सदस्य दूसरी जगह किसी ऐसी फैक्टरी में जाकर नौकरी कर लेता है जहां उक्त परियोजना को कम-से-कम एक वर्ष लागू हुए नहीं हुआ है, तो वह अपनी धन-राशि वापस ले सकता है। जीवन बीमा पॉलिसी की किश्त देने के लिए भी प्रॉवीडेंट फंड से धन-राशि उठायी जा सकती है।

अनेक निजी फर्मों में प्रॉवीडेंट फंड परियोजना संतोषजनक रीति से चालू है। जिन फैक्टरियों में कर्मचारियों को प्रॉवीडेंट फंड, पेंशन अथवा अनुग्रह-धन (ग्रेच्युटी) के रूप में उचित लाभ मिल रहा है वहां उक्त अधिनियम के अंतर्गत कोई कार्रवाई नहीं की जाती है क्योंकि उसका उद्देश्य हस्तक्षेप करना नहीं है। इस प्रकार इस अधिनियम के अंतर्गत मूलतः जो फैक्टरियां आ गयी हैं उनमें लगभग ३० प्रतिशत उसके हस्तक्षेप से बची हुई हैं। उन व्यक्तियों को भी इससे छूट मिली हुई है जो इस अधिनियम की शरण लिए बिना उचित लाभ उठा रहे हैं। किंतु यह छूट तभी दी जाती है जब सम्बंधित अधिकारी आलोच्य वर्ग के बहुमत की अवस्था को देख कर संतुष्ट हो जाएं। यदि भारतीय आयकर अधिनियम (Indian Income Tax Act) द्वारा किसी फैक्टरी के प्रॉवीडेंट फंड को स्वीकृति प्राप्त है और वह आवश्यक शर्तों पर आधारित है तो किसी भी व्यक्ति को अपनी मर्जी से उसका सदस्य बनने की छूट मिल सकती है।

छटनी और खाली बैठना (retrenchment and lay-off)— कर्मचारी राज्य बीमा परियोजना, कर्मचारी प्रॉवीडेंट फंड परियोजना तथा खनक प्रॉवीडेंट फंड और बोनस परियोजना — ये सब सामाजिक सुरक्षा के वे स्तंभ भी हैं जिन्हें स्वाधीन होने पर भारत में लागू किया गया है। इनके अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण व्यवस्था की गयी है। यह है छटनी अथवा कमी करने की दशा में हानिपूर्ति देना। प्रथम पंचवर्षीय योजना के कार्यान्वयकाल में रोजगार-धंधों की बहुलता के बावजूद १९५३ के उत्तरार्द्ध में देश में बेरोजगारी का दौरदौरा आरम्भ हो गया। कामदिलाऊ कार्यालयों की पंजियों में

बेरोजगारों की संख्या बढ़ कर ५ लाख १३ हजार हो गयी। कितनी ही फैक्ट-रियों में छटनी का बोलबाला हो गया और कितनी ही फैक्टरियां बंद हो गयी। छटनीग्रस्त कर्मचारियों का साहस भंग न होने देने तथा उनको ढांढ़स बंधाने के लिए स्थायी श्रम समिति (Standing Labour Committee) के तेरहवें सत्र में उन कामगारों को हानिपूर्ति देने के विषय पर विचार किया गया जिन पर बेरोजगारी उनकी अनिच्छा होते हुए भी लाद दी जाती है। इस समिति ने हानिपूर्ति के जिस सूत्र की रचना की उसके अनुसार कामगारों पर थोपी गयी बेरोजगारी के लिए उन्हें उनके बुनियादी मजदूरी तथा महंगाई भत्ते की सम्मिलित धन-राशि का ५० प्रतिशत हानिपूर्ति के रूप में देना चाहिए। ऐसी हानिपूर्ति की अवधि एक वर्ष में ४५ दिन तक सीमित कर दी गयी है।

इस बीच, अक्तूबर १९५३ में, कपड़े का स्टॉक जमा हो जाने के कारण सूती कपड़ा मिलों के सामने मिल-बंदी अथवा छटनी का संकट पैदा हो गया। इस उद्योग की सहायता करने के लिए केंद्रीय सरकार ने कुछ अध्यादेश जारी किये जिनमें औद्योगिक झगड़ा (संशोधन) अध्यादेश [Industrial Disputes (Amendment) Ordinance] १९५३ का नाम यहां उल्लेखनीय होगा। इससे कामगारों की छटनी अथवा खाली-बैठने (lay-off) की अवस्था में प्रभावित कामगारों को हानिपूर्ति देने की आज्ञा दी गयी। इसके बाद औद्योगिक झगड़ा (संशोधन) अधिनियम १९५३ ने उक्त अध्यादेश का स्थान ग्रहण कर लिया। इसके अनुसार कोई भी कामगार जो लगातार एक वर्ष से सेवा कर रहा है, बिना एक मास के नोटिस (अथवा एक मास के वेतन) तथा नौकरी छूटने की हानिपूर्ति के बिना छटनी द्वारा नहीं निकाला जा सकता। यह हानिपूर्ति सेवा के प्रत्येक वर्ष के लिए १५ दिन की मजदूरी के हिसाब से दी जाती है। बचा हुआ छः महीने से अधिक का सेवा-काल पूरा वर्ष मान लिया जाता है।

खाली-बैठने (lay-off) वाले कामगारों के लिए हानिपूर्ति की भी व्यवस्था इस अधिनियम में की गयी है। यह व्यवस्था केवल चाय, आदि के बागों तथा उन बारहमासी फैक्टरियों और खानों पर लागू होती है जो क्रमशः फैक्टरी अधिनियम १९४८ तथा खान अधिनियम (Mines Act) १९५२ के अंतर्गत आते हैं और जिनमें प्रत्येक काम-के-दिन में औसतन ५० कामगारों से कम कामगार काम नहीं करते हैं। जो कामगार लगातार एक वर्ष से सेवा कर रहा है उसे कमी में हटाये जाने पर मालिक बेरोजगारी की अवधि तक उसकी बुनियादी मजदूरी और महंगाई भत्ते की राशि का ५० प्रतिशत भाग हानिपूर्ति के रूप में देता है। इस दिशा में बारह मास की अवधि के लिए अधिकतम

४५ दिन तक की बेरोजगारी की हानिपूर्ति निश्चित की गयी है। यदि उन्हीं बारह मासों के भीतर कामगार खाली-बैठाई का शिकार होकर एक सप्ताह से अधिक काल के लिए दोबारा बेरोजगार हो जाए तो हानिपूर्ति की उक्त अधिकतम अवधि की सीमा बढ़ायी जा सकती है।

उपसंहार

चरम लक्ष्य—भारत के स्वाधीन होने के बाद, सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में अभी एक छोटा-सा प्रयास ही किया गया है। वर्तमान परियोजनाओं के भीतर अभी जनता का एक छोटा-सा अंश ही आता है। यद्यपि लाखों कामगार इस सामाजिक सुरक्षा से यथोपलब्ध लाभ उठाते हैं फिर भी उन कामगारों की संख्या दसियों लाखों में गिनी जा सकती है जो इस दिशा में अपने उक्त भाइयों के समान सौभाग्यशाली नहीं हैं। ब्रिटेन और न्यूजीलैंड में सब कामगारों को सामाजिक सुरक्षा के लाभ प्राप्त हैं, किंतु भारत में कृषि, गृहकार्यों तथा शिल्पिक व्यवसायों में लगे हुए कामगारों को उसकी हवा तक छूकर नहीं निकली है। सामाजिक सुरक्षा का लक्ष्य उक्त दसियों लाखों में से प्रत्येक व्यक्ति को बीमारी अथवा बेरोजगारी अथवा वृद्धावस्था में सहारे की व्यवस्था करना है।

बीमा तथा प्रॉवीडेंट फंड परियोजनाओं का विस्तार—फिलहाल कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम तथा कर्मचारी प्रॉवीडेंट फंड अधिनियम के प्रभावक्षेत्र में फैलाव करने से विपुल कामगारों को लाभ पहुंच सकता है। अभी सामाजिक सुरक्षा की दिशा अपने आरंभिक चरण में होने के कारण उसको अन्य वर्गों के कामगारों तक सहज में फैलाया जा सकता है।

वृद्धावस्था की पेंशनें—यद्यपि प्रॉवीडेंट फंड परियोजना से सामान्यतः कामगारों को राहत मिली है फिर भी उससे वृद्धावस्था तथा उत्तराधिकारियों की पेंशनों का मामला नहीं निबट सका है। यदि कोई कामगार नौकर होने के थोड़े समय बाद मर जाता है तो इस दशा में उसके आश्रितों को बहुत थोड़ा धन प्राप्त होता जिससे आवश्यकता पड़ने पर वे अपना निर्वाह भी भलीभांति नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार, जो कामगार पूर्ण अवधि तक काम करते हैं, वे यह देख कर कम निराश नहीं होते हैं कि उन्हें जो कुछ धन-राशि सेवा से निवृत्त होने पर मिली है वह उनके परलोक सिधारने तक के लिए ना-काफी है। यह अंतिम कठिनाई प्रॉवीडेंट फंड के साथ उचित समय पर पेंशन की व्यवस्था करने से दूर हो सकती है। इसलिए प्रॉवीडेंट फंड की व्यवस्था के साथ वृद्धावस्था तथा उत्तराधिकारी बीमा की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

बेरोजगारी का बीमा—भारत में पहली बार १९५३ के अंत से बेरोजगारी का बीमा चालू हुआ है। यह उन औद्योगिक संस्थानों और चाय, आदि के बागों पर लागू है जहां कम-से-कम ५० व्यक्ति काम करते हों। किंतु यह योजना उन औद्योगिक कारखानों पर भी लागू की जानी चाहिए जिनमें २० या इससे अधिक आदमी काम करते हों और जिनमें बिजली के इंजनों का प्रयोग होता हो तथा जो कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम १९४८ और कर्मचारी प्रॉवीडेंट फंड अधिनियम १९५२ जैसे बड़े-बड़े श्रम-अधिनियमों के अंतर्गत आते हों।

खाली-बैठाई और छटनी की दशा में कामगार को क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था १९५३ में की गयी। इस दशा में व्यक्तिगत मालिक को हानिपूर्ति देनी होती है। इस परियोजना में भी वही दोष हैं जो श्रमिक हानिपूर्ति अधिनियम तथा प्रसूतिकालिक सुविधा अधिनियम में पाये जाते हैं, अर्थात जिन मालिकों की आर्थिक स्थिति दृढ़ नहीं है अथवा जिनकी अंतरात्मा उदार नहीं है वे इस ओर अधिक ध्यान नहीं देते हैं।

कृषि का क्षेत्र—खेतिहर कामगारों की संख्या विशाल है और वे इस देश के श्रमिक-वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं। उनकी सामाजिक सुरक्षा की समस्या कुछ भिन्न है। नगर में मजदूरी करने वाले की कठिनाइयां उक्त खेतिहर मजदूरों से कहीं अधिक होती हैं। जहां तक किसानों का प्रश्न है, भूमि-सुधार से अर्थात उनके अधिकार की रक्षा से उनकी आय की सुरक्षा हो गयी है। निःसंदेह, दैविक प्रकोप और दुर्घटनाएं तथा मूल्यों का उतार-चढ़ाव उनके भविष्य पर अपनी काली छाया डालता रहता है; फिर भी राज्य की सहायता, फसलों के बीमे तथा अन्य इसी प्रकार के उपायों से उसका सामना किया जा सकता है। किंतु खेतिहर मजदूर का प्रश्न टेढ़ा है। उसकी आय आकाशी-वृत्ति पर निर्भर होती है क्योंकि वह खेतों में काम करता है। इसके अतिरिक्त, ये खेतिहर मजदूर असंगठित और बिखरे हुए हैं तथा उनका काम भी फसली होता है।

इन कठिनाइयों के बावजूद, ग्राम्य क्षेत्र में सामाजिक सुरक्षा के उपायों की व्यवस्था करनी ही चाहिए जो व्यावसायिक खतरों से खेतिहर मजदूरों, शिकमी जोत वालों तथा छोटे-छोटे किसानों की रक्षा तथा उनमें सामाजिक सुरक्षा की भावना उत्पन्न कर सके।

सामाजिक सहायता—सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से अति प्रगतिशील देशों में भी स्थानीय राहत और सामाजिक सहायता की व्यवस्था है। जब हमारा देश समाजवादी आदर्श की ओर कूच कर रहा है तब असमय और संकटकाल में राजकानून द्वारा सार्वजनिक सहायता की व्यवस्था होना आवश्यक है। सार्व-

जनिक स्वास्थ्य योजना तथा चिकित्सा-सहायता और सार्वजनिक कल्याण के क्रिया-कलाप द्वारा तैयार की गयी भूमि में यदि उक्त प्रकार की गतिविधि को बढ़ावा दिया जाए तो इस देश में मंगलकारी राज्य की स्थापना में सचमुच ही बड़ी सहायता मिलेगी।

समन्वय—सामाजिक सुरक्षा के सबंध में सरकार द्वारा जो-जो काम किये गये हैं उनमें समन्वय की कमी के कारण दोहरेपन की झलक मिलती है। विभागों और क्षेत्रीय अधिकारियों तथा मालिकों के कार्यों में यही दोहरापन मिलता है। इसलिए अच्छी व्यवस्था और मितव्ययिता, दोनों की दृष्टि से विभिन्न कार्यवाहियों में समन्वय करना आवश्यक है। मालिकों और कामगारों, दोनों पक्षों को अधिकाधिक लाभ पहुंचाने के उद्देश्य से विभिन्न सामाजिक सुरक्षा परियोजनाओं के प्रशासनों को मिलाकर एक कर देना चाहिए। इसके लिए एक सुगठित सामाजिक बीमा योजना बनानी चाहिए।

भावी कार्यक्रम—भारतीय संविधान के निर्देशात्मक सिद्धांतों द्वारा राज्य की नीति निर्धारित की गयी है। उनमें लिखा है कि राज्य अपनी आर्थिक क्षमता तथा विकास के अनुरूप ऐसी प्रभावशाली व्यवस्था करेगा जिससे प्रत्येक व्यक्ति को काम करने, शिक्षा प्राप्त करने, तथा बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी, अयोग्यता तथा अन्य अनभीष्ट दशा में सरकारी सहायता मिल सके। यद्यपि भारत के स्वाधीन होने के बाद कामिनों और कामगारों के कुछ वर्गों के लिए बीमारी, प्रसव, सेवाकालीन चोट के खतरों तथा सेवा-निवृत्ति के लाभों का अनिवार्य बीमा करवाया जाने लगा है, फिर भी इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है। सामाजिक सुरक्षा के लिए धन की कमी बहुत खटकती है। कितना धन मिल सकता है, उस राशि पर ही सुरक्षा कार्यक्रम का आकार-प्रकार निर्भर होता है।

सामाजिक सुरक्षा के कार्यों का कितना बोझा देश का अर्थतंत्र उठा सकता है इसका निर्णय दिनोंदिन फलती-फूलती राष्ट्रीय आय को दृष्टि में रख कर करना चाहिए तथा सामाजिक सुरक्षा कार्यों का आयोजन ठीक ढंग से करना चाहिए।

चिकित्सा के क्षेत्र में डाक्टरों, नर्सों, अस्पतालों तथा अन्य सुविधाओं की कमी है। इसका ध्यान भी रखना होगा। स्वास्थ्य सर्वेक्षण समिति के आंकड़ों के अनुसार भारत में ६,००० व्यक्तियों के पीछे एक डाक्टर होता है जबकि ब्रिटेन में १,००० व्यक्तियों के पीछे एक डाक्टर है। चिकित्सा अथवा डाक्टरी की सहायता देने वाली संस्थाओं की संख्या बहुत कम है। नगरीय क्षेत्रों में यह प्रति २४,००० व्यक्तियों तथा देहाती क्षेत्रों में प्रति ५०,००० व्यक्तियों पीछे एक-एक चिकित्सालय अथवा अस्पताल है। रोगी के पलंगों का अनुपात

प्रति ३,१३५ व्यक्ति पीछे एक पलंग अथवा प्रति एक हजार पीछे ०·३२ पलंग है। इस स्थिति में सुधार की कोशिश की जा रही है। बीमारी तथा स्वास्थ्य बीमे के विस्तार को ध्यान में रख कर इस देश में चिकित्सा तथा अस्पतालों की संख्या बढ़ाने के कार्यक्रम पर विशेष बल देना होगा।

इन अड़चनों के होते हुए भी, सामाजिक सुरक्षा की प्रगति के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। भारतीय समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। देश की स्वाधीनता तथा आर्थिक आयोजन ने प्रत्येक नागरिक के मन में अपने जीवन-काल में ही आर्थिक अवस्था के सुधार की अभिलाषा उत्पन्न कर दी है। उसकी इस अभिलाषा को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि देश भर में सामाजिक सुरक्षा के विस्तार के लिए एक सुगठित योजना बनायी जाए।

अध्याय ८

उद्योगों में स्वास्थ्य-रक्षा, सुरक्षा और कल्याण-कार्य

उद्योगों में स्वास्थ्य-रक्षा

उद्योगों में कल्याण कार्य—उद्योगों में कल्याण-कार्यों की व्यवस्था का इतिहास मानव की बुद्धि पर उसकी आत्मा की विजय की एक कहानी है। औद्योगिक क्रांति ने उद्योगपतियों पर उत्पादन बढ़ाने का भूत सवार कर दिया। उन्होंने देखा कि औद्योगिक क्रांति से उनकी भौतिक समृद्धि में कल्पनातीत वृद्धि होने की संभावना पैदा हो गयी है। यह पहला कारण था जिससे वे उद्योगों के विस्तार के पीछे हाथ धोकर पड़ गये। इसके अतिरिक्त एक और कारण भी था। यह पहले कारण का ही उपज था। उद्योगपतियों ने सोचा था कि यदि उपलब्ध होने वाली संपूर्ण जन-शक्ति का उपयोग उद्योगों के लिए किया जाए तो अंत में वह मानव-जाति के लिए लाभदायक सिद्ध होगा। दूसरे शब्दों में, उन्होंने उपलब्ध जनशक्ति को भी भौतिक समृद्धि बढ़ाने के लिए एक कच्चा माल मान लिया। वे ऐसा विचार क्यों कर बैठे? इसका कारण यह था कि उन दिनों भौतिकी और रसायन-विद्या का बोलबाला था। इस विद्या ने भाप और बिजली की शक्ति को कारखानों की मशीनें चलाने में लगा कर उस समय पृथ्वी के गर्भ में पड़े हुए कितने ही कच्चे पदार्थों को उपयोगी बना दिया जबकि कोई व्यक्ति उनकी ओर विशेष ध्यान तक नहीं देता था। इसका परिणाम यह हुआ कि औद्योगिक नगरों में गंदी बस्तियां और सघन बस्तियां पैदा हो गयीं; और बेरोजगारी के साथ-साथ मनुष्य का नैतिक पतन भी हो चला।

लेकिन मनुष्य की आत्मा सदा अजेय है। उसने मशीनों (यंत्रों) की गुलामी के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह से मनुष्य की भावनाएं भड़क उठीं। उनमें एक आपसी संघर्ष छिड़ गया; यहां तक कि प्रबंधकों और श्रमिकों के बीच ठन गयी। वे एक-दूसरे को अपना शत्रु मानने लगे। इससे मशीनों के उस गढ़ की दीवारें हिल उठीं जिसके निर्माण में स्वयं औद्योगिक क्रांति का

हाथ था। सरकारों और उद्योगपतियों ने इस आने वाले तूफान की गड़गड़ाहट को सुन लिया।

फिर भी क्या मानव की धारणाएं कहीं पलक भरते बदलती हैं? उद्योगपतियों ने आरंभ में जो रंगढंग अपनाया था उसका उद्देश्य चोटी पर समूची शक्ति को केंद्रित करके नियंत्रण द्वारा सामान्य जनता से काम करवाना था। किंतु कल्याण-कार्य का अर्थ इससे उल्टा होता है। उसका उद्देश्य नीचे से समाज की रचना करना है। उसके अंतर्गत जनता के लिए काम पर इस ढंग से नियंत्रण किया जाता है कि वह उसमें अपनी समूची शक्ति लगा दे और वह अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों को समझने के योग्य बनने लगे। किंतु निरंकुश शासन का उपयोग करते-करते भारतीय उद्योगपतियों के लिए मजदूरी, काम के घंटे, बाल-श्रम, स्त्री-श्रम, विश्राम-काल तथा अन्य इसी प्रकार की समस्याएं सहृदयतापूर्वक हल करना कठिन हो गया। इसलिए श्रमिकों और प्रबंधकों के बीच की खाई पाटने के लिए सरकार को कानून बनाना पड़ा।

बाद में यह देखा गया कि न्यूनतम लागत से अधिकतम उत्पादन के सिद्धांत को अपनाने के लिए प्रत्येक कामगार की योग्यता बढ़ाना आवश्यक है। इससे कल्याणकारी कार्यवाहियों को अपनाना पड़ा जैसे आरोग्य लाभ के लिए चिकित्सा, उपहारगृह (केंटीन), प्रशिक्षण-योजनाएं, उत्साहवर्धक मजदूरी तथा इसी प्रकार के अन्य उपाय। किंतु अधिकांश उद्योगपतियों को यह बात समझ में नहीं आयी कि वे भौतिक समृद्धि का मन-माना संचय क्यों नहीं कर सकते हैं। इसलिए सरकार को फिर उनकी रोकथाम के लिए कानून बनाना पड़ा। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी उद्योगपतियों के विचार एक-से थे। कुछ तो बहुत उदार थे और स्वेच्छापूर्वक उदारता का व्यवहार करने में कानून से भी आगे निकल गये। उन्होंने कल्याण-कार्यों की प्रचुर व्यवस्था की। किंतु उनके कार्यों में अहंकार की बू आती थी जो मानवीय व्यक्तित्व को ठेस पहुंचाती थी। उन्होंने मानवीय मूल्यों को उचित रूप से न कूत करके जो रुख अपनाया, यद्यपि वह सहानुभूतिपूर्ण था, फिर भी उससे श्रम-समस्याओं पर वर्गवादी भावनाओं का रंग चढ़ गया। वे यह नहीं समझ सके कि अकेले कल्याण-कार्यों की सुविधाएं श्रमिकों की निगाह में उतनी नहीं चढ़ सकतीं। सचमुच यहां तो सबसे पहले मानव की प्रतिष्ठा के प्रति आदर प्रकट करने की भावना की अपेक्षा है।

तीन बातें प्रायः मनुष्य को काम में जुटाती हैं—बेरोजगारी का भय, वित्तीय प्रोत्साहन तथा काम करने की मानवीय प्रवृत्ति। जब बेरोजगारी के डर के मारे आदमी काम करता है तब वह अभीष्ट कमाई करके बैठ रहता है। इसी प्रकार वित्तीय प्रोत्साहन भी भोजन तथा आवास उपलब्ध करने तक ही सीमित रहता है।

इसलिए मनुष्य को अपनी काम करने की प्रवृत्ति से ही काम करने की सच्ची प्रेरणा मिलती है। यदि मनुष्य अपनी इस प्रवृत्ति का विकास करना चाहता है तो उसे काम करना होगा। मानव जीवन संघर्ष का अखाड़ा होता है और उसे अपनी आत्मरक्षा, आत्माभिव्यक्ति तथा जिज्ञासा की संतुष्टि के लिए काम करना पड़ता है। काम, उसकी प्रवृत्तियों के मार्ग में बाधक न बन कर, उसकी उन्नति में हाथ बटाता है। उद्योगों में कल्याण-कार्य का उद्देश्य औद्योगिक कामगार की काम में रुचि बढ़ाना तथा उसके जीवन को सुखमय बनाना है। जो कल्याण-कार्य इस उद्देश्य को पूरा नहीं करता है उसे केवल दान मानना चाहिए जिसका उपभोग करने से मानवीय प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचती है।

आजकल कामगार के असंतोष का मुख्य कारण यह नहीं है कि उसे अपने उत्पादन के लाभ में उचित भाग प्राप्त नहीं होता है, बल्कि उसकी शिकायत यह है कि उसका काम उसके शरीर और मस्तिष्क के विकास में भलीभांति योगदान नहीं करता है। इस विषय में कामगार की सहायता के लिए स्वास्थ्य-रक्षा, सुरक्षा और कल्याण-कार्य की व्यवस्थाएं सामने आती हैं जिनसे उसके शरीर और मन दोनों शक्तिशाली बन सकते हैं।

उद्योगों में स्वास्थ्य-रक्षा का प्रश्न—उद्योगों में स्वास्थ्य-रक्षा के प्रश्न के दो पहलू बन गये हैं। पहला यह है कि अन्य नागरिकों की भांति कामगार के स्वास्थ्य को सामान्य खतरों का सामना करना पड़ता है। दूसरा यह है कि उसके स्वास्थ्य को स्वास्थ्य-संबंधी व्यावसायिक जोखिम भी उठाने पड़ते हैं। कामगार के सामने अन्य नागरिकों की भांति सामान्य स्वास्थ्य-सेवा से लाभ उठाने का द्वार खुला पड़ा है। इसके अतिरिक्त वह व्यावसायिक स्वास्थ्य-सेवा से भी लाभ उठाता है जो औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा के प्रश्नों का अध्ययन करके बुराइयों को दूर करने में अधिक लाभदायक प्रमाणित हो सकती है।

औद्योगिक स्वास्थ्य-सेवा का उद्देश्य यह है कि औद्योगिक वातावरण तथा अन्य संबंधित स्रोतों से उत्पन्न होने वाले रोगों के निवारण में तथा स्वास्थ्य की रक्षा करने में किसी प्रकार की शिथिलता न आने दी जाए। इसका अभिप्राय यह है कि औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा की व्यवस्था को स्वास्थ्य की रक्षा का तथा व्यावसायिक रोगों के अवरोध का कार्य करना होता है। प्रत्यक्ष है कि औद्योगिक वातावरण से बहुमुखी समस्याएं उत्पन्न होती हैं, अर्थात् धूल और विषैली वायु पैदा होती है, भीषण तापमान और नमी पैदा होती है, तेज प्रकाश की ऊलजलूल व्यवस्था कष्ट देती है, शोरगुल पैदा होता है और कारखाने में स्वच्छता की सामान्य कमी रहती है।

कारखानों का वायुमंडल रोग पैदा कर सकता है। यह बात चौथी शताब्दी

में हिप्पोक्रेट्स के ज़माने से लोगों को ज्ञात है। रामाज़िन्नी ने, जिन्हें लोग व्यावसायिक स्वास्थ्य-रक्षा का जनक मानते हैं, १७७० में व्यावसायिक रोगों का एक रोचक विवरण प्रकाशित किया था। औद्योगिक क्रांति के कारण व्यावसायिक रोगों से बिगड़ी हुई अवस्था को सुधारने के लिए कितने ही कानून बनाने पड़े जिनसे व्यावसायिक रोगों की उपस्थिति और गंभीरता की कहानी अपने-आप स्पष्ट हो जाती है।

फिर भी, औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा का प्रश्न अभी तक उपेक्ष्य ही बना रहा। कुछ वर्षों पहले, लोगों को इसका महत्त्व अंत में स्वीकार ही करना पड़ा। प्रथम महासमर के समय गैसों तथा भाप के जो चित्र दिखाये गये उनसे उद्योगों में खतरों के प्रति लोगों में समझ-बूझ उत्पन्न हुई। युद्ध के लिए रासायनिक पदार्थों, विस्फोटकों तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं की बहुत आवश्यकता थी। इसलिए कामगारों तथा सैनिकों को इनके प्रकोप से बचाने की ओर भी ध्यान गया। इससे औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा के महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का जन्म हुआ। इसका उद्देश्य हानिकारक स्थितियों से सजग रहना तथा किसी प्रकार की गंभीर क्षति पहुंचने से पहले ही उसे रोकने का उपाय करना है।

उद्योग को प्राविधिक ज्ञान की विशेष आवश्यकता है किंतु उसे आदमी की भी आवश्यकता होती है। प्रविधि और आदमी के श्रम के सहयोग से जो परिणाम निकलता है वह गुण के साथ दोष से भी भरा हुआ है। औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा के उपायों से इस दोष को दूर करने का प्रयास किया जाता है। उनका उद्देश्य मानव और मशीन दोनों में तालमेल बैठाना है।

औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा का जो स्वरूप आजकल हमारे सामने है उसके अंतर्गत विभिन्न वैज्ञानिक शाखाओं का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों को मिलकर काम करना पड़ता है। इसलिए डाक्टरों, इंजीनियरों, रसायनवेत्ताओं, सेविवर्गाधिकारियों तथा अन्य विशेषज्ञों, सभी को अपना-अपना कर्त्तव्य दृढ़ता से निबाहना पड़ता है। इन विभिन्न विशेषज्ञों में, जैसा कि पहले बता चुके हैं, आपसी सहयोग की आवश्यकता होती है। यद्यपि भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न दायित्व होते हैं और उनके आधारभूत व्यवसाय भी अलग-अलग हैं फिर भी उन सबके मिल कर काम करने से ही औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा की समस्या हल हो सकती है।

इस कार्यक्रम के अंतर्गत चिकित्सा का उद्देश्य रोग का उपचार करने से कहीं अधिक उसकी रोकथाम करना होता है। इसमें रोगी की अपेक्षा उस कामगार को मदद पहुंचाने की चेष्टा की जाती है जो स्वस्थ हैं किंतु जिसके सिर पर रोग का खतरा मंडराता रहता है। इसका उद्देश्य प्रत्येक आदमी को ठीक काम पर लगाना होता है इससे प्रत्येक कामगार को अपने काम में आनंद

आने लगता है। किंतु जहां कामगार की अपने काम में लगन नहीं होती है वहां कामगार के लिए ही नहीं बल्कि मालिक तक को दिक्कत पैदा हो जाती है। यह औद्योगिक स्वास्थ्य रक्षा के कार्यक्रम की जिम्मेवारी होती है कि वह इस प्रकार की घटनाएं न होने दे तथा कामगार के शारीरिक, मानसिक और नैतिक दृष्टिकोण में वीप्सित परिवर्तन करके आर्थिक उत्पादन में वृद्धि कराए। इस प्रकार कामगार में स्वेच्छापूर्वक सहयोग करने की भावना उत्पन्न होती है जिससे उद्योग तथा समाज की सेवा में पूरी सहायता मिल सकती है।

औद्योगिक डाक्टर को यह विवरण देकर सुरक्षा-इंजीनियर की सहायता करनी चाहिए कि उद्योग में कामगार के स्वास्थ्य को क्या-क्या जोखिम पैदा हो सकते हैं। कामगार के शरीर पर ताप, शोरगुल, प्रकाश और धूल का क्या मानसिक प्रभाव पड़ता है तथा काम पर डटे रहने, तेजी से काम करने, आदि का क्या असर होता है, इसकी समीक्षा करनी चाहिए।

डाक्टर और सुरक्षा-इंजीनियर द्वारा, इस क्षेत्र में, औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा का एक संयुक्त सर्वेक्षण महत्त्वपूर्ण प्रमाणित होता है। इस सर्वेक्षण में प्रत्येक कर्मशाला के वातावरण का विवरण दिया जाता है। इसमें उसके कच्चे माल, तैयार माल तथा गौण-उत्पादन से उत्पन्न होने वाले भौतिक, रासायनिक तथा अन्य प्रकार के खतरों का भी उल्लेख किया जाता है। इसके आगे उनसे बचने के उपायों के बारे में सिफारिशें की जाती हैं। इससे कामगार के लिए एक स्वच्छ और सुरक्षित कर्मशाला तैयार हो जाती है जिससे उसे अन्य बातों के अतिरिक्त अपने महत्त्व का ज्ञान हो जाता है। इससे उसमें सहकारिता की भावना भी पैदा होती है जिससे वह संघर्षों से बच सकता है।

औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा की व्यवस्था निरोधात्मक उपचार का एक विशेष अंग बन गयी है। इसके लिए एक ऐसे विशेषज्ञ डाक्टर की आवश्यकता होती है जिसे फैक्टरी के वातावरण तथा औद्योगिक रोगों का ज्ञान हो; तथा उन रोगों के निवारण के लिए उचित औषधियां बता सके। उसे प्रत्येक विभाग में बढ़ती हुई बीमारियों और दुर्घटनाओं पर दृष्टि रखनी चाहिए ताकि वह इंजीनियरिंग और प्रविधिक विभागों के साथियों का सहयोग प्राप्त करके उनका उचित रूप से उपचार कर सके।

दुर्घटना-निरोधक मोरचा बना कर सुरक्षा-इंजीनियर को कामगारों में सुरक्षा का ध्यान रखने की प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए। उसे इस विषय में अन्य उपायों से भी काम लेना चाहिए। उसे अग्नि-निरोध तथा "गृह-संवरण" का भी दायित्व संभालना होगा। गृह-संवरण के अंतर्गत कर्मशालाओं तथा फैक्टरियों के चारों ओर की जगह साफ रखनी चाहिए तथा हरेक चीज के लिए एक जगह निश्चित होनी और हरेक चीज अपनी जगह पर रखी जानी चाहिए।

कारखानों की अमानवीय स्थितियां कामगार की मानसिक शांति को प्रायः भंग करती रहती हैं। ये अमानवीय स्थितियां कारखाना-पद्धति की स्वाभाविक उपज हैं। मालिक और कामगार, मालिक और अधीक्षक, कामगारों के विभिन्न वर्गों, तथा मानव और मशीन के आपसी संबंधों से उक्त दोष पैदा हुए हैं। कामगार इस स्थिति का सामना कर सके, इसके लिए सामाजिक वैज्ञानिकों ने अनेक तरीके निकाले हैं: नये कामगारों की भरती के तरीके निर्धारित किये हैं; नये कामगार आरंभ से लिये जाते हैं; तथा विभिन्न वर्गों के कामगारों के आपस में मिलने-जुलने की व्यवस्था की गयी है। इससे कामगार के हृदय में सुरक्षा की भावना और आत्माभिव्यक्ति तथा सामाजिक जीवन का चाव उत्पन्न होती है जो बुनियादी मानवीय आवश्यकताओं का उपशमन करता रहता है।

इस क्षेत्र में सेविवर्गाधिकारी की योग्यता की परीक्षा होती है। उसका मुख्य काम कामगारों और अधिशासियों के बीच का तनाव कम करना होता है जो काम करने के दौरान में बहुधा बढ़ जाता है। प्रबंध और श्रमिकों के बीच की गलतफहमी निरंतर दूर करके तथा दोनों पक्षों के संपर्क का मार्ग खुला रख कर यहां सफलता प्राप्त की जाती है। सेविवर्गाधिकारी कामगारों की शिकायतों की जांच करता है और इस प्रकार पारस्परिक द्वेष के विष को फैलने से रोक लेता है। वह कार्यस्थल पर तथा बाहर कामगारों के लिए कल्याण-सुविधाएं उपलब्ध करता है।

स्वास्थ्य प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। उसका आर्थिक स्तर ऊंचा करने में स्वास्थ्य का एक बड़ा हाथ होता है। इससे मनुष्य की कार्यक्षमता ही नहीं बल्कि उसकी कार्य करने की इच्छा भी बढ़ती है। इसके अतिरिक्त औद्यो-गिक स्वास्थ्य-रक्षा का ध्येय भी यही है कि कारखानों में कामगारों के लिए ऐसी मानवीय स्थितियां पैदा की जाएं जिनसे उन्हें काम करने में आनंद आने लगे।

औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा का महत्त्व—अधिकांश उद्योगपति औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा की ओर ध्यान देने को अनिच्छुक जान पड़ते हैं और वे उस पर धन के अपव्यय किये जाने की छाप लगाते हैं। अपने लिए दुर्घटना-हानिपूर्ति का बीमा कराने के बाद वे दुर्घटना-निरोध पर धन "अपव्यय" नहीं करना चाहते हैं। वे यह नहीं मानते हैं कि अप्रत्यक्ष दुर्घटनाओं पर प्रत्यक्ष दुर्घटनाओं से चौगुना धन व्यय होता है तथा यह बोझा बीमा-वाहक के स्थान में स्वयं उद्योग को उठाना पड़ता है। अप्रत्यक्ष दुर्घटनाओं का व्यय उत्पादन की हानि होने, मशीनों को क्षति पहुंचने, तथा अन्य कामगारों को काम पर बुलाने के कारण और भी बढ़ जाता है। जहां थोड़े लाभ की गुंजाइश है वहां सुरक्षा और स्वास्थ्य के कार्यक्रमों से लाभ और हानि के बीच की खाई कम की जा

सकती है। इसलिए सुरक्षा, योग्यता और उत्पादिता एक ही थैली के चट्टे-बट्टे मानने पड़ेंगे।

औद्योगिक झगड़े—कुछ फैक्टरियों के प्रबंधक औद्योगिक झगड़े निबटाने के अनोखे तरीके अपनाते हैं। इससे काम बनने की अपेक्षा बिगड़ता ही है। आज सबसे बड़ी आवश्यकता है उत्पादन बढ़ाने की; और इसके मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा है बढ़ते हुए औद्योगिक विवाद। पश्चिम के प्रगतिशील उद्योग औद्योगिक असंतोष के मूल कारणों को खोजने के लिए प्रचुर धन व्यय करते रहते हैं। उन्हें अब तक जो जानकारी मिली है उससे प्रकट होता है कि यंत्र नहीं बल्कि मनुष्य उत्पादन करता है; तथा औद्योगिक झगड़ों का मुख्य कारण कामगारों की भावनाओं को ठुकराना तथा प्रबंध के प्रशिक्षण का अभाव है।

वास्तव में, यदि औद्योगिक झगड़ों का ठोस तरीके से निपटारा करना अभीष्ट है तो प्रबंधकों को सौदाकारी की नीयत से नहीं बल्कि कामगारों की बुनियादी आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर अपनी नीति निर्धारित करनी होगी। उनकी आर्थिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त, उन सब मानवीय आवश्यकताओं का ध्यान रखना होगा जिनसे कामगार के हृदय में अपनी सुरक्षा, आत्मगौरव, आत्माभिव्यक्ति तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की भावनाओं की तृप्ति संभव है। प्रत्यक्ष है कि औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा-सेवा चालू करके मालिकों ने कामगारों के हित की ओर ध्यान दिया है। उससे कामगारों के मन में सुरक्षा की भावना जाग उठी है जिससे उनका साहस बढ़ गया है।

सामाजिक व्यवहार में निपुणता—इस समय अधिशासियों और अधीक्षकों को प्रौद्योगिक ज्ञान की भले ही प्रचुर शिक्षा दी जाती हैं, किंतु उनमें सामाजिक व्यवहार की निपुणता की कमी खटकती है। कितने ही अधिशासी और अधीक्षक ऐसे मिलेंगे जो यह समझते हैं कि मजदूरी और काम के घंटों का सामाजिक महत्त्व होता है। सचमुच, वेतन-वितरण तथा वैतनिक प्रोत्साहन की योजनाओं से कामगारों के मन और शरीर पर अच्छा प्रभाव पड़ता है जिनकी ओर फैक्टरी के चिकित्सा-अधिकारियों, उत्पादन-विशेषज्ञों, सेविवर्ग के निर्देशक और प्रबंध-व्यवस्था को ध्यान देना चाहिए। जब भावनाएं उत्तेजित हो उठती हैं तब तर्क और न्याय किनारा काट जाता है; किंतु औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा इस असंतुलन को ठीक करने में सहायता दे सकती है।

सच्चा कल्याण-कार्य—संक्षेप में, मनुष्य, कार्यपद्धति तथा सामग्री—ये तीन स्तंभ हैं जिन पर उद्योग का भवन खड़ा किया जाता है। प्रौद्योगिक ज्ञान कार्य-पद्धति तथा सामग्री में नया जीवन डालता है, किंतु मनुष्य को बलिष्ठ और कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने के लिए औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा की आवश्यकता होती है। उद्योगों में सच्चा कल्याण-कार्य वही माना जा सकता है जिससे कामगारों के

शारीरिक, भावनात्मक और नैतिक जीवन का सुधार हो सके। यह कल्याण-कार्य कामगार के लिए कोई दानखाता नहीं समझना चाहिए। सच्चे कल्याण-कार्य का अर्थ यह नहीं है कि कामगारों को कोई सुविधा दी जा रही है। इसका उद्देश्य कामगारों के लिए एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करना है जिसमें वे अपनी उन्नति कर सकें तथा रचनात्मक ढंग से यह सोचने लगें कि उनकी ऊंघती तथा जागती हुई भावनाएं किधर जा रही हैं। सच्चे कल्याण की परियोजना के कार्यान्वय में किसी भी सुगठित औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा कार्यक्रम से बहुत उपयोगी सहायता मिलती है। औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा को एक उत्तम कोटि की सामाजिक सेवा कहा जा सकता है। इससे उद्योगों में शांति और स्थिरता बनी रहती है।

औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा और मजदूर संघ—औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा-सेवा से मजदूर संघों को भी लाभ पहुंचा है। भारत में मजदूर-सघ-वाद को शक्तिशाली बनने के लिए अभी एक लंबा रास्ता तय करना है; किंतु यदि वह चाहे तो औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा कार्यक्रम से शक्ति और प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। इस समय श्रमिक संघिता का मुख्य उद्देश्य श्रमिकों के लिए निर्वाह-मजदूरी प्राप्त करना है। किंतु आदमी के लिए केवल रोजी-रोटी ही काफी नहीं होती है। असल मजदूरी प्रत्येक कामगार की कार्यक्षमता को संतुष्ट करने के लिए ठीक ही है, जिससे वह अपने शारीरिक, मानसिक और सामाजिक अस्तित्व की रक्षा कर सके। औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा-सेवा इसी ध्येय को पूरा करना चाहती है। पश्चिमी देशों में ऐसे प्रगतिशील मजदूर संघ बने हुए हैं जिन्होंने प्रबंधकों के साथ अपनी सेवा की शर्तों के बारे में करार करते समय, उसमें औद्यौगिक स्वास्थ्य-रक्षा-सेवा की व्यवस्था कराने की भी एक शर्त रखवा ली है।

कामगारों को अपनी व्यावसायिक सुरक्षा और स्वास्थ्य की चिंता होना स्वाभाविक है। उन्हें हानिपूर्ति के रूप में जो धन-राशि मिलती है वह व्यवहार और सिद्धांत दोनों की दृष्टि से उनकी मजदूरी के बराबर भी नहीं होती है। इसलिए यदि उनकी कमाई की क्षमता घट जाए तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या होगी।

किंतु, भारत में जो श्रमिक-असंतोष फैल रहा है उसका एक कारण यह है कि श्रमिकों का औद्योगिक जीवन सामाजिक भावना-शून्य है। श्रमिक नेता भी इस रहस्य को अच्छी तरह नहीं समझते हैं; और वे इसका दोष मालिकों की अदूरदर्शिता पर थोपना चाहते हैं। वे मालिकों के कार्य में अड़ंगा डालने की नीति को अपना बैठते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उससे उत्पादन घट जाता है और सामाजिक रिक्तता और बढ़ जाती है। यदि इस स्थिति का

अंत करना है तो औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा की रचनात्मक पद्धति की शरण लेनी होगी ताकि संपूर्ण कामगारों के स्वस्थ्य की देखरेख भलीभांति की जा सके।

पश्चिमी देशों की प्रगति—आशा के अनुकूल पश्चिम के अधिक प्रगतिशील देशों में औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा का प्रयोग बड़े पैमाने पर किया गया है। इन देशों के राजकानूनों द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा के संबंध में काफी व्यवस्था की गयी है; किंतु इससे बढ़ कर बात यह है कि इन देशों के नौकरीदाता स्वयं कामगारों के स्वास्थ्य के प्रति सहानुभूति रखते हैं जिससे कामगारों का नैतिक बल ही नहीं बढ़ा रहता है बल्कि मालिक-कामगार संबंध भी मधुर बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त श्रमिक संघटन की भावना ने कामगारों को भी व्यावसायिक रोगों के प्रति चौकन्ना कर दिया है।

ब्रिटेन में औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा—ब्रिटेन में वर्तमान औद्योगिक स्वास्थ्य-सेवा के मूलस्वरूप के दर्शन प्रायः उस मेडिकल फैक्टरी इंस्पेक्टरेट (फैक्टरियों का चिकित्सा निरीक्षालय) में होते हैं जो कारखानों के कामगारों के स्वास्थ्य तथा उनके कार्यस्थल के वातावरण को सुधारने के बारे में बनने वाले विधि-विधान पर सलाह देने को स्थापित किया गया था। ब्रिटेन का सबसे पहला चिकित्सा-निरीक्षक १८८९ में नियुक्त हुआ था। किंतु आजकल इस कोटि के अनेक अधिकारी फैक्टरी निरीक्षणालय के अधीन काम कर रहे हैं। इनका काम यह है कि वे औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा, औद्योगिक बीमारियों तथा कामगारों के स्वास्थ्य पर प्रभाव डालने वाले वातावरण के विषय में जांच करके अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत करते रहते हैं।

निरीक्षक डाक्टर की सहायता के लिए कई सौ प्रमाणपत्र देने वाले सर्जन (शल्यचिकित्सक) होते हैं। प्रमाणपत्रदाता सर्जन का काम उन फैक्टरियों में चिकित्सा-संबंधी देखभाल करना है जहां कठिन कार्य किये जाते हैं। वे कुछ खतरनाक व्यवसायों के युवक कामगारों की वार्षिक डाक्टरी जांच तथा प्रौढ़ कामगारों की सामयिक डाक्टरी जांच भी किया करते हैं।

ब्रिटेन के फैक्टरी-निरीक्षणालय ने व्यावसायिक रोगों की गवेषणा तथा औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा के ज्ञान की प्रगति में बड़ी सहायता दी है। किसी उद्योग के लिए इतना भर जान लेना पर्याप्त नहीं होता है कि वह जिस प्रक्रिया को अपनाये हुए है उससे स्वास्थ्य को हानि पहुंचती है। इस कोरी जानकारी से तब तक क्या लाभ हो सकता है जब तक कि निरीक्षणालय उसके निरोध का उपाय न बता दे? निरीक्षणालय उद्योगों के साथ सहयोग करके उसका उपाय बताता है। यही उसकी सफलता की कुंजी है।

उदाहरण के लिए, कितने ही आधुनिक कारखानों की उत्पादन-प्रक्रियाओं में विषाक्त रासायनिक पदार्थों का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त शोरगुल

तथा प्रतिध्वनि से पैदा होने वाले कंपन, ऊष्मा तथा आर्द्रता, वायुमंडलीय दबाव, विकीर्ण ऊर्जा और दुर्घटनाओं की रेलपेल बनी रहती है। सामान्य निरीक्षक को इन जोखिमों से अवगत कराया जाता है तथा वह नये संकटों के प्रति भी जागरूक रहता है। नये जोखिम उत्पन्न होने पर स्वयं चिकित्सा-निरीक्षक को अवलोकन के लिए आना पड़ता है। यदि जोखिम सचमुच दिखायी दे जाता है तो फिर उस निरीक्षक के साथ इंजीनियरिंग तथा रासायनिक निरीक्षक भी आते हैं। ये सब मिलकर उससे बचने का उपाय निकालते हैं। फिर यह उपाय सबको बता दिया जाता है।

अमेरिका की औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा—अमेरिका में औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा की पद्धति कुछ भिन्न है। प्रबंधकों ने अपने लिए यह नियम-सा बना लिया है कि वे कामगारों के स्वास्थ्य, कल्याण और सुरक्षा का भार उन्हीं पर डाल देते हैं। वे उत्पादन के मूल्य में कमी तथा वस्तुओं के गुण में सुधार कर दिखाने में जितना गौरव अनुभव करते हैं उतना ही दुर्घटनाओं तथा व्यावसायिक रोगों के निरोध का काम करने में भी चाव दिखाते हैं। अमेरिकन फर्म औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा के उद्देश्य से कारखानों में अपने व्यय पर सर्वेक्षण करते रहते हैं। वे उन समस्याओं को ढूंढ़ने में लगे रहते हैं जो कामगार के सुखमय जीवन में बाधक बन सकती हैं। इन सर्वेक्षणों का ध्येय आंकड़े इकट्ठे करके चिकित्सात्मक तथा अभियांत्रिक उपायों द्वारा जोखिमों को दूर रखना है ताकि खतरनाक स्थितियां पैदा ही न हो सकें।

भारत में औद्योगिक स्वास्थ्य

विद्यमान विधि-विधान—भारत में विद्यमान श्रमिक विधि-विधान औद्योगिक दृष्टि से अन्य प्रगतिशील देशों से किसी कदर पिछड़ा हुआ नहीं है। फैक्टरी अधिनियम १९४८, उद्यान श्रमिक अधिनियम १९५१ और खान अधिनियम १९५२ भूतपूर्व विधि-विधान के संशोधित और परिष्कृत स्वरूप हैं। फैक्टरियों, बागों तथा खानों के औद्योगिक मजदूरों के स्वास्थ्य, सुरक्षा और कल्याण की समस्याओं से उनका सीधा संबंध है। कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम १९४८ ने चिकित्सा तथा अन्य सुविधाओं के लिए औद्योगिक मजदूरों को सामान्य जनता की तुलना में प्राथमिकता प्रदान की है।

यद्यपि उक्त अधिनियमों में औद्योगिक स्वास्थ्य की सामान्य समस्याओं पर ध्यान दिया गया है फिर भी उनमें औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा तथा औद्योगिक चिकित्सा सेवा की पर्याप्त व्यवस्था की कमी खटकती है। इसका कारण यह है कि औद्योगिक कामगारों के आचार-विचार तथा रोग-संबंधी आंकड़े उपलब्ध

नहीं हैं और सरकार तथा मालिक दोनों पक्ष ही औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा के प्रति उदासीन दिखते हैं।

औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा-सेवा की कमी—कुछ उद्योगों में औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा-सेवा के छुटपुट उदाहरणों को छोड़ कर, भारतीय उद्योगों में प्रायः उसकी कमी खटकती है। प्रबंधकों के कान पर बहुधा इस बात की जूं तक नहीं रेंगती है कि फैक्टरियों में कामगारों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए उपयुक्त वातावरण बनाना आवश्यक है।

सरकार ने फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत प्रमाणपत्र देने वाले सर्जन नियुक्त कर दिये हैं। किंतु उनका काम नये रंगरूटों की डाक्टरी जांच तक ही सीमित है। फैक्टरी के निरीक्षकों की सहायता के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य अधिकारी भी उपस्थित होते हैं जिन्हें अवर फैक्टरी-निरोधक (Additional Inspectors of Factories) कह कर पुकारते हैं। इस व्यवस्था से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है, यहां तक कि इससे व्यावसायिक रोगों के निवारण में भी अभीष्ट प्रगति नहीं हो सकी है। कामगार हानिपूर्ति विधेयक १९२३ के अंतर्गत जो आंकड़े उपलब्ध होते हैं उनसे भी पता चलता है कि उक्त व्यवस्था अधिक उपयोगी प्रमाणित नहीं हुई है।

उक्त अधिनियम के अंतर्गत बारह व्यावसायिक रोगों को हानिपूर्ति के लिए दुर्घटनाजन्य चोट के रूप में स्वीकार किया गया है। राज्य सरकारों को इन चोट-चपेटों की अनुसूची में नया नाम जोड़ने का अधिकार प्राप्त है। कुछ राज्य सरकारों ने इस अनुसूची में नये नाम जोड़े भी हैं।

फैक्टरी अधिनियम १९४८ तथा खान अधिनियम १९५२ में पहली बार व्यावसायिक रोगों तथा चिकित्सा-अधीक्षण की अधिसूचना के बारे में अधिकारों की व्यवस्था की। फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत प्रबंधकों को कामगारों के कुछ व्यावसायिक रोगों (अनुसूची में उल्लिखित) की सूचना मुख्य निरीक्षक (चीफ इंस्पेक्टर) को देनी आवश्यक है। इसी प्रकार उक्त कामगारों के रोगों का उपचार करने वाले डाक्टरों को भी वह सूचना मुख्य निरीक्षक के पास भेजनी चाहिए। यही व्यवस्था खान अधिनियम में भी है। किंतु वे लोग कदाचित ही ऐसा करते हैं।

सेवि-वर्ग (personnel)—उक्त व्यवस्था को ठीक ढंग से लागू करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के फैक्टरी निरीक्षणालयों के लिए सेवि-वर्गों में सुयोग्य औद्योगिक स्वास्थ्यरक्षा-कर्मचारी होने चाहिए। बड़े उद्योगों तथा छोटे उद्योगों, सभी में इन कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की पर्यवेक्षक कर्मचारी सेवा के लिए राज्य स्वास्थ्य विभाग में औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षाविदों को सार्वजनिक स्वास्थ्य अधिकारियों के पदों पर नियुक्त

करना चाहिए। फैक्टरियों में कारखाना चिकित्सक अधिकारियों, रक्षा-इंजीनियरों तथा अन्य सेविवर्गाधिकारियों की भी आवश्यकता होती है। इन सभी कर्मचारियों को औद्योगिक स्वास्थ्य का विशेष ज्ञान होना चाहिए। यदि राज्य और उद्योग एक बार भी उक्त प्रकार की विशद सेवा की स्थापना करने में सफल हो जाएं तो औद्योगिक स्वास्थ्य पर्यवेक्षक सेवा का नकशा ही बदल जाएगा जिसके अंतर्गत परिवार-चिकित्सक और औद्योगिक स्वास्थ्य पर्यवेक्षक कर्मचारीमंडल (industrial health supervisory staff) में एक घनिष्ठ सहयोग स्थापित हो जाएगा।

निरीक्षणालय का काम — मालिकों को यह बताना ही काफी न होगा कि कारखानों में कुछ प्रक्रियाएं जोखिम से भरी हुई हैं। निरीक्षणालय उन्हें यह भी बताएगा कि उन जोखिमपूर्ण प्रक्रियाओं का कुप्रभाव कैसे कम या दूर किया जा सकता है। यह ठीक है कि फैक्टरी अधिनियम १९४८ तथा खान अधिनियम १९५२ के अंतर्गत कामगारों के स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा कल्याण का भार मालिकों के ऊपर डाल दिया गया है; किंतु एक छोटे मालिक के लिए किसी इंजीनियर अथवा विशेषज्ञ फर्म की सेवाएं उपलब्ध करना कहां संभव है। इसलिए फैक्टरी-निरीक्षणालय तथा खान-निरीक्षणालय मालिकों की प्रविधि-विषयक सेवा करते रहें और उन्हें अधिनियम के अनुसार कारखानों की जोखिम-भरी स्थितियों को यथासंभव दूर करने के परामर्श तथा सहायता देते रहें।

इस संदर्भ में यह बताना उपयोगी होगा कि अधिकांश देशों में स्टीम-बायलरों का बीमा होता है और आग के बीमा की भांति ही बीमा कंपनियों के निरीक्षक उनका वार्षिक निरीक्षण करने आते हैं। यदि यह चीज भारत में लागू कर दी जाए तो इससे मालिकों को व्यक्तिगत रूप से कुछ परेशानी पैदा हो जाएगी। इसके अतिरिक्त, भारत में फैक्टरियां बहुत दूर-दूर पर स्थापित हैं, इसलिए ऐसी व्यवस्था करने से भारी दिक्कतें सामने आ जाएंगी। निदान स्वयं सरकार को बायलरों के लिए निरीक्षणालयों की स्थापना करनी चाहिए। इसके अधिकारी शुल्क लेकर बायलरों का निरीक्षण करने आया करें जिससे मालिक बायलरों का बीमा कराने से बच जाएं। इस बायलर-निरीक्षणालय को उद्योग के लिए एक प्रविधिक-सेवा का भी काम करना चाहिए।

औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा तथा चिकित्सा सर्वेक्षणों से ज्ञात होता है कि कामगारों के स्वास्थ्य पर विभिन्न व्यावसायिक तथा औद्योगिक प्रक्रियाओं का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है। उनसे उद्योगों, श्रमिकों तथा अन्य अभिकरणों की आंखें खुल जाएंगी। उनमें औद्योगिक व्यवसायों तथा औद्योगिक बीमारियों के आंकड़ों का समावेश है। उनमें स्वास्थ्य के लिए कारखानों की जोखिमपूर्ण प्रक्रियाओं तथा वायुमंडल से पैदा होने वाली हानिकारक चीजों के निवारण के

उपायों का भी सुझाव दिया गया है। संक्षेप में, वे कारखानों में स्वास्थ्य-रक्षा की उत्तम व्यवस्था चालू करने के लिए अधिकारियों का ध्यान आकर्षित करते हैं। फैक्टरियों के मुख्य परामर्शदाता (Chief Adviser) के विभाग ने कुछ बड़े उद्योगों में उक्त प्रकार के सर्वेक्षण* किये हैं। उनमें कुछ को कार्य-परिणत करते समय उस विभाग को औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा दल (Industrial Hygiene Unit) का सराहनीय सहयोग मिला है जो संयुक्त राज्य अमेरिका से भारत में आया था।

तापीय वातावरण (Thermal Environment) *का अध्ययन* — उद्योगों के कामगारों के स्वास्थ्य पर हवा के ऊंचे ताप और आर्द्रता का कुप्रभाव पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि कारखानों के उत्पादन में न्यूनता आ जाती है। भारत के जूट तथा कपड़ा मिलों में यह दोष उनकी औद्योगिक प्रक्रियाओं के कारण बहुतायत से देखने में आता है। इसलिए उनमें तापमान तथा आर्द्रतामान के बारे में सीमाएं निर्धारित कर दी गयी हैं। किंतु इस बारे में आंकड़े उपलब्ध न होने के कारण, प्रतिकूल वातावरणजन्य अवस्थाओं से कितनी हानि पहुंचती है उसका ठीक-ठीक अनुमान नहीं लग सकता है।

त्रिदलीय संविदा — प्रथम पंच-वर्षीय योजना की सिफारिश के अनुसार व्यवस्थित उद्योगों में त्रिदलीय संविदे फैक्टरी अधिनियम के अनुबंधों में उल्लिखित मानक पर आधारित होने चाहिए तथा उद्योगों के प्रत्येक गुट में उन करारों का यथेष्ट रीति से पालन हो रहा है या नहीं, इसकी समीक्षा के लिए एक प्रभावशाली तंत्र स्थापित किया जाना चाहिए। इन करारों को अमल में लाने के लिए जो व्यवस्था की जाएगी उससे एक प्रकार के निरीक्षण की पद्धति अपने-आप चल पड़ेगी। इन निरीक्षणालयों को ज्यों-ज्यों अपनी आवश्यकताओं का अनुभव होता जाएगा त्यों-त्यों वे उद्योगों की कार्यावस्थाओं में और सुधार करने के लिए आगे बढ़ेंगे। इस व्यवस्था का श्रीगणेश सीमेंट उद्योग से हुआ है। मार्च १९५४ में सीमेंट की औद्योगिक समिति (Industrial Committee On Cement) ने (१) एक केंद्रीय त्रिदलीय (प्रविधिक) समिति [Central Tripartite (Technical) Committee] और (२) राज्य त्रिदलीय (प्रविधिक) समिति [State Tripartite (Technical) Committee] स्थापित करने का निर्णय किया था।

केंद्रीय त्रिदलीय (प्रविधिक) समिति राज्य-समितियों की सलाह से फैक्टरी अधिनियम के अनुबंधों से उल्लिखित मानक का अनुशीलन करते हुए सीमेंट

* Environmental and Medical Studies, Reports Nos. 1 to 4.

कारखानों में कामगारों की सुरक्षा, स्वास्थ्य तथा कार्यावस्थाओं में सुधार के बारे में करार की शर्तें तैयार करेगी। राज्य-समितियां समय-समय पर, जिसकी अवधि छह महीने से अधिक न होगी, इन शर्तों की समीक्षा करती रहेंगी। ये राज्य-समितियां इस विषय में केंद्रीय समिति को अपने प्रतिवेदन देंगी।

राष्ट्रीय संग्रहालय (National Museum) — औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा की ओर दिन-पर-दिन अधिक ध्यान दिया जा रहा है। औद्योगिक स्वास्थ्य सुरक्षा और कल्याण का एक राष्ट्रीय संग्रहालय खोल कर इस दिशा में आगे कदम बढ़ाया जाएगा। इसका उद्देश्य कामगार के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा उसे व्यावसायिक रोगों से बचाना होगा। यह संग्रहालय केंद्रीय श्रम प्रतिष्ठान (Central Labour Institute) में खोला जाएगा जिसकी स्थापना बंबई में की जा रही है। इस प्रतिष्ठान में औद्योगिक विकास के मानवीय तत्त्वों का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए सुविधाएं मिलेंगी। इस संग्रहालय के अतिरिक्त, इस औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा की प्रयोगशाला के प्रतिष्ठान में एक प्रशिक्षण-केंद्र तथा एक पुस्तकालय-संपृक्त सूचना-केंद्र भी होगा। इस प्रतिष्ठान में सिद्धान्त रूप से श्रम के विभिन्न व्यापक अंगों के प्रदर्शन, अनुसंधान तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था होगी। इस प्रतिष्ठान में औद्योगिक केंद्र के अधीन एक प्रशिक्षण भी दिया जाएगा और इसमें दो विभाग होंगे — पहला विभाग औद्योगिक मनोविज्ञान का और दूसरा व्यावसायिक मनोविज्ञान का।

औद्योगिक स्वास्थ्यरक्षा-प्रयोगशाला (Industrial Hygiene Laboratory) — उक्त प्रतिष्ठान के औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा-प्रयोगशाला विभाग का मुख्य कार्य औद्योगिक स्वास्थ्य की उन्नति करना होगा। अमेरिका की संघ सरकार तथा राज्य सरकारों ने अपने-अपने क्षेत्रों में औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा-प्रयोगशालाएं स्थापित कर रखी हैं। उक्त भारतीय प्रयोगशाला भी प्रायः उन्हीं के सांचे पर ढाली गयी है। यह औद्योगिक स्वास्थ्य-समस्याओं का अध्ययन करने और उनका हल निकालने में तथा अनुसंधान, सर्वेक्षण तथा इसी प्रकार के अन्य क्रियाकलाप से औद्योगिक स्वास्थ्य-रक्षा की विशिष्ट प्रगति में व्यावसायिक सहायता देगी। यह उद्योगों में स्वास्थ्य के खतरों की खोज के बारे में क्षेत्रीय जांच-पड़ताल के लिए सुविधाएं देगी। यह भी जानने में मदद करेगी कि इन विभिन्न खतरों तथा औद्योगिक प्रक्रियाओं में प्रयुक्त होनेवाले विषाक्त पदार्थों से कारखानों के वातावरण में क्या-क्या दोष उत्पन्न हो जाते हैं तथा इन दोषों को दूर करने और इन खतरों से छुटकारा पाने के लिए क्या-क्या नयी तरकीबें और रक्षात्मक उपाय काम में लाने चाहिए।

उत्पादिता का केंद्र — बंबई में एक उत्पादिता-केंद्र पहले ही स्थापित हो चुका

है। यह केंद्र आगे चल कर केंद्रीय श्रम प्रतिष्ठान का एक अंग बन जाएगा। यह केंद्र श्रमिकों, प्रबंधकों और सामान्य जनता के हृदय में अधिक उत्पादन करने की क्षमता का भाव उत्पन्न करेगा। यह आधुनिक औद्योगिक इंजीनियरिंग तकनीकियों के प्रयोग को बढ़ावा देगा ताकि उत्पादिता में उन्नति हो और कामगार की कमाई में वृद्धि होने के साथ-साथ उसकी कार्यावस्थाओं में भी सुधार हो। इसका मुख्य काम यह है कि प्रबंध, कारखानों के निर्माण, सामग्री के उपयोग, उत्पादन के आयोजन तथा नियंत्रण, निरीक्षण, अच्छी किस्म का माल बनाने, सुचारु रूप से काम करने तथा वैतनिक प्रेरणा देने, आदि के बारे में जितने सुंदर सिद्धांत स्वीकार हो चुके हैं उन सबके समष्टि रूप से प्रयोग द्वारा औद्योगिक उत्पादन की समस्याएं विधिपूर्वक हल की जाएं।

स्वास्थ्य, सुरक्षा और कल्याण के अनुबंधों का दृढ़ता से परिपालन करने से तथा वास्तविक सर्वेक्षणों और अनुसंधानों से, इस विषय में भारतीय उद्योग-पतियों की रुचि बढ़ जाएगी और वह दिन दूर नहीं जबकि वे स्वयं यह समझने लगेंगे कि कामगारों के स्वास्थ्य की रक्षा करने में उनकी अपनी भलाई है।

औद्योगिक दुर्घटनाएं

दुर्घटनाएं—दुर्घटना सदा ही दुर्भाग्यपूर्ण होती है जिससे कामगार या कामगारों का गुट काम करने से विरत हो जाता है। प्रायः दुर्घटनाओं से कामगार चोटिल हो जाते हैं।

किसी भी दुर्घटना को सोलहो आने अप्रत्याशित अथवा आकस्मिक नहीं माना जा सकता है। जांच-पड़ताल से पता चला है कि ९८ प्र० श० दुर्घटनाओं को समय रहते सावधान हो जाने से रोका जा सकता था। इससे यह परिणाम निकलता है कि घटनाओं के विकास-क्रम में कुछ ऐसी बातें होती हैं जो दुर्घट-नाओं को जन्म देती हैं।

मनुष्य दुर्घटना का शिकार होता है। इसलिए मनुष्य की निजी चेष्टा (लाघवता) को उक्त विकास-क्रम का प्रथम कारण मानना चाहिए। यंत्र अथवा उसकी असुरक्षित सीढ़ी अथवा उसके ढांचे पर जो खतरा मंडराता रहता है उसे उसका दूसरा कारण मानना होगा। जो मनुष्य दुर्घटना का शिकार होता है वह पहले से असावधानी बरतने लगता है। यही दुर्घटना का तीसरा कारण है। इस दुर्घटना में वह कभी बिना चोट-चपेट खाये रह जाता है और कभी चोटिल हो जाता है। इन कारणों में से किसी एक की भी रोकथाम से दुर्घटना होने से बच सकती है।

जब किसी क्षण उक्त तीनों कारण इकट्ठे हो जाते हैं तब दुर्घटना टूट पड़ती

है। किंतु इस बीच व्यक्तिगत चेष्टा में कुछ फेरबदल हो जाए तो दुर्घटना होते-होते रुक जाती है। संभाव्य संकट की विभीषिका के डर से कामगार की व्यक्तिगत चेष्टा में संशोधन हो सकता है। वह स्वयं खतरे के मुख में गिरने से पहले ठिठुक कर पीछे हट जाता है अथवा यंत्र का स्वचालित चौकीदार उसे झटका देकर पीछे ढकेल देता है। जब मशीन की जंजीर खराब हो जाती है तब मनुष्य लाघवता से अलग हट कर ऊपर से लटकते वजन की चोट से बच जाता है अथवा गिलोटिन (guillotine) मशीन नीचे को चोट करने से पहले ही आदमी को अलग ढकेल देती है। मशीन पर मंडराते खतरे से बचने के लिए जंजीरों अथवा सांकड़ों की व्यवस्था की जानी चाहिए जो वजन को थामे रहती हैं। इस प्रकार की मशीनों में तुरंत थम जाने की व्यवस्था होती है। ज्यों ही कामगार की अंगुलियां खतरे के बटन पर पड़ती हैं त्यों ही मशीन जहां की तहां खड़ी हो जाती है।

मनुष्य की व्यक्तिगत लाघवता (चेष्टा) में बहुत भिन्नता होती है। कोई अधिक सचेष्ट होते हैं, कोई कम। इसलिए उनकी चेष्टा पर अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता है। इस दशा में यांत्रिक बचाव पर ही अधिक निर्भर रहना चाहिए। इंजीनियरों को स्वचालित चौकीदार के प्रयोग, तत्क्षण मशीन के खड़े हो जाने, आदि की तरकीबें प्रयोग में लाना चाहिए ताकि कामगार को चोट-चाट न पहुंचने पाए।

दुर्घटना की ओर झुकाव—कुछ व्यक्तियों की निजी चेष्टा इतनी बेतुकी होती है कि वे अन्य लोगों की अपेक्षा दुर्घटनाएं अधिक कर बैठते हैं और उन पर अधिक दुर्घटनाएं मंडराती रहती हैं। इसके लिए दैव को दोषी ठहराया जा सकता है। किंतु एक बार दुर्घटना होने पर कुछ लोग प्रायः किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर आगे दुर्घटनाओं में फंसने लगते हैं। यदि पहली दुर्घटना से वे शिक्षा ग्रहण करके अधिक सजग हो जाएं तो वे कदाचित् आगे दुर्घटना से बच सकते हैं, किंतु उनका क्षोभ उन्हें आगे दुर्घटना में ढकेल देता है।

एक यह बड़ी बात देखने में आती है कि व्यक्ति की रुझान दुर्घटना की ओर होने लगती है। ऐसा क्यों, उसका रहस्य बताना कठिन है। किसी आदमी में कुछ ऐसी बात हो सकती है जो उसे अन्य लोगों की अपेक्षा दुर्घटना की ओर अधिक मोड़ देती है। संभव है कि वह काम करने में फूहड़ हो, अथवा उसकी चंचलता उसके चित्त को अस्थिर करती हो अथवा खतरे से बचने के लिए जो सामान्य समय अपेक्षित है वह उसके लिए ना-काफी हो। निदान, इस कोटि के पुरुष पाये जाते हैं जो अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक खतरों में फंसते हैं अथवा अधिक अप्रत्याशित रूप से खतरों में पड़ जाते हैं। इसलिए इन लोगों को उन कामों पर लगाना चाहिए जहां जोखिम की आशंका कम होती है।

अनुभव की कमी—व्यक्तिगत चेष्टा की उपेक्षा किये बिना यह कहना होगा कि दुर्घटना का एक अनुपेक्ष्य कारण अनुभव-शून्यता भी होती है। यह बात नौकरी के आरंभिक चरण में प्रायः देखने को मिलती है जब कि कामगार में अपना काम सफाई और योग्यता से करने की क्षमता की अपेक्षा होती है। यह योग्यता शीघ्र आ जाती है किंतु इस बीच नये कामगार की चौकसी करने तथा उसे सावधान करते रहने की परम आवश्यकता है। अनुभव से यह भी सिद्ध हुआ है कि इस क्षेत्र में अनुभव-शून्य होने की अपेक्षा अल्पवयस्क होना कहीं अधिक भयावह है, क्योंकि एक वयस्क काम को हाथ में लेकर उस पर अल्प-वयस्क की अपेक्षा जल्द हावी हो जाता है। कामगार को अपने मस्तिष्क और आदतों तथा अवयवों पर नियंत्रण कर लेना चाहिए ताकि उसमें इस ढंग से काम करने की आदत पैदा हो जाए जिससे उसके ऊपर जोखिम आने की आशंका कम हो जाए। उद्योगों में काम करते समय कामगार खतरे से बचता रहे, इसके लिए उसे उचित प्रशिक्षण देने की आवश्यकता को कम नहीं कूतना चाहिए।

मशीनों से दुर्घटनाएं—दुर्घटनाओं के उपलब्ध आंकड़ों से ज्ञात होता है कि मशीनों के कारण हुई दुर्घटनाओं की संख्या कदाचित् अन्य दुर्घटनाओं की संख्या का केवल $\frac{1}{4}$ भाग है किन्तु इनके कारण मनुष्य के अंग-भंग हो जाने, उसके प्राण चले जाने, तथा अचानक कारखाने का काम बंद हो जाने से इन्हें अधिक गंभीरता के साथ देखा जाता है और उनकी ओर ध्यान गये बिना नहीं रह सकता है। इन दुर्घटनाओं का दोष मशीन के माथे मढ़ दिया जाता है और उसकी चौकीदारी-व्यवस्था अथवा उसके अधिक भयावह अंग की भर्त्सना की जाती है। लोग यह भूल जाते हैं कि मशीन से दुर्घटना का कारण उसका उपयोग नहीं बल्कि उसका दुरुपयोग होता है। अधिकांश दुर्घटनाओं का कारण मनुष्य की अपनी अयोग्यता — मशीन का प्रयोग करने की अपनी असफलता होती है। बेल्ट, पुली, गीअर, फ्लाईह्वील और लैडर मशीनों में लगी होती हैं। वे मनुष्य की असावधानी और असतर्कता से कहीं अधिक जागरूक होती हैं। सचमुच, जब आदमी असावधानी बरतने लगता है तभी मशीन खतरनाक बन जाती है। जब मशीन खतरनाक हालत में छोड़ दी जाती है और कामगार असावधानी से काम करने लगता है तभी दुर्घटना होती है।

मशीनों से जो दुर्घटनाएं होती हैं वे अन्य दुर्घटनाओं से कहीं अधिक भयंकर और घातक सिद्ध होती हैं। वे मनुष्य का प्रायः अंग-भंग कर देती हैं। जब मशीनी दुर्घटनाओं की जांच की जाती है तब उससे यही पता चलता है कि या तो कामगार ने असावधानी बरती थी या मालिक ने असुरक्षित अवस्था में सुधार नहीं किया था। किंतु मशीन की दुर्घटना के दर्दनाक दृश्य को देखते

ही लोगों का हृदय कांप उठता है और वे बेताब होकर मशीन को कोसने लगते हैं। बिना सोच-विचार किये वे अपनी प्रजाति का पक्ष लेने लगते और मशीन-पक्ष को खतरनाक बताने लगते हैं। किंतु गहरी जांच करने से दुर्घटनाओं में मानवीय विफलता का मशीनी दोष से कहीं अधिक हाथ पाया गया है। संक्षेप में प्रायः मानव की असावधानी मशीन से कहीं अधिक दोषी साबित हुई है। इसलिए मशीन पर खतरनाक होने का लेबुल लगाना ठीक न होगा। हां, मशीन के कुछ हिस्से ऐसे होते हैं जिनसे दुर्घटना घटित हो सकती है।

कारखानों की अन्य दुर्घटनाएं—कारखानों में जो दुर्घटनाएं होती हैं उनमें ८० प्रतिशत दुर्घटनाएं मशीनों के बजाय अन्य कारणों से होती हैं। लैडर (सीढ़ी) से गिरने, आदि के छोटे-छोटे कारणों से कहीं अधिक घातक चोटें लगती हैं। कभी-कभी टूटी-फूटी मशीनों के टुकड़ों से ऐसा जख्म हो जाता है कि उसकी तनक उपेक्षा करने से उसका भयंकर दुष्परिणाम होता है। भारी वजन को ऊपर उठा कर लादते समय यदि कामगार वहां से हटने में तनिक आलस कर जाता है तो उसे प्रायः प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। सीढ़ी पर संभल कर दृढ़ता से पांव न रखने के कारण कभी-कभी भीषण दुर्घटनाओं में फंस जाना पड़ता है। काट-छांट के समय कभी टुकड़े उछल कर दूसरी ओर जा पड़ते हैं और इस प्रकार कभी कामगार अपनी आंखों को खो बैठते हैं। पिसाई या कुटाई के काम के समय ठीक तरह से ऐनक का प्रयोग न करने के कारण अनेक दुर्घटनाएं होती रहती हैं। हथौड़ा अपने बेंटे में अच्छी तरह फिट न होने के कारण कभी-कभी उछल कर दुर्घटनाएं कर देता है। कभी-कभी पूरा हथौड़ा हाथ से छूट कर दूर जा गिरता है क्योंकि कामगार उसे मजबूती से नहीं पकड़े होता है। हथौड़ा ठीक ढंग से न चलाने से भी दुर्घटनाएं हो जाती हैं।

इस परिस्थिति में योग्य व्यक्तियों द्वारा उक्त चीजों की देखभाल सदा ही की जानी चाहिए। ऊंचा-नीचा फर्श, गड़बड़ सीढ़ियां, खराब औजार, आदि कारखाने में न होने चाहिए। कामगारों को प्रयोग से पहले अपने औजारों की जांच करना सिखाना चाहिए। उन्हें औजारों आदि का सही प्रयोग भी बताना चाहिए। दुर्घटनाओं से बचने का सबसे उत्तम ढंग यही है कि कामगारों को आत्म-सुरक्षा के उपायों से अवगत कराना चाहिए।

कारखाने का वातावरण—कारखाने के वातावरण और कार्यावस्थाओं का दुर्घटनाओं को जन्म देने में दामन और चोली का साथ है। मनुष्य संपूर्ण शारीरिक और मानसिक शक्तियों की वह मूर्ति है जिस पर वातावरण के हथौड़ों की चोटों के निशान निरंतर पड़ते रहते हैं। उसके शरीर और मन पर वातावरण की अमिट छाप पड़ती है। वायुमंडल का अत्यन्त अधिक अथवा न्यून

तापमान, हवा और प्रकाश की अव्यवस्था, शोरगुल और झनझनाहट, तथा काम के अधिक घंटे विक्षोभ और बेचैनी पैदा कर देते हैं। उनसे शारीरिक थकान और मानसिक शिथिलता पैदा होती है। उनसे साहस-क्षीणता और खतरों से जागरूक रहने में शिथिलता भी आ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि दुर्घटना सहज में कामगार को धर दबोचती है।

मनुष्य के शरीर का तापमान स्थिर रखना आवश्यक है। जहां वातावरण में शरीर का तापमान अक्षुण्ण रखने की शक्ति नहीं होती है वहां काम करने की मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार की क्षमताएं क्षीण हो जाती हैं। इस प्रकार के वातावरण में अधिक काल तक बने रहने से स्थिति मानव जीवन के लिए घातक हो जाती है।

किसी कारखाने में वायुमंडलीय तापमान बढ़ने के कई कारण होते हैं, जैसे मशीनों की गर्मी, प्रकाश की गर्मी तथा उत्पादन प्रक्रियाओं से उत्पन्न गर्मी। इसी प्रकार कारखाने में आर्द्रता बढ़ने के भी कई कारण होते हैं, जैसे कामगारों के पसीने, सांस तथा देह की खाल की नमी से उत्पन्न आर्द्रता। इसलिए कामगारों के लिए अनुकूल वातावरण बनाये रखने में अनेक उलझनपूर्ण परिस्थितियों का हाथ होता है।

दुर्घटनाओं की जांच—कारखानों में जोखिमों की रोकथाम तथा कार्यावस्थाओं को ठीक करने के कितने ही उपाय क्यों न किये जाएं, कुछ-न-कुछ दुर्घटनाएं होती ही रहती हैं। इससे उनकी ओर ध्यान गया और अनुभव से लाभ उठा कर उन्हें रोकने के उपाय निकाले गये। यह कहने का अभिप्राय यह है कि उपाय ढूंढ़ने के लिए उनसे पहले फैक्टरियों की दुर्घटनाओं की जांच और छानबीन की गयी। अधिकतम लाभ उठाने के लिए गहराई से जांच करने की आवश्यकता होती है। इस जांच से ठीक-ठीक निष्कर्ष निकालने चाहिएं और उचित कार्यपद्धति अपनानी चाहिए।

सभी दुर्घटनाओं पर आवश्यकता से अधिक जोर डालना ठीक न होगा। कभी-कभी कोई दुर्घटना परिणाम की दृष्टि से साधारण हो सकती है; किंतु कभी वही दुर्घटना भीषण परिणाम की जननी बन सकती है। इसलिए जांच करने वाले को दुर्घटना तथा उसके परिणामों का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करना चाहिए। इस प्रसंग में सबसे आवश्यक बात दुर्घटना के कारण का उन्मूलन करना है। कोई कामगार सीढ़ी का डंडा टूटा होने के कारण नीचे गिर सकता है। भाग्यवश, वह इस दशा में बिना चोट खाए कभी बच जाता है। किंतु वही कामगार किसी अन्य परिस्थिति में उसी तरह गिर कर भीषण रूप से चोटिल हो जाता है। इसलिए खराब सीढ़ी की मरम्मत करके जोखिम का कारण मिटाना चाहिए। यदि पहली दशा में चोट न लगने के कारण दुर्घटना

की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता है तो यह तरीका ठीक नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में, इस प्रकार की दुर्घटनाओं की जांच-पड़ताल से तथा, वे क्यों हुई, उसका कारण मिटाने से, उनकी रोकथाम में अधिक सफलता मिल सकती है।

एक अवधि की कुछ दुर्घटनाओं का विश्लेषण करने पर उनमें कोई-न-कोई सामान्य बात अवश्य मिलेगी। उनके मूल में जो सामान्य कारण हो उसे हटाने से दुर्घटनाओं की संख्या में भारी कमी हो सकती है। यहां तक कि स्वयं दुर्घटनाओं का अंत किया जा सकता है। संभव है कि कामगारों द्वारा नियमों के उल्लंघन या उनमें कार्यकुशलता के अभाव से भी दुर्घटनाएं होती हों। इस दशा में कामगार को वहां से हटाने, उसको उचित प्रशिक्षण देने तथा उसमें नियमों के परिपालन का लगाव पैदा करने से दुर्घटनाओं का अंत किया जा सकता है। यदि, वातावरण अथवा साथी कामगारों के कारण, अपने काम में जुटे कामगार का चित्त भंग होता है तो उसका भी उपचार संभव है। निष्कर्ष यह है कि कुछ दुर्घटनाओं का सामूहिक विश्लेषण करने से उनके सामान्य कारण का ज्ञान हो सकता है और उसके निवारण में उससे सहायता मिल सकती है।

प्रबंधकों, पर्यवेक्षकों, सुरक्षा-इंजीनियरों तथा कामगारों का दुर्घटनाओं की रोकथाम में उत्तरदायित्व—दुर्घटनाएं रोकने में प्रबंधकों, पर्यवेक्षकों, सुरक्षा-इंजीनियरों तथा कामगारों का आपसी सहयोग अपेक्षित है। जहां एक ओर मालिकों और उसके पर्यवेक्षकों (सुपरवाइजरों) को स्वस्थ सिद्धांतों पर आधारित तकनीक का प्रयोग करना चाहिए वहां दूसरी ओर कामगारों को भी सुरक्षा-नियमों, सुरक्षा-यंत्रों तथा सुरक्षा-संबंधी चेतावनी का पालन दृढ़तापूर्वक करना चाहिए। किंतु मालिकों और उनके पर्यवेक्षकों को दुर्घटनाएं रोकने के लिए हृदय से प्रयत्नशील होना चाहिए। दुर्घटना रोकने की यह सबसे बड़ी और पहली शर्त है। इस दिशा में उनकी ढुलमुल नीति सफल नहीं हो सकती है; बल्कि इससे कामगारों के मन में भी शिथिलता का अंकुर पनप सकता है जिससे दुर्घटनाएं रोकने की बात तो दूर रही, उनकी संख्या बढ़ने लगेगी। मालिकों को दुर्घटनाएं रोकने में केवल अपनी तत्परता ही नहीं दिखानी चाहिए बल्कि कामगारों और अपने पर्यवेक्षक-कर्मचारियों में उस दिशा में उत्साह पैदा करना चाहिए। संक्षेप में, रोकथाम का काम चोटी से आरंभ होना चाहिए तथा सब लोगों को उसे अपना कर्त्तव्य मान लेना चाहिए। यदि पर्यवेक्षक-वर्ग रोकथाम की तरकीबों को कारखाने में अमली जामा नहीं पहनाता है तो मालिक की सद्भावनाओं की घोषणा का अर्थ कोरे गाल बजाने से अधिक क्या हो सकता है ? सचमुच, पर्यवेक्षक लोग व्यवस्थापकों और कामगारों के बीच में खड़े होते हैं। कामगारों के साथ उनका सीधा संपर्क होता है। इसलिए वे

व्यवस्थापकों की सद्भावनाओं को कार्य रूप में परिणत करके कामगारों को अपनी सुरक्षा के प्रति उपयुक्त ध्यान देने के लिए तैयार कर सकते हैं।

सुरक्षा का प्रभारी पर्यवेक्षक ईमानदार और योग्य व्यक्ति होना चाहिए। वह कारखाने की दुर्घटनाओं के कारणों और उनकी भयंकरता से अभिज्ञ हो। मशीनें कैसे चलती हैं और उत्पादन की कार्यपद्धति का क्या रूप होता है, ये दोनों बातें उसे जाननी चाहिए। उसकी निरीक्षण-शक्ति तीक्ष्ण और सूक्ष्म हो और वह धैर्य से काम लेना जानता हो। जहां सामान्य पुरुषों को कुछ नहीं दिखायी देता हो वहां भी उसके कान खतरे की घटी को सुनने में चौकस होने चाहिए। वह दूसरों को अपने विचार सुनाने तथा उन पर अपना प्रभाव डालने की कला जानता हो। उसका व्यवहार लंगोटिये-यार जैसा होना चाहिए ताकि उसे सब लोग मित्रता की दृष्टि से देखने लगें और उससे सहयोग करने लगें।

सुरक्षा-अधिशासी को अपना काम केवल उत्साह से ही नहीं करना चाहिए बल्कि उसका प्रदर्शन भी करना चाहिए। उसे स्पष्ट कर देना चाहिए कि उसे अपने साथियों तथा कामगारों, दोनों के सहयोग की आवश्यकता है। उसे प्रत्येक व्यक्ति के पास जाकर अपने प्रभाव से सुरक्षा-कार्य में योगदान ग्रहण करना चाहिए।

निःसंदेह कारखाने में सुरक्षा-व्यवस्था का निरीक्षण करते रहना बहुत आवश्यक है। सुरक्षा-अधिकारी यह काम कर सकता है; किंतु केवल एक बार निरीक्षण करके बंद हो जाने तथा हिदायतें देकर बैठ जाने से काम नहीं चल सकता है। निरीक्षण का तांता-सा बंधा रहना चाहिए। कामगार को सुरक्षा-संबंधी बातों का स्मरण बारंबार दिलाना चाहिए। जब कोई दुर्घटना हो जाए तब उसके कारणों की जांच करके उन पर संबंधित कामगारों के साथ विचार-विनिमय करना चाहिए कि वह क्यों हुई। इस विचार-विनिमय के लिए सुरक्षा-समितियां होनी चाहिए जिनमें दुर्घटनाओं तथा दुर्घटनाएं होते-होते बच जाने वाली परिस्थितियों पर विचार किया जा सकता है। छोटे कारखानों में सभी फोरमैनों तथा वरिष्ठ कामगारों को इस वार्तालाप में भाग लेने के लिए बुलाया जा सकता है; किंतु बड़े कारखानों में इसके लिए सुरक्षा-समितियां बननी चाहिए। इन समितियों की बैठकों में बातचीत खुलकर निधड़क रूप से की जानी चाहिए ताकि दुर्घटनाओं के वास्तविक कारणों पर प्रकाश पड़ सके और उनको दूर करने की दिशा में पग धरा जा सके।

यदि इस कार्यक्रम को कामगारों तथा उनके संगठनों का पूर्ण अनुसमर्थन और सहयोग प्राप्त नहीं होता है तो चाहे प्रबंधक, पर्यवेक्षक और सुरक्षा-इंजीनियर कितना ही जोर क्यों न लगाएं, वे सफल नहीं हो सकते हैं। दुर्घटना का मूल कारण प्रायः कामगार ही होता है; और उससे उसी को क्षति भी पहुंचती

है। इसलिए कामगारों और उनके नेताओं को इस विषय की गंभीरता समझ-कर, असुरक्षित तरकीबों तथा प्रयोगविधियों में भूलकर भी हाथ न डालना चाहिए। उन्हें सुरक्षा के कल-पुर्जों का प्रयोग निरंतर करते रहना चाहिए; और धकापेल न करके सुरक्षा-संबंधी नियम-विनियमों का पालन करना चाहिए।

भारत में औद्योगिक दुर्घटनाएं

भारत में, औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील देशों की अपेक्षा कहीं अधिक दुर्घटनाएं होती हैं। आंकड़े देखने से पता चलता है कि केवल १९५३ में इस देश की फैक्टरियों में २५६ प्राणघातक दुर्घटनाएं तथा ९३,४३१ बुरी तरह जख्मी होने की दुर्घटनाएं हुईं, अर्थात् प्रति १००० कामगार पीछे क्रमशः ०.०१ तथा ३६.९६ दुर्घटनाएं हुईं। खानों में इन दुर्घटनाओं का अनुपात था ३८८ प्राण-घातक तथा ४,२८६ गंभीर अर्थात् प्रत्येक १,००० कामगार पीछे क्रमशः ०.६५ और ७.०३। इसका मतलब यह है कि इस समस्या पर जितना ध्यान देना चाहिए था उतना नहीं दिया गया है। प्रत्येक दृष्टि से, राष्ट्रीय, औद्योगिक और व्यक्तिगत दुर्घटनाओं को समाज के लिए सदा ही अनिष्टकारी मानना चाहिए।

भारत सरकार ने दुर्घटनाओं की रोकथाम के लिए नीचे लिखे पग उठाए हैं:

(१) निरीक्षण का काम हल्का कर दिया है और निरीक्षणों की संख्या काफी बढ़ा दी है। तीसरे पहर और रात को निरीक्षणों पर अधिक जोर दिया जाने लगा है;

(२) खानों के प्रबंधकों को सुरक्षा सप्ताह मनाने तथा सुरक्षा का प्रचार करने की सलाह दी गयी है;

(३) कोयला खानों के बारे में एक नयी विनियम-संहिता (कोयला खान विनियम, १९५७—The Coal Mines Regulations, 1957) बनायी गयी जो २४ अक्तूबर १९५७ से लागू हो चुकी है।

दुर्घटनाओं की रोकथाम के लिए कानूनी व्यवस्था—औद्योगिक दुर्घटनाओं की रोकथाम के लिए भारत में व्यापक रूप से कानूनी व्यवस्था की गयी है। मुख्य रूप से इन कानूनों का संबंध फैक्टरियों, खानों, परिवहनों, भाप के इंजनों, बिजली और विस्फोटकों से है। इनमें अधिकांश व्यवस्था केंद्रीय कानून द्वारा की गयी है तथा राज्यों ने अपने कानून बना कर उसको और अधिक उप-योगी और व्यापक बना दिया है। स्मरण रहे कि फरवरी १९५८ में चिणाकुरी तथा केंद्रीय भावड़ा खानों में भयंकर दुर्घटनाएं हो गयी थीं। इस कारण भारत सरकार ने एक संचालक समिति स्थापित की जिसमें १५ सदस्य थे। उनको

प्रबंधकों की कार्यप्रणाली, कामगारों के प्रशिक्षण, निरीक्षण और जांच की व्यवस्था तथा खानों में दुर्घटनाओं की रोकथाम के तरीकों को दृष्टिगत करके सुरक्षा के संपूर्ण प्रश्न पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन की भूमिका तैयार करने का काम सौंपा गया था।

फैक्टरी अधिनियम १९४८ के सामान्य अनुबंधों में मशीनों को आड़ लगाने, आग लगने से सावधान रहने, तथा भवन और मशीनों की सुरक्षा का आदेश दिया गया है। इस अधिनियम में कहा गया है कि मशीन के मुख्य चालक अंग का प्रत्येक भाग, प्रत्येक फ्लाईह्वील जो उससे लगाव रखता हो, प्रत्येक होइस्ट अथवा लिफ्ट, होइस्ट-वैल अथवा लिफ्ट-वैल और प्रत्येक ट्रैपडोर अथवा इसी प्रकार के प्रत्येक द्वार, जिसके पास मशीन लगी हो या कोई व्यक्ति काम करता हो, तथा राज्य सरकार द्वारा इस उद्देश्य से निर्दिष्ट प्रत्येक मशीन पर आड़ (fencing) लगानी चाहिए। प्रत्येक फैक्टरी में आग लगने की आशंका से सजग रहना चाहिए, तथा बच निकलने के मार्ग खुले रहने चाहिए। इसके अतिरिक्त, फैक्टरी-निरीक्षकों को फैक्टरियों के प्रबंधकों से भवन तथा मशीनों की व्यवस्था कराते समय कामगारों की सुरक्षा का ध्यान रखवाना चाहिए।

इस अधिनियम ने राज्यों की सरकारों को यह भी अधिकार दे रखा है कि जिन कामों से कामगारों को शारीरिक चोट लगने, विषाक्त होने अथवा रोग लगने का खतरा हो उनको वे जोखिम-पूर्ण घोषित कर सकती हैं; तथा उनके कामगारों की सुरक्षा के लिए नियम बना सकती हैं। प्रत्येक दशा में, फैक्टरी के मालिक के लिए फैक्टरी के भवन में उत्पादन की प्रक्रिया, जिसमें बिजली का प्रयोग भी शामिल है, आरंभ होने से पहले स्थिरता का प्रमाणपत्र उपलब्ध कर ले। इस अधिनियम में स्त्रियों और बच्चों के बचाव का भी पूरा प्रबंध किया गया है। इसके अनुसार जो मशीनें बिजली से चलती हैं उनके हिलते-जुलते पुर्जों की सफाई और उनमें तेल डालने का काम स्त्रियों अथवा बच्चों से नहीं करवाया जा सकता और न वे हिलते-जुलते पुर्जों के बीच में अथवा हिलते-जुलते पुर्जों तथा स्थिर पुर्जों के बीच में खड़े होकर अथवा घुसकर काम कर सकते हैं।

१९५२ के खान अधिनियम में खनन के काम को यथासंभव जोखिम से खाली बनाने के लिए अनेक बातें कही गयी हैं। इस अधिनियम से खानों में काम करने वाले व्यक्तियों की सुरक्षा के लिए नियम बनाने का अधिकार केंद्रीय सरकार को प्राप्त हो गया है। इन विनियमों से खानों में घुसने तथा उनसे बाहर जाने, खान के मार्गों, इन मार्गों के अगल-बगल की आड़ों, गड्ढों, बाहरी मार्गों, विलोपनों, मार्गों की सुरक्षा, कार्यस्थलों, वातायनों तथा धूल और गैस रोकने के उपयुक्त कार्यों, सब मशीनों की देखभाल तथा नियंत्रण तथा सिगनेलिंग

के काम आने वाले बिजली-यंत्रों के नियंत्रण की व्यवस्था की गयी है। सेफ्टी लैम्पो के प्रयोग के नियंत्रण तथा विस्फोटों अथवा धड़ाकों अथवा धमाकों की रोकथाम तथा खानों में पानी भरने और उनसे उत्पन्न होने वाले खतरों के लिए भी नियम बनाये जा सकते हैं। इन अधिकारों के अनुरूप कोयला तथा अन्य धातुओं की खानों के बारे में नियम बनाये गये हैं। खानों के निरीक्षकों को इसका अधिकार मिला हुआ है कि यदि उनके विचार से खानों में काम करने वाले किसी व्यक्ति के जीवन अथवा सुरक्षा को कोई तात्कालिक खतरा पैदा हो गया हो तो वे उस खतरे के निवारण तक के लिए उसे नौकरी पर आने को मना कर सकते हैं।

परिवहन कर्मचारियों की सुरक्षा के बारे में भारतीय रेलवे अधिनियम १८९० तथा भारतीय जहाजीघाट श्रमिक अधिनियम १९३४ में कुछ अनुबंध दिये गये हैं। इनमें अंतिम अधिनियम अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के "दुर्घटनाओं (जहाजीघाट-कामगार) से बचाव के अभिसमय १९३२" को कार्य परिणत करने के लिए बनाया गया था।

दुर्घटनाओं के आंकड़े—भारत में औद्योगिक दुर्घटनाओं के जो आंकड़े उपलब्ध हैं वे केवल उन उद्योगों के हैं जिन पर कामगार हानिपूर्ति अधिनियम १९२३ लागू है। ये आंकड़े भी केवल वही हैं जिनका मुआवजा कामगार हानि पूर्ति अधिनियम के अंतर्गत दिया जा चुका है। अन्य दुर्घटनाओं के बारे में इस समय कोई आंकड़े प्राप्त नहीं हैं।

फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत प्रत्येक मालिक को यह सूचना देना लाजिमी है कि उसकी फैक्टरी में कितनी दुर्घटनाएं ऐसी हुई जिनमें कामगारों को जान से हाथ धोना पड़ा तथा कितनी दुर्घटनाएं ऐसी थीं जिनमें कामगारों को सख्त चोट या चोट लगी जिससे वह आगामी ४८ घंटों में ठीक न हो सका। इन दुर्घटनाओं की तीन श्रेणियां की गयी हैं—प्राणघातक, भयावह और साधारण। यदि चोट-चपेट के कारण कोई कामगार लगातार २१ या इससे अधिक दिनों तक काम पर आने में असमर्थ रहता है तो वह भयावह (गभीर) मानी जाती है; किंतु यदि कामगार ४८ घंटे से अधिक समय लेता है पर २१ दिनों से पहले ही काम पर आ जाता है तो वह साधारण मानी जाती है।

खानों में कामगारों की सुरक्षा पर अधिक ध्यान देने के कारण, उनकी दुर्घटनाओं के आंकड़े लगभग पूर्ण रूप से उपलब्ध हैं। किंतु ये आंकड़े केवल १९०१ से ही मिलते हैं जबकि प्रथम खान-अधिनियम पास हुआ था।

इन आंकड़ों में केवल उन्ही दुर्घटनाओं का उल्लेख होता है जिनमें किसी कामगार की नेत्र-ज्योति चली जाए या वह बधिर हो जाए या उसके किसी अंग की हड्डी टूट जाए या वह इतना चोटिल हो जाए जिससे लगातार २०

दिनों से अधिक समय तक काम पर न आ सके। जिन दुर्घटनाओं के कारण आदमी ४८ घंटे से अधिक किंतु २० दिनों से कम समय तक काम पर न आ सके, उनको साधारण माना जाता है।

दुर्घटनाओं की हानि-पूर्ति—१९२३ से पहले यदि किसी कामगार को चोट-चाट लग जाती थी तो वह नौकरी की दृष्टि से व्यक्तिगत क्षति मानी जाती थी और असावधानी बरतने के सामान्य कानून के अंतर्गत वह किसी प्रकार की हानि-पूर्ति का दावा नहीं कर सकता था। किंतु कामगार हानि-पूर्ति अधिनियम १९२३ के पास होने से भारत में सामाजिक सुरक्षा का श्रीगणेश हुआ और इसके अंतर्गत मालिक को औद्योगिक दुर्घटनाओं अथवा व्यावसायिक रोगों के कारण कामगार की मृत्यु या उसके विकलांग हो जाने के लिए हानि-पूर्ति देना अनिवार्य हो गया। ये नियम उन सब लोगों पर लागू होते हैं जो ४०० रु. मासिक से कम पाते हैं तथा जो रेलों, फैक्टरियों, खानों, चाय आदि के बागों तथा अन्य किसी जोखिम के व्यवसायों में काम कर रहे हैं, और उनके नाम अधिनियम की एक अनुसूची में दर्ज हैं।

औद्योगिक सुरक्षा के परिपोषक कार्य—राजकानूनों के अतिरिक्त, खानों के निरीक्षणालय तथा फैक्टरी निरीक्षणालय औद्योगिक सुरक्षा के फैलाव में लगे रहते हैं। इन निरीक्षणालयों में जो प्राविधिक अधिकारी काम करते हैं वे समय-समय पर फैक्टरियों का अवलोकन करके यह देखने की कोशिश करते हैं कि कामगारों की सुरक्षा को कोई जोखिम तो उत्पन्न नहीं हो रहा है। बड़ी-बड़ी दुर्घटनाओं की पूरी जांच की जाती है और उनके संबंध में निरोधक तथा दंडात्मक कार्यवाही की जाती है। भीषण दुर्घटनाओं की स्थितियों की जांच के लिए खान अधिनियम के अंतर्गत जांच-न्यायालय नियुक्त किये जाते हैं।

खान विभाग तथा फैक्टरियों के प्रमुख सलाहकार का कार्यालय मालिकों तथा राज्य सरकारों को कामगारों के स्वास्थ्य तथा सुरक्षा की देखरेख के लिए उचित सलाह देता रहता है।

फैक्टरियों के प्रमुख सलाहकार (Chief Adviser) फैक्टरियों तथा जहाजी घाटों (docks) की दुर्घटनाओं के कारणों पर सचित्र विज्ञापन तथा पत्रिकाएं प्रकाशित करते रहते हैं ताकि कामगार उनसे अवगत होकर दृढ़ता से कार्यप्रणाली को अपना लें।

रेलवे विभाग, मालिकों के कुछ संगठनों, मजदूर संघों तथा सेफ्टी फर्स्ट असोसियेशन आफ इंडिया और रेड क्रास जैसे निकायों ने दुर्घटनाएं रोकने का कार्यक्रम अपना रखा है। इनमें सेफ्टी फर्स्ट असोसियेशन आफ इंडिया (Safety First Association of India) सबसे महत्त्वपूर्ण है और उसकी स्थापना १९३१ में हुई थी। यह कारखानों में "पहले सुरक्षा पर ध्यान दो" के विषय पर

भाषणों, रेडियो-भाषणों, आदि की व्यवस्था करता है, एक मासिक पत्रिका प्रकाशित करता है, प्रेस-विज्ञप्तियां जारी करता है, वाद-विवाद गोष्ठियों का संगठन करता है, विज्ञापन और इश्तहार लगाता है तथा प्रदर्शनियों में भाग लेता है।

सभी प्रगतिशील देशों में सभी दलों के चित्त में यह बात अधिक से अधिक चढ़ती जा रही है कि कारखानों में सबसे पहला स्थान स्वास्थ्य की रक्षा और दुर्घटनाओं से बचाव को मिलना चाहिए। यद्यपि भारत में भी कारखानों में सुरक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा के कानून तथा कामगार हानिपूर्ति अधिनियम लागू है, फिर भी सामान्यतः उद्योगपतियों और कामगारों ने अभी तक औद्योगिक स्वास्थ्य, सुरक्षा और कल्याण-कार्य की उपयोगिता को ठीक तरह से नहीं समझ पाया है। सरकार को चाहिए कि वह विद्यमान कानूनों को अधिक मुस्तैदी से लागू करे। किंतु इस प्रकार कानूनों का परिपालन पूरी तरह नहीं हो सकता। मालिकों और मजदूरों में जब तक एक-दूसरे के हितों का आदर करने की सामान्य भावना उत्पन्न नहीं होती तब तक किसी कार्यक्रम के अपनाने में पूरी सफलता नहीं मिल सकती है। इसलिए मालिकों को इस विषय पर अधिक ध्यान देना चाहिए। दूसरी ओर, स्वयं कामगारों को दुर्घटनाओं से बचाव तथा स्वास्थ्य-रक्षा का ख्याल रखना चाहिए।

कल्याण

उद्योगों में कल्याण-कार्यों की व्यवस्था करने का अर्थ बहुत अस्पष्ट है। कल्याण शब्द ही बहुत लचर है। देश के सामाजिक रीति-रिवाजों, उद्योगीकरण की स्थिति, तथा शिक्षा के विकास के अनुसार उसकी विविध व्याख्याएं की जा सकती हैं। इस बात को अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि कल्याण-कार्यों पर व्यय किया गया पैसा व्यर्थ नहीं जाता है। उसकी भरपाई दूसरे रूप में अवश्य हो जाती है। मानवीय आवश्यकताओं को देखकर किसी स्थान में उनके अनुरूप ही कल्याण-व्यवस्था की जाती है। फैक्टरी अधिनियम, खान अधिनियमों तथा अन्य अधिनियमों द्वारा कारखानों में उपहारगृहों, विश्रामालयों, पीने-योग्य पानी, पेशाबघरों, स्नानागारों तथा अन्य उपयोगी चीजों की व्यवस्था करना अनिवार्य हो गया है।

कार्य-स्थल से बाहर कल्याण-कार्यों की व्यवस्था का भार मालिकों की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। यदि वे चाहें तो उसकी विशद व्यवस्था कर सकते हैं। कुछ मालिकों ने कार्य-स्थलों के बाहर मजदूरों के लिए मनोरंजन तथा पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्थाएं की हैं। उनके लिए सहकारी समितियां भी बनी हुई हैं। यह सब काम सराहनीय है। किंतु मालिकों के इन कामों में दाता या दानी होने की महक न आनी चाहिए।

अध्याय ६

औद्योगिक बस्तियों में रिहायशी मकान

सामान्य अवस्था

भारत में सामान्यतः लोग अपने रहने का मकान अपने-आप बनवाते हैं और उसकी लागत का बोझा स्वयं उठाते हैं। जब इस देश का अर्थतंत्र मुख्य रूप से कृषि पर निर्भर था तब यह नीति शायद लोगों के जीवन की कसौटी पर खरी उतरती होगी। जनता अपने क्षेत्र में स्थिर रहती थी और उन दिनों मकान किराये पर उठाने का कोरा नाम ही सुनने में आता था।

किंतु जब देश में उद्योग, व्यापार-वाणिज्य तथा काम-धंधों की बढ़ोतरी हुई तब जगह-जगह शहर और कस्बे बसने लगे। नयी औद्योगिक बस्तियां पनपने लगीं और गांवों के लोग धीरे-धीरे शहरी इलाकों में पहुंचने लगे। इन लोगों के, शहरों में, मकान न थे। इसलिए उन्हें दूसरों के मकानों में रहने के लिए प्रबंध करना पड़ा। इस प्रकार मकानों को किराये पर उठाने की प्रथा चल पड़ी।

उन दिनों, महाजनों और औद्योगिक क्षेत्रों में उद्योगपतियों ने किराये पर उठाने के लिए मकान बनाये क्योंकि तब मकान का मसाला सस्ता था और मजदूर ऊटपटांग मकानों तक में रहना स्वीकार कर लेते थे। यद्यपि उन दिनों जमीनें सस्ते दामों पर खरीदी जा सकती थीं फिर भी मजदूर बस्तियों के मकानों की सफाई, आदि पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। इससे पूंजी लगाने वाले मकानदारों को किराये से अच्छी आमदनी होने लगी।

उद्योगों की स्थापना कहां की जाए, इस बारे में उन दिनों यथेच्छाकारिता की नीति प्रचलित थी जिससे ऊलजलूल ढंग से औद्योगिक बस्तियां उगने लगीं। कामगारों की जनसंख्या दिन-पर-दिन बढ़ने से औद्योगिक क्षेत्रों में आवास की समस्या उत्पन्न हो गयी। इन क्षेत्रों में पहले से ही मकान कम थे। आबादी बढ़ने से उनकी तंगी बढ़ गयी; और गंदी बस्तियां या गंदे इलाके बनने लगे। स्थानीय निकायों के सीमित साधन होने के कारण उक्त समस्या ने और भी विकट रूप धारण कर लिया। सत्ताधारियों और जनता की उदासीनता पर भी

इसका कम उत्तरदायित्व नहीं था। इसलिए औद्योगिक बस्तियों और इलाकों में जहां कहीं भी निगाह पड़ती थी गंदे क्षेत्र दिखायी दिये बिना न रहते थे।

औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) *१९१८*—औद्योगिक आयोग (१९१८) ने मकानों की समस्या की ओर सबका ध्यान खींचा। उसने बताया कि यदि बंबई में कामगारों के मकानों की समस्या देश के हित को देखते हुए तत्परता से हल न की गयी तो सभी औद्योगिक बस्तियों में बंबई जैसी विकट कठिनाइयां पैदा हो जाएंगी।

इस आयोग की सिफारिश पर, भारत सरकार ने सभी प्रांतीय सरकारों से प्रार्थना की कि वे गृह-निर्माण की ओर तुरंत ध्यान दें। फिर भी, एक-दो प्रांतों को छोड़ कर, किसी ने इस समस्या की गंभीरता को नहीं समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश औद्योगिक बस्तियों में बंबई जैसी बुरी हालत पैदा हो गयी। कहीं-कहीं तो इसका स्वरूप अधिक भयंकर देखने में आया।

राजकीय श्रम-आयोग (Royal Commission on Labour)—राजकीय श्रम-आयोग ने मकानों की स्थिति की तीव्र आलोचना की थी। उसने लिखा था कार्यव्यस्त तथा भीड़भाड़पूर्ण केन्द्रों में भी मकान ठूंस-ठास कर बनाये गये हैं। उनके छज्जे और पीठ एक दूसरे से सटे हुए हैं ताकि समूची जगह का अधिक-से-अधिक उपयोग किया जा सके। यहां जगह की इतनी अधिक कीमत है कि सड़कों या मार्गों के नाम पर तंग गलियां रह गयी हैं। इनमें जगह-जगह कूड़े के ढेर पड़े सड़ते रहते हैं और पेशाबघरों और पाखानों की कमी के कारण इधर-उधर पड़ा हुआ मलमूत्र बदबू फैलाता है। कितने ही घरों के पास चबूतरों की कौन कहे, उनमें रोशनदान और वातायन तक नहीं हैं। कितने ही घर केवल एक कमरे के हैं। उनमें केवल एक-एक दरवाजा है। यह इतना कम ऊंचा है कि उससे घर में पैठते ही पहले सिर की खबर ले ली जाती है। प्रायः इन मकानों के पार्टीशन में कनस्तरों या टाट का प्रयोग किया गया है जिससे साफ हवा वहां भूल से भी नहीं पहुंचती। इन मकानों में भी कितने ही मनुष्य पैदा होते, सोते रहते और मरते आ रहे हैं।

आयोग ने कलकत्ता और हावड़ा की मजदूर बस्तियों का जिक्र करते हुए लिखा है : इन बस्तियों में मजदूरों को रहने के लिए काफी जगह मिलना कठिन हो गया है। इनमें मिल-सरदारों और मकान-मालिकों ने किराये पर उठाने के लिए घर या क्वार्टर बनवा रखे हैं। वे इनका इतना ऊंचा किराया लेते हैं कि किरायेदार मजदूरों की कमाई का एक खासा हिस्सा उस पर व्यय हो जाता है। इन मकानों में आराम से रहने की कोई सुविधा नहीं है। यहां एक-एक इंच भूमि पर मकान खड़े हैं जिनमें आदमी बोरों की भांति ठसाठस भरे रहते हैं। हावड़ा के कुछ भागों में इन मकानों की आबादी का कहना ही क्या है!

ऐसी सघन आबादी तो भारत की किसी अन्य औद्योगिक बस्ती में देखने तक को न मिलेगी।

आयोग ने बंबई के बारे में यह लिखा था: जगह की तंगी के कारण "चौल" बस गये जिनमें प्रकाश और हवा का नाम भी नहीं है। इन चौलों में पहले ही जगह कम होती है। इस पर तुर्रा यह है कि उनमें ठूंस कर आदमी भरे रहते हैं जिससे वहां पांव धरने की भी गुंजाइश नहीं है। इनमें अधिकांश चौलों में सुधार नहीं हो सकता था। इसलिए उन्हें गिरा देना ही ठीक समझा गया।

मद्रास, कानपुर, अहमदाबाद और नागपुर, सभी में यही हालत थी। दर-असल, बंबई के "चौल", कलकत्ता की "बस्तियां", मद्रास की "छेरियां" और कानपुर की आबादियां मजदूरों की रिहायशी दुर्दशा की एक जीती-जागती कहानी बन गयी है। कोयला खानों तथा अन्य खानों के मजदूरों की रिहायश का प्रबंध तो बहुत ही खराब था।

युद्धकाल में स्थिति और बिगड़ी—उक्त विवरण राजकीय श्रम-आयोग ने अब से लगभग पच्चीस वर्ष पहले प्रस्तुत किया था। श्रम-जांच समिति (Labour Investigation Committee) ने १९४४ में अपने प्रतिवेदन में उक्त स्थिति की पुष्टि की है। उसका कहना है कि औद्योगिक केंद्रों की जन संख्या तेजी से बढ़ने के कारण यह स्थिति पहले से कहीं अधिक बिगड़ गयी है।

मकानों की तंगी पहले से ही थी, किंतु युद्ध के कारण वह और बढ़ गयी। युद्धकाल में भूमि, सामग्री और श्रम, सबका मूल्य इतना बढ़ गया कि पूंजी-विनियोजकों को कम आय वाले लोगों के लिए मकान बनाना कठिन हो गया और कम-आय वालों को मकान के किराये पर अधिक खर्च करना खलने लगा। उधर किराये की दरें बहुत ऊंची चढ़ गयीं। मकान बनाने में सीमेंट, लोहा और लकड़ी काम आती है। किंतु युद्ध-प्रयास में इन चीजों की खपत बढ़ गयी यहां तक कि रिहायशी मकानों की मरम्मत के लिए ये चीजें दुर्लभ हो चलीं। युद्ध काल में नगरों में नौकरी ढूंढ़ने के लिए देहातों से लोगों के आ जाने के कारण राजधानी के नगरों और औद्योगिक केंद्रों में भीड़ बढ़ गयी।

आवास के विषय में सरकार और सार्वजनिक निकायों के प्रयत्न—बंबई सरकार ने, १९२१ में, एक विकास-विभाग की स्थापना की जिसको यह काम सौंपा गया कि वह नयी भूमि पर ५०,००० एक कमरेदार मकान बनाये और बंबई नगर में मकानों की कमी दूर करने के लिए मकान बनाने की सामग्री उपलब्ध करके उसका वितरण करे। किंतु यह विभाग केवल १५,००० भाटकित गृह (tenements) बनाकर बंद हो गया क्योंकि इसने जो घर बनाये थे उन

उनके लिए घर बनवा दिये हैं। इससे कामगारों की कार्यक्षमता बढ़ी है और श्रमिक भी सहज में उपलब्ध होने लगे हैं। जमशेदपुर जैसे विशुद्ध औद्योगिक क्षेत्र में मालिकों ने अपने अफसरों तथा कर्मचारियों और कुछ श्रमिकों के लिए मकान बनवाये हैं। कामगारों के लिए अहमदाबाद और मदुराई के निकट हावँ पट्टी में सहकारी आधार पर जो घर बनवाये गये हैं उनका भी उल्लेख यहां करना आवश्यक होगा, किन्तु ये सब इतने कम हैं कि उनसे देश की मकान-समस्या तनक भी हल नहीं हो रही है और कोई भी मालिक अपने उद्योगों के कामगारों की मकानों की आवश्यकता को किसी उल्लेखनीय पैमाने पर पूरा नहीं कर पाया है।

सहकारी गृह-निर्माण सोसाइटियों ने, विशेषकर मद्रास और बंबई में, मध्य-वर्गीय तथा कम-आय के लोगों के लिए मकानों की तंगी दूर करने में काफी हाथ बटाया है। किंतु उनका यह प्रयास लगभग न के बराबर है।

सारांश यह है कि मालिकों द्वारा बनवाये गये मकानों की संख्या बहुत अपर्याप्त है और उनसे इस दिशा में जो आशा बंधी थी वह बहुत कम पूरी हुई है। जहां कहीं भी ये मकान उपलब्ध हैं, उनका आकार-प्रकार संतोषजनक नहीं है। प्रायः मालिकों का यह मत है कि श्रमिक वर्ग के लिए घर बनवाने का दायित्व राज्य पर है। इसके अतिरिक्त, गृह-निर्माण पर व्यय करने के लिए उनके पास पर्याप्त धन भी नहीं है।

गृह-निर्माण की सामान्य समस्या—वातावरणीय स्वास्थ्य-रक्षा समिति (Environmental Hygiene Committee) ने अक्तूबर १९४९ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए लिखा था कि पाकिस्तान से भारतीय नगरों में आने वाले विस्थापितों के अतिरिक्त, चालू दशक में भारतीय नगरों की सामान्य जनसंख्या इतनी बढ़ जायगी कि ६६ प्र० श० व्यक्तियों के लिए मकानों की जरूरत पड़ेगी जब कि मकानों की संख्या में केवल २० प्र० श० की वृद्धि होगी। इस समिति ने आगे लिखा था कि १९४१ का रिहायशी मानदंड कायम रखने के लिए भी ९२ लाख लोगों को नये घर बनवाने होंगे। दूसरे शब्दों में, कम-से-कम १८ लाख ४० हजार नये घर होने चाहिए जिनमें ५ सदस्य का एक-एक परिवार रह सकें। इसके अतिरिक्त, इस समिति ने यह भी लिखा था कि पाकिस्तान से भारत आने वाले ६० लाख विस्थापितों को कम-से-कम दस लाख घर बनवाने होंगे। इस प्रकार नये घरों का कुल जोड़ २८ लाख ४० हजार बैठा था। यदि प्रत्येक घर की लागत ३ हजार से ४ हजार तक मान ली जाए तो कुल योग एक हजार करोड़ अर्थात दस अरब रुपये होता है।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में बताया गया है कि भारतीय नगरों की ६ करोड़ २० लाख जनसंख्या के लिए १९५१ में लगभग एक करोड़ घर थे। उस वर्ष

२५ लाख घरों की कमी बताते थे। पहली पंचवर्षीय योजना की अवधि में सभी अभिकरणों द्वारा जो कुछ भी मकान बनाये गये उनकी संख्या लगभग १३ लाख थी। इस प्रकार मकानों और मकान चाहने वालों की संख्याओं में चौड़ी खाई बनी ही रही। सरकार और निजी गृह-निर्माताओं ने विगत वर्षों में नये घर बनवाने में बड़ी दिलचस्पी ली है; किंतु नगरों की जनसंख्या में भी अप्रत्याशित वृद्धि हुई है; जैसे १९२१-३१ में ५२ लाख, १९३१-४१ में १०६ लाख, तथा १९४१-५१ में १८१ लाख की वृद्धि हुई। इन पिछले दो दशकों में नागरिक क्षेत्रों के रिहायशी घरों में क्रमशः १८ लाख और १७ लाख घरों की वृद्धि हुई। घर अच्छे तो पहले ही से नहीं होते थे किंतु अब १९४१-५१ में उनकी संख्या में भी बहुत कमी दिखने लगी। युद्धोत्तरकालिक विकास-कार्यों तथा देश-विभाजन के कारण नगरों की जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। पहली पंचवर्षीय योजना में लगभग १३ लाख नये घर बने थे और द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १९ लाख नये घर बनने का अनुमान है। इस प्रकार, इन दोनों योजनाओं की अवधि में बने हुए मकानों की संख्या उस कमी को पूरा नहीं कर सकती है जो १९५१ में ही अनुभव की जा रही थी। १९५१-६१ के दशक में भारतीय नगरों की जनसंख्या में लगभग ३३ प्र० श० की वृद्धि की आशा की जाती है। यदि इस बीच नगरों में मकानों के निर्माण का कोई सुगठित कार्यक्रम न अपनाया गया तो १९६१ में मकानों की समस्या १९५१ की अपेक्षा दोगुना उग्र रूप धारण कर लेगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना से आशाएं—मकानों की गंभीर स्थिति को देखते हुए, उनकी समस्या को अच्छे ढंग से हल करना होगा और इस बारे में विभिन्न वर्गों की आवश्यकताओं का ख्याल रखना होगा। औद्योगिक श्रमिकों तथा अल्प-आय वाले लोगों के लिए १ लाख ५० हजार मकान बनाने को प्रथम पंचवर्षीय योजना में ३८.५ करोड़ रुपये निर्धारित किये गये थे। किंतु द्वितीय पंचवर्षीय योजना में मकानों के निर्माण पर १२० करोड़ रु० व्यय किये जा रहे हैं जिनसे १,२८,००० अदद घर सरकार की आर्थिक सहायता पाने वाले उद्योगों के मजदूरों तथा १,१०० अदद घर चाय बागों के मजदूरों और १,८५,००० अदद घर अन्य लोगों के लिए बनाये जायेंगे।

औद्योगिक गृह-निर्माण

औद्योगिक गृह-निर्माण उपसमिति (Industrial Housing Sub-Committee)—भारत में औद्योगिक श्रमिक जिन घरों में रहते हैं उनकी दयनीय दशा है। अच्छे घर में निवास करने से मनुष्य के स्वास्थ्य और योग्यता

की रक्षा होती है और जब तक घरों की अवस्था में सुधार नहीं होता है तब तक अन्य कल्याणकारी परियोजनाओं से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। त्रिदलीय श्रम सम्मेलन (Tripartite Labour Conference) की स्थायी श्रम समिति (Standing Labour Committee) ने १९४५ में उक्त बातों को ध्यान में रखकर एक उपसमिति नियुक्त की थी जिसे श्रमिकों की सभी रिहायशी समस्याओं पर विचार करके अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का काम सौंपा गया था।

इस उपसमिति ने अपनी सिफारिशों में बताया था कि मजदूरों का घर कम-से-कम कैसा होना चाहिए। उसका कहना था कि यद्यपि मजदूरों की आर्थिक दशा की अवहेलना नहीं की जा सकती है, फिर भी उनके लिए ऐसे घर तो होने ही चाहिए जिनमें स्वास्थ्य और मानवीय मर्यादाओं का नितांत तिरस्कार न कर दिया जाए।

पारिवारिक जीवन की एक सबसे आवश्यक और आरंभिक चीज यह है कि स्त्री और पुरुष-जनों का वास-स्थान, विशेषकर सोते समय, अलग-अलग होना चाहिए। रुग्णावस्था और प्रसूतावस्था में भी पृथक् रहने की आवश्यकता होती है। इसलिए समिति ने सिफारिश की थी कि एक सामान्य परिवार के घर में कम-से-कम दो कमरे, एक रसोईघर, जिसमें भंडारघर और ईंधन रखने का स्थान हो, एक स्नानागार और एक पाखाना होना चाहिए। घर के मुख पर एक बरामदा होना चाहिए और दूसरा घर के पीछे होना चाहिए; और यदि घर एक मंजिला हो तथा जगह की गुंजाइश हो तो उसमें एक आंगन भी होना चाहिए।

औद्योगिक गृह-निर्माण परियोजना के कार्यान्वय पर धन कहां से लगाया जाए? इस बारे में उपसमिति ने अन्य बातों के साथ यह सिफारिश की थी कि जो कामगार अपनी अल्प मजदूरी को दृष्टिगत करके मकान का ऊंची दरों पर किराया देने में असमर्थ हैं उनको स्वीकृत प्रकार के मकान बनाने के लिए राज्य-सरकारें अथवा केंद्रीय सरकार निर्ब्याज दीर्घकालिक ऋण दें और इस प्रस्तावित गृह-निर्माण कोष का प्रशासन एक त्रिदलीय राष्ट्रीय औद्योगिक गृह-निर्माण बोर्ड (National Industrial Housing Board) को सौंपा जाना चाहिए।

तदनंतर स्थायी श्रमिक समिति ने उक्त प्रतिवेदन पर विचार करके भारत सरकार से राष्ट्रीय श्रमिकवर्ग गृह-निर्माण बोर्ड तथा राज्यीय श्रमिकवर्ग गृह-निर्माण बोर्डों की स्थापना की प्रार्थना की। इस समिति ने यह भी सिफारिश की थी कि श्रमिकों को अपनी मजदूरी का दशमांश से अधिक मकान-किराये पर खर्च न करना पड़े और इस प्रकार जो घाटा पड़ता हो उसे सरकारें, स्थानीय सत्ताएं तथा मालिक, तीनों मिलकर पूरा करें।

औद्योगिक गृह-निर्माण परियोजना (Industrial Housing Scheme)—१९४७ के औद्योगिक अवहार प्रस्ताव (Industrial Truce Resolution) के अनुसार श्रमिकों के रहन-सहन के मानदंड को सुधारने की दिशा में पहला कदम यह होगा कि उनके लिए मकानों की समस्या पर ध्यान दिया जाए। कोयला-लदान पर जिस प्रकार का गृह-निर्माण उपकर लगता है उसी प्रकार का उपकर औद्योगिक उत्पादन पर लगाकर उस धन-राशि को गृह-निर्माण के लिए देने के प्रश्न पर भी विचार किया गया किंतु जब यह देखा गया कि ऐसे उपकर से केंद्रीय सरकार को आय होती है और उससे उसके राजस्व-स्रोत पर बुरा असर पड़ेगा, तब उस प्रस्ताव को छोड़ देना पड़ा। इस पर सभी सहमत थे कि औद्योगिक गृह-निर्माण के प्रति केवल सरकार का ही नहीं बल्कि मालिकों और श्रमिकों का भी दायित्व है। सरकार को गृह-निर्माण के लिए सीधा अनुदान देना चाहिए। इसलिए, १९४८ में भारत सरकार ने घोषणा की कि उसकी औद्योगिक नीति में यह काम भी शामिल है कि वह दस वर्षों में श्रमिकों के लिए दस लाख घर बनाएगी जिसके निमित्त वह एक गृह-निर्माण बोर्ड (Housing Board) स्थापित करने जा रही है।

इस निर्णय के कारण, भारत सरकार ने १९४९ में औद्योगिक गृह-निर्माण की एक परियोजना बनायी। इसके अनुसार घरों की लागत का दो-तिहाई भाग केंद्रीय सरकार ने निर्ब्याज ऋण के रूप में देने को तैयार हो गयी बशर्ते राज्य-सरकार अथवा मालिक स्वयं शेष एक-तिहाई भाग उपलब्ध करें। इस ऋण की एक और शर्त यह थी कि ये घर सरकार द्वारा पूर्वस्वीकृत आकार-प्रकार के बनने चाहिए। किंतु मकान बनवाने पर जो लागत आती थी तथा उसके आधार पर मकान-किराये की जो दर उठती थी, उसमें और मजदूरों की मजदूरी के दशमांश में इतना अंतर था कि राज्य सरकारों और मालिकों के लिए उक्त परियोजना में अधिक दूर तक भाग लेना कठिन हो गया। १९५१-५२ में इस परियोजना के अंतर्गत १६८ लाख रुपये के केंद्रीय ऋण से लगभग १,५०० मकान-ब्लाक बनवाये गये।

सरकारी आर्थिक सहायता पानेवाली औद्योगिक गृह-निर्माण परियोजना, १९५२—प्रथम पंचवर्षीय योजना के रचनाकाल में योजना आयोग ने प्रमुख औद्योगिक नगरों में रहने के मकानों की कमी को जानने का प्रयास किया था और तब उसे विदित हुआ था कि ३७ नगरों के बड़े उद्योगों में जो १७,१४,५६० कामगार काम कर रहे हैं उनमें ४,५४,००० को रिहायशी जगह की बड़ी आवश्यकता है। आयोग के मतानुसार, यदि इन लोगों की निवास-समस्या अच्छे ढंग से हल करनी थी तो ऋण के अतिरिक्त पर्याप्त सरकारी आर्थिक सहायता की अपेक्षा थी। इन मकानों की डिजाइनें बनाने, परियोजनाएं तैयार

करने तथा आधुनिक सफाई व्यवस्था से लैस एक-कमरेदार मकानों पर लागत इतनी आएगी कि यदि उन्हें मजदूरों को उनके वेतन का लगभग दशमांश किराये के रूप में लेकर देना हो तो लागत का ५० प्र० श० भाग केंद्रीय सरकार को आर्थिक सहायता के रूप में देना पड़ेगा।

योजना आयोग ने सिफारिश की कि केंद्रीय सरकार, भूमि के मूल्य तथा मकान की लागत पर जो धन-राशि व्यय हो, उसका ५० प्र० श० भाग राज्य-सरकारों को दे और राज्य-सरकारें यह धन विधि-विहित गृह-निर्माण बोर्ड के हवाले कर दें। निजी नौकरीदाताओं तथा सहकारी सोसाइटियों को कुल लागत का २५ प्र० श० ही आर्थिक सहायता के रूप में दिया जाए। इसके अतिरिक्त केंद्रीय सरकार विधि-विहित (statutcry) गृह-निर्माण बोर्डों तथा कामगारों की सहकारी गृह-निर्माण सोसाइटियों को ऋण बांटने के लिए धन दे। यह ऋण भूमि के मूल्य समेत गृह-निर्माण की लागत का ५० प्र० श० तक हो सकता है। निजी नौकरीदाता भी कुल लागत का ३७½ प्र० श० केंद्रीय सरकार से ऋण के रूप में पा सकते हैं, जो १५ वर्षों के भीतर किश्तों में चुकाया जा सकता है।

एक सरकारी आर्थिक सहायता पाने वाली गृह-निर्माण परियोजना सितंबर १९५२ से चालू है। बाद में, इसमें काफी संशोधन किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत ८०,००० भाटिक घरों के निर्माण-कार्यक्रम पर २२ करोड़ ६० लाख रुपये व्यय करना स्वीकार किया गया था। किंतु प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंत तक केवल ४०,००० भाटिक घर (tenements) बनकर तैयार हुए। यद्यपि इस दिशा में तत्परता से काम करना चाहिए था, किंतु जान पड़ता है कि राज्य-सरकारों, गृह-निर्माण सहकारी समितियों तथा मालिकों ने अपनी-अपनी धारणाओं के कारण उचित लगन से काम नहीं किया।

गृह-निर्माण कार्यक्रम के मार्ग में जो बाधाएं आ सकती हैं उनको डटकर हटाना होगा। इस बारे में जो कदम उठाये गये हैं उनमें कुछ का उल्लेख नीचे किया जा रहा है :

(१) जहां कार्यस्थल से दूर कामगारों की बस्तियां बस जाती हैं, राज्य-सरकार तथा स्थानीय प्राधिकारी वहां से कार्यस्थल तक के लिए उनके परिवहन की व्यवस्था करें।

(२) इन बस्तियों में बाजार, डाकघर और स्कूल, आदि सार्वजनिक उपयोगी चीजों की व्यवस्था होनी चाहिए।

(३) यथासंभव कामगार को सभी सेवाओं से भरपूर एक परिमित भूखंडक

(प्लॉट) देने का परीक्षण किया जाए। कामगार को अपने-आप अपनी मदद करने में सहायता दी जाए। इस प्रकार, जो कामगार पक्के मकानों का किराया नहीं दे सकते हैं उन्हें अपने-आप अपना प्रबंध करने दिया जाए।

(४) मजदूरी अदायगी अधिनियम में परिवर्तन करके मजदूरों की मजदूरी से सीधा ऋण वसूल करने का द्वार खोल दिया जाए।

(५) जो मालिक कम-से-कम अपने २० प्र० श० कामगारों को रिहायशी घर बनवा कर देना चाहते हैं उन्हें ३ से ५ वर्ष तक के लिए अधिक सरकारी आर्थिक सहायता तथा ऋण दिया जाए।

(६) राज्य-सरकार उचित मूल्य पर मालिकों को चौरस भूमि दे तथा आर्थिक सहायता और ऋण देने में भी रुझान दिखाए। इसके अतिरिक्त वैधानिक दबाव भी मालिकों पर डाला जाए।

(७) जिन योजनाओं के कारण मजदूरों को अधिक किराया न देना पड़े उनको भी उक्त योजनाओं के स्थान में अपनाया जा सकता है।

(८) अधिक सरकारी आर्थिक सहायता और ऋण देकर, गृह-निर्माण सहकारी समितियों को बढ़ावा देना चाहिए। इस अवस्था में राज्य-सरकारों को चाहिए कि वे मकान के प्लाटों को अच्छी तरह चौरस करके दें और उनसे किसी प्रकार का लाभ न कमाएं।

(९) सरकारी आर्थिक सहायता उदारतापूर्वक किश्तों में दी जाए। सहकारी समितियों के प्रति यह नीति विशेष रूप से उदार होनी चाहिए।

ऊपर जो सुझाव दिये गये हैं, पहला, सरकारी आर्थिक सहायता और ऋण की राशियां बढ़ा दी जाएं, तथा दूसरा, उनके बारे में वैधानिक दबाव से काम लिया जाए, ये दोनों बातें साथ-साथ होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि सहायता और ऋण की राशियां बढ़ा दी जाती हैं तो भी इस बात की आवश्यकता पड़ सकती है कि मालिकों को काफी संख्या में गृह-निर्माण करवाने के लिए दबाया जाए। किंतु यहां पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि उद्यान श्रमिक अधिनियम (Plantation Labour Act) १९५१ से स्पष्ट हो गया है कि कोरा वैधानिक दबाव सफल नहीं होता है। यद्यपि इस अधिनियम के अनुभाग १५ द्वारा काफी तथा चाय बागों के मालिकों को कामगारों के लिए रहने के मकान उपलब्ध करने को मजबूर किया गया है फिर भी भारत सरकार उन्हें ऋण देने को तैयार हो गयी है ताकि वे वैधानिक कानून द्वारा आरोपित अपने दायित्व को निबाह सकें। सारांश यह है कि वैधानिक दबाव के साथ, मालिकों को ऋण तथा सरकारी आर्थिक सहायता के रूप में अधिक धन मिलना चाहिए।

कुछ उद्योगों के श्रमिकों के लिए घर

बागों के श्रमिक—१९५१ के बाग श्रमिक अधिनियम के अनुभाग १५ के अंतर्गत प्रत्येक मालिक को अपने कामगारों और उनके परिवारों के लिए रिहायशी घरों की उचित व्यवस्था करना आवश्यक है। इस बारे में यह नियम है कि मालिकों को प्रति वर्ष कम-से-कम ८ प्र० श० कामगारों के लिए तो मकान बनवाना ही चाहिए; और यह सिलसिला तब तक चालू रहना चाहिए जब तक सब कामगारों को रहने के लिए घर न मिल जाएं।

बहुत से, विशेषकर छोटे मालिक (चायबाग), अपने तुच्छ आर्थिक साधनों के कारण अपना दायित्व पूरा करने में असमर्थ रहे हैं। इसलिए भारत सरकार ने इन चायबागों के मालिकों को राज्य-सरकारों की मार्फत गृह-निर्माण पर आने वाली लागत की ८० प्र० श० राशि तक उधार देने का निर्णय किया। भूमि की लागत छोड़ कर, गृह-निर्माण पर जो धन व्यय होता था उसका ८० प्र० श० भाग अथवा अधिकतम २,००० रु० प्रति मकान ऋण में दिया जा सकता था। इसमें भी उत्तर भारत में प्रति मकान के लिए २,००० रु० और दक्षिण भारत में प्रति मकान के लिए १,६०० रु० दिया जाता था। उद्यान औद्योगिक समिति (Industrial Committee on Plantations) ने सिफारिश की थी कि भारतीय चाय संघ (Indian Tea Association) का दो-कमरेदार घर का स्तर उत्तर भारत के मैदानी तथा पहाड़ी बागों में अपनाया जाना चाहिए तथा यूनाइटेड प्लांटर्स असोसियेशन (United Planters Association) की एक-कमरेदार घर की योजना दक्षिण भारत में लागू होनी चाहिए। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस विषय पर व्यय के लिए दो करोड़ रुपये की धन-राशि का प्रस्ताव किया गया है तथा इस परियोजना के अंतर्गत लगभग ११,००० घर बनने की आशा है।

कोयला-खान—कोयला-खनकों के रहने के घरों की अवस्था में सुधार के लिए वर्षों तक प्रयत्न किया गया है। किंतु कोयला-उद्योग के विस्तार को दृष्टि में रखते हुए यह आशा की जा सकती है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में कोयला-खनकों के लिए घर बनाने पर अधिक ध्यान दिया जाएगा।

कोयला-खनकों के घरों पर जो रुपया लगता है वह कोल तथा कोक पर उपकर लगाकर इकट्ठा किया जाता है। औद्योगिक गृह-निर्माण परियोजना पर जिस ढंग से सरकारी आर्थिक सहायता तथा ऋण दिया गया है उस ढंग की सहायता और ऋण से कोयला खानों के स्वामियों ने कोई ठोस काम करके नहीं दिखाया है। कोयला खान श्रमिक कल्याण निधि (Coal Mines Labour Welfare Fund) के धन से खनकों के लिए घर बनवाने में

कोई विशेष सफलता नहीं मिली है। पहले के कार्यों से जो अनुभव प्राप्त हुआ है उसके आधार पर अब एक नयी परियोजना बनायी गयी है।

अभ्रक खनक—अभ्रक खान श्रमिक कल्याण निधि (Mica Mines Labour Welfare Fund) भी अभ्रक खानों के स्वामियों को खनकों के लिए मकान बनवाने को आर्थिक सहायता और ऋण देता आ रहा है। किंतु इस क्षेत्र में भी उससे कोई ठोस लाभ नहीं हुआ है। इसलिए वर्तमान परियोजना में संशोधन करके मकान बनाने की दिशा में उचित प्रगति करने का समय आ गया है।

भंगियों के लिए घर—समाज के दुर्बल अंगों में, उन लोगों को जिन्हें भंगी कहा जाता है सबसे अधिक सहायता की आवश्यकता है। यद्यपि उनकी बिरादरी का कोई निश्चित सर्वेक्षण नहीं किया गया है फिर भी उन्हें मकान बनवाने की दिशा में औद्योगिक श्रमिकों से भी अधिक सहायता की जरूरत है। भंगियों की मासिक औसत आमदनी ३० से ७० रु. तक है। यह वेतन-भोगी श्रेणियों में कदाचित सबसे अल्प आय है। इसके अतिरिक्त, भंगियों की बस्तियों में उनके मकानों की अवस्था का कहना ही क्या है।

कम-आय वाले लोगों के गृह-निर्माण के लिए जो ऋण सीमित रूप से स्थानीय निकायों को दिया जाता है उससे भंगियों के लिए भी कुछ सीमा तक घर बनवाये जा सकते हैं। इस प्रकार भंगियों के घरों की समस्या कुछ हद तक हल हो सकती है। किंतु जब हम यह देखते हैं कि इस ऋण से बनने वाले घरों का किराया इतना अधिक होता है कि कम-आय वाले भगी उसे नहीं चुका सकते हैं तब हमारी आशाओं पर पाला पड़ जाता है। उधर स्थानीय निकायों की आर्थिक दशा ऐसी नहीं है कि वे इस किराये की भरपाई के लिए भंगियों को कुछ आर्थिक सहायता दें। इसके अतिरिक्त, कम-आय वाले लोगों के लिए गृह-निर्माण की परियोजना में वे मेहतर नहीं आते हैं जो निजी फर्मों या कोठियों में नौकर हैं। इसलिए, सामान्य भंगियों के लिए एक पृथक् सरकारी आर्थिक सहायता पाने वाली परियोजना होनी चाहिए। इसका आर्थिक भार केंद्रीय सरकार, राज्य सरकारों और स्थानीय निकायों को उठाना होगा।

गंदी बस्तियों की सफाई

गंदी बस्तियां—देश के अधिकांश महत्त्वपूर्ण और व्यापारिक नगरों में बड़ी-बड़ी गंदी बस्तियां पायी जाती हैं। इनमें छोटे-छोटे सघन गंदे झोपड़े बने होते हैं जहां पानी, प्रकाश, हवा, गंदी नालियों और गमनागमन के साधनों की कोई व्यवस्था नहीं होती है। इनके मालिक भूमि या मकानों का किराया वसूल

करते रहते हैं। इन गंदे मकानों में प्रायः मजदूर, खोंमचे वाले, ठेले वाले, तांगे वाले, आदि रहते हैं। ये लोग नगर के स्टेंडर्ड कोटि के मकानों का किराया देने में असमर्थ होने के कारण उनमें रहते हैं। प्रायः ये झोपड़ियां गंदे नाले के दोनों ओर खुली जगह में, कहीं-कहीं बीच में कुछ फासला छोड़ कर, बना दी जाती हैं। कहीं-कहीं बंद गलियों में ऐसे ही मकान बने होते हैं। ये झोपड़े छोटे-छोटे नगरों की कौन कहे, बंबई, कलकत्ता, अहमदाबाद, कानपुर, मद्रास और दिल्ली तक में मिलते हैं।

१९४७ में, मद्रास प्रांतीय गृह-निर्माण समिति (Madras Provincial Housing Committee) का अनुमान था कि पुराने मद्रास की परिधि में जो ९०,००० मकान बने हुए हैं उनमें ३०,००० गंदे मकान हैं जिन्हें गिरा देना चाहिए और उनकी जगह नये मकान बनवाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि ३३ प्र० श० मकान नये बनने चाहिए। इसी समिति के प्रतिवेदन में यह भी लिखा है कि मद्रास की ६९ नगरपालिकाओं के ५ लाख ५० हजार मकानों में लगभग २८,००० मकान अथवा लगभग ५ प्र० श० मकान ऐसे हैं जिन्हें गंदी बस्तियों का नाम देना होगा। अन्य महत्त्वपूर्ण अथवा उल्लेखनीय नगरों में भी मकानों की अवस्था इसी प्रकार की है। कदाचित दिल्ली की १४ लाख की जनसंख्या में ६ लाख लोग गंदी बस्तियों में रहते हैं। दिल्ली राज्य के भारत सेवक समाज के सर्वेक्षण के अनुसार, दिल्ली नगरपालिका -क्षेत्र में लगभग ७०० गंदी बस्तियां हैं। इस आधार पर बड़े नगरों में गंदे मकानों की संख्या २० प्र० श० तथा अन्य नगरों में ५ प्र० श० बैठती है। नागरिक जनसंख्या का ३८ प्र० श० भाग शहरों में तथा ६२ प्र० श० भाग कस्बों में रहता है। इन नगरीय क्षेत्रों में १०३ लाख घर हैं। इसलिए ११ लाख घर अथवा ११ प्र० श० घर गंदी बस्तियों के मकान जैसे हैं जिनमें मनुष्यों का रहना ठीक नहीं है।

सरकारी आर्थिक सहायता की आवश्यकता—गंदी बस्तियों की गंदगी का प्रभाव केवल वहां के निवासियों के स्वास्थ्य और कार्यक्षमता पर ही नहीं पड़ता है बल्कि संपूर्ण नगर के लोगों के जीवन पर भी पड़ता है। गंदी बस्ती के लोगों को सामान्य किराये पर कहीं दूसरी जगह बसाना असंभव हो गया है। वे जो किराया दे सकते हैं उस पर दूसरी जगह घर मिलना कठिन है। इस दशा में, एक यही मार्ग है कि नगर की सीमांतों पर भूमि को समतल करके मामूली मूल्य पर इन लोगों को "सहायता लेकर अपने-आप अपनी मदद करो" के सिद्धांत पर घर बनाने के लिए दे दी जाए। उचित इमारती सामग्री और मकान की स्वच्छता के बारे में सामान्य सलाह-मशवरा भी सहायता के रूप में दिया जा सकता है। किंतु जिनके मकान गिरा दिये गये हैं उनमें कुछ लोग

अपने भोजन और वस्त्र के व्यय से इतना रुपया फिर भी नहीं बचा सकते हैं कि उक्त सहायता का मूल्य चुका सकें। हो सकता है कि उनमें कुछ लोग नगर के भीतर से बाहरी अंचलों में जाकर बसना पसंद नहीं करेंगे। इसलिए इन लोगों को बसाने के लिए एक प्रकार की सरकारी आर्थिक सहायता की आवश्यकता होगी। यह सहायता मुख्य रूप से नगरीय बाह्य अंचलों में मिलनी चाहिए; किंतु कुछ सहायता नगर के भीतर भी चाहिए। इसका भार केंद्रीय सरकार, राज्य-सरकारों और स्थानीय निकायों को उठाना होगा।

विदेशों की स्थिति—विदेशों में भी गंदी बस्तियों की सफाई की गयी है। उनको साफ कराने का व्यय निश्चित रूप से सदा केंद्रीय अथवा संघीय सरकार के सिर नहीं मढ़ा जाता है। ब्रिटेन के १९३६ के गृह-निर्माण अधिनियम तथा अमेरिका के १९४९ के गृह-निर्माण अधिनियम तथा कनाडा के १९४४ के गृह-निर्माण अधिनियम ने केंद्रीय आर्थिक सहायता द्वारा गंदी बस्तियों की सफाई की व्यवस्था की है। कनाडा में संघीय सरकार, आर्थिक सहायता का भार प्रांतीय सरकारों तथा स्थानीय नगरपालिकाओं के साथ मिलकर उठाती है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की सिफारिशें—योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में गंदी बस्तियों को एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में ग्रहण किया था और कहा था कि इनकी सफाई करना सरकार की गृह-निर्माण नीति का एक अंग माना जाए तथा कम-से-कम बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों में गंदी बस्तियों की सफाई के साथ ही गृह-निर्माण योजना को आगे बढ़ाया जाए। उसने यह भी कहा था कि स्थानीय निकायों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है; इसलिए केंद्रीय सरकार उन्हें राज्य-सरकारों की मार्फत ऋण दे जिससे वे गंदी बस्तियों की सफाई कराने और उत्थापितों के लिए भूमि उपलब्ध करने की दिशा में आरंभिक पग बढ़ा सकें। प्रथम पंचवर्षीय योजनाओं में यह सुझाव दिया गया था कि गृह-निर्माण में जो ३८.५ करोड़ रुपये व्यय हो रहे हैं उनमें से कुछ धन-राशि प्रति वर्ष कम-से-कम व्याज पर उक्त ऋण देने में लगा दी जाए। यह व्याज-दर उस व्याज दर से आधे प्रतिशत से अधिक न होनी चाहिए जिस पर केंद्रीय सरकार राज्य-सरकारों को ऋण देती है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस समस्या को छुआ गया। राष्ट्रीय विस्तार सेवा खंडों और सामुदायिक योजनाओं (National Extension Service and Community Projects) के अंतर्गत औद्योगिक क्षेत्रों तथा गांवों तक से गंदगी दूर करने का काम हाथों में लिया गया। लगभग २९,००० नये घर बनाये गये और इतने ही पुराने घरों का जीर्णोद्धार किया गया। फिर भी इस समस्या को छुआ ही गया समझना चाहिए। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में गंदी

बस्तियों की सफाई तथा भंगियों के मकान बनवाने के लिए २० करोड़ रुपये निश्चित किये गये हैं। भंगियों के मकान बनवाने पर बल इसलिए दिया गया है कि ये लोग प्राय: गंदी बस्तियों में रहते हैं। देहातों में गृह-निर्माण के लिए भी दस करोड़ रुपये की राशि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निर्धारित की गयी है।

समस्या का महत्त्व—गंदी बस्तियों की सफाई की समस्या एक राष्ट्रीय समस्या है और उसे राष्ट्रीय आधार पर ही हल करना चाहिए। यदि वर्तमान गंदी बस्तियों को समेटना तथा नयी गंदी बस्तियों को उगने से समय रहते रोकना है तो इस विषय पर गंभीरता से ध्यान देना होगा। यदि हम इस समस्या पर दूसरी तरह से विचार करें तो भी यह स्पष्ट हो जाएगा कि गृह-निर्माण में सबसे पहले सहायता उन लोगों को ही मिलनी चाहिए जो गंदी बस्तियों में रहते हैं। वास्तव में, गंदी बस्तियों की सफाई की समस्या सामाजिक अव्यवस्था से संबंधित है। इसका अभिप्राय उन लोगों की सहायता करना है जो बड़े नगरों में समाज के दुर्बल अंग हैं। वे समाज के ढांचे में बोझिल बन गये हैं और यदि उनकी समस्या हल नहीं होती है तो समाजवादी नमूने के समाज की रचना कठिन हो जाएगी।

गंदी बस्तियों के विस्तार की रोकथाम—गंदी बस्तियों के फैलाव को रोकने के लिए दो उपाय सामने आते है : पहला, नगरपालिकाओं के उप-नियमों का कठोरता से पालन किया जाए, और इस बारे में उदार लोकमत को जगाया जाए कि गंदी बस्तियों को यथाशीघ्र समाप्त करना चाहिए; दूसरा, प्रत्येक नगर के लिए एक "मास्टर प्लान" बनाया जाए और जो नगर निरंतर फैलते जा रहे हैं उनमें यह प्लान पहले आरंभ करना चाहिए। मास्टर प्लानों को अमल में लाने के लिए स्थानीय प्राधिकारियों को क्षेत्रीय परियोजनाएं कार्यपरिणत करने, भूमि के प्रयोग पर नियंत्रण करने तथा ऊलजलूल गृह-निर्माण की रोकथाम करने का अधिकार होना चाहिए। जहां आवश्यक हो, नये प्राधिकारियों को नियुक्त किया जाए।

पुनर्वास के सिद्धांत—भविष्य में गंदी बस्तियों के बसने की रोकथाम जहां की जा रही है, वहां यह भी आवश्यक हो गया है कि विद्यमान गंदी बस्तियों की समस्या को भी दृढ़ता से निबटाया जाए। ऐसी बस्तियों को जड़-मूल से साफ कर देने के अलावा फिलहाल कोई चारा नहीं है। किंतु इस रास्ते के तीन बड़े रोड़े हैं—गंदी बस्तियों की भूमि के दाम बढ़े-चढ़े हुए हैं; इनके निवासी अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन के अस्त-व्यस्त हो जाने के डर से नगर के बाहरी अंचलों में जाकर नहीं बसना चाहते हैं; इन क्षेत्रों में नये मकान उस किराया-दर पर खड़े करना चाहिए जिसे पुनर्वासी आकर चुका सकें; किंतु यह एक विकट प्रश्न बन गया है।

किसी गंदी बस्ती को साफ करते समय निम्नांकित दो बातें गांठ बांध लेनी चाहिए : (१) गंदी बस्तियों के लोगों के जीवन में कम-से-कम उथल-पुथल होने पाये और उनको फिर बसाते समय अपने काम-काज के स्थल से अधिक दूर न पटक देना चाहिए, यथा संभव उन्हें निकट ही रखना चाहिए; (२) नये घरों का किराया उनके बूते से बाहर न होना चाहिए—इस किराये की उच्च सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए।

गंदी बस्तियों के निवासी नये मकानों का किराया देने में समर्थ हो सकें, इसलिए नयी बस्तियों में सफाई तथा आवश्यक सुविधाओं के न्यूनतम मानदंड की व्यवस्था पर ही जोर देना चाहिए। जहां गंदी बस्तियों के निवासी बहुत थोड़ा किराया ही दे सकते हों, वहां स्वयं राज्य-सरकारों तथा स्थानीय निकायों को चाहिए कि वे सुव्यवस्थित प्लॉट, इमारती सामग्री, जीवन की आवश्यक सुविधाओं आदि का पूर्ण प्रबंध कर दें। फिर लोग स्वयं अपने घर बना लेंगे। घर के नमूने उनको बता दिये जाएंगे और जहां तक हो सकेगा, वे उनका अनुकरण करेंगे। वे "अपनी मदद अपने-आप करो" तथा आपसी सहायता के आधार पर मकान बनाने में समर्थ हो सकते हैं।

सहायता से अपने पैरों खड़े होना—अपने-आप अपने मकान बनाने से अनेक देशों में स्वीकृत मानक के मकान बनने की संभावना नहीं है। उनका मानक गिर जाना स्वाभाविक है। जब किसी सामूहिक कार्य को सरकारी धन, सामग्री, औजार तथा प्राविधिक ज्ञान की सहायता मिलती है तब सामुदायिक सेवा और सुविधा का द्वार खुल जाता है। कितने ही प्रदेशों और देशों में इस प्रकार की सहायता से गृह-निर्माण तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम चालू हैं।

भावी कार्यक्रम

गृह-निर्माण का महत्त्व—अपने लिए घर ढूंढ़ना मनुष्य की एक आधारभूत आवश्यकता है। जो कामगार अपना घर छोड़ कर औद्योगिक नगरों में काम करने जाते हैं उनके लिए घर की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। जब उनकी यह आवश्यकता पूरी नहीं की जाती है तब वे स्वयं अपने लिए घर ढूंढ़ने लगते हैं और इस दशा में वे सस्ते-से-सस्ते किराये पर मकान लेते हैं चाहे वे कितने ही गंदे इलाके में क्यों न हों और उसमें प्रकाश तथा हवा की व्यवस्था का नाम भी नहीं होता है! इन मकानों में भीड़भाड़ है या मैले-कुचैले और धूल भरे हुए हैं, इसकी पर्वाह उन्हें नहीं होती है। इसलिए, किसी फैक्टरी का प्रशासन अथवा उसके नियम कितने ही अच्छे क्यों न हो, जब तक उसके कामगारों के रहने के लिए अच्छे घरों तथा अच्छे रिहायशी इलाकों का

प्रबंध नहीं होता है तब तक वह कामगारों की कोई टिकाऊ सेवा नहीं कर सकती है।

घरों की गंदगी का लोगों की तंदुरुस्ती तथा कार्य-क्षमता पर बुरा असर पड़ता है। अच्छे साफ-सुथरे घरों का अर्थ ही यह है कि लोग स्वस्थ और प्रसन्न रह सकें। बुरे घरों से गंदगी, और रोग बढ़ते हैं, लोग मद्य पीने लगते हैं और उनमें दुराचार तथा अपराध घर करने लगते हैं। अच्छा आवास और स्वास्थ्य का दामन-चोली जैसा संबंध होता है और दोनों से मनुष्य की कार्य-क्षमता बढ़ती है। इसका परिणाम यह होगा कि देश का उत्पादन बढ़ सकता है। अच्छे और साफ-सुथरे घरों से उनमें रहने वालों की आदतें अच्छी बनती हैं और उनकी रुझान जीवन की शुचिता की ओर हो चलती है। गंदे मकान से मनुष्य के चित्त में खटास बनी रहती है और उसका उत्साह क्षीण हो जाता है। सामान्य भारतीयों के आवास की बुरी अवस्था को देखते हुए अच्छे घरों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। सारांश यह है कि अधिक उत्पादन, स्वास्थ्य और नीति-आचार की रक्षा के उद्देश्य से प्रत्येक नागरिक के लिए साफ-सुथरा घर आवश्यक है। इसलिए गृह-निर्माण कार्यक्रम को सरकार की विकास योजनाओं में ऊंचा स्थान मिलना चाहिए।

नये घर बनवाना एक राष्ट्रीय आवश्यकता ही नहीं है बल्कि उससे देश के आर्थिक विकास में भी मदद मिलती है। उदाहरण के लिए, घर बनाने में श्रम अधिक लगता है। घर बनवाने से अधिक लोगों को रोजगार मिल जाता है। इतने थोड़े समय में किसी अन्य उद्योग में इतने अधिक मजदूरों को काम नहीं दिया जा सकता। इससे देश को किसी प्रकार का आर्थिक दबाव अथवा नुकसान भी महसूस नहीं होता है। इस शताब्दी के चौथे दशक के प्रारंभ में ब्रिटेन और अमेरिका में अन्य उद्योगों की अपेक्षा गृहनिर्माण में लोगों को अधिक रोजगार-धंधा मिल गया था। इससे सामान्यतः जीविका कमाने वालों की गिनती में वृद्धि हो जाती है।

घर बनवाने का दायित्व—घरों के प्रश्न पर विचार करते समय यह प्रश्न सबसे पहले उठता है कि घर बनवाने का दायित्व किस पर होना चाहिए? भारत में इस प्रश्न पर अब भी विवाद छिड़ा हुआ है कि घरों का निर्माण सरकार कराये या स्थानीय निकाय या नौकरीदाता। एक सुझाव यह है कि कामगारों के मकानों की व्यवस्था मालिकों को करनी चाहिए और यदि वह ऐसा न करें तो उन्हें पर्याप्त मकान-भत्ता देना चाहिए। इस बारे में उनका तर्क यह है कि अच्छे और पर्याप्त आवास के कारण कामगार की कार्यक्षमता अप्रतिहत रहने से मालिकों को ही अधिकांश लाभ पहुंचता है। अच्छे मकान में रहने के कारण कामगार काम से कम अनुपस्थित रहता है और औद्योगिक संबंध

मधुर बने रहने में सहायता मिलती है। प्रायः कामगार स्थान भी नहीं बदलता है। अन्य लोगों का कहना है कि कामगारों के मकान का दायित्व सरकार का है और सरकार तथा स्थानीय प्राधिकारियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। उनका कहना है कि घर बनाने की लागत इतनी ज्यादा होगी कि उद्योग इसका भार उठाने में समर्थ नहीं हो सकता है।

ब्रिटेन तथा यूरोप महाद्वीप में इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि राज्य तथा स्थानीय निकायों को कम आय के लोगों के लिए मकान बनवाने चाहिए। भारत के राजकीय श्रम आयोग ने इस बारे में अपना यह मत अभिव्यक्त किया था कि इन लोगों के लिए सरकार तथा स्थानीय निकाय मकान बनवाएं। राष्ट्रीय आयोजन समिति (National Planning Committee) का विश्वास था कि इनके बनवाने का दायित्व काफी अंशों में मालिक पर डाला जा सकता है। स्वास्थ्य-सर्वेक्षण और विकास समिति (Health Survey and Development Committee) १९४६ ने यह दायित्व राज्य-सरकारों पर डाल दिया था। श्रम जांच-पड़ताल समिति (Labour Investigation Committee) ने गृह-निर्माण की लागत के लिए पूंजी जुटाने का दायित्व राज्यों पर तथा उनके आवर्ती व्यय का भार मालिकों और कामगारों पर डाला था।

घर बनवाने की समस्या इतनी जबरदस्त है कि मालिक या राज्य या स्थानीय निकाय, कोई भी अकेले इसे हल नहीं कर सकता है। इस समय तो यही ठीक जान पड़ता है कि इस समस्या को मालिक, कामगार और राज्य तीनों मिल कर हल करें। यहां पर यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्वीकृत पुस्तकों से प्रकट होता है कि संसार के विभिन्न देशों की सरकारें गृह-निर्माण तथा सामुदायिक विकास के लिए दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक व्यय करने की ओर झुकती जा रही हैं। इस दिशा में सरकार को कितना व्यय करना चाहिए यह निःसंदेह उस देश को आर्थिक स्थिति पर निर्भर है।

समतल भूमि की व्यवस्था—गृह-निर्माण कार्यक्रम की कुंजी यही है कि मकानों के लिए प्लॉटों को चौरस बना कर मामूली दामों पर बेचा जाए। साधारण स्थिति के आदमियों को, यदि समतल प्लॉट कम कीमत अथवा कम दर पर पट्टे पर दिये जाते हैं तो तेजी से गृह-निर्माण कार्यक्रम की प्रगति हो सकती है। इन वर्षों में, नगरों में, विशेषकर जो तेजी से फैल गये हैं, घर बनाने के लिए समतल प्लॉटों के दाम बढ़ गये हैं। इससे तीव्रगति से गृह-निर्माण के कार्यक्रम को धक्का पहुंच रहा है। इसलिए राज्य-सरकारों तथा स्थानीय निकायों को भूमि समतल बनाने में मदद देने की आवश्यकता है ताकि गृह-निर्माताओं तथा कम-आय वाले लोगों को प्लॉट सरलता से मिल सकें।

भूमि को समतल बनाने की योजना होनी चाहिए। जिन औद्योगिक नगरों में आबादी सघन हो गयी है अथवा जिनमें विकास-कार्यक्रमों के कारण बढ़ती जा रही है, उनकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। भूमि का सट्टा रोकना चाहिए। इसके लिए नियंत्रणकारी नियम बनने चाहिए।

बड़े पैमाने पर गृह-निर्माण की योजना में भूमि उपलब्ध करने का बढ़ा-चढ़ा मूल्य तथा उपलब्धि में विलंब बाधक है। किंतु संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम १९५५ ने संविधान के अनुच्छेद ३१ में संशोधन करके राज्य-सरकारों को इस आशय का विधान बनाने का अधिकार दे दिया है कि सार्वजनिक उपयोग के लिए उन्हें जिस व्यक्ति की जायदाद की आवश्यकता पड़े उसे वे उपलब्ध कर सकती हैं और उसको उचित हानिपूर्ति देने के सिद्धांत स्थिर कर सकती हैं। इस दृष्टि से, मकानों के लिए, प्लॉटों की भूमि के अधिग्रहण में प्रगति करना आवश्यक है।

निजी क्षेत्र में निर्माण—निजी पूंजी से जो मकान बनाये जाते हैं वे प्रायः किराये पर उठाये जाते हैं। यह किराया इतना अधिक होता है कि अधिकांश लोगों के सामान्य सामर्थ्य से बाहर है। इसलिए निजी मकानों के निर्माण में सामान्य हैसियत के आदमियों को सहायता देनी चाहिए। सरकारी अधिकारियों को देखना चाहिए कि निजी क्षेत्र में मकानों के बनाने की लागत बहुत ऊंची न उठ जाए और निम्न वर्ग के लोगों की जरूरतें पूरी होती रहें।

घर बनाने के लिए धन—किसी संस्था से घर बनाने के लिए धन मिलने की व्यवस्था होनी चाहिए। अतीत में बीमा कम्पनियां यह धन देती रही हैं। किंतु अब बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण हो गया है और उधर नगरीय क्षेत्रों में नये मकानों की अधिक आवश्यकता अनुभव हो रही है। इस दशा में इस समस्या पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। नये घरों के निर्माण से लोगों को रोजगार मिलने लगते हैं और इससे पूंजी का निर्माण तथा निजी बचत भी होती है। इस दृष्टि से किसी ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो गृह-निर्माण के लिए ऋण दे सके। इस सबंध में सहकारी गृह-निर्माण सोसाइटियों की स्थापना पर विचार किया जा सकता है। ये नगरीय क्षेत्रों तथा औद्योगिक क्षेत्रों में बनायी जा सकती हैं जो ऋण देने में समर्थ हो सकती हैं।

प्रशासकीय यंत्र—आगामी वर्षों में गृह-निर्माण को प्राथमिकता देनी चाहिए। यदि इस दिशा में कोई ठोस प्रगति करनी है तो केंद्र और राज्यों के बीच सच्चा सहयोग होना चाहिए। केंद्रीय सरकार ने इस विषय का मर्म समझ कर १९५२ में गृह-निर्माण का एक पृथक् विभाग स्थापित कर दिया है।

जहां तक राज्यों का संबंध है, बहुतों में गृह-निर्माण के प्रश्न को प्रभावशाली ढंग से हल करने की पर्याप्त प्रशासकीय व्यवस्था का अभाव है। कुछ राज्यों

में गृह-निर्माण के विभिन्न अंगों पर विभिन्न विभाग विचार करते हैं, जैसे औद्योगिक गृह-निर्माण, कम-आय वालों की परियोजना के अंतर्गत ऋण-दान, स्थानीय निकायों के गृहनिर्माण कार्यक्रम, राज्य सरकारों द्वारा सीधे गृहनिर्माण, आदि की व्यवस्था विभिन्न विभागों द्वारा की जाती है। गृह-निर्माण की समस्या पर निरंतर ध्यान देना आवश्यक है और इसके लिए मकानों की आवश्यकता का सर्वेक्षण, गृह-निर्माण योजनाओं की तैयारी, भूमि की उपलब्धि, गृह-निर्माण सामग्री का संग्रह, विभिन्न स्तरों पर प्रविधिक कर्मचारियों का संघटन तथा गृह-निर्माण योजनाओं को कार्यपरिणत करने की आवश्यकता है। किंतु जब तक राज्यों की सरकारें विभिन्न गृह-निर्माण संबंधी गतिविधियों का केंद्रीकरण करके उसके लिए एक विभाग नहीं बना देती है तब तक गृह-निर्माण की अवस्था में सुधार नहीं हो सकता है।

गृह-निर्माण उद्योग का संघटन—केंद्रीय सरकार, राज्यों की सरकारें अर्द्ध-सरकारी तथा निजी संस्थाएं और उद्योगपति गृह-निर्माण पर प्रचुर धन लगा रहे हैं। किंतु दुर्भाग्यवश गृह-निर्माता ठेकेदारों तथा कामगारों का कोई अच्छा संगठन नहीं है। जगह-जगह काम की शर्तें और ढंग भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं और काम की दरें भी विभिन्न हैं। कामगारों के प्रति मालिकों की भावना भी अच्छी नहीं होती है। किंतु गृह-निर्माण के उद्योग से बहुत से लोगों को रोजगार मिल जाता है तथा इससे बेरोजगारी के काम करने में बड़ी सहायता मिलती है, इससे इसका संघटन करना आवश्यक हो गया है।

अनुसंधान—भारत एक विशाल देश है जिसमें भांति-भांति की जलवायु मिलती है। इस दशा में इधर से उधर तक गृह-निर्माण सामग्री ढोकर ले जाना कितना कठिन और व्ययसाध्य काम बन गया है। इसलिए स्थानीय गृह-निर्माण सामग्री को उपयोग में लाना ही बेहतर है। स्थानीय मिट्टी को पकाने तथा लकड़ी और अन्य सामग्री को उपयोगी बनाने के लिए केंद्रीय तथा राज्यांतरवर्ती प्रयोगशालाओं में अनेक परीक्षण किये गये हैं। इन परीक्षणों के परिणामों का लाभ उठाना तथा उचित गृह-निर्माण सामग्री तैयार करना चाहिए।

पूर्वी पंजाब में पुनर्वास मंत्रालय ने कच्ची ईंट के बहुत से घर बनवाये हैं। करनाल मिट्टी अनुसंधान प्रयोगशाला का कहना है कि ये कच्ची ईंटें पक्की ईंटों की तरह बहुत दूर तक उपयोगी साबित हुई हैं। हीराकुड और हैदराबाद में भी विशेष प्रकार की ईंटों (water-cured bricks) का प्रयोग हुआ है। करनाल, हीराकुड, हैदराबाद और रुड़की में ऐसी मिट्टी का परीक्षण किया गया है जो वर्षा के प्रहार को झेल सके। इन परीक्षणों से जनता को अवगत करके उसे उस दिशा में बढ़ावा दिया जा सकता है।

अध्याय १०

जन-शक्ति का आयोजन

सामान्य वर्णन

भूमिका—निःसंदेह भारत की जन-शक्ति उसकी एक राष्ट्रीय निधि है; किंतु साथ ही वह एक भारी बोझ भी साबित हो रही है। यह विशाल जन-शक्ति उर्वरा भूमि, प्रचुर खनिजों, प्रभूत शस्य तथा अन्य प्राकृतिक साधनों की भांति ही बहुमूल्य है। किंतु दरिद्रता से छुटकारा पाने के लिए इस शक्ति को वैज्ञानिक ढंग से काम में जुटाना आवश्यक है। यह काम जन-शक्ति के आयोजन से ही संभव है। वर्तमान समय में कितनी जन-शक्ति श्रमिक के रूप में उपलब्ध है तथा देश के अर्थतंत्र के विकास में कितनी जन-शक्ति की खपत हो सकती है, इन दोनों बातों में समन्वय की आवश्यकता है। इसको जन-शक्ति आयोजन का गुर कहा जा सकता है। भारत में अकुशल श्रमिकों की भरमार है किंतु सीखे-सिखाये कामगारों—प्रविधिक तथा वैज्ञानिक कर्मचारियों—की कमी खटकती है। इसलिए आयोजन में इस देश की जन-शक्ति तथा सामग्री दोनों का अधिकतम उपयोग करना ही श्रेयस्कर होगा।

लोकतंत्रीय आयोजन का उद्देश्य—राष्ट्रीय अर्थतंत्र में बेरोजगारी को सहन करना कठिन होता है। भारत की जनसंख्या में प्रति वर्ष ११.२५ प्र० श० की वृद्धि होती जा रही है। इस प्रकार १५-२० लाख नये आदमियों को नया रोजगार प्रति वर्ष मिलना चाहिए। राष्ट्रीय अर्थतंत्र के विकास-काल में इस प्रकार की स्थिति का सामना केवल युद्धस्तर पर ही किया जा सकता है। देश भर में बेकारों की संख्या कितनी है, इस बारे में पर्याप्त आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। योजना आयोग के अनुसार, २५ लाख आदमी नगरीय क्षेत्रों में और २८ लाख आदमी देहाती क्षेत्रों में बेकार या बेरोजगार मिलेंगे। इस प्रकार बेकारों की कुल संख्या ५३ लाख बतायी जाती है।

भारत जैसे लोकतंत्रीय देश में विकास-योजनाओं की रचना इस प्रकार की जानी चाहिए कि उक्त निठल्लू आदमियों को काम मिल जाए। पश्चिमी देशों में उद्योगों की बड़ी उन्नति हुई है। उनके अनुभव भारत पर अक्षरशः लागू

नहीं हो सकते हैं। पश्चिमी देशों में जनसंख्या की कमी भी है और उनमें श्रम की अपेक्षा पूंजी का अधिक प्रयोग किया गया।

बेरोजगारी की समस्याओं की जांच—१९१९ में अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के वाशिंगटन-अधिवेशन ने अन्य प्रस्तावों के साथ बेकारी-अभिसमय (Unemployment Convention) संबंधी एक प्रस्ताव स्वीकार किया था जिसमें कहा गया था कि केंद्रीय सत्ता के नियंत्रण में प्रत्येक देश में सरकारी काम दिलाऊ अभिकरण स्थापित किये जाएं। १९३१ में भारत के राजकीय श्रम आयोग (Royal Commission on Labour) ने बेरोजगारी की समस्या पर विचार किया। तब उसको पता चला कि देश में बेरोजगारी की समस्या विकट बन चुकी है। आयोग का कहना था कि सरकारी काम-दिलाऊ अभिकरणों से उस बेरोजगारी की समस्या हल नहीं हो सकती है जो आर्थिक मंदी के कारण उत्पन्न होगी। ये अभिकरण श्रमिकों को यथेष्ट कार्य दिलाने और श्रमिकों को इधर-उधर पहुंचाने में सफल हो जाती हैं; किंतु रोजगारी की समस्या तो उद्योगों के विस्तार से ही हल हो सकती है। यद्यपि काम-दिलाऊ संस्थाएं रंगरूट भरती कराने में सहायता कर सकती हैं किंतु वे मालिकों पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाल सकती हैं। भारत ने अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का बेरोजगारी-संबंधी समझौता १९२१ में स्वीकार कर लिया था। किंतु उसके कार्यान्विय में उसे दो दशक से भी अधिक समय लग गया।

१९३५ के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट में बेरोजगारी प्रांतीय विषय के रूप में ग्रहण की गयी है। परिणामतः इसका निराकरण करना प्रांतीय सरकारों का काम है।

१९२७ में, संयुक्त प्रांतीय सरकार ने शिक्षित वर्ग में बेकारी कम करने के तरीके बताने के लिए एक समिति नियुक्त की थी। उसने कुछ नगरों में रोजगार ब्यूरो (Employment Bureau) खोलने का सुझाव दिया था। संयुक्त प्रांतीय सरकार द्वारा नियुक्त बेकारी जांच समिति (Unemployment Enquiry Committee) ने १९३५ में दो नियुक्ति बोर्ड (Appointment Board) बनाने का सुझाव दिया था। इनमें एक बोर्ड का काम ग्रेजुएटों (स्नातकों) तथा दूसरे बोर्ड का काम इंटरमीडियेट कालेजों, माध्यमिक स्कूलों और औद्योगिक तथा व्यावसायिक विद्यालयों के छात्रों के लिए रोजगार ढूंढ़ना था। उन्हें इस बारे में आंकड़े इकट्ठे करने का काम भी सौंपा गया था।

कानपुर श्रम जांच समिति (Kanpur Labour Enquiry Committee) ने रोजगार दफ्तरों (Labour Exchanges) द्वारा नियुक्तियों की व्यवस्था करने का सुझाव दिया ताकि नयी भरती करने में भ्रष्टाचार का दौरदौरा न होने पाए। बिहार श्रम जांच समिति ने झरिया

कोयला क्षेत्र में काम-दिलाऊ कार्यालय खोलने का सुझाव दिया ताकि किसी खान में जरूरत से ज्यादा श्रमिक न होने पाएं और न किसी खान में श्रमिकों की कमी अनुभव हो। इस समिति को आशा थी कि वह समय दूर नहीं है जब कि यह काम-दिलाऊ कार्यालय बेकारी को दूर करने में प्रशासन-यंत्र के लिए बहुत उपयोगी प्रमाणित हो सकेगा। मद्रास सरकार ने भी १९३७-३८ में इस दिशा में कदम उठाया। उसने प्रांत भर के बेकारीग्रस्त शिक्षितों के नाम पंजीबद्ध करने का प्रबंध किया। बेकारी के शिकार हुए लोगों को प्रशिक्षण देने के लिए सरकार के दिमाग में खेतिहर बस्तियां बसाने की योजना थी। जहां लोग आकर अपनी रोजी-रोटी कमा सकते और किसी-न-किसी कुटीर-उद्योग को सीख सकते थे। किंतु जब तक सरकार की यह योजना साकार होती, उसे बीच में एकाएक पदत्याग कर देना पड़ा।

बंबई सूती कपड़ा मजदूर जांच समिति (Bombay Textile Labour Enquiry Committee) १९४० ने कुछ बड़े औद्योगिक केंद्रों में काम-दिलाऊ कार्यालय खोलने की सिफारिश की थी। भारत सरकार द्वारा १९४४ में नियुक्त श्रम जांच समिति (Labour Investigation Committee) ने निजी उद्योगों में कामगारों के भरती के तरीकों की जांच की। इसका मत यह था कि यदि देश भर में काम-दिलाऊ कार्यालय खोल दिये जाएं तो वे मालिकों और काम-धंधे के इच्छुक कामगारों के संबंध जोड़ने में सहायता करेंगे और इससे नौकरी के बाजार की एक सुंदर व्यवस्था हो जाएगी।

बेकारी दूर करने के उपाय

काम-दिलाऊ कार्यालय (रोजगार दफ्तर)—ऊपर जिन समितियों का उल्लेख हो चुका है उनकी सिफारिशों को नहीं अपनाया गया। युद्धकालिक उद्योगों के लिए विभिन्न प्रकार के टेकनीकल कर्मचारियों की आवश्यकता बढ़ जाने के कारण १९४० में कानून द्वारा राष्ट्रीय सेवा श्रमिक न्यायाधिकरणों (National Service Labour Tribunals) की स्थापना की गयी। इनको श्रमिकों की मजदूरी तथा सेवा-संबंधी शर्तें निश्चित करने का अधिकार था तथा वे मालिकों पर राष्ट्रीय सेवा के लिए किसी भी कर्मचारी को अपनी सेवा से मुक्त करने के लिए दबाव डाल सकती थीं। इन अधिकरणों से काम में बड़ी मदद मिली और विभिन्न श्रमिकों की उपलब्धि तथा मालिकों की आवश्यकताओं के बारे में उन्हें काफी जानकारी मिल गयी।

पिछला महायुद्ध समाप्त होते ही विघटित सैनिकों तथा युद्ध-सामग्री बनाने-वाली फैक्टरियों के कामगारों को फिर से बसाने अर्थात् अवांतर कामों पर

लगाने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। १९४३-४४ में देश के विभिन्न भागों में अस्थायी तौर पर दस काम-दिलाऊ कार्यालय खोले गये। ज्यों ही विघटन का काम जोर पकड़ने लगा त्यों ही काम-दिलाऊ कार्यालयों की व्यवस्था के बारे में केंद्रीकरण तथा समन्वय की आवश्यकता पैदा हो गयी। इसलिए एक पुनर्वास तथा नियोजन निर्देशालय (Directorate of Resettlement and Employment) की स्थापना की गयी। १९४८ में काम-दिलाऊ कार्यालयों के द्वार अ-सैनिक श्रेणी के कामगारों के लिए भी खुल गये। इस समय देश में १२६ काम-दिलाऊ कार्यालय काम कर रहे हैं।

इन काम-दिलाऊ कार्यालयों में अधिक सामर्थ्य नहीं है; फिर भी उन्होंने अच्छी सेवा की है। जब कि बेकारी बड़े पैमाने पर फैल रही है, इन कार्यालयों से काम की अधिक आशा नहीं की जा सकती है। किंतु, युद्ध तथा देश-विभाजन के परिवर्ती दिनों में, इन्होंने मालिकों और रोजगार ढूंढ़ने वालों, दोनों की बड़ी सेवा की है।

यदि काम-दिलाऊ कार्यालयों से अच्छी तरह काम लेना है तो सरकार को कर्मचारियों की भरती के बारे में एक निश्चित नीति अपनानी होगी फिर चाहे वे कर्मचारी केंद्रीय सरकार, राज्य-सरकारों, स्थानीय निकायों, सरकारी फैक्टरियों अथवा निजी कारखानों में से किसी के लिए क्यों न चाहिए। इस प्रकार की नीति निश्चित न करने से काम-दिलाऊ कार्यालयों के कार्य में बड़ी अड़चन पैदा हो रही है।

प्रशिक्षण—भारत सरकार ने नवंबर १९५२ में एक प्रशिक्षण और रोजगार सेवा संघटन समिति (Training and Employment Services Organisation Committee) नियुक्त की जिसको देश के आर्थिक और सामाजिक विकास का ध्यान रख कर पुनर्वास और रोजगार संगठन को चालू रखने के बारे में विचार करने तथा उसकी भावी रूपरेखा के बारे में सुझाव देने का काम सौंपा गया था। इस समिति ने नौकरी के लिए नाम दर्ज कराने वाले लोगों को काम दिलाने की सुविधाओं तथा व्यावसायिक और प्रविधिक प्रशिक्षण-कार्यक्रमों पर विस्तारपूर्वक विचार किया।

देश में बढ़ती हुई बेकारी देख कर यह आवश्यक हो गया है कि काम दिलाने की स्थिति की जांच करके उसके आंकड़े सरकार तथा जनता के हित के लिए उपलब्ध किये जाएं। इसके अतिरिक्त जन-शक्ति और सामान्य आर्थिक योजना के प्रत्येक स्तर पर समन्वय किया जाए। यह समन्वय किसी भी सुसंगठित सेवा विभाग द्वारा किया जा सकता है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत ११० लाख व्यक्तियों को रोजगार मिल जाएगा तथा १५३ लाख व्यक्ति रोजगार की खोज में लगे होंगे। लोगों को

नौकरी दिलाने में काम-दिलाऊ कार्यालयों का हाथ होगा। इसलिए काम-दिलाऊ कार्यालयों को सूचनाएं इकट्ठी करने और विकास कार्यक्रम को कार्यपरिणत करने का विवरण रखने का विभाग बनाना चाहिए। समिति की सिफारिश के अनुसार, काम-दिलाऊ कार्यालयों को स्थायी रूप प्रदान करना चाहिए।

काम-दिलाऊ कार्यालयों की संख्या बढ़ाने के बारे में मतभेद है। निःसंदेह, काम-दिलाऊ कार्यालय नौकरियों के लिए स्थान पैदा नहीं कर सकते हैं लेकिन वे इतना तो करते ही हैं कि स्थानीय क्षेत्रों तथा अन्य स्थानों में जो रिक्त स्थान हों उनकी सूचना नौकरी ढूंढ़ने वालों को देकर उनको सुविधा प्रदान करें।

काम दिलाऊ कार्यालयों को उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें यदि रंगरूट भरती करने का एकमात्र साधन न बनाया जाए तो भी उसका मुख्य साधन तो बना ही देना चाहिए। इसका श्रीगणेश केंद्रीय सरकार तथा राज्य-सरकारों को करना चाहिए। उन्हें अपने सभी रिक्त स्थानों की सूचना काम-दिलाऊ कार्यालयों द्वारा देनी चाहिए तथा जो उम्मेदवार उन कार्यालयों की मार्फत आएं उन्हीं में से चुनाव करना चाहिए। जब तक यह तरीका नहीं अपनाया जाएगा तब तक प्राइवेट नौकरीदाता भी काम-दिलाऊ कार्यालयों से पूर्ण लाभ न उठाना चाहेंगे। यदि प्राइवेट नौकरीदाता और सरकार इन कार्यालयों की ओर पूरी तरह से मुड़ जाएं तो उनमें नौकरी के इच्छुक लोगों का विश्वास उत्पन्न हो जाएगा तथा अधिकाधिक लोग उसका सहारा पकड़ने लगेंगे।

यह एक बड़ी विचित्र बात है कि एक ओर देश में जहां बेरोजगारी का बोलबाला है वहां दूसरी ओर योग्य और प्रशिक्षण-प्राप्त कामगारों का अभाव है। साथ ही, देश के औद्योगिक विकास का काम जितनी तेजी पकड़ता जाएगा उतनी योग्य आदमियों की मांग और बढ़ती जाएगी।

इस स्थिति को संभालने के लिए प्रशिक्षण-प्राप्त कार्मचारियों की वर्तमान और भावी मांगों को सही ढंग से कूतना चाहिए तथा उन्हें प्रशिक्षण देने की यथेष्ट सुविधाएं जुटाना चाहिए।

प्रशिक्षित कर्मचारियों और प्रशिक्षण की सुविधाओं का निर्धारण—प्रशिक्षण-योजना के संबंध में यह बात सबसे पहले ध्यान में रखनी होगी कि प्रशिक्षण पाये हुए कर्मचारी मालिकों के काम के योग्य होने चाहिए। उत्तरोत्तर वर्धमान उद्योगों के लिए कैसे कर्मचारियों की आवश्यकता होगी, इसके लिए उन्हें उपयुक्त प्रशिक्षण देना होगा। विदेशों में जो प्रविधिक परिवर्तन हो रहे हैं और उनका इस देश के नये उद्योगों पर जो प्रभाव पड़ेगा, उनको दृष्टि में रखकर प्रशिक्षण की योजनाओं को महत्त्व दिया जा रहा है। प्रत्येक प्रविधिक उद्योग के विकास के विभिन्न चरणों में जिन कामगारों की आवश्यकता पड़ती

है, उसके प्रति सबका ध्यान जा रहा है और फिर भारत उससे अछूता कैसे रह सकता है। १९४७ में, प्रशिक्षित कामगारों के संबंध में भारत की आवश्यकता पूरी करने का प्रयास किया गया था, किंतु आगे चल कर बढ़ते हुए विकास-कार्यों के कारण वह अपर्याप्त प्रमाणित हुआ।

जब प्रथम पंचवर्षीय योजना के विकास-कार्यों के लिए सीखे-सिखाये लोगों की कमी पड़ी तब प्रशिक्षण की सुविधाएं बढ़ाने का प्रश्न सामने आया। वास्तव में, प्रशिक्षण-प्राप्त कर्मचारियों की कमी के कारण विकास की गति में अड़ंगा लग गया। इसलिए विभिन्न स्तरों पर जिम्मेदारी निबाहने के लिए प्रशिक्षण प्राप्त लोगों की गणना करना आवश्यक हो गया।

व्यावसायिक वर्गीकरण की आवश्यकता—किस प्रकार का काम करना होगा, इसका मानक निश्चित न होने की दशा में प्रशिक्षण का कार्य और भी दुरूह बन जाता है। काम की शकल निर्धारित करने में कोई सफलता अभी नहीं मिली है। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ को पश्चिमी देशों में इस प्रकार के काम में काफी सफलता मिल चुकी है किंतु भारत जैसे देशों में यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों उलझनपूर्ण बना हुआ है। अभी हाल में, ब्रिटेन ने प्रविधिक शिक्षण पर जो राजपत्र प्रकाशित किया था उसमें लिखा था कि योग्यता में प्रचुर विभिन्नता होने के कारण निम्न स्तरों के प्रविधिक कामगरों की श्रेणीबद्ध गणना करना असंभव हो गया है। यही बात अन्य औद्योगिक देशों पर भी थोड़ी-बहुत लागू होती है। जब उद्योगों की दृष्टि से चढ़ेबढ़े देश ही प्रविधिक मानक स्थिर करने में विफल रहते हैं तब भारत का क्या कहना है।

शिक्षार्थिओं का प्रशिक्षण—इस दशा में प्रशिक्षण पाने के लिए शिक्षु रखना ही ठीक होगा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में शिक्षुओं के प्रशिक्षण की सुविधाओं पर बल दिया गया है। निःसंदेह इस कार्य में भी कुछ कठिनाइयां सामने आती हैं। सबसे बड़ी कठिनाई इन पर व्यय करने के लिए रुपये की पड़ती है। यद्यपि मालिक इन शिक्षुओं को सिखाने की आवश्यकता को स्वीकार करता है परंतु धन की कमी के कारण बहुत आगे नहीं बढ़ना चाहता है। इसलिए स्वयं सरकार को इस प्रकार के कार्यक्रम चालू करना चाहिए। शिक्षुओं को काम सिखाने के लिए स्थान, धन, प्रशिक्षक तथा अतिरिक्त यंत्रों की कमी बहुत खटकती है।

मालिकों को शिक्षु इसलिए पसंद नहीं हैं कि नियमित कामगार उनकी मदद पर अपना अधिकार समझने लगता है और जब उसे यह मदद नहीं मिलती है तब वह असंतुष्ट हो जाता है। जहां ऐसी बात दिखायी दे वहां मजदूर संघों के नेताओं का कर्त्तव्य है कि वे कामगारों को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अपने विचार ऊंचे करने के लिए प्रेरणा दें।

बेकारी की समस्या हल करने के उपाय

शिक्षितों में बेकारी — इस देश के शिक्षित-वर्ग में भारी बेकारी देखने में आती है। इन बेकारों की संख्या बढ़ती जा रही है। इन लोगों को नवीकरण-शिविरों, सहकारी संगठनों, कुटीर उद्योगों तथा देहाती स्कूलों में काम देकर खपाया जा रहा है।

यद्यपि इन कार्यों से शिक्षितों में बेकारी घट रही है फिर भी इनको प्रभावशाली ढंग का उपाय नहीं माना जा सकता है। इसलिए शिक्षा-पद्धति में जड़-मूल से परिवर्तन करना होगा। जिस कम-उन्नत देश का ध्येय अपना आर्थिक विकास करना है उसके नवयुवकों को नयी आर्थिक और व्यावसायिक दिशाओं में मुड़ना होगा। इससे शिक्षा की नीति बदलनी होगी—पुस्तकीय ज्ञान की जगह व्यावहारिक ज्ञान पर बल देना होगा। यद्यपि शिक्षा-नीति की समीक्षा करने के लिए कितने ही आयोग नियुक्त हो चुके हैं और उन्होंने समय-समय पर अपने प्रतिवेदन भी पेश किये हैं, फिर भी उनकी सिफारिशों के कार्यान्वय में विशेष सफलता नहीं मिली है। इन विशेष प्रतिवेदनों में शिक्षा के प्रसार को सीमित करने पर कहीं ध्यान नहीं दिया गया है। इसके विपरीत, उन्होंने शिक्षा-प्रसार तथा विविधमुखी शिक्षा का सुझाव दिया है; किंतु वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के आधार पर शिक्षा-प्रसार से बेकार शिक्षितों की संख्या बढ़ती ही जाएगी। इसलिए उचित प्रकार की शिक्षा देना ही बेहतर होगा। महात्मा गांधी ने बुनियादी तालीम का सुझाव दिया था जिससे स्कूलों के छात्र अपनी रुचि के अनुसार शिल्पकलाओं की ओर झुक पड़ें। हमारी शिक्षा-पद्धति में छात्रों की भिन्न-भिन्न रुचिओं का कोई ख्याल नहीं रखा जाता है। इसका नतीजा यह है कि उनकी शक्ति का अपव्यय और समय का दुरुपयोग होता है और कितनों के जीवन ही बिगड़ जाते हैं। मैट्रिकुलेटों और अंडरग्रेजुएटों (उपस्नातकों) की तो इतनी भरमार है कि उन्हें काम मिलना कठिन हो गया है। यदि मैट्रिक में पहुंचने से पहले छात्र को उसकी रुचि के अनुसार मोड़ दिया जाय तो स्थिति में सुधार हो सकता है।

हमारी शिक्षा-पद्धति में एक और सुधार यह होना चाहिए कि छात्र किताबी कीड़े न बनकर व्यावहारिक ज्ञान उपार्जित करें। जहां उद्योगों में तकनीकी पर्यवेक्षकों (technical supervisors) का सम्बंध है उनके बारे में यही कहना होगा कि किताबी इंजीनियरों की अपेक्षा वे लोग अधिक आवश्यक हैं जो काम को भीतर से बाहर तक अच्छी तरह समझते हैं। ऊपर से नीचे तक पर्यवेक्षक (supervisors) इतने मर्मस होने चाहिए कि वे कामगारों की प्रत्येक हलचल से अवगत रह सकें और मौका पड़ने पर कामगारों को काम

करके दिखा दें। भारत में इस प्रकार के पर्यवेक्षकों की कमी खटकती है। इसका कारण यह है कि लोग बाबू का काम अच्छा मानने लगे हैं और सरकारी नौकरी सुरक्षित होने के कारण उधर ही भागते हैं।

देहातों में बेकारी — औद्योगिक क्षेत्रों की अपेक्षा देहातों में बेकारी की समस्या अधिक गम्भीर है। अधिकांश देहाती जनता अपनी आजीविका खेती से कमाती है; इसलिए देहातों में लोगों का मुख्य काम-धंधा खेती ही है। खेती से आय कितनी ही कम क्यों न हो, फिर भी इस देश के करोड़ों लोग उसी से चिपके हुए हैं। इसलिए भारत के किसी भी रचनात्मक कार्यक्रम में उस विशाल जन समूह का ध्यान रखना आवश्यक होगा जो देहातों में बेकार पड़ा हुआ है और जिसकी शक्ति का उपयोग करके राष्ट्र अपनी छाती तान कर खड़ा हो सकता है।

यह भी देखने में आया है कि वर्षाकाल में कुछ देहाती क्षेत्रों में जन-शक्ति की कमी खटकने लगती है। इस अवसर को छोड़ कर, वर्ष के अन्य भाग में अधिकांश देहाती जनसंख्या हाथ-पर-हाथ धरे बैठी रहती है। कृषि श्रमिक जांच (Agricultural Labour Enquiry) ने इस बात को अपने प्रतिवेदन में स्पष्ट कर दिया है।

चकबंदी का परीक्षण — शांतिपूर्वक खेती में प्रभावशाली क्रांति का स्वागत करने के लिए भारत के ३७·७ करोड़ नर-नारी चीन की ५६·२ करोड़ की आबादी से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। यदि विशाल जनसंख्या और प्रचुर प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से किन्हीं दो देशों की तुलना करनी हो तो भारत और चीन की तुलना की जा सकती है। इन वर्षों में चीन ने अपने ग्राम्य अर्थतंत्र का समूहीकरण करके उसके विकास में अनुपम गति का परिचय दिया है। भारत में लोकतंत्र होने के कारण, चीन जैसी तेजी नहीं बरती जा सकती है; किंतु हम चीन के परीक्षणों से लाभ उठा सकते हैं और उनके परिणामों में अपनी आवश्यकता के अनुसार संशोधन कर सकते हैं।

भारत में अविभक्त परिवार की व्यवस्था से गजब हो गया है। बाप की सम्पत्ति का बंटवारा होते-होते भूमि के इतने छोटे-छोटे टुकड़े हो गये हैं कि उनसे आय में कोई बचत नहीं होती है। इसी प्रकार कभी चीन में भी प्रति किसान के पास १/९ एकड़ भूमि थी। प्रकृति के प्रकोपों — अति वृष्टि और अनावृष्टि — का सामना करते हुए, चीनी किसान इस थोड़ी-सी भूमि पर गुजारा करता था। इसलिए भारत के रूप में परिवर्तन करने के लिए खेती की अवस्था में क्रांति करना आवश्यक होगा।

इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए देश भर में ऊसर-बंजर भूमि तोड़ने के लिए संगठन स्थापित करने होंगे जहां अतिरिक्त जनसंख्या को पांव जमाने का

अवसर मिल सके। एक किसान के पास अधिकतम कितनी भूमि होनी चाहिए, इसकी सीमा निर्धारित करने; जमींदारी खत्म करने; यंत्रों से खेती करने; नदीघाटी योजनाओं से सिंचाई में विस्तार करने; तथा अन्य इसी प्रकार के तरीकों से अतिरिक्त लोगों को रोजगार तथा आश्रय मिलना संभव है।

लघु उद्योग—बेकारी मिटाने के लिए जो पांच बड़े उपाय बताये गये हैं उनमें खादी, हथकरघे तथा अन्य देहाती दस्तकारी का विकास करना भी सम्मिलित है। १९५५ में ग्रामीण तथा लघु उद्योग समिति (Village and Small-Scale Industries Committee) ने इस प्रश्न पर व्यापक रूप से विचार किया था। इस समिति की सिफारिश के अनुसार, उपभोक्ता माल का अधिकांश उत्पादन बड़े उद्योगों से न होकर लघु उद्योगों से होना चाहिए। इससे प्रविधिक क्षेत्र की बेकारी कम हो जाएगी।

इस संबंध में अंबर चर्खे का आविष्कार और उपयोग उल्लेखनीय है। अंबर चर्खा का मूल्य थोड़ा होता है और ग्रामीण उससे न्यूनतम मजदूरी कमाते हुए भी अपने फालतू समय का सदुपयोग तो कर ही सकता है। इससे अपनी मदद अपने-आप करो का सिद्धांत अपनाया जा सकता है।

उपसंहार

भारत में जन-शक्ति आयोजन का मुख्य पहलू यह है कि यहां के बेकारी-ग्रस्त लोगों को काम पर लगाया जाए। प्रथम पंचवर्षीय योजना में उपभोक्ता माल की कमी को पूरा करने की ओर ध्यान दिया गया था; किंतु इससे भारत में बढ़ती हुई बेरोजगारी को दूर करने में सफलता नहीं मिली। फिर इसमें शिक्षित-वर्ग की बेकारी को कम करने की व्यवस्था पर ध्यान दिया गया।

अब सवाल इतना ही नहीं है कि वर्तमान बेकारी को दूर किया जाए। सवाल तो यह है कि देश में प्रति वर्ष २० लाख नये लोगों को रोजगार चाहिए। उनको भी वर्तमान समस्या में सम्मिलित करके नौकरी की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस समस्या पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भली भांति ध्यान दिया गया है।

संविधान में जिन निर्देशात्मक सिद्धांतों का समावेश है उनमें सबको काम-धंधा देने तथा काम करके रोजी-रोटी कमाने की गारंटी प्राप्त है। सबको कमाने-खाने और जीवित रहने का अधिकार प्राप्त है। सबके लिए इस अधिकार का उपभोग करने की एकदम व्यवस्था करना असंभव है फिर भी शिक्षित लोगों को काम-धंधे पर लगाकर इस ध्येय की ओर बढ़ने का प्रयत्न किया जा सकता है। सरकारें देश के विभिन्न भागों में खेतीबारी की व्यवस्था करके

उन पर निर्भर रहने वाले लोगों की मॉडल बस्तियां बसा सकती और उनके साथ व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र खोल सकती है, जहां पहुंच कर शिक्षित लोग घरेलू धंधों की प्रशिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। शिक्षण पाने के बाद सरकार उनको सहायता या ऋण के रूप में कुछ धन देकर उन्हें लघु उद्योग चलाने और उनसे अपनी जीविका कमाने में लगा सकती है। वह इन कुटीर उद्योगों में बेकारीग्रस्त अथवा कम-कमाने वाले शिक्षितों को अच्छी तरह काम दे सकती है।

सरकार बेकारीग्रस्त लोगों को जो धन या सहायता देती है वह लाभकारी है या नहीं ? पश्चिमी देशों तक में यह कहा जा रहा है कि काम करके जो जीविका कमाई जाती है उसमें आत्मसम्मान का भाव होता है तथा उक्त प्रकार की सरकारी सहायता तो एक प्रकार का दान है। इसलिए रोजगार देने की प्रथा डालनी चाहिए और सरकारी धन देना ठीक नहीं है।

समाजवादी समाज की रचना का ध्येय अपनाने के बाद यह स्वाभाविक ही है कि सरकार सहकारिता और उत्पादन के समूहीकरण तथा उसके वितरण पर बल देना आरंभ कर दे। एक बात और है: सरकार ने सब को काम देने का बीड़ा उठा रखा है। उसे अपना यह वचन पूरा करना चाहिए। जिनको काम-धंधे की जरूरत है, उन्हें मिलना चाहिए। सबको रोजगार देना सरकार का कर्त्तव्य है। देश की प्रत्येक विकासात्मक योजना में इस लक्ष्य को सदा सामने रखना चाहिए।

अध्याय ११

श्रमिक और श्रम-संबंधी आंकड़े

आंकड़ों का महत्त्व — पिछले महायुद्ध में यह बात मालूम हुई कि प्रशासन में आंकड़ों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। युद्ध से पहले, आंकड़े प्रशासन के एक उप-उत्पादन (गौण विषय) माने जाते थे। किंतु युद्धकाल में विभिन्न सामाजिक और आर्थिक नियंत्रणों के लिए पहले आंकड़े जुटाना आवश्यक हो गया क्योंकि उनसे नीति निर्धारित करने और योजनाओं के कार्यान्विय की सफलता को मापने का काम लिया जाने लगा। सचमुच आंकड़ों को ईंट बनाने की मिट्टी माना गया है — वे किसी भी सरकार की आत्मा और अंग कहे जा सकते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर — यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक प्रकार के आंकड़े इकट्ठे करने का काम सरकार का है। इस काम में उन्हीं तरीकों का प्रयोग करना चाहिए जिन्हें प्रगतिशील देशों ने अपना लिया है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ (I. L. O.) ने अपने अनुभव के आधार पर पहले ही इस सम्बंध में अंतर्राष्ट्रीय मानक बना रखे हैं जिनका विभिन्न देशों को अनुसरण करना चाहिए। इनका अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के अभिसमयों और सिफारिशों में उल्लेख किया गया है।

इन अभिसमयों और सिफारिशों, सांख्यिकीय विनिबंधों, और अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ द्वारा आयोजित विभिन्न श्रम-आंकड़ा सम्मेलनों के प्रतिवेदनों से विभिन्न अंशों को अपने आंकड़े-मानक तथा आंकड़े-कार्यक्रम बनाने में बड़ी मदद मिल रही है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का एक काम यह है कि वह औद्योगिक जीवन और श्रम की अंतर्राष्ट्रीय पुनर्व्यवस्था से संबंधित विषयों की जानकारी और आंकड़ों का वितरण करता है। "श्रमिक और श्रम-संबंधी आंकड़ों के अंतर्राष्ट्रीय मानकीकरण" (International Standardisation of Labour Statistics) के विनिबंध (१९४३) में आंकड़ों के न्यूनतम मानकों का उल्लेख किया गया है।

श्रम के जो आंकड़े इकट्ठे किये गये हैं उनको मोटे रूप से नीचे लिखे वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(१) उद्योगों और व्यवसाओं के अनुसार श्रमिकों और श्रम का वर्गीकरण।
(२) नौकरी और बेकारी।
(३) मजदूरी, आय और काम के घंटे।
(४) निर्वाह का व्यय।
(५) पारिवारिक जीवन।
(६) औद्योगिक दुर्घटनाएं।
(७) सामूहिक करार और औद्योगिक झगड़े।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने यह बारंबार स्पष्ट कर दिया है कि आंकड़े राष्ट्रीय उपयोग के लिए इकट्ठे किये जाते हैं और उनको अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किसी तुलनात्मक नोंकझोंक के लिए घसीटना लाभप्रद न होगा। यदि उनमें अंतर्राष्ट्रीय उपभोग के लिए किसी प्रकार का संशोधन करना अभीष्ट हो तो वह ऐसा होना चाहिए कि उनकी राष्ट्रीय उपयोगिता अक्षत ही नहीं बनी रहे बल्कि बढ़ जाए।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने विभिन्न देशों के विकास की स्थिति तथा प्रादेशिक अवस्थाओं की भी समीक्षा की है तथा उसने यह भी सुझाव दिया है कि कुछ कम उन्नत देशों को कैसे आगे बढ़ाना चाहिए। यदि कोई देश किसी अभिसमय को पूर्ण रूप से स्वीकार न कर सके तो उसे उसको आंशिक रूप से स्वीकार करने की छूट दी गयी है। यहां उदाहरण के लिए मजदूरी और काम के घंटों से संबंधित अभिसमय (कन्वेन्शन) नं. ६३ को लिया जा सकता है।

प्रादेशिक दृष्टिकोण—यद्यपि प्रगतिशील देशों के अनुभवों से लाभ उठाया जा सकता है फिर भी हरेक देश को अपनी स्थानीय अवस्थाओं के आधार पर ही अपनी उन्नति का मार्ग ढूंढ़ना होगा। तथा उसे अंतर्राष्ट्रीय मानक के स्तर पर पहुंचने का प्रयास करना होगा। देश के विस्तार, सामाजिक और आर्थिक विकास, तथा सूचना देने वाले व्यक्तियों और यूनिटों का महत्त्व आंकड़ा-संबंधी तकनीकों के संग्रह और उपयोग में अनुपेक्ष्य है। समृद्धिशाली देशों के तरीकों का अनुकरण आंख मूंद कर नहीं किया जा सकता है। उनमें बड़ी सावधानी से अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुकूल संशोधन करना होगा। इसलिए प्रादेशिक दृष्टिकोण की आवश्यकता सामने आ जाती है।

अमेरिका में डाक द्वारा प्रश्नावली भेज कर आंकड़े इकट्ठे किये जाते हैं। किंतु यह पद्धति भारत में सफल नहीं हो सकती है। कारण यह है कि अमेरिका की ८० प्र० श० जनता नगरों में रहती है जबकि भारत की इतनी ही जनता गांवों की रहने वाली और अनपढ़ है। इसलिए एशियाई देशों में वैतनिक कुशल कर्मचारियों द्वारा आंकड़े जुटवाने होंगे जो अपना काम भलीभांति करना

जानते हों, और स्थानीय क्षेत्रों की अवस्थाओं की जानकारी रखते हुए चतुराई से लोगों से उचित प्रश्न पूछ सकें। देश के विस्तार के कारण भी जांच की कठिनाइयां बढ़ जाती हैं। एशिया की आबादी समूची दुनिया की आधी आबादी से अधिक है; इसलिए जो जांच भारत में करनी होगी उसका क्षेत्र इतना विस्तृत होगा जितना रूस को छोड़ कर समस्त यूरोप का है।

स्वैच्छिक सहयोग बनाम राजकानून द्वारा थोपी गयी अनिवार्यता—अमेरिका में श्रम-आंकड़ा शाला (Bureau of Labour Statistics) स्वैच्छिक सहयोग से प्रचुर आंकड़े इकट्ठी कर लेती है और जनता पर कोई भी कानूनी दवाव डालने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। वहां उद्योग अच्छी तरह संगठित हैं और मालिक आंकड़ों के संग्रह और विश्लेषण पर खूब ध्यान देते हैं। किंतु भारत तथा अन्य एशियाई देशों में आंकड़ा शालाओं का कोई सुंदर संगठन नहीं है और न अभी उन्होंने उसके महत्त्व को ही भलीभांति समझ पाया है। भारत को अपने पिछले २० वर्षों के अनुभव से मालूम है कि आंकड़ों के स्वैच्छिक संकलन से कोई खास फायदा नहीं होता है क्योंकि यहां अधिकांश मालिक अभी तक भलीभांति संगठित नहीं है और वे आंकड़ों पर कोई भरोसा नहीं करते हैं। इस समय केवल कानूनी दबाव से ही यहां आंकड़े मिलते हैं और इसीलिए औद्योगिक आंकड़ा अधिनियम (Industrial Statistics Act) बनाया गया है जिससे फैक्टरियों और श्रमिकों के बारे में आंकड़ों का संकलन संभव हो सके।

भारत में श्रम-आंकड़ों का इतिहास

तदर्थ जांच (Ad Hoc Enquiries)—१९३० में राजकीय श्रम आयोग (Royal Commission on Labour) ने यह कहा था कि तथ्यों के आधार पर नीति निर्धारित करनी चाहिए; और जब तक तथ्य ठीक न होंगे तब तक लक्ष्य धुंधला ही बना रहेगा। स्पष्ट है कि इसी समय भारत में आंकड़ों के महत्त्व को पहली बार स्वीकार किया गया था। जब तक सही आंकडे उपलब्ध न होंगे तब तक किसी नीति की रचना करना खतरे से खाली न होगा। सचमुच, इस समय जो आंकड़े प्राप्त हैं उनमें अधिकांश बहुत संकीर्ण हैं और वे प्रायः कुछ श्रमिक-कानूनों की क्रिया की छान-फटक मात्र हैं। इसका कारण यह है कि जब श्रम के किसी भी पहलू के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करने का सवाल उठा तब कुछ सरकारी अधिकारियों की विशेष समितियां बना दी गयीं जो तदर्थ जांच कर सकें। ऐसी समितियों से क्या अधिक आशा की जा सकती थी?

मजदूरी-गणना तथा बजट-जांच विशेष ढंग से की जाती है। इनको एक ओर छोड़ दीजिए। इनके अतिरिक्त इस शताब्दी के तीसरे और चौथे दशकों

में श्रमिकों की अनेक सामान्य जांचें की गयीं जिनमें बिहार श्रम जांच समिति, बंबई कपड़ा मजदूर जांच समिति, मध्यप्रांत और बरार जांच समिति तथा कानपुर श्रम जांच समिति के नाम यहां गिनाये जा सकते हैं। यहां, आंकड़ों के संग्रह का दायित्व मुख्य रूप से राज्य-सरकारों के ऊपर था। यद्यपि बंबई जैसे बड़े औद्योगिक राज्य ने इस दिशा में गहरी दिलचस्पी दिखायी, आंकड़े इकट्ठे किये और कुछ ठोस काम भी किया, फिर भी कितने ही राज्य इसमें पिछड़े बने रहे।

आंकड़े संग्रह करने का श्रीगणेश—पिछले युद्धकाल में केंद्रीय सरकार ने राज्यों द्वारा आंकड़े संग्रह करने की क्रियाओं में समन्वय का प्रयास किया और श्रम-संबंधी आंकड़ों को अखिल भारतीय पैमाने पर इकट्ठे करने की दिशा में भी पग उठाया। औद्योगिक आंकड़ा अधिनियम (Industrial Statistics Act) १९४२ ने राज्य-सरकारों को केंद्रीय सरकार के निर्देशानुसार विभिन्न श्रम-संबंधी आंकड़ों को जुटाने का अधिकार दे दिया। इसलिए विभिन्न राज्यों की आंकड़ा-विषयक हलचलों में समन्वय करने के लिए श्रम-विभाग में एक आंकड़ा-शाखा स्थापित हुई। सरकार ने देश भर के औद्योगिक केंद्रों में पारिवारिक बजट जांच के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया ताकि निर्वाह-व्यय के सूचकांक मालूम हो सकें। तदर्थ जांच द्वारा नौकरी के विभिन्न क्षेत्रों में श्रम-अवस्थाओं की सूचना पाने के लिए श्रम जांच-पड़ताल समिति (Labour Investigation Committee) नियुक्त की गयी। युद्ध के बाद, केंद्रीय सरकार ने स्थायी रूप से एक श्रमिक-ब्यूरो (Labour Bureau) स्थापित कर दी जिसको लगातार आंकड़े संग्रह करने, निर्वाह-व्यय के सूचकांक तैयार रखने, श्रम जांच-पड़ताल समिति द्वारा संकलित आंकड़ों की तालमेल बैठाने और श्रम-समस्याओं की गवेषणा करने का काम सौंपा गया। इतना होते हुए भी, ये आंकड़े देश की आवश्यकता के लिए पर्याप्त रूप से तब उपयोगी हो सकते हैं जब उनको और अधिक व्यापक रूप से संकलित किया जाएं।

रोजगार

युद्धकाल में जन-शक्ति की कमी तथा मांग और पूर्ति के सिद्धांत के कारण नौकरियों तथा श्रमिकों का आपसी महत्त्व बढ़ गया था। युद्धोत्तरकाल में नौकरियों के आंकड़ों का महत्त्व और भी बढ़ गया क्योंकि राष्ट्रीय अर्थतंत्र में रोजगार-संबंधी नीति अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध होती हैं। एशियाई देशों में जिनमें औद्योगिक उन्नति हो रही है, कितने आदमी खेतीबारी से निकल कर

उद्योगों में खपते जा रहे हैं, यह जानने से उनकी औद्योगिक प्रगति का ज्ञान हो सकता है। इसलिए आंकड़ों से कितनी अधिक जानकारी हो सकती है, यह स्पष्ट हो जाता है। इसके अलावा केंद्रीय सरकार तथा राज्यीय सरकारों को आंकड़ों से काफी मदद मिलती है। श्रमिक-शक्ति के ढांचे का ज्ञान हुए बिना सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था भली-भांति नहीं हो सकती है।

भारतीय आंकड़े—भारत में फैक्टरियों, खानों, चाय, आदि के बागों तथा रेलों के आंकड़े इस समय मिलते हैं। इनमें कुछ आंकड़े तो पिछले ५० वर्षों से भी अधिक समय से उपलब्ध हो रहे हैं।

राज्यीय सरकारें फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत फैक्टरी-संबंधी आंकड़े संकलित करती हैं। केंद्रीय सरकार उनकी भले प्रकार से चढ़ाई करती है। इन आंकड़ों से निम्नांकित तथ्य स्पष्ट होते हैं :

(१) प्रत्येक राज्य में फैक्टरियों की संख्या, इसका वर्गीकरण उद्योगों के अनुसार किया जाता है; इनमें बारहमासी और मौसमी फैक्टरियों का उल्लेख अलग-अलग होता है;
(२) प्रतिदिन उनमें काम करने वाले कामगारों की औसत संख्या दी जाती है; उस संख्या का राज्यगत और उद्योगगत वर्गीकरण किया जाता है;
(३) लिंग-भेद और आयु के अनुसार कामगारों का वर्गीकरण किया जाता है। आयु से तात्पर्य है वयस्क, किशोर अथवा बालक। कपड़ा मिलों, जूट मिलों, इंजीनियरिंग तथा धातुओं और खनिजों के उद्योगों में भी इसी प्रकार का वर्गीकरण होता है।

टैक्सटाइल कमिश्नर सूती कपड़ा उद्योग के नौकरी-संबंधी आंकड़े अखिल भारतीय आधार पर प्रति मास प्रकाशित करते हैं।

खानों का मुख्य निरीक्षक (Chief Inspector) खान अधिनियम के अंतर्गत खानों के आंकड़े अपने वार्षिक प्रतिवेदन में प्रकाशित करता है। उसमें कामगारों की कुल वार्षिक उपस्थिति तथा औसत दैनिक उपस्थिति का विवरण होता है। इस उपस्थिति का वर्गीकरण—भूगर्भ, खुले में तथा ऊपर, इन शीर्षकों के अंतर्गत किया जाता है। उनका लिंगगत वर्गीकरण भी होता है तथा पुरुष कामगारों का उनके मुख्य व्यवसाय के अंतर्गत भी वर्गीकरण किया जाता है। प्रत्येक खनिज, जैसे कोयला, अभ्रक, मैंगनीज, आदि के अंतर्गत भी आंकड़े अंकित किये जाते हैं। १९५१ से कोयला खानों के संबंध में खानों के मुख्य निरीक्षक द्वारा मासिक आंकड़े भी प्रकाशित किये जाने लगे हैं।

चाय आदि के बागों (Plantations) के आंकड़े राज्यीय सरकारों और जिला अधिकारियों के स्वैच्छिक सहयोग से इकट्ठे किये जाते हैं। वार्षिक प्रकाशनों में चाय, काफी तथा रबड़ के बागों में काम करनेवाले कामगारों की औसत संख्या के आंकड़े मिल सकते हैं। असम के चाय-बागों में बाहर से आने वाले जो कामगार काम करते हैं उनके विस्तृत आंकड़े उपलब्ध हैं। चाय जिला प्रवासी श्रमिक अधिनियम (Tea Districts Emigrant Labour Act) १९३२ के अंतर्गत जो विवरण संकलित होता है उनसे उक्त आंकड़े मिल जाते हैं। रेलवे बोर्ड के वार्षिक प्रतिवेदनों से दैनिक तथा मासिक मजदूरी पर काम करने वाले, विभिन्न श्रेणियों के कामगारों की संख्या का पता चलता है। लगभग २९ उत्पादक उद्योगों की वार्षिक गणना के प्रतिवेदनों से भी नौकरियों के विषय में कुछ आंकड़े मिल जाते हैं।

यद्यपि श्रमिक-ब्यूरो द्वारा बड़े बंदरगाहों, ट्रामों, डाक-तार, राज्याधिकृत मोटर परिवहन, लोककर्म तथा कुछ बड़ी नगरपालिकाओं के कर्मचारियों के आंकड़े प्रायः इंडिअन लेबर ईअर बुक (भारतीय श्रमिक वार्षिकी) में प्रकाशित करने का प्रयास किया जाता है फिर भी इस दिशा में विश्वसनीय तथा क्रमबद्ध आंकड़े नहीं मिलते हैं।

जिन अंचलों के आंकड़े प्राप्त भी हैं वे सर्वांशतः पूर्ण नहीं हैं। उनमें कुछ न कुछ कमी दिखाई देती है। फैक्टरियों का ही उदाहरण लीजिए: ये आंकड़े कुछ राज्यों की फैक्टरियों के ही हैं हालांकि बुनियादी आंकड़े सभी राज्य की फैक्टरियों के दर्ज किये गये हैं। इन आंकड़ों में प्रायः वे छोटी फैक्टरियां भी नहीं हैं जो बिजली से चलती हैं किंतु जिनमें १० कामगार से कम काम करते हैं। खानों के संबंध में पत्थर, मिट्टी, चूना तथा छोटी खुदाई का काम करनेवाली खानों के आंकड़े पूरी तरह से नहीं मिलते हैं। बागों में चाय, काफी और रबड़ के बागों के आंकड़े ही मिलते हैं। कहीं-कहीं तो आंकड़ों की मांग करने पर उत्तर ही नहीं मिलता है। ऐसे दृष्टांतों की कमी नहीं है।

जो आंकड़े प्रकाशित किये जाते हैं उनमें प्रायः एक दोष यह है कि वे समय की दृष्टि से विलंबित होते हैं। आजकल प्रायः वार्षिक आंकड़े प्रकाशित होते हैं। किंतु यह समय बहुत लंबा होता है। यदि मौसमी परिवर्तनों का अध्ययन करना अभिष्ट है तो आंकड़े मासिक होने चाहिए और वे तुरंत संकलित किये जाने चाहिए। केंद्रीय सरकार की नौकरियों के बारे में पुनर्वास और नियोजन महानिर्देशालय (Directorate General of Resettlement and Employment) मासिक आंकड़े प्रकाशित करता है। केंद्रीय आंकड़ा संगठन (Central Statistical Organisation) केंद्रीय सरकार की नौकरियों की वार्षिक गणना भी करता है।

पुनर्वास और नियोजन महानिर्देशालय पर काम-दिलाऊ कार्यालयों और प्रशिक्षण केंद्रों का दायित्व है। वह काम-दिलाऊ कार्यालयों और प्रशिक्षण-केंद्रों के बारे में आंकड़े प्रकाशित करता है। इन प्रकाशित आंकड़ों में काम-दिलाऊ कार्यालय की पंजी में नौकरी के उम्मेदवारों की वह संख्या दर्ज होती है जो प्रत्येक मास के अंत में प्रकाशित की जाती है और साथ में मोटे रूप से उम्मेदवारों का व्यवसायगत वर्गीकरण भी कर दिया जाता है। इनमें नौकरी के उम्मेदवारों, मालिकों के यहां रिक्त स्थानों, तथा विभिन्न केंद्रों में प्रशिक्षण पाने वालों के आंकड़े भी होते हैं। इन आंकड़ों से देश में रोजगार की हवा के रुख का पता चल सकता है।

भारत सरकार ने जो अखिल भारतीय खेतिहर मजदूर जांच (All-India Agricultural Labour Enquiry) जारी की थी उससे १९५०-५१ के खेतिहर श्रमिकों की अवस्था, उनके रोजगार-धंधे, बेकारी, वेतन, आय, निर्वाह के स्तर और ऋण की अवस्था के व्यापक आंकड़े उपलब्ध हो गये थे। इसको छोड़ कर, जन-गणना के प्रतिवेदनों में खेती, व्यापार, परिवहन-सेवा, कुटीर-उद्योगों, भवन और निर्माण के बारे में जो थोड़ा-बहुत विवरण दिया गया है वही उपलब्ध है। प्रथम जन-गणना १८७१ में हुई थी। तब से जन-गणना की प्रश्नावली में रोजगार तथा व्यवसाय के बारे में उत्तरोत्तर परि-वर्धन और सुधार किया गया है। किंतु, १९४१ में, युद्ध के कारण व्यावसायिक आंकड़े नहीं जुटाये जा सके। १९५१ की जन-गणना से, आर्थिक हलचलों के कारण जनसंख्या के वितरण, स्वावलंबी जनसंख्या, कमाने-वाली पराश्रित जनसंख्या तथा न-कमाने-वाली पराश्रित जनसंख्या, आदि पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। स्वावलंबी पुरुषों के तीन भेद किये गये हैं—नौकरीदाता, नौकरीकर्ता तथा स्वतंत्र कामगार। आर्थिक दृष्टि से इन सबको दस बड़े वर्गों में तथा फिर उपवर्गों में विभक्त किया गया है। किंतु ये जनगणना-संबंधी आंकड़े दस वर्षों में केवल एक बार उपलब्ध होते हैं; और फिर उनसे दैनिक प्रशासकीय कार्य तथा आर्थिक आयोजन में पर्याप्त सहायता कैसे मिल सकती है?

राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) को रोजगार के आंकड़ों की कमी बहुत खटकती थी। उसने सिफारिश की थी कि जिन क्षेत्रों में रोजगार-संबंधी आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं उन्हें इकट्ठे करने की प्रथा चालू कर दी जाए। इस सिफारिश पर उचित ध्यान देकर नौकरी-संबंधी आंकड़ों के अभाव को शीघ्र दूर किया जाए।

मजदूरी और कार्यावस्थाएं

मजदूरी अदायगी अधिनियम के अंतर्वर्ती आंकड़े—इस समय मजदूरी से संबंधित वही आंकड़े उपलब्ध हैं जो मजदूरी अदायगी अधिनियम के अंतर्गत आने वाले विवरणों से प्राप्त होते हैं। जिन कर्मचारियों को फैक्टरियों में २०० रु० मासिक से कम मजदूरी मिलती है उनके बारे में आंकड़े दिये जाते हैं। लेकिन इन आंकड़ों में एक दोष यह है कि इनमें विभिन्न फैक्टरियों के वर्ष के औसत कार्य-दिवस दिये गये हैं जबकि उनके कार्य-दिवसों में काफी विभिन्नता होती है। किंतु इस दोष को दूर करने के लिए मौसमी फैक्टरियों, जैसे खाद्य, तंबाकू, पेय, ओटनी (gin), फैक्टरियों, आदि को अब इस श्रेणी से अलग कर दिया गया है। इससे इस श्रेणी का क्षेत्र सीमित हो जाना स्वाभाविक ही है।

मजदूरी अदायगी अधिनियम रेलवे पर भी लागू होता है। इसी प्रकार के आंकड़े रेलवे में भी संकलित किये जाते हैं।

खानों में कमाई—अभी हाल में यह अधिनियम कोयला खानों पर लागू हो गया है किंतु उक्त प्रकार के आंकड़े इस क्षेत्र में ठीक ढंग से इकट्ठे नहीं किये गये हैं। खानों के मुख्य निरीक्षक के वार्षिक प्रतिवेदनों में जो आंकड़े मिलते हैं उनके अतिरिक्त और कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

अन्य क्षेत्रों के आंकड़े—श्रमिकों की कमाई के बारे में सूचना का जो दूसरा स्रोत है वह प्रवासी श्रमिक नियंत्रणकर्ता (Controller of Emigrant Labour) के वार्षिक प्रतिवेदन हैं। असम के चाय बागों में काम करने वाले कामगारों की औसत कमाई के आंकड़े वर्ष में दो महीनों के आंकड़ों के आधार पर दिये जाते हैं। २९ उद्योगों के अंतर्गत विनिर्माणकारक उद्योगों की गणना तथा रेलों के बारे में रेलवे बोर्ड की वार्षिक रिपोर्टों में उस कुल वेतन के संबंध में कुछ आंकड़े दिये होते हैं जो संबंधित क्षेत्रों में एक वर्ष के भीतर बांटा जाता है।

प्रगतिशील देशों में मजदूरी के आंकड़े—जहां भारत में मजदूरी तथा कमाई के आंकड़ों का अभाव खटकता है वहां प्रगतिशील देशों में कृषि समेत सभी प्रमुख आर्थिक शाखाओं में दी जाने वाली मजदूरी के विस्तृत विवरणों की भरमार रहती है। अमेरिका में मजदूरी और आय के विभिन्न उतार-चढ़ावों का क्रमबद्ध प्रकाशन किया जाता है। प्रत्येक विवरण में निश्चित नीति और कसौटी का समावेश होता है। कुछ में लगभग २०० उद्योगों की औसत साप्ताहिक कमाई, प्रति घंटे की कुल कमाई, व्यय करने योग्य कमाई का उतार-चढ़ाव, शहरी मजदूरी-दरों का सूचकांक और कुछ चुने हुए व्यवसायों की मजदूरी-दरों का सूचकांक दिया जाता है। ब्रिटेन में श्रम मंत्रालय के मासिक

राजपत्र में औसत साप्ताहिक कमाई और विनिर्माणकारी उद्योगों तथा प्रमुख अविनिर्माणकारी उद्योगों के सूचकांक तथा मजदूरी-दरों के चालू संशोधन दिये जाते हैं।

काम के घंटे—भारत में काम के घंटों के जो आंकड़े मिलते हैं वे बहुत अधूरे हैं। खानों को छोड़ कर अन्य क्षेत्रों में इनकी कोई क्रमिक अंकमाला नहीं है। विनिर्माणकारी उद्योगों की गणना के प्रतिवेदनों में संबंधित उद्योगों के वर्ष भर के श्रमिक-दिवसों का कुल योग दिया होता है। फैक्टरी अधिनियम की कार्यवाही के प्रतिवेदनों में पुरुषों और स्त्रियों के सामान्य साप्ताहिक घंटों के अनुसार फैक्टरियों का वितरण दिखाया जाता है। अभी तक फैक्टरियों के औसत साप्ताहिक घंटों के क्रमवार आंकड़े निकालने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का अभिसमय नं० ६३—इस अभिसमय का संबंध प्रमुख खनन तथा विनिर्माणकारी उद्योगों के मजदूरों की मजदूरी तथा उनके काम के घंटों के आंकड़ों से है। इन उद्योगों में भवन, निर्माण तथा कृषि भी आ जाती है। इस अभिसमय को थोड़ा-थोड़ा करके स्वीकार किया जा सकता है। इस अभिसमय के अनुसार, सभी मजदूरी करने वाले लोगों की कमाई के आंकड़ों तथा काम के वास्तविक घंटों का संकलन होना चाहिए। ये आंकड़े सभी संस्थानों से संबंधित होने चाहिए या प्रतिवर्ष उनसे नमूने के रूप में ग्रहण किये जाने चाहिए। इन्हें वर्ष में एक बार अथवा यदि संभव हो तो इससे कम अवधि में नियमित रूप से इकट्ठा करना चाहिए। कमाई की स्थिति के सामान्य उतार-चढ़ाव को जानने के लिए सूचकांक भी बनाने चाहिए। तीन वर्षों में या इससे कम अवधि में एक बार लिंग-भेद के अनुसार पृथक्-पृथक् आंकड़े दर्ज करने चाहिए। इसी प्रकार प्रौढ़ों और किशोरों के भी पृथक-पृथक आंकड़े होने चाहिए। इसी प्रकार समयानुसार मजदूरी-दरों और काम के सामान्य घंटों तथा उनके सूचकांकों को सामूहिक करारों विवाचन-पंचाटों, कानून और नियम-विनियमों, और मालिकों तथा कामगारों के संगठनों की सहायता से इकट्ठा करना चाहिए। विभिन्न उद्योगों के मुख्य व्यवसायों के आंकड़े अलग-अलग और कम दर्म्यानी अवधि के बाद देना चाहिए। यह अवधि तीन वर्षों से अधिक किसी हालत में न होनी चाहिए।

खेतीबारी के आंकड़े संकलित करने की दर्म्यानी अवधि दो वर्षों से अधिक नहीं होनी चाहिए। कृषि की विशेष अवस्था तथा ग्राम्य क्षेत्रों में मजदूरी की प्रारंभिक अवस्था के आंकड़ों को देखते हुए, विभिन्न देशों में अपनी स्थिति के अनुसार ये आंकड़े मजदूरी या कमाई से संबंध रखते हैं।

इस अभिसमय में उसके सभी अंशों को स्वीकार करने, अथवा उसके कृषि-

संबंधी अंशों को स्वीकार करने की छूट दी गयी है। इसमें या तो (अ) वास्तविक कमाई-संबंधी या (ब) मजदूरी-दर संबंधी अंशों को स्वीकार करने की छूट दी गयी है। इसके अतिरिक्त उसमें कृषि और उन कुछ अन्य क्षेत्रों को छोड़ देने की व्यवस्था है जहां इस समय उचित प्रशासकीय संगठन न होने के कारण आंकड़े उपलब्ध नहीं हो सकते हैं।

विस्तार की आवश्यकता — इस समय भारत में मजदूरी-दरों तथा काम के घंटों की संक्षिप्त अंक-मालाएं उपलब्ध हैं। किंतु मजदूरी-दरों, भत्तों, मजदूरी-भुगतान-पद्धतियों, काम के घंटों तथा पारियों (shifts) और कार्यावस्थाओं के बारे में विस्तृत आंकड़ों की आवश्यकता है। ये आंकड़े प्रायः व्यापक पूछताछ से ही इकट्ठे हो सकते हैं। श्रमिक-ब्यूरो इसी दृष्टि से सर्वेक्षण कर रहा है ताकि श्रम जांचपड़ताल समिति के प्रतिवेदनों में जिन उद्योगों का उल्लेख रहता है उनमें कुछ उद्योगों के आंकड़े अपटुडेट (अभिनव) किये जा सकें। मजदूरी-संबंधी आंकड़ों का मानक स्थिर करना आवश्यक है। उनका व्यावसायिक रूप से उचित संकलन और विश्लेषण करना होगा। इनके अध्ययन से अंतः-औद्योगिक, अंतर्प्रादेशिक तथा अंतर्व्यावसायिक स्थिति सामने आ जानी चाहिए; कमाई के स्तरों की दृष्टि से श्रमिक-शक्ति के वितरण का नकशा आंखों के सामने खिंच जाना चाहिए; तथा एक अवधि के विभिन्न उतार-चढ़ावों का पता चल जाना चाहिए। ये संग्रहीत आंकड़े विशेषकर अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के अभिसमय नं० ६३ के भाग २ की पद्धति पर आधारित होने चाहिए।

मालिक-मजदूर संबंध

मालिक-मजदूर संबंधों के जिन प्रमुख विषयों के आंकड़े इकट्ठे करने चाहिए वे हैं औद्योगिक झगड़े और मजदूर संघ। भारत में इन दोनों विषयों के एक चौथाई शताब्दी से भी अधिक काल के आंकड़े मिलते हैं।

मालिक-मजदूर संबंधों का महत्त्व बढ़ रहा है और भारतीय श्रमिकों में नयी शक्ति का संचार हो रहा है। इस कारण औद्योगिक झगड़ों के आंकड़ों का महत्त्व बढ़ना स्वाभाविक है क्योंकि उनसे मालिक-मजदूर संबंधों के सूचकांक प्रकट होते हैं। इनसे यह ज्ञात हो जाता है कि कामबंदी के कारण उद्योगों को क्या हानि हुई। कामबंदी का ज्ञान विनष्ट श्रमिक-दिवसों से हो जाता है। ये आंकड़े बहुत ही स्पष्ट और सही होने चाहिए क्योंकि इनका जिन लोगों से संबंध होता है वे बहुत ही जोशीले व्यक्ति होते हैं; और इसका मालिकों तथा कामगारों के आपसी संबंधों पर प्रभाव पड़ता है।

इस समय हड़ताल और तालेबंदी से पैदा होने वाले विवादों की संख्या का मासिक संकलन किया जाता है। उनसे प्रभावित कामगारों, विनष्ट श्रमिक-

दिवसों, उनके कारणों, परिणामों, कामबंदी के दिनों, आदि की संख्या भी लिखी जाती है। किंतु कुछ राज्य ही इन आंकड़ों को संकलित करते हैं। इन आंकड़ों के स्वैच्छिक संकलन की पद्धति तथा उनकी विशुद्धता पर कभी-कभी संदेह प्रकट किया जाता है। यदि आंकड़ा संग्रह अधिनियम (Collection of Statistics Act) के अंतर्गत कुछ राजनियम जारी कर दिये जायें तो इस कठिनाई का हल निकल सकता है। समस्त आंकड़ों में एकरूपता लाने के लिए नियमों द्वारा परिभाषा-संहिता, संकलन-पद्धति तथा अन्य आवश्यक विषय निर्धारित कर देने चाहिए।

सेवा नियोजन के आंकड़ों के अभाव के कारण भारत में सामाजिक खतरे की दो बातों का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन हो गया है। पहली बात यह है कि उद्योगों में प्रति लाख कामगारों में, जो पूरे समय के नौकर हैं, कितने झगड़े कब-कब उत्पन्न होते हैं। दूसरी बात यह है कि इन प्रति एक लाख कामगारों पीछे कितने श्रमिक-दिवस विनष्ट हो जाते हैं। यदि सेवानियोजन के मासिक आंकड़े इकट्ठे किये जाएं, तो ये आंकड़े स्वयं उपलब्ध हो सकते हैं।

मजदूर-संघ-वाद—इस समय मजदूर संघों के जो आंकड़े इकट्ठे होते हैं उनमें एक बड़ा दोष यह है कि सदस्यता, कोष तथा अन्य कुछेक विवरणों के बारे में उनसे अधूरी सूचनाएं मिलती हैं। फैक्टरियों की नौकरी में लगे मजदूरों के संघ भी प्रायः अपनी पूर्ण सूचनाएं नहीं भेजते हैं। इसलिए ये आंकड़े भी अधूरे समझने चाहिए। इसके अतिरिक्त, अपंजीकृत संघों के आंकड़े तो इनमें होते ही नहीं हैं। ध्यान रहे कि अपंजीकृत संघों की संख्या देश के कुछ भागों में काफी है। इन कमियों को दूर करना होगा।

सुरक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण

दुर्घटनाएं—कामगारों की कार्यावस्थाओं के सुधार में सुरक्षा और दुर्घटनाएं रोकने की व्यवस्थाएं अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। इन व्यवस्थाओं के लिए दुर्घटनाओं के आंकड़ों का विश्लेषण करना और उनका कारण जानना महत्त्वपूर्ण होगा।

भारत में औद्योगिक दुर्घटनाओं की सूचनाएं फैक्टरी अधिनियम, खान अधिनियम तथा दूसरे वैसे ही अधिनियमों के अंतर्गत स्थापित प्रशासन द्वारा इकट्ठी होती हैं। फैक्टरियों के बारे में फैक्टरियों के मुख्य निरीक्षक (Chief Inspector) के वार्षिक प्रतिवेदन से, खानों के बारे में खानों के मुख्य निरीक्षक के वार्षिक प्रतिवेदन से, जहाजी घाटों के श्रमिकों के बारे में फैक्टरियों के मुख्य सलाहकार (चीफ एडवाइजर) के वार्षिक प्रतिवेदन से, रेलों के बारे में रेलवे बोर्ड के वार्षिक प्रतिवेदन से महत्त्वपूर्ण आंकड़े नियमित

यता और बीमारी की सहायता का दायित्व धीरे-धीरे संभालता जा रहा है। वह समय दूर नहीं है जबकि इस निगम तथा उसके प्रादेशिक अभिकरणों से इस बारे में बेहतर आंकड़े मिलने लगेंगे।

स्वास्थ्य और अनुपस्थिति—यद्यपि श्रमिक-ब्यूरो द्वारा कुछ उद्योगों में बीमारी के कारण अनुपस्थित रहने वाले कामगारों के आंकड़ों का संग्रह किया गया है फिर भी उनसे कामगारों के स्वास्थ्य की जानकारी नहीं मिलती है। अनुपस्थिति के बारे में अब जो आंकड़े इकट्ठे किये गये हैं वे बहुत थोड़े हैं। लोहा और इस्पात, सीमेंट, दियासलाई तथा शस्त्रास्त्र उद्योगों के मासिक कागजों से जो आंकड़े मिलते हैं उनसे अनुपस्थिति का भी कुछ पता चलता है। कपड़ा मिलों तथा कुछ अन्य उद्योगों में अनुपस्थिति के आंकड़े मिलते हैं; किंतु ये स्थानीय ढंग के होते हैं। सभी विनिर्माणकारी कारखानों, चाय, आदि के बागों तथा अन्य उद्योगों में अनुपस्थिति तथा बीमारी के क्रमबद्ध आंकड़े संकलित करने चाहिए जिससे कामगारों के स्वास्थ्य का विचार किया जा सके।

कल्याण-कार्य—कामगारों के लिए कल्याणकारी सुविधाओं, जैसे उपाहार घर, विश्रामालय, आदि की सूचनाएं धीरे-धीरे उपलब्ध हो रही हैं। ये फैक्टरियों के कामगारों के बारे में तो उपलब्ध हैं ही क्योंकि १९४८ के फैक्टरी अधिनियम में उन पर बल दिया गया है। किंतु खान अधिनियम १९५२ तथा उद्यान श्रमिक अधिनियम १९५१ के अनुबंधों को इस बारे में-लागू करना है।

श्रमिक ब्यूरो कुछ इने-गिने उद्योगों में समय-समय पर कल्याणकारी कार्यों की सूचनाएं इकट्ठा करता रहता है। इन सूचनाओं में चिकित्सा, मनोरंजन, शिक्षा, आदि की सुविधाओं तथा भविष्यनिधि और अनुग्रहधन की परियोजनाओं का भी जिक्र होता है।

व्यय तथा जीवन-स्तर

निर्वाह-व्यय के सूचकांक—निर्वाह-व्यय श्रमिक आंकड़ों और गवेषणा का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है और निर्वाह-व्यय के सूचकांकों से मजदूरी के नियमन में बड़ी सहायता मिलती है क्योंकि ये सूचकांक विश्वसनीय आधार माने जाते हैं। मजदूरी के मामले को लेकर छिड़ने वाले औद्योगिक विवादों को वैज्ञानिक ढंग से निपटाने के लिए राज्यों की सरकारों ने पिछले कुछ वर्षों से परिवार-बजट की जांच आरंभ कर दी है। कई औद्योगिक केंद्रों में यह बजट-जांच करके आंकड़े उपलब्ध किये जाते हैं। निर्वाह-व्यय के सूचकांक भी संकलित किये जाते हैं। युद्धपूर्वकाल के इन आंकड़ों की तुलना में उनको लिखा जाता है। इस प्रकार ये आंकड़े लगभग ३० केंद्रों के प्राप्त हैं। यद्यपि इन अंक-मालाओं में बड़ी भिन्नता दिखती है और इनमें किस पर अधिक विश्वास किया जाए, यह नहीं

कहा जा सकता है, फिर भी वे उपयोगी हैं। इनमें जिन विषयों का समावेश है, उनसे और उनकी संकलनपद्धति से उन पर पूर्ण विश्वास करना ठीक न होगा और उनसे निर्वाह-व्यय के उतार-चढ़ाव का सर्वांगीण तुलनात्मक अध्ययन नहीं करना चाहिए।

यदि जीवन-यापन के मानकों में तुलनात्मक भाव हो तथा विभिन्न सूचकांकीय आंकड़ों की रचना और संकलन समान आधार पर किया जाए तो विभिन्न अंक-मालाओं की तुलना की जा सकती है। भारत सरकार ने १९४० में जो जांच-न्यायालय नियुक्त किया था और उसे रेल कर्मचारियों के महंगाई-भत्ते-संबंधी मामलों की जांच का जो काम सौंपा था, उसने कहा था कि बंबई को छोड़ कर देश के अन्य भागों के निर्वाह-व्यय के कोई भी सूचकांक पूरी तरह संतोषजनक नहीं हैं। इसके बाद, जांच-न्यायालय की सिफारिश के अनुसार, सरकार ने नगरीय और देहाती केंद्रों में परिवार-बजट की जांच के लिए एक संगठन की स्थापना की थी ताकि निर्वाह-व्यय के विश्वसनीय सूचकांक उपलब्ध हो सकें। देश के विभिन्न भागों के कुछ केंद्रों में १९४३-४६ में एक सामान्य नीति का अनुसरण करके नयी जांचें आरंभ की गयी थीं। परिवार-बजट इकट्ठे करके क्रमबद्ध किये गये थे। कामगारों के इलाकों में कुछ चीजों के खुदरा भावों के साप्ताहिक अंक इकट्ठे किये जाते हैं। श्रमिक ब्यूरो इन जाचों के परिणाम-स्वरूप निर्वाह-व्यय के सूचकांक तैयार करता और प्रकाशित करता है।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम १९४८ के कारण परिवार-बजटों की जांच नये सिरे से करना आवश्यक हो गया ताकि न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की जा सके। सरकार ने उन कुछ नये क्षेत्रों में भी जांच की जहां अभी तक जांच नहीं हुई थी। इन जांचों के आधार पर निर्वाह-व्यय के सूचकांक तैयार हो रहे हैं।

यद्यपि पिछले १० वर्षों में केंद्रीय सरकार ने निर्वाह-व्यय सूचकांकों की कई अंक-मालाएं जारी की हैं फिर भी राज्य-सरकारों द्वारा संकलित पुरानी अंक-मालाओं का तिरस्कार नहीं किया गया है। उनमें कितनी ही अंक-मालाएं अब भी संतोषजनक मानी जाती हैं, और सरकार उनको प्रकाशित करके उनसे लाभ उठा रही है।

अखिल-भारतीय सूचकांक—यद्यपि विभिन्न केंद्रों के लिए विभिन्न निर्वाह-सूचकांक रखना आवश्यक है फिर भी देश में सामान्य आर्थिक उतार-चढ़ाव जानने के लिए एक अखिल-भारतीय सूचकांक रखना आवश्यक है। श्रमिक ब्यूरो एक अखिल-भारतीय निर्वाह-व्यय सूचकांक बनाकर प्रकाशित कर रहा है। इस सूचकांक का आधारभूत वर्ष १९४९ है जो आधुनिक सामान्य प्रवाह का अधिक स्पष्ट दर्पण है। पहले यह वर्ष १९४४ था। यद्यपि परिवार-बजट की सूचनाएं अनेक केंद्रों से उपलब्ध हो रही हैं फिर भी अखिल-भारतीय

जीवन-निर्वाह व्यय के सूचकांक बनाने के लिए उन पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता है। ये आंकड़े लगभग एक ही समय के नहीं हैं। इनमें कुछ सूचकांक युद्ध पूर्वकालिक हैं, कुछ युद्धकालिक हैं और कुछ एक चौथाई शताब्दी तथा उससे अधिक काल के हैं। यह बड़ी असंतोषजनक बात है। इसलिए अखिल-भारतीय निर्वाह-व्यय के सूचकांकों के लिए एक विश्वसनीय आधार बनाने को नये सिरे से जांच का सिलसिला जारी करना चाहिए।

आंकड़ों की भारी कमी

जन-शक्ति का अध्ययन—भारत में श्रमिकों के आंकड़ों के बारे में क्या स्थिति है और उसमें क्या सुधार किया जा सकता है, इसका उल्लेख पिछले अनुच्छेदों में हो चुका है। स्पष्ट है कि बेकारी-संबंधी वर्तमान आंकड़ा-पद्धति में एक गहरी खाई है। आयोजन में जन-शक्ति उपलब्ध है और उसका (राष्ट्रीय श्रम-शक्ति का) वितरण कैसे करना चाहिए। पश्चिमी देशों में जन-शक्ति की कमी के कारण श्रम-शक्ति के ढांचे का विस्तृत विवरण तैयार किया गया है ताकि श्रमिकों की मांग और श्रमिकों की पूर्ति की सुचारु व्यवस्था की जा सके। भारत में जन-शक्ति आंकड़ा संग्रहकारी दल (Working Group on Manpower Statistics) की सलाह से योजना आयोग ने इस दिशा में लेखा का काम आरम्भ कर दिया है।

बेकारी के आंकड़े—भारत में एक विकट समस्या बेकारी और कम आय की है। प्रथम पंचवर्षीय योजना इस समस्या को हल नहीं कर सकी है। इसलिए दूसरी पंचवर्षीय योजना में काम-धंधों और रोजगारों का विस्तार करके बेकारी घटाने का कदम उठाया गया है। इस नीति को उचित रूप से अपनाने के लिए राज्यीय स्तर पर अलग-अलग आंकड़े होने चाहिए; तथा नगरों और देहातों के लिए भी पृथक-पृथक आंकड़े चाहिए। इनके अलावा महत्त्वपूर्ण औद्योगिक वर्गों, मध्य वर्गों तथा अन्य वर्गों के भी पृथक्-पृथक् आंकड़े चाहिए। किंतु भारत में अभी इस प्रकार के विश्वसनीय आंकड़े भले प्रकार से सुलभ नहीं हो रहे हैं।

प्रगतिशील देशों में बेकारी के आंकड़े सामाजिक बीमा संस्थाओं और मजदूर संघों के कागज-पत्रों से संकलित कर लिए जाते हैं। ये दोनों संस्थाएं भारत में अभी तक भली-भांति संगठित नहीं हो पायी हैं। इसके अतिरिक्त इन दोनों का अभी तक सभी क्षेत्रों में फैलाव तक नहीं हुआ है।

अभी तक भारत में बेकारी के आंकड़े मिलने का एक ही साधन है, और वह है काम-दिलाऊ कार्यालयों की पंजियां। किंतु राष्ट्रीय रोजगार तथा बेरोजगार की समस्या की दृष्टि से, काम-दिलाऊ कार्यालयों की पंजियों के आंकड़े न-बराबर

हैं क्योंकि उनमें श्रमिक-समुदाय के एक छोटे-से भाग का भी पूरा विवरण दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त, इन आंकड़ों को पूरी तरह प्रामाणिक मानना भूल होगी क्योंकि किसी भी क्षेत्र के सभी बेकार लोग पड़ोसी काम-दिलाऊ कार्यालय में जाकर अपने नाम दर्ज नहीं करवाते हैं।

भारत सरकार ने जो राष्ट्रीय बानगी सर्वेक्षण (National Sample Survey) की स्थापना की है वह नगरीय और देहाती क्षेत्रों में बेकारी के आंकड़ों का संग्रह समय-समय पर करती रहती है। कुछ राज्यों में भी नियोजन-सर्वेक्षण किये गये हैं। लेकिन इनमें जिन सिद्धातों और युक्तियों से काम लिया जा रहा है उनमें विभिन्नता है। इसलिए भविष्य में रोजगार से लगे हुए तथा बेकारीग्रस्त लोगों के आंकड़े इकट्ठे करने में एक निश्चित कार्यपद्धति का अनुशीलन करना चाहिए और वह पहले से निर्धारित कर लेनी चाहिए।

भारत एक विशाल खेतिहर देश है और उसकी ७० प्र० श० श्रमिक शक्ति खेतीबारी में तथा ८ प्र० श० लघु उद्योगों में लगी हुई है। उन्हें डाक द्वारा प्रश्नावली भेजकर आंकड़े प्राप्त करना सम्भव नहीं है। यह बात औद्योगिक फैक्टरियों में भले ही हो सकती है किंतु भारतीय किसान से ऐसी आशा करना भूल होगी। उनके आंकड़े तो प्रशिक्षित अंक-संग्रहकर्ता ही घूम-फिरकर एकत्र कर सकते हैं; किंतु इस दशा में, धन और उन प्रशिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ेगी जो आंकड़ों को अविलंब इकट्ठा कर सकें। इसलिए कम-से-कम व्यय करके जल्दी-से-जल्दी ये आंकड़े प्रशिक्षित कर्मचारियों द्वारा बानगी सर्वेक्षण विधि से ही जुटाये जा सकते हैं।

इस प्रकार के बानगी सर्वेक्षण संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा जैसे पश्चिमी देशों में भी उपलब्ध किये जा रहे हैं। अमेरिका में ऐसे सर्वेक्षण युद्ध-काल में जारी किये गये थे और अब मासिक सर्वेक्षण लगभग २३० केंद्रों में किया जाता है। इनमें लगभग २५,००० परिवारों से तो प्रति मास पूछताछ की जाती है। इसके बाद श्रमिक-शक्ति के आकार और रोजगारों तथा बेकारी के बारे में आकलन दिये जाते हैं। किंतु भारत इस पद्धति का आंख मूंदकर अनुकरण नहीं कर सकता है। इस देश की परिस्थितियों के अनुसार उसमें हेरफेर करना पड़ेगा।

उत्पादिता का अध्ययन—भारत में उत्पादिता-संबंधी आंकड़ों की भी कमी है। इसके कुछ आंकड़े विनिर्माणकारी उद्योगों की गणना से भले ही मिल जाते हैं। खानों के मुख्य निरीक्षक (चीफ इंस्पेक्टर) प्रति कामगार तथा प्रति व्यक्ति-पारी कोयला खानों के उत्पादन के आंकड़े प्रकाशित करते हैं। कुछ समय हुआ जबकि श्रमिक ब्यूरो ने कपड़ा उद्योग की उत्पादिता के बारे में अध्ययन किया था।

इस समय जो आंकड़े प्रकाशित हो रहे हैं वे व्यर्थ हैं। फिर भी इस क्षेत्र में अधिक व्यापक अध्ययन की आवश्यकता होने की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। जैसे आंकड़े कोयलों के प्रकाशित हो रहे हैं वैसे अन्य बड़ी-बड़ी खानों के भी प्रकाशित होने चाहिए।

श्रमिकों द्वारा उत्पादन—श्रमिकों द्वारा कितना उत्पादन किया जाता है इसके आंकड़े भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। योग्यता और अधिक उत्पादिता के हित के लिए श्रम में स्थायित्त्व लाना आवश्यक है। श्रम के स्थायित्त्व के भूल में श्रमिकों द्वारा उत्पादन की दर के महत्त्व को नहीं भुलाया जा सकता है। अमेरिका में प्रत्येक विनिर्माणकारी उद्योग के आंकड़े नियमित रूप से प्रकाशित होते हैं। अभी हाल में बंबई श्रम कार्यालय ने सूती कपड़ा मिलों के बारे में इसी प्रकार के आंकड़े प्रति मास प्रकाशित करना आरंभ कर दिया है। ये आंकड़े बंबई औद्योगिक संबंध अधिमियम के अंतर्गत उपलब्ध होने वाले प्रलेखों के आधार पर इक्ट्ठे किये जाते हैं। कुछ बड़े उद्योगों के इस प्रकार के आंकड़े इकट्ठे करना निःसंदेह उपयोगी प्रमाणित होगा।

आंकड़ा अधिकारी और कर्मचारी—इस समय अधिकांश संस्थानों में पंजियां नहीं होती हैं और जो कर्मचारी आंकड़े तैयार करते हैं उनसे यह आशा नहीं की जा सकती है कि वे उनका महत्त्व समझते हैं। विभिन्न श्रम-अधिकारियों पर अपने ही काम का इतना बोझा होता है कि वे फैक्टरियों का निरीक्षण करते समय उनका रिकार्ड जांचने तथा उनकी विशुद्धता पर ध्यान देने का हौंसला तक नहीं करते हैं। इसके अतिरिक्त इस कार्य में कोई समन्वय नहीं होता है तथा विभिन्न संगठन अलग-अलग आंकड़े पेश करते हैं। प्रत्येक राज्य में एक आंकड़ा अधिकारी होना चाहिए जो विभिन्न कागजों की तालमेल बैठवा सके तथा उसके नीचे के कर्मचारी इस काम को करने में दक्ष हों तथा संस्थानों के निरीक्षण और कागज-पत्तरों की जांच की व्यवस्था कर सकें।

इसके अतिरिक्त, पारिवारिक निर्वाह और मजदूरी की जांच द्वारा आंकड़े इकट्ठे करने के लिए क्षेत्रीय कर्मचारी चाहिए। इसके लिए क्षेत्रीय जांच-कर्त्ताओं का एक स्थायी मंडल रखना होगा। इनकी जांच कितनी सही होगी वह इन प्रशिक्षित कर्मचारियों की योग्यता, उत्साह, लगन तथा उनके क्षेत्रीय परिचय पर निर्भर होगी। एशियाई देशों में अधिकांश उत्तरदाता निरक्षर हैं; इसलिए यह बात उन पर और भी अधिक लागू होती है।

आंकड़ों का प्रयोग—राज्य की नीति निर्धारित करने के लिए आंकड़ों की बड़ी जरूरत होती है, इसलिए ये आंकड़े सही होने चाहिए तथा उनको तेजी से इकट्ठा करना चाहिए। वे ऐसे होने चाहिए कि उनका प्रयोग प्रशासकीय काम में किया जा सके। इसलिए उनकी भावी उपयोगिता का ख्याल

रखना चाहिए और जिस दिन वर्षा हो उसी दिन छप्पर रखने की नीति न अपनानी चाहिए। ऐसा आंकड़ा कर्मचारी-मंडल होना चाहिए जो वर्तमान तथा भावी समस्याओं पर आंकड़ों का प्रयोग कर सके तथा आंकड़ों से अधिकतम लाभ उठा सके।

उपसंहार

भारत में श्रम-संबंधी आंकड़े अभी बहुत थोड़े उपलब्ध हैं। यह कार्य अभी अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही है। इन आंकड़ों की उपयोगिता भी सीमित है क्योंकि वे विविधमुखी नहीं होते हैं। इसलिए अन्य क्षेत्रों में भी उनका संग्रह करना चाहिए और उनकी विशदता तथा विविधता के साथ उनकी आवृत्ति भी जल्दी-जल्दी करनी चाहिए। आय-संबंधी आंकड़े तथा कार्यावस्थाओं के आंकड़े कोयला-खानों को छोड़कर अन्य किसी क्षेत्र में उत्तम तथा अपेक्षित कोटि के सुलभ नहीं हैं। व्यवसायिक मजदूरी के आंकड़ों पर तो इतना भरोसा ही नहीं करना चाहिए कि उनकी सहायता से विभिन्न उद्योगों और क्षेत्रों का मजदूरी ढांचा बनाया जा सकता है या समय के साथ उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। उत्पादिता तथा श्रम-उत्पादन के आंकड़ों को एक अच्छे ढंग से इकट्ठा करना चाहिए। सबसे अंतिम किंतु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बेरोजगारी के बारे में कोई ऐसे देशव्यापी आंकड़े प्राप्त नहीं हैं जिन पर पूरा-पूरा भरोसा किया जा सके। इस आयोजन के युग में, जिसका उद्देश्य पूर्णतर रोजगार व्यवस्था करना है, आंकड़ों की उपलब्धि का प्रबंध अविलंब करना होगा।

जब भारत का आर्थिक अभ्युत्थान हो रहा है तब उसे सही श्रम-आंकड़ों की कितनी अधिक आवश्यकता है, इसके बारे में जितना लिखा जाए उतना ही थोड़ा होगा। यहां सामान्य जनसमूहों का जीवनस्तर ऊंचा उठाना है जिसमें प्रारंभिक उत्पादक बहुसंख्यक हैं अथवा जिनमें वे लोग बहुत हैं जो चाय, आदि के बागों, खानों तथा अन्य उद्योगों में काम करते हैं। इसके लिए केवल उत्पादन, वितरण और उपभोग के ही आंकड़े नहीं चाहिए बल्कि प्रति व्यक्ति की आय, व्यय और कार्यावस्थाओं तथा निर्वाह के आंकड़े भी चाहिए। बिना व्यापक आंकड़ों के सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करना असंभव होगा। ये आंकड़े श्रमिक-शक्ति तथा उसके वितरण और कामगारों की मजदूरी के होने चाहिए। इसलिए भारत में श्रम-आंकड़ों का संग्रह तथा संकलन करने में जो कमियां हैं उन्हें तुरंत दूर करना होगा।

अध्याय १२

बाल-श्रम

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राय: बाल-श्रम के दो अर्थ लगाते हैं—एक अर्थ वह है जो आर्थिक व्यवहार में आता है और दूसरा अर्थ वह है जिससे सामाजिक दोष का बोध होता है। आर्थिक व्यवहार में इसका अभिप्राय बाल श्रमिकों से है अर्थात् बालकों को लाभकारी व्यवसायों में नौकर रखना है ताकि वे अपनी कमाई से अपने परिवार की आय में वृद्धि कर सकें। किंतु उक्त बाल-श्रम शब्द का प्रयोग जब कभी सुनने में आता है तब उसको प्राय: दूसरे अर्थ में ही लेते हैं। बाल-श्रम सामाजिक दोष के रूप में कहां तक घातक बन चुका है, यह जानने के लिए उन काम-धंधों का अध्ययन करना होगा जिनमें बालकों को लगाया जाता है; उन काम-धंधों से उनके जीवन को कितना खतरा रहता है तथा काम-धंधों में लगाने के कारण उन्हें उन्नति के अवसरों से कहां तक वंचित होना पड़ता है ? हमें न भूलना चाहिए कि नौकरी करनेवाला बालक भी बालक ही होता है और उसे भी अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर मिलना चाहिए। जब अपने उदर-पोषण अथवा अपने परिवार के उदर-पोषण की अनुपेक्ष्य आवश्यकता उसके सामने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुंह फैलाकर खड़ी हो जाती है तब उसे लाचार होकर काम करना पड़ता है और इससे उसके वैयक्तिक विकास तथा विद्योपार्जन में अड़चन पड़ जाती है। इससे बालश्रम का सामाजिक दोष अपने-आप स्पष्ट हो जाता है।

यद्यपि बाल-श्रम किसी-न-किसी रूप से अति प्राचीन काल से चला आ रहा है जबकि बालक घर में या खेतों में आपने संरक्षकों के साथ मिलकर काम किया करते थे, फिर भी उसका भीषण सामाजिक कुप्रभाव इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के बाद देखने में आया। औद्योगिक क्रांति के आरंभिक चरण, अर्थात् अठारहवीं शताब्दी के अंत में, लंदन और दूसरे नगरों के गरीब बालकों को लंकाशायर और यार्कशायर के सूती मिलों में काम करने को भरती कर लिया जाता था। ये बालक गंदे और सघन इलाकों में रहते थे और उन पर जो

अत्याचार होते थे उनकी कहानी सुनकर आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इस काल को बाल-श्रम के इतिहास का सबसे अधिक कलंकित चरण माना जा सकता है।* भाप-शक्ति का आविष्कार होने से नगरों और कोयला-क्षेत्रों में फैक्टरियां खड़ी हो गयीं और उनमें बालक भी काम करने लगे। कहना न होगा कि इन फैक्टरियों में काम की अवस्था कितनी शोचनीय थी। बाल-श्रम के सामाजिक दोषों का अड्डा केवल इंग्लैंड ही न था। जर्मनी, बेलजियम, अमेरिका तथा अन्य औद्योगिक देशों में भी उनका बोलबाला कम न था। उनका उन्मूलन तो आगे चलकर प्रगतिशील विधानों द्वारा ही किया गया। भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में फैक्टरियों की स्थापना हुई और सूती तथा जूट मिलों में आरंभ से ही बालकों को काम मिल गया। कोयला-खानों में, विशेषकर भूगर्भ-स्थलों में, बालकों को काम पर लगाया जाता था। यद्यपि भारत में बाल-श्रमिक की रक्षा के लिए १८८१ में विधान बना था किंतु वह केवल उन्हीं फैक्टरियों पर लागू होता था जिनमें १०० या इससे अधिक लोग काम करते थे। इस पर तुर्रा यह था कि इस विधान के लागू करने की व्यवस्था अपर्याप्त थी। इसलिए यह कानून कोरी कागजी कार्रवाई बनी रही। इस समय बाल-श्रमिक रक्षकात्मक विधान के बावजूद, कितने ही असंगठित औद्योगिक क्षेत्रों में तथा खेतीबारी में बाल-श्रम के दोष मौजूद हैं।

बाल-श्रम का क्षेत्र

फैक्टरियां—जो फैक्टरियां फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत अनुभाग क (Part A) राज्यों और अनुभाग ग (Part C) राज्यों में आती हैं उनमें काम करने वाले किशोरों और बालकों की संख्या १९५२ में २४,३२१ थी। इनमें लगभग ७५ प्र० श० अर्थात् १८,१६२ किशोर तथा २५ प्र० श० अर्थात् ६,१५९ बालक थे। किशोरों में लगभग ८२ प्र० श० तथा बालकों में लगभग ७५ प्र० श० पुरुष-जाति के थे।

सबसे अधिक बाल-श्रमिकों की संख्या मद्रास में थी। समस्त देश के लगभग एक-तिहाई बाल-श्रमिक इस राज्य की फैक्टरियों में काम करते थे। इसके बाद बंबई का नंबर आता था जहां समस्त देश के बाल-श्रमिकों का लगभग छठा भाग था। पश्चिम बंगाल और बिहार राज्यों में से प्रत्येक में कुल बाल-श्रमिकों का नवमांश काम करता था।

जिन उद्योगों में बाल-श्रमिकों की अधिक संख्या पायी गयी थी वे हैं : रासायनिक पदार्थ और रासायनिक उत्पादन (२,७३८), पेय (मदिरा) को छोड़कर

---

* *Encyclopaedia of the Social Sciences,* Vol. II, p. 414.

अन्य खाद्य (५,३१७), सूती मिल (३,७६६), अ-धात्विक खनिज उत्पादन (३,७१२) और तंबाकू (१,८९८)। यदि इन श्रेणियों को और अधिक स्पष्ट नाम दिया जाए तो रासायनिक श्रेणी में मैच फैक्टरियों का, खाद्य श्रेणी में चाय फैक्टरियों का, अ-धात्विक खनिज उत्पादन श्रेणी में अभ्रक फैक्टरियों का तथा तंबाकू-श्रेणी में बीड़ी फैक्टरियों का नाम लिखा जा सकता है। इस शताब्दी के तीसरे दशक के आरंभ से फैक्टरियों में बाल-श्रमिकों की संख्या कम हो चली है। १९२३ में बाल कामगारों की संख्या फैक्टरियों के कुल कामगारों की संख्या का ५·३ प्र० श० अर्थात् ७४,६२० थी; किंतु १९५२ में यह कुल का ०·२ प्र० श० अर्थात् ६,१४९ रह गयी। उपलब्ध आंकड़ों से प्रकट होता है कि अब फैक्टरी-क्षेत्र में बाल-श्रम की समस्या गंभीर नहीं रही है किंतु इसमें संदेह है कि जो आंकड़े फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत इकट्ठे किये गये हैं वे संतोष-जनक हैं। फैक्टरी-निरीक्षकों तथा अन्य अधिकारियों का कहना है कि ज्यों ही वे फैक्टरियों के अहातों में पांव धरते हैं, प्रबंधक अधिकांश बाल-श्रमिकों को फैक्टरियों से बाहर भगा देते हैं। इन बालकों की आयु नौकरी के लिए निर्धारित न्यूनतम आयु से कम होती है। इस संदर्भ में श्रम जांच समिति (Labour Investigation Committee) के निम्नांकित विचार दर्शनीय है : "यह याद रखना चाहिए कि जिन कारखानों से आंकड़े मिल रहे हैं वे कुछ अन्य कारखानों की अपेक्षा कानून के अधिक पाबंद हैं और बालकों को हमेशा लग-भग छिपे तौर से नौकर रखा जाता है...। इस जांच से जो महत्त्वपूर्ण बात सामने आयी है वह यह है कि विभिन्न उद्योगों मे, खासकर छोटे उद्योगों में, बालकों की नौकरी की निषेधाज्ञा का खुलकर उल्लंघन किया जाता है; तथा निरीक्षक का कार्य करने वाले कर्मचारियों की कमी के कारण कानून के आवश्यक अनुबंधों को अमल में लाना कठिन हो गया है।"*

दक्षिण में दियासलाई तथा बीड़ी उद्योगों में बालक काम करते हैं। इनमें बाल-श्रमिकों की संख्या अधिक है। १९५२ में, भारत सरकार ने दियासलाई (मैच) फैक्टरियों के बाल-कामगारों के बारे में जानकारी इकट्ठी की थी। सातुर और शिवकाशी नामक दो प्रमुख केंद्रों में इनकी संख्या बहुत बड़ी थी। इनमें काम करनेवाले बालकों की संख्या ३·२ से ५३·७ प्र० श० तक तथा कुल श्रमिकों की २५·९ प्र० श० थी। किशोरों की संख्या १०·३ प्र० श० थी। किशोरों और बालकों में लड़कियों की संख्या भी काफी थी। यह संख्या क्रमशः ७२·६ प्र० श० और ७३·६ प्र० श० थी। मैच-कारखानों में बाहर बैठकर काम कर लाने की भी पद्धति थी। दियासलाई के बक्स बनाने तथा

---

* Main Report, p. 35.

भरने का काम कारखाने के अहाते में, पेड़ों के नीचे तथा दूसरी जगह बैठकर किया जा सकता था। यह अधिकांश काम बच्चे ही करते हैं। श्रम जांच समिति ने इस बारे में जो लिखा है वही अक्षरशः वहां देखने में आता था: "सबसे उल्लेखनीय बात यह थी कि वहां पहुंचने पर आठ या दस वर्ष की आयु के बच्चे, खासकर लड़कियां, अपनी-अपनी ट्रे को अपने सिर पर रखकर चंपत हो गये। मुझे फैक्टरी-निरीक्षक ने बताया कि इन फैक्टरियों में उसके पहुंचने पर सामान्यतः ऐसा ही दृश्य देखने में आता है। ये सब ऐसे बालक थे जिन्हें काम करने का प्रमाणपत्र नहीं मिला था और फैक्टरी-निरीक्षक (Factory Inspector) या अन्य दर्शकों का सामना पड़ने पर वे यह कहते थे कि वे ट्रेओं को अपने घर ले जा रहे हैं जहां उनके परिवार के प्रौढ़ लोग काम करेंगे। इन फैक्टरियों में १२ वर्ष से नीचे की आयु के भी अनेक बच्चे काम करते थे, यद्यपि उनके पास बिल्ले थे जिससे साबित होता था कि उन्हें काम करने के लिए प्रमाणपत्र मिल चुका है।"

खानें — खानों की खोदाई के आरंभिक दिनों में इस उद्योग में काम करने वाले खनकों में बालकों की काफी बड़ी संख्या थी। १९०१ में १२ वर्ष से नीचे की आयु के ५,१४७ बालक काम करते थे। दूसरे शब्दों में, वे कुल खनक संख्या का ४·९ प्र० श० थे। १२ वर्ष से कम आयु के बालकों को खानों में काम देने के विरुद्ध जो प्रतिबंध लगाया गया था वह प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि १९२१ में इन बालकों की संख्या कुल खनकों का ३·५ प्र० श० थी। भारतीय खान अधिनियम १९२३ के अनुसार खानों में काम करने के लिए बालक की न्यूनतम आयु बढ़ाकर १३ वर्ष तथा १९३५ में १५ वर्ष कर दी गयी। जब तक फिट होने का डाक्टरी प्रमाणपत्र न मिल जाए तब तक १५ और १७ वर्ष के आयु के बालकों को न तो भूमिगत काम करने की अनुमति दी जा सकती थी और न ही वयस्क मानकर काम पर लगाया जा सकता था। श्रम जांच समिति ने देखा कि कामगारों और मालिकों की सांठ-गांठ से अभ्रक-खानों में बालक और स्त्रियां, दोनों धड़ाधड़ काम करते थे।

बाग — चाय जिला प्रवासी श्रमिक अधिनियम के कार्यान्वय के बारे में जो वार्षिक प्रतिवेदन देखने में आये हैं उनसे पता चलता है कि चाय के बागों में कितने वयस्क श्रमिक तथा कितने बाल-श्रमिक काम करते हैं। १९५०-५१ में असम में बाल-श्रमिक बस्ती श्रमिकों का १०·४ प्र० श० थे तथा बाहर से आ-बसने वाले (settled) श्रमिकों का १४·३ प्र० श० थे।

यद्यपि चाय के बागों में काम करने वाले बालकों की कुल संख्या में कोई खास कमी नहीं हुई है फिर भी कुछ पिछले वर्षों से कुल कामगार-संख्या की

दृष्टि से उनका अनुपात कम होता जा रहा है। यह कमी बाहर से आ-बसने वाले श्रमिकों की तुलना में बस्ती श्रमिकों में अधिक देखने में आयी है। १९४८ से चाय-बागों में १२ वर्ष से कम आयु के बालकों को काम न देने के बारे में एक त्रिपक्षीय समझौता लागू है। असम के चाय-बागों की जांच करने से मालूम हुआ है कि अधिकांश चाय-बागों में इस त्रिपक्षीय समझौते का परि-पालन किया जा रहा है। जहां कहीं १२ वर्ष से कम आयु के बालक नौकर हैं वहां इस कार्य में प्रबंधकों की अनिच्छा के बावजूद कामगारों का ही अधिक हाथ है। यूरोपीय मालिकों के चाय-बागों में ५४ प्र० श० बालक तथा भारतीय मालिकों के चाय-बागों में ६३ प्र० श० बालक १२ और १४ वर्ष के बीच की आयु के होंगे।

कुटीर उद्योग—बीड़ी, हथकरघों, चमड़ा कमाने, चूड़ियां बनाने, गलीचे बुनने, दर्जीगीरी, मिट्टी के भांडे बनाने, आदि के उद्योगों में बालक आज भी काफी संख्या में काम करते हैं। ये लघु उद्योग देश के विभिन्न भागों में छिटके हुए हैं। बीड़ी उद्योग का तो कहना ही क्या है! इसलिए, इनमें कितने बालक काम करते हैं उनकी संख्या बताना कठिन है। भारत सरकार के श्रमिक ब्यूरो ने अपनी आंखों-देखी जांच द्वारा बताया था कि दक्षिण भारत में मैच-फैक्टरियों तथा बीड़ी बनाने में, मिर्जापुर में गलीचे बुनने में तथा फिरोजाबाद में चूड़ियां बनाने में बालक एक बड़ी संख्या में लगे रहते हैं। दक्षिण में मैच-उद्योग में बाल-श्रमिकों का जिक्र पहले ही हो चुका है। मालिक बीड़ी बनाने में, घरों में तथा कारखानों में, दोनों स्थानों में बाल-श्रम का लाभ उठाते हैं। बालक बड़ों की मदद करते हैं। बीड़ी का काम कैसे होता है, इसे देखते हुए दूर कोनों में पड़ी बीड़ी कर्मशालाओं पर कानूनी पाबंदी अमल में लाना एक टेढ़ी खीर बन गयी है। जब से १९४८ का फैक्टरी अधिनियम लागू हुआ है तब से मद्रास के बीड़ी उद्योग का विकट कायापलट हो गया है और उसकी अलग-थलग पड़ी कर्मशालाओं पर कानून का प्रयोग करना और भी कठिन हो गया है। इस समय बीड़ी-उद्योग को देखते हुए कहा जा सकता है कि ठेकेदार अथवा प्रबंधक को किसी भवन या बाड़े की आवश्यकता नहीं। बीड़ी कामगार अपने-आप अपनी जगह तलाश कर लेता है और वहां बैठकर अपना काम किया करता है। इस प्रकार फैक्टरी अधिनियम अथवा कानून के शिकंजे में प्रबंधक या ठेकेदार को कसा ही नहीं जा सकता। कानून का एक उल्टा परिणाम यह निकला है कि बीड़ी की वर्कशॉपों की संख्या बढ़ गयी है और काम करने वाले गंदी से गंदी जगह में अपना सिर छिपाने लगे हैं। इन जगहों में छोटे-छोटे लड़के और लड़कियां भी बेफिक्र होकर काम करते हैं। अब उनकी संख्या श्रम जांच समिति की नियुक्ति के समय से भी कहीं अधिक

हो गयी है। भारत सरकार ने देखा था कि इस उद्योग में ८ से १२ वर्ष की आयु तक के बच्चों को काम पर लगाना लाभदायक था किंतु वहां तो ५ से ८ वर्ष की आयु के बच्चे भी प्रायः काम करते थे। इस बारे में एक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि ये बालक उन्हीं कामगारों के होते थे जो स्वयं बीड़ी उद्योग से अपना पेट पालते थे। जब कामगारों को यह बताया गया कि गंदी जगह में नन्हें बालकों से काम लेने के कारण उनके स्वास्थ्य पर उसका बुरा असर पड़ता है तब उन्होंने उत्तर दिया कि उनके पास बच्चों के लिए किताबें, स्लेटें, आदि खरीदने को पैसे नहीं हैं। यही कारण है कि वे उन्हें स्कूल नहीं भेज सकते हैं। इसके अलावा, यद्यपि ये बालक थोड़ा ही कमाते थे फिर भी उससे उनके अभिभावकों को कुछ-न-कुछ आर्थिक सहारा मिलता ही था। ऐसे कितने ही बालक थे जिनके माता-पिता बूढ़े या असक्त होने के कारण उनकी कमाई पर निर्भर थे।

उत्तर प्रदेश का मिर्जापुर नगर कभी गलीचे बनाने का प्रधान केंद्र था। किंतु अब गलीचे बनाने का कारबार प्रायः भदोही में चला गया है। किंतु मिर्जापुर आज भी गलीचों की मंडी है। भदोही में ५०,००० से ऊपर लोग गलीचे बनाने में लगे हुए हैं जिनमें बालकों की संख्या कम-से-कम २५ प्र० श० होगी। मिर्जापुर में प्रति ४ बुनकरों में दो बालक होंगे। मिर्जापुर में कुल कामगार लगभग २०,००० होंगे जिनमें ८-९ हजार बालक हैं।

फिरोजाबाद के चूड़ी कारखानों में ४०,००० कामगार हैं जिनमें छह हजार से सात हजार तक बालकों की संख्या होगी।

कृषि—भारत सरकार ने जो खेतिहर मजदूर जांच (Agricultural Labour Enquiry) करवायी थी उसके अनुसार खेतीबारी से जीविका कमाने वालों में ५·५८ प्र० श० बालक थे और मददगारों में २४·१४ प्र० श० बालक थे। तिरुवांकुर-कोचीन में खेती करनेवालों में १४·४ प्र० श० बालक थे। मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, मध्य भारत, सौराष्ट्र, अजमेर, भोपाल और विंध्य प्रदेश में खेतीबारी के काम में लगे बालकों की संख्या काफी थी।

संगठित श्रमिक-वर्ग के परिवारों की कमाई की क्षमता

भारत सरकार के निर्वाह-व्यय सूचकांक परियोजना के अंतर्गत १९४३-४५ में जो पारिवारिक बजट-जांच हुई थी उसके दौरान में एक औसत श्रमिकवर्गीय परिवार की कमाई की क्षमता के बारे में कुछ सूचना इकट्ठी की गयी थी। इन आंकड़ों से भारत के विभिन्न उद्योगों में बाल-श्रमिकों की संख्या मालूम होती है। इनके अनुसार सिलचर (असम) में बाल-श्रमिकों की संख्या ९·७१ प्र० श० और बरहामपुर (उड़ीसा) में १२·१७ प्र० श० थी।

काम के घंटे—यद्यपि फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत काम करने वाले संस्थानों में बालकों के दैनिक काम के ४½ घंटे नियत किये गये हैं फिर भी इस अनुबंध का परिपालन कहां तक होता है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए, भारत के काजू-मुरब्बा उद्योग (Cashewnut Processing Industry) में कामगारों की कार्यावस्थाओं की जांच की रिपोर्ट से निम्नांकित बातें सामने आयी थीं : "यद्यपि कितने ही प्रबंधकों का यह बयान है कि बालकों से प्रति दिन ४ या ४½ घंटे काम लिया जाता है फिर भी जो बालक ३ और ५ बजे के बीच में काम कर रहे थे उन्होंने बताया कि वे सवेरे ८ बजे से काम पर आये हैं। एक फैक्टरी के मैनेजर ने बताया कि किसी भी बालक को फैक्टरी में तीसरे पहर तीन बजे के बाद काम नहीं करने दिया जाता है। किंतु आश्चर्य की बात यह है कि जब वह ऊपर लिखा बयान दे रहा था तब शाम के ४½ बज रहे थे और बालक फैक्टरी में काम कर रहे थे। इससे यह कहा जा सकता है कि बालक भी वयस्कों की भांति ही लंबे अर्से तक काम करते रहते हैं। स्त्रियों और औरतों की औसत मजदूरी से, जो काम की मात्रा के अनुसार मिलती है, यह बात स्पष्ट हो जाएगी।" खेती, चाय, आदि के बागों और कुटीर उद्योगों में बालक वयस्कों के समान ही ८ से ९ घंटों तक काम करते हैं। उद्यान श्रमिक अधिनियम में बालकों को प्रति सप्ताह ४० घंटे काम करना पड़ता है। खान अधिनियम १९५२ के अनुसार १५ वर्ष से नीचे की आयु के बालकों को भूगर्भ स्थलों अथवा भूमि के ऊपर खानों में खोदाई के कामों में लगाने की मनाही है। पंजीकृत डाक्टर से फिट होने का प्रमाणपत्र मिलने पर ही खानों में किशोर वयस् के लोगों को नौकर रखा जा सकता है।

मजदूरी—१९५३-५४ वर्ष के बारे में प्रलेखों में जो उल्लेख है उसके अनुसार असम के चाय-बागों में काम करने वाले बालक की औसत मासिक आय १६ रु० १० आ० २ पा० से १७ रु० १५ आ० १ पा० तक है। एक कामिन (स्त्री) की यही आय ३२ रु० १ आ० ७ पा० से ३५ रु० २ आ० ४ पा० तक है। न्यूनतम मजदूरी अधिनियम १९४८ द्वारा जहां पंजाब में दैनिक महंगाई भत्ते (=५ आ० ३ पा०) के अतिरिक्त, ६ आने दैनिक मजदूरी मिलती है, वहां तिरुवांकुर-कोचीन में ७½ आने मिलती है। मद्रास में बालक की कुल मजदूरी १०½ आने प्रति दिन नियत की गयी है। किन्हीं-किन्हीं राज्यों में अनुसूचित कामों के लिए बालकों की मजदूरी नियत कर दी गयी है। इस अनुसूची में चावल, आटा, दाल-मिल, तंबाकू, तेल-मिल, स्थानीय प्राधिकारियों के अंतर्गत नौकरियां, सड़क-निर्माण, गिट्टी तोड़ना, पत्थर पीसना, सार्वजनिक मोटर परिवहन और चमड़ा कमाना, आदि दर्ज हैं।

सातुर की मैच-फैक्टरियों में बालकों की औसत साप्ताहिक आय यदि किसी-किसी यूनिट में ४ रु० ४ आ० से लेकर ४ रु० १४ आ० ५ पा० थी तो किसी-किसी में २ रु० २ आ० से लेकर ३ रु० १३ आ० ३ पा० थी।

काजू-मुरब्बा उद्योग की जांच से, जो भारत सरकार के श्रमिक ब्यूरो ने की थी, पता चलता है कि तिरुवांकुर-कोचीन के काजू उद्योग में जो बालक काम के अनुसार मजदूरी की शर्त पर काम करते हैं वे प्रौढ़ स्त्रियों के बराबर कमा लेते हैं। १९५२ में बारह-मासों से भी ऊपर तक एक स्त्री की मजदूरी का दैनिक औसत १२ आ० से लेकर १४ आ० ८ पा० था और बालक का यही औसत ८ आ० ७ पा० से १३ आ० ४ पा० था।

कार्यावस्थाएं—जो बालक बीड़ी बनाने, चूड़ियां बनाने तथा दियासलाई बनाने के कारखानों में काम करते हैं उनमें उनके लिए हवा और प्रकाश, आदि की बहुत कम व्यवस्था होती है। इन जगहों पर सफाई का अभाव खटकता है। उपलब्ध आंकड़ों से ज्ञात होता है कि इन बालकों में बहुतों को पर्याप्त पौष्टिक भोजन भी प्राप्त नहीं होता है। श्रम जांच समिति ने बीड़ी वर्कशॉपों का निम्नांकित वर्णन किया है जो आज भी हूबहू ठीक है :

बंबई—"जहां तक सफाई, प्रकाश और हवा का सवाल है, इन वर्कशॉपों की दशा अवर्णनीय है। इनमें अंधेरे और सील का राज्य रहता है; और यदि इनमें एक-दो खिड़कियां कहीं दिखती भी हैं तो वे कोई अधिक उपयोगी नहीं होती हैं। उनकी सफाई का प्रबंध तो न-बराबर है। उसमें कामगार ठसाठस भरे रहते हैं। कामिनों और कामगारों के साथ कहीं-कहीं बच्चे भी होते हैं जिनकी कुहनी से कुहनी रगड़ती रहती है। एक कोने में तंबाकू-भरे बोरे अटे होते हैं और दूसरे में बीड़ी बनाने का काम चालू रहता है। अधिकांश कामगारों के लिए किसी पेशाबघर या संडास का प्रबंध नहीं होता है। यदि कहीं कोई शौचालय है भी तो उसकी सफाई का कहना ही क्या! किन्हीं-किन्हीं वर्कशॉपों में लकड़ी की मध्यवर्ती छत डाल दी गयी है जिस पर चढ़ने को सीढ़ियां भी नहीं होती हैं और कामगारों को छत पर चढ़ने में बड़ी कठिनाई होती है।"

दक्षिण भारत—"बीड़ी उद्योग में सबसे बुरी बात यह है कि काम करने के स्थलों में सफाई पर तनक भी ध्यान नहीं दिया जाता है। वर्कशॉपों की छतें कम ऊंची होती हैं। वर्कशॉपें अंधेरी होती हैं जहां हवा और रोशनी की कमी होती है। कहीं-कहीं तो कच्चा, नीचा-ऊंचा फर्श होता है। इनको कदाचित् ही पानी से धोया जाता होगा। उन पर सड़े-गले पत्ते पड़े रहते हैं जिनसे दुर्गंध निकलती है। इन वर्कशॉपों में खिड़कियों का नाम भी नहीं होता है। केवल एक द्वार होता है जिससे यथासंभव वायु और प्रकाश आता है। ये वर्कशॉपें प्रायः कम किराये पर लिये जाने के कारण गंदी गलियों में होती हैं।"

पश्चिम बंगाल—"कामगार धरती या चटाइयों पर बैठते हैं और बांस की टोकरियां उनके सामने रखी होती हैं। प्रत्येक कामगार के पल्ले मुश्किल से ६ वर्ग फुट जगह पड़ती होगी। वातायनों की व्यवस्था तो बड़ी शोचनीय होती है। पीने के पानी और संडास जैसी सामान्य सुविधाएं तक इन फैक्टरियों में नदारद होती हैं। कुछ गंदगी तो स्वयं कामगारों के कारण फैलती है। वे फैक्टरियों के सामने खुली नालियों में पत्तियों का कतरन डालकर उसे सड़ने का मौका देते हैं।"

बीड़ी तथा कांच फैक्टरियों में कार्यावस्थाओं के बारे में स्वाम्थ्य सर्वेक्षण तथा विकास समिति (Health Survey and Development Committee) ने निम्नांकित अभिमत प्रकट किया था : "छोटे कारखानों—विशेषकर चमड़ा, बीड़ी, कांच और उत्तर प्रदेश के फिरोजाबाद के चूड़ी कारखानों—की कार्यावस्थाएं बड़ी खराब हैं। हमने इन जगहों में कामगारों को वायु, प्रकाश, पानी, आदि की कमी के बावजूद अधिक घंटों तक काम करते देखा है। इन कारखानों में बालकों को बेरोकटोक नौकर रखा जाता है।"

खेतों तथा चाय, आदि के बागों में काम करने वाले बालकों की कार्यावस्थाएं स्वास्थ्य की दृष्टि से निःसंदेह ठीक हैं क्योंकि उन्हें खुले स्थानों में काम करना पड़ता है। हां, उन्हें चिल्लाती धूप, कड़ाके के जाड़े और मूसलाधार वर्षा का भी सामना करना पड़ता है। असम के चाय-बागों में सामान्य स्वास्थ्य-अवस्थाओं के बारे में मेजर लायड जोन्स ने लिखा है : "असम का दौरा करने से यह बात दिखाई दी कि श्रमिकों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। चलते-फिरते तथा बागों में काम करने वाले लोगों को पौष्टिक भोजन की कमी बनी रहती है और वे सामान्यतः दुर्बल प्रतीत होते हैं। हृष्टपुष्ट तो प्रायः दिखते ही नहीं हैं। बच्चे इधर-उधर उछलते-कूदते और खेलते कहीं नहीं दिखायी देते थे। वे बूढ़ों की भांति गिन-गिनकर पांव धरते थे...।"*

बाल और युवा कामगारों का वैधानिक बचाव

पश्चिमी देशों और अन्य औद्योगिक देशों की भांति भारत में भी मजदूरी करने वाले बलकों को, जो अपने-आप अपनी रक्षा करने में दुर्बल हैं, वैधानिक परित्राण देने का प्रयास किया गया है। पहले स्त्रियों के परित्राण का प्रबंध किया गया था किंतु अब सब कामगारों की रक्षा के लिए श्रमिक विधान बना

---

*E. Lloyd Jones: *Standards of Medical Care for Tea Plantations in India,* p. 5.

दिया गया है। यह विधान इस भावना से प्रेरित है कि देश के सभी नागरिकों के बचाव तथा कल्याण के प्रति राज्य को सजग रहना चाहिए।*

भारत के संविधान में जो निदेशात्मक सिद्धांत अंकित हैं उनमें बाल-शोषण के विरुद्ध निम्नांकित उद्गार प्रकट किया गया है : "सरकार विशेषकर अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करेगी...कि कामगारों—स्त्रियों, पुरुषों तथा सुकुमार वयस् के बालकों के स्वास्थ्य तथा बल का दुरुपयोग न हो सके, तथा आर्थिक परिस्थितियों के आगे झुककर नागरिकों को ऐसे व्यवसाय न अपनाने पड़ें जो उनके वयस् अथवा सामर्थ्य के प्रतिकूल हों; कि बालपन तथा युवावस्था को शोषण तथा नैतिक और सांसारिक भोग की विरक्ति से बचाया जा सके।"

संविधान के अनुच्छेद २४ में लिखा है कि "१४ वर्ष से कम आयु के किसी भी बालक को किसी फैक्टरी अथवा खान में काम न करने दिया जाएगा तथा उसे किसी भी जोखिम के काम में न लगाया जाएगा।"

१८८१ के फैक्टरी अधिनियम में बालक को नौकरी में लगाने की न्यूनतम आयु ७ वर्ष थी; १८९१ में यह ९ वर्ष कर दी गयी; १९२२ में १२ वर्ष और फिर १९४८ में १४ वर्ष हो गयी। इस देश में जो श्रमिक विधान बने हैं उन पर अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के अभिसमयों तथा अभिस्तावों का काफी प्रभाव पड़ा है। लोकमत तथा विभिन्न आयोगों और समितियों का दबाव भी कम परिलक्षित नहीं होता। विभिन्न अधिनियमों का संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है :

(क) नौकरी की न्यूनतम आयु—फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत बालक की नौकरी के लिए न्यूनतम आयु १४, खान अधिनियम के अंतर्गत १५ और उद्यान-श्रमिक अधिनियम के अंतर्गत १२ वर्ष है। १८ वर्ष से नीचे की आयु के युवकों को फैक्टरियों, खानों अथवा चाय, आदि के बागों में तब तक नौकरी नहीं मिल सकती है जब तक कि उनके पास फिट होने का डाक्टरी प्रमाण-पत्र न हो। बाल नौकरी अधिनियम (Employment of Children Act) के अनुसार, कोई भी बालक, जिसकी आयु १५ वर्ष से कम हो, उन काम-धंधों में नहीं लगाया जा सकता है, जिनका संबंध रेल द्वारा डाक, माल या यात्री भेजने से हो; अथवा जिनका संबंध बंदरगाहों में माल लादने-उतारने के काम से हों। बीड़ी बनाने, गलीचे बुनने, सीमेंट कारखानों, कपड़ा छापने, रंगने तथा

---

* "Development of Labour Legislation on Young Workers," *International Labour Review*, December 1953, p. 543.

बुनने, दियासलाई के कारखानों, आदि में १४ वर्ष से कम आयु के बालकों को नौकरी नहीं मिल सकती है। कुछ अन्य दूकानों और संस्थानों पर राज्यों द्वारा कानून लागू कर दिये गये हैं जिनके अंतर्गत १२ से १४ वर्ष के आयु के बालकों को नौकर रखना वर्जित है।

(ख) काम के घंटे—फैक्टरी तथा खान अधिनियमों द्वारा बालकों को ४½ घंटे प्रतिदिन काम करने की छूट मिली है। उद्यान-श्रमिक अधिनियम ने ४० घंटे प्रति सप्ताह काम की आज्ञा दी है। रात में बालकों से काम लेना मना है।

(ग) सवेतन छुट्टी—फैक्टरियों और चाय, आदि के बागों में बालकों को बारह महीने की नौकरी में प्रति १५ दिन के काम के बाद १ दिन की सवेतन छुट्टी का अधिकार हो जाता है। वयस्क को प्रति २० दिन की नौकरी के बाद १ दिन की छुट्टी का हक होता है।

(घ) बालकों की डाक्टरी परीक्षा—फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत १४ तथा १८ वर्ष के बीच की आयु के बालक को किसी फैक्टरी में तब तक काम नहीं मिल सकता है जब तक कि उन्हें किसी प्रमाणपत्रदाता डाक्टर या सर्जन से फिट होने का प्रमाणपत्र प्राप्त न हो, तथा वे इस प्रमाणपत्र को काम करते समय अपने पास न रखते हों। यह डाक्टरी प्रमाणपत्र केवल एक वर्ष तक वैध माना जाता है। इसी प्रकार, खान अधिनियम के अंतर्गत १५ और १८ वर्षों के बीच के व्यक्ति, जिन्हें प्रायः किशोर कहते हैं, भूमि के नीचे तब तक काम नहीं कर सकते हैं जब तक की कोई पंजीकृत चिकित्सक उन्हें वयस्क की भांति काम करने योग्य घोषित न कर दे और वे काम करते समय उस प्रमाणपत्र को अपने पास न रखते हों। इस प्रकार के प्रमाणपत्रों को प्रति वर्ष नया कराना होगा। प्रमाणपत्र देने वाले डाक्टर अथवा सर्जन को यह लिखने का अधिकार है कि किशोर को किस प्रकार के काम पर अथवा किस प्रकार की अवस्थाओं में काम पर लगाया जाए। यदि डाक्टर यह अनुभव करे कि किशोर समुपस्थित परिस्थितियों में काम करने में समर्थ नहीं है तो वह उसका प्रमाणपत्र रद्द कर सकता है। यदि समुचित रूप से नियुक्त डाक्टर किसी बालक या किशोर को फिट होने का प्रमाणपत्र (सर्टीफिकेट) नहीं देता है और वह यह पत्र काम करते समय अपने पास नहीं रखता है, तो उसे काम पर नहीं लगाया जा सकता है। इस प्रकार का प्रमाणपत्र केवल १२ मास तक वैध रहता है।

(ङ) बाल श्रम को बंधक रखना (Pledging of Child Labour)—१९३३ के बाल (श्रम बंधक रखना) अधिनियम में अंकित है कि यदि कोई लिखित या मौखिक, स्पष्ट या अंतर्भुक्त करार द्वारा बालकों (१५ वर्ष की आयु से नीचे) के श्रम को किसी लाभ या धन-राशि के बदले में बंधक रखा जाता है तो उसे रद्द माना जाएगा। किंतु यदि कोई करार इस प्रकार का होता है

कि उससे बालक को हानि न पहुंचे तथा उसकी सेवा के योग्य उसे उचित मज-दूरी मिल जाए और एक सप्ताह की पूर्व सूचना पर वह समाप्त किया जा सके तो उसे गैर-कानूनी नहीं माना जाएगा।

शिक्षा—बाल-श्रम के दोष को दूर करने में प्रारंभिक शिक्षा कहां तक सहायक हो सकती है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। बाल-श्रम के शोषण के विरुद्ध रक्षाकारी कानून का सफल क्रियान्वय के लिए अनिवार्य शिक्षा आवश्यक है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इंग्लैंड में प्रथम प्रभावशाली फैक्टरी अधिनियम के साथ उसी वर्ष सरकार ने स्कूली शिक्षा के लिए अनुदान की भी घोषणा की थी। नोलस (Knowles) के अनुसार, "जिस प्रकार फैक्टरी अधिनियमों को औद्योगिक आचार-संहिता माना जा सकता है, तथा उन्हें राज्य द्वारा औद्योगिक अवस्थाओं के नियमन का यंत्र कहा जा सकता है, उसी प्रकार यह (अनुदान) भी शिक्षा में राज्य द्वारा हस्तक्षेप का सूत्रपात करता है।"* औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील देशों में अनिवार्य शिक्षा की आयु जहां समाप्त होती है वहां प्रायः बालक को नौकर रखने की आयु प्रारंभ हो जाती है। कुछ कानूनों में इस आशय की स्पष्ट व्यवस्था होती है कि जब बालक की स्कूल छोड़ने की आयु बढ़ाई जाए तो, उसी हिसाब से उसकी नौकरी के लिए भरती होने की आयु बढ़ा दी जाए। इसे अब सभी मानते हैं कि अनिवार्य शिक्षा से ही बालक व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार राज्य के औद्योगिक विकास के लिए एक कुशल श्रमिक-शक्ति उत्पन्न हो सकती है जिसकी आर्थिक विकास तथा उत्पादिता-वृद्धि के लिए अपरिहार्य आवश्यकता है। यद्यपि भारत में बालकों के विभिन्न क्षेत्रों की नौकरी में भरती करने के लिए कानूनी न्यूनतम आयु १२ से १५ वर्ष तक की है, किंतु इससे मिलती-जुलती आयु उनकी निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा के लिए निर्धारित नहीं है। कुछ क्षेत्रों में जहां प्रायमरी शिक्षा अनिवार्य है वहां बच्चों की आयु ६ और ११ वर्ष के बीच में निर्धारित हैं। बाल-श्रम के निवारण के लिए बालकों के लिए अनिवार्य प्रायमरी शिक्षा आवश्यक है और साथ ही उनके व्यावसायिक प्रशिक्षण का भी प्रबंध होना चाहिए ताकि उनको उन्नति करने का मौका मिले। इस संदर्भ में जॉन डेवी का अभिमत बताना अनुचित न होगा : "माता-पिता अपने औरस बालक के लिए जो बात सर्वोत्तम मानते हैं वही बात समाज को अपने सब बालकों के लिए सर्वोत्तम माननी चाहिए।" इससे बढ़कर बाल-कल्याण की भावना और क्या हो सकती है ?

---

* L. C. A. Knowles, *Industrial and Commercial Revolution in Great Britain during the 19th Century*, p. 126.

आर्थिक तंगी तथा भाषाई मतभेदों के बावजूद, निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा के प्रसार की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। जहां संभव हो १४ वर्ष की आयु तक तो निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा देनी ही चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रारंभिक तथा प्रायमरी स्कूलों के पाठ्यक्रमों में आवश्यक संशोधन करना चाहिए ताकि भारत में आजकल प्रायः जो कोरी किताबी पढ़ाई देखने को मिलती है उसे अधिक उपयोगी और व्यावहारिक बनाया जा सके।

जिस छोटी आयु में बालकों को स्कूल जाकर ज्ञान आर्जन करने की आवश्यकता होती है, उस समय उन्हें फैक्टरियों में काम न करने दिया जाए। इस बात के महत्त्व को सभी मानते हैं। सरकार ने इस चिरकालिक दोष को दूर करने के लिए जो कार्यवाही की है वह सराहनीय है और उससे बालकों को अपना विकास करने का अवसर मिलेगा जिससे वे अपने लिए अधिक उज्ज्वल और समृद्धिशील भविष्य का निर्माण कर सकें।

अध्याय १३

कामगारिनों की आर्थिक तथा सामाजिक अवस्थाएं

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रत्येक आर्थिक प्रणाली में आदि काल से ही स्त्रियों के काम का योगदान आवश्यक और उपयोगी बना चला रहा है। आरंभिक काल के समाज में भी, जब पुरुष मृगया के लिए जाता था या समुद्र से दूर-दूर यात्राएं किया करता था, तब स्त्रियां घर में बैठकर उनके लिए भोजन पकाया करती, बच्चों का लालन-पालन करती और घर-गृहस्ती का प्रबंध संभालती थीं। संक्षेप में, कम भयावह काम स्त्रियों के ऊपर छोड़ दिये जाते थे। धीरे-धीरे खेतीबारी के अर्थतंत्र ने स्त्री और पुरुष के बीच श्रम-व्यवस्था में एक विभाजन-रेखा खींच दी। पुरुष कठिन कार्यों को करने लगा और स्त्रियों पर चूल्हे-चकिया का बोझ आ पड़ा। इसमें संदेह नहीं है कि स्त्रियां खेतों में काम करके पुरुषों का हाथ बंटाती थीं। महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, स्त्रियों का काम उत्पादक नहीं माना जाता था और उसका पुरस्कार न-बराबर होता था। किंतु औद्योगिक क्रांति ने स्त्रियों की स्थिति में जड़-मूल से परिवर्तन कर दिया: वे पुरुषों की भांति ही मजदूरी का — यहां तक कि फैक्टरियों, मिलों, बागों आदि का— कठिन काम करने लगीं; और उन्होंने चूल्हे-चकिया को तिलांजलि दे दी। उनके विनिर्माणकारी क्षेत्र में प्रवेश करने और फैक्टरियों में जाकर अपनी रोटियां कमाने से उनका आर्थिक और सामाजिक पद ऊंचा हो गया। कामगारिनों की आवाज़ परिवार में सुनी जाने लगी और घर से बाहर निकल कर फैक्टरियों में पहुंचने से उनका संपर्क बढ़ चला। उन पर घरेलू अंकुश भी कम हो चला। दो महासमरों ने स्त्रियों की कार्य-क्षमता को संसार की आंखों के सामने रख दिया। यह भ्रांत धारणा निर्मूल सिद्ध हो गयी कि स्त्रियों की शारीरिक शक्ति और क्षमता इतनी सीमित है कि वे गिने-चुने काम करने लायक ही है। लाखों स्त्रियां युद्धकाल में कारखानो में घुस पड़ीं और जो मशीनें पुरुष चलाते थे उन पर वे बखूबी काम करने लगीं। वे भारी उद्योगों, धात्विक और इंजीनियरिंग

व्यवसायों तथा परिवहन में भी काम करने लगीं। इसलिए आज हम देखते हैं कि औद्योगिक तथा आर्थिक दृष्टि से विकसित और उन्नत देशों की भांति ही अनुन्नत तथा अर्द्ध-विकसित देशों में भी स्त्रियों के श्रम की आवश्यकता है।

भारत में तो गत अनेक शताब्दियों से स्त्रियां काम करती आयी हैं। युगों से भारतीय गौरवशाली शिल्पकला की धाक छायी हुई है। भारत की कन्याओं को भारत के पुत्रों से इसका कम श्रेय प्राप्त नहीं है। जहां तक स्मृति की पहुंच है और जहां तक का इतिहास लिखा गया है, भारतीय ललनाएं काम करने में पुरुषों से कभी पीछे नहीं रही हैं और आज भी खेतीबारी के काम में स्त्रियां पुरुषों का हाथ डट कर बटाती हैं। औद्योगिक क्षेत्र में भी स्त्रियां उसके आरंभिक काल से काम करती आ रही हैं। यदि इस समय हमें कारखानों में काम करनेवाली स्त्रियों की संख्या कम दिखती है तो इसका कारण यह नहीं है कि स्त्रियां कारखानों में प्रवेश करने को अनिच्छुक हैं। इसका कारण यह है कि भारत में अभी उद्योगों का इतना अधिक विकास नहीं हुआ है कि उनमें स्त्रियों की भारी खपत हो सके जबकि देश में करोड़ों पुरुष ही अभी बिना काम के भटक रहे हैं। सच तो यह है कि देश में लाखों स्त्रियां ऐसी हैं जो कारखानों में काम करना चाहती हैं; इसलिए उद्योगों का विस्तार होने पर उनकी सेवाएं बेरोकटोक प्राप्त हो सकती हैं।

इस अध्याय में, स्त्रियों के काम की समस्याओं और उनकी नौकरी के अवसरों पर विचार करने तथा, संक्षेप में, उनकी सामाजिक और आर्थिक दशाओं का वर्णन करने का प्रयास किया गया है।

नौकरी (सेवा)

१९५१ की भारतीय जनगणना से स्त्रियों की आर्थिक स्थिति के बारे में कुछ तथ्य मिलते हैं। इसके आधार पर, सारणी नं० १२ में, स्त्रियों और पुरुषों की कमाई के स्तर पर प्रकाश डाला गया है।

देश की नारी-संख्या में १५ वर्ष के नीचे की ६ करोड़ ५६ लाख तथा ५५ वर्ष के ऊपर की १ करोड़ ४४ लाख स्त्रियां निकाल दी जाएं तो उनकी संख्या ९ करोड़ ३० लाख रह जाती है। यह संख्या १५ और ५५ वर्ष आयु के बीच की आयु की स्त्रियों की है जो नौकरी आदि कम कर सकती हैं। इनमें १८·५ प्र० श० स्वावलंबी स्त्रियां हैं और २६·३ प्र० श० कमाकर खाने वाली पराश्रिता हैं।

खेतिहर वर्गों में स्वावलंबी स्त्रियों की संख्या १७·६ प्र० श० और कमाते-खाते आश्रितों की संख्या ६६·२ प्र० श० है। अ-खेतिहर वर्गो में ये संख्याएं क्रमशः १४·१ प्र० श० और ५७·३ प्र० श० हैं। संपूर्ण कामगार संख्या का

सारणी नं० १२

जीविका की दृष्टि से जनसंख्या का वितरण

(संख्या लाखों में)

	खेती		खेती-इतर		योग	
गुट	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
स्वावलंबी	५८५	१२५	२८७	४७	८७२	१७२
कमाई करनेवाले आश्रित	१०५	२०६	२९	३९	१३४	२४५
कमाई न-करनेवाले आश्रित	५७२	८९८	२५४	४१९	८२६	१३१७
जोड़	१२६२	१२२९	५७०	५०५	१८३२	१७३४

१६·५ प्र० श० स्वावलंबी स्त्रियां और २९·३ प्र० श० स्त्रियां हैं। अ-खेतिहर स्वावलंबी स्त्रियों का वर्गीकरण सारणी नं० १३ में किया गया है।

नौकरी करनेवाली स्त्रियों की संख्या १९ लाख और स्वतंत्र कामगार स्त्रियों की संख्या २४ लाख है। स्त्रियां मुख्यत: आद्य उद्योगों में मजदूरी के आधार पर काम करती हैं। इन आद्य उद्योगों में चाय बाग भी शामिल हैं। वे माल बनानेवाले कारखानों, निर्माण और उपयोगिता की सेवाओं में भी नौकर हैं। स्वास्थ्य, शिक्षा और सार्वजनिक प्रशासन के विभागों में भी वे काम करती हैं। उत्पादन तथा व्यापार के कार्यों में वे स्वतंत्र कामगार की तरह संलग्न हैं।

अमेरिका, ब्रिटेन और कनाडा में, जहां आर्थिक विकास बहुत चढ़ा-बढ़ा हुआ है, कामगार जनसंख्या में स्त्रियों का प्रतिशतक काफी तगड़ा है। किन्हीं-किन्हीं आर्थिक क्षेत्रों में कामगारिनों का पांव इतनी दृढ़ता से जम गया है कि उन्हें समूची श्रमिक-शक्ति का कौशल सहायक अंग न कहकर एक प्रबल अंग मानना पड़ेगा। आपातकाल में उनकी सुरक्षित शक्ति पर भरोसा किया जा सकता है।

एशियाई देशों में धार्मिक तथा सामाजिक अवस्थाएं और सामाजिक ढांचा स्त्रियों को पुरुषों से हीन बना देता है। यह स्त्रियों के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में निरक्षरता तथा सांस्कृतिक अज्ञान कहीं अधिक है। घर-गृहस्थी के कार्य पुराने पिछड़े ढंग से किये जाते हैं, तथा अधिक बच्चों की पैदावार के कारण स्त्रियों का सामाजिक जीवन कड़ुवा बन जाता है। इसके विपरीत, इस अधकचरी और अकुशल जन-शक्ति को काम करने के लिए साधारण औजार और मशीनें तक उपलब्ध नहीं हैं। जहां दरिद्रता का तांडव

सारणी नं० १३

आर्थिक क्रियाकलाप का वितरण	सेवायोजक		कर्मचारी		स्वतंत्र कामगार	
	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
प्रारंभिक उद्योग	४२,०६६	४,९६२	८,४९,४३७	४,०३,८५०	९,५३,१५२	१,४७,४८१
खान और पत्थर खोदना	५,५१०	४२६	३,६२,८२३	८२,२९०	९६,६३४	१९,१८७
शिल्पकारी	२,८१,९३७	२१,१९८	३१,६४,२१६	३,१५,७७५	४६,३२,१२०	७,६१,०२२
निर्माण और उपयोगिता	२९,४८८	२,०७२	५,९८,५४५	१,१४,६५८	६,८७,८८२	१,५३,०८१
व्यापार	४,७२,९४३	३०,७३२	१०,८६,५९८	४८,२८८	३७,७९,८०२	४,८२,९५५
परिवहन, भंडार और संचार	३३,६९०	३,६०६	१२,५४,४१६	३६,५५७	५,५०,९०१	२२,८०१
स्वास्थ्य, शिक्षा और सार्वजनिक प्रशासन	२०,१००	२,६०८	२७,९८,२८५	२,३४,१२९	१,९९,४५९	३५,७४६
अन्य	१,३९,८०६	१३,७५५	२८,०१,२६४	६,४४,८७०	३१,५१,१२७	७,९२,९०३
जोड़	१०,२५,५४०	७९,०८९	१,२९,१५,५८४	१८,८०,४१७	१,४०,५१,०७७	२४,१५,१७६

हो रहा है वहां वह काम करके पेट भरने को लाचार हो जाती हैं। किंतु वह मशीनों के अभाव में हाथों से काम करती हैं।*

खेती का काम-धंधा — अन्य एशियाई देशों की भांति, जहां मुख्य धंधा खेती है, भारत में भी कितनी ही स्त्रियां खेतीबारी में लगी रहती हैं। जिस जनगणना का उल्लेख ऊपर हो चुका है उसके अनुसार, खेतीबारी से ७० प्र० श० भारतीयों की जीविका चलती है। खेतिहर वर्गों में स्वावलंबी स्त्रियां १८ प्र० श० और कमाते-खाते आश्रितों में ६६ प्र० श० हैं। इस विषय में इन आंकड़ों की तुलना अन्य देशों के साथ करना उपयोगी होगा। कहा जाता है कि चीन के गावों की स्त्रियों में ६० प्र० श० स्त्रियां १९५२ के अंत तक खेतीबारी के धंधों में लगी हुई थीं। वहां किन्हीं क्षेत्रों में इन स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक थी और वे उन पुरुषों की जगह खेती का भार संभाले थीं जो चीन में बड़े पैमाने पर चालू निर्माण-कार्य में लगी हुई थीं। १९४६ की जनगणना के अनुसार श्रीलंका में लगभग १३,४४,००० व्यक्ति खेती में जुटे हुए थे जिनके ३,५०,००० स्त्रियां थीं। अनुमान है कि १९३९ में फिलिपाइन में ५० लाख लोग खेती में व्यस्त थे उनमें २० लाख से भी अधिक स्त्रियां थीं। भारत के राज्यों में खेतिहर स्त्रियों की संख्या भिन्न-भिन्न है। मध्यप्रदेश, मद्रास और हैदराबाद में उनकी संख्या कुल संख्या का क्रमशः ३४·६ प्र० श०, ३०·७ प्र० श० और ३० प्र० श० थी जबकि पंजाब और उत्तर प्रदेश में यह संख्या लगभग १० प्र० श० ही थी।

फैक्टरियों की नौकरी — १९५१ में, फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत भाग क (Part A) के नौ राज्यों में तथा भाग ग (Part C) के तीन राज्यों में २४,७४,००० प्रौढ़ कामगार थे जिनमें लगभग २,८२,००० अर्थात् ११·४ प्र० श० स्त्रियां थीं। १९५६ में कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योगों में काम करने वाली स्त्रियों का उद्योग-गत विवरण सारणी नं० १४ में दिया गया है।

सबसे अधिक स्त्रियां कपड़ा उद्योग में काम पर लगी हुई हैं। इनकी संख्या लगभग ८०,००० है। दूसरे शब्दों में यह संख्या फैक्टरियों में कुल कामगारिनों की संख्या के एक-तिहाई से भी अधिक है। खाद्य-वर्ग के उद्योगों अर्थात् चावल और आटा मिलों, चाय फैक्टरियों, तेल मिलों, आदि में लगभग ५७,००० स्त्रियां काम करती हैं। कपास ओटने तथा तैयार करने, ऊनी गोले बनाने, जूट तैयार करने, आदि के कामों में ४४,००० स्त्रियां लगी हुई हैं। सिगार, सिगरेट, बीड़ी, आदि के कारखानों में लगभग ७२,००० औरतें काम करती

* Article on Women's Empolyment in Asian countries, *International Labour Review*, September 1953.

सारणी नं० १४

कामगारिनों (१९५६) का उद्योग-वार वितरण

उद्योग	नौकरी में वयस्क श्रमिकों की कुल संख्या	नौकरी में स्त्रियों की संख्या	कुल संख्या में स्त्रियों का प्रतिशतक
कोल्हू, रहट, आदि (Gins and Presses)	१,१०,०००	४४,२७८	४०·७
पेय के सिवाय अन्य खाद्य	३,५२,९८७	५३,१८४	१५·१
तंबाकू	१,४७,६१६	७२,४०३	४९·०
कपड़ा (Textiles)	११,३४,३६०	७९,९००	७·०
कागज और कागजी चीजें	२८,२५८	१,१०३	३·९
रसायन और रासायनिक पदार्थ	८७,०३३	१६,०६८	१८·५
अ-धात्विक खनिज उत्पादन (पेट्रोल उत्पादन तथा कोयला को छोड़कर)	१,०६,३०२	१५,०३१	१४·१
मूल धातु उद्योग	१,०२,२९७	६,१७७	६·०
लकड़ी और कार्क (फर्नीचर छोड़कर)	२१,३१०	७६९	३·६

हैं। उनका सबसे अधिक अनुपात ओटनी, कोल्हू, रहट तथा तंबाकू के व्यवसाय में है।

फैक्टरियों में कामगारिनों की संख्या का अनुपात नौकरी करने वाली कामगारिनों की संख्या की दृष्टि से पिछले लगभग दो दशकों से घटता आ रहा है। किंतु उनकी कुल संख्या इस अवधि में कुछ बढ़ ही गयी है।

सारणी नं० १५ में समस्त उद्योगों के कुछ गिनेचुने वर्षों के संबंधित आंकड़े दिये गये हैं। सूती कपड़ा और जूट मिलों के आंकड़े तो अलग दिये गये हैं।

सारणी नं० १५

कुछ गिनेचुने वर्षों में, फैक्टरियों में कामगारिनों की संख्या

	समस्त उद्योग		सूती कपड़ा		जूट	
वर्ष	संख्या	प्रतिशतक	संख्या	प्रतिशतक	संख्या	प्रतिशतक
१९२७	२४२६६६	१६.९	६६५३२	१९.४	५५४१२	१६.७
१९३२	२१५३८१	१६.२	६७७५६	१७.१	४१५८१	१५.८
१९३७	२३७९३३	१४.२	६५४१७	१३.८	३९३३६	१२.९
१९४२	२६५५०९	११.६	६९९२७	११.४	३६८५९	११.९
१९४७	२६३९२३	११.६	६४४३०	१०.१	४१८७२	१३.१
१९४८	२६८६१५	११.४	६१७४३	९.६	४१९६६	१२.७
१९४९	२७५७१०	११.३	५९५३१	९.१	४१५१६	१२.९
१९५०	२७९९१६	११.४	५२६२८	८.५	३७५३१	१२.४
१९५४	३४३२७८	...	६६१०६१	...	२७१५३७	...

उक्त सारणी में १९४७ से पहले के जो आंकड़े अंकित हैं वे अविभक्त भारत के हैं और उनकी अन्य आंकड़ों से तुलना करना तर्कसंगत न होगा क्योंकि वे भारतीय संघ (Indian Union) के आंकड़े हैं। किंतु जहां तक प्रतिशतक अंकों का संबंध है उन पर इसका प्रभाव न-बराबर पड़ रहा है। ये आंकड़े भाग क (Part A) राज्यों तथा भाग ग (Part C) के तीन राज्यों के हैं। सारणी नं. १४ के आंकड़े इनसे कहीं अधिक व्यापक हैं।

सूती कपड़ा तथा जूट मिलों में कामगारिनों की संख्या में सापेक्षिक, उल्लेखनीय कमी देखने आयी है। सूती कपड़ा मिलों में पारी-प्रणाली के कारण यह कमी हुई है। स्त्रियों का रात में काम करना वर्जित है। इसलिए जो काम प्राय: स्त्रियों को मिल जाता था उसमें भी पुरुषों को रखने लगे हैं। कामगारों की काम-की पारी में अदल-बदल होती रहती है यही कारण है कि जहां कई पारियां चलती हैं वहां स्त्रियों की जगह पुरुषों को तरजीह देने लगे हैं। इसके अलावा, स्त्रियों और पुरुषों की मजदूरी-दर और भत्ते समान

हो जाने के कारण कम योग्य स्त्रियों की जगह पुरुषों को ही भरती करने लगे हैं। मालिकों के लिए आवश्यक है कि वे कामगारिनों को समय पर प्रसूति-कालिक सहायता, शिशुक्रीडाशाला, दूध पिलाने वाली माताओं के विशेष विश्राम की व्यवस्था करें — इस भार के कारण वे स्त्रियों को उद्योगों में नौकरी देने में हिचकिचाते हैं। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिकन तथा नये यंत्रों के प्रयोग के कारण उत्पादन की उन विभिन्न प्रक्रियाओं का लोप हो गया है जिनमें प्राय: स्त्रियों के श्रम की आवश्यकता पड़ती थी। पश्चिम बंगाल के जूट उद्योग के जूट पकाने के अंचल (softener feeder) में स्त्रियां काम किया करती थीं। किंतु इसमें भयंकर दुर्घटनाएं होने के कारण अब स्त्रियों को वहां काम से बंचित कर दिया गया है।

खानों की नौकरी — भारतीय खानों में लगभग ५ लाख ९० हजार लोग काम करते हैं जिनमें लगभग ३ लाख ४७ हजार जन कोयला खानों के हैं। १९५५ में खानों में कामगारिनों की संख्या १,१६,६७४ थी जिनमें ४७,६५४ कोयला-खानों में काम करती थीं। १९५३, १९५४ और १९५५ में भारत में कामगारिनों की संख्या तथा प्रतिशतक क्या था, उनका विवरण सारणी नं० १६ तथा १७ में अंकित है। खानों की लगभग पंचमांश शक्ति कामगारिनें हैं। इस घंघरिया दल का प्रचुर अनुपात मैंगनीज और कच्चे लोहे की खानों में मिलेगा। भारत में कोयला खान के विकास-काल में कामगार प्राय: सपरिवार काम करते थे; यहां तक कि कामगार-दंपति खानों में भीतर तक काम करते थे अर्थात् कामगार कोयला काटता था और उसकी बगल में खड़ी उसकी पत्नी उस कोयले को टबों में लदान करती थी। १९१९ में स्त्रियां खानों के श्रम-जनों का ३८ प्र० श० थीं। किंतु १९२९ में भारत सरकार द्वारा स्त्रियों को खानों के भीतर घुसकर काम करने से वर्जन की नीति के कारण, उनकी संख्या में दिन-पर-दिन कमी होने लगी। १९३९ में स्त्रियों को भूगर्भ में काम करने का पूर्ण निषेध करना पड़ा और इससे उन पर इस बारे में पूर्ण प्रतिबंध लागू हो गया। किंतु, युद्ध की आवश्यकताओं से विवश होकर सरकार ने १९४२ में स्त्रियों को भूगर्भ में काम करने की छूट दे दी।। जब युद्ध समाप्त हो गया तब उक्त प्रतिबंध फिर लगा दिया गया। सारणी नं० १७ में स्त्रियों की नौकरियों के जो आंकड़े दिये गये हैं उनसे पता चलता है कि स्त्रियों की आनुपातिक संख्या घटने के बावजूद, खानों में कामगारिनों की संख्या काफी बढ़ गयी है।

इन सारणियों में, १९४८ से पहले के आंकड़े विभाजन-पूर्व ब्रिटिश भारत के हैं। इसके बाद के आंकड़े भारत संघ के आंकड़े हैं। इन आंकड़ों में एक बात द्रष्टव्य यह है कि पिछले देशी राज्यों के भारत में विलय के कारण उनकी

सारणी नं० १६

खानों में कामगारिनों की संख्या और प्रतिशतक

खान	कामगारों की कुल संख्या			कामगारिनें: संख्या			कामगारिनें: कुल संख्या का प्र० श०		
	१९५३	१९५४	१९५५	१९५३	१९५४	१९५५	१९५३	१९५४	१९५५
कोयला	३,४१,१९३	३,४०,९६४	३,४७,९८०	४८,८१२	४७,८७६	४७,६५४	१४·३	१४·०	१३·७
अभ्रक	३४,८७१	२७,३३५	३०,६३२	३,५६८	२,२९८	२,८८१	१०·२	८·४	९·४
मैंगनीज	१,१०,८६९	८४,८२१	८९,९०७	४७,५६९	३४,२५२	३५,३९०	४२·९	४०·४	३९·४
कच्चा लोहा	३०,३९६	३०,७७२	३४,२१८	१०,६७९	१०,३७९	११,१४१	३५·१	३३·७	३२·६
अन्य	७६,५३९	८४,३६२	८७,९७५	१६,०३८	१९,६१७	१९,६०८	२१·०	२३·३	२२·३
जोड़	५,९३,८६८	५,६८,२५४	५,९०,७१२	१,२६,६६६	१,१६,४२२	१,१६,६७४	२१·३	२०·१	१९·८

सारणी नं० १७

विभिन्न वर्षों में, खानों में स्त्रियों की नौकरी के आँकड़े

वर्ष	संपूर्ण खानों में			कोयला खानों में		
	सभी कामगारों की	कामगारिनें		सभी कामगारों की	कामगारिनें	
	कुल संख्या	संख्या	कुल का प्र० श०	कुल संख्या	संख्या	कुल का प्र० श०
१९२७	२,६९,२९०	७८,५९३	२९·२	१,६५,२१३	४७,४४३	२८·७
१९३२	२,०४,६५८	३८,३८७	१८·७	१,४८,४८९	२६,८४७	१८·१
१९३७	२,६७,८५८	४८,२८३	१८·०	१,७१,१४९	२२,८८७	१५·४
१९४२	३,५७,६४६	६८,३४५	१९·१	२,१५,०८६	३१,६१४	१४·७
१९४५	३,८६,२९०	९४,९७८	२४·६	२,९४,९०२	७२,८०५	२४·७
१९४८	३,९५,८६५	८१,५०२	२०·६	३,०८,२६८	५५,९७१	१८·२
१९४९	४,२१,१५९	८५,१७०	२०·२	३,१८,३५४	५४,०००	१७·०
१९५०	४,७१,७६१	९५,५०६	२०·५	३,४९,८८९	५७,३९०	१६·४
१९५१	५,४९,०४८	१,०९,६०७	१९·९	३,५१,९७५	५५,२२६	१८·७
१९५२	५,५९,१९६	१,१२,०७८	२०·०	३,४८,६६३	५१,४६८	१४·८
१९५३	५,९३,८६८	१,२६,६६६	२१·३	३,४१,१९३	४८,८१२	१४·३
१९५४	५,६८,२५४	१,६६,४२२	२०·१	३,४०,९६४	४७,८७६	१४·०
१९५५	५,९०,७१२	१,१६,६७४	१९·८	३,४७,९८०	४७ ६५४	१३·७

संख्या बढ़ गयी है। किंतु इसका आंकड़ों के प्रतिशतक पर कोई भारी प्रभाव नहीं पड़ रहा है।

बागों की नौकरियां — जिन संगठित उद्योगों में कामगारिनों की संख्या सबसे अधिक है उनमें चाय, आदि के बागों (plantations) का नाम पहले आता है। १९५३ में भारतीय बागों में प्रतिदिन औसतन ११,८६,००९ कामगार काम करते थे। इन बागों में, चाय-बागों में सबसे अधिक मजदूर थे। इनकी संख्या ९,६९,६१० थी। इनमें आधे से अधिक कामगार अकेले असम में थे। १९५३ में दक्षिण भारत के काफी और रबड़ के बागों में २,१६,३९९ कामगार थे।

श्रम जांच समिति (Labour Investigation Committee) के अनुमान के आधार पर कुल श्रमिक शक्ति का ४४·७ प्र० श० दूआर की, ४७·४ प्र० श० तराई की और ४४·८ प्र० श० दार्जिलिंग के चाय बागों में वयस्क कामगारिनों के रूप में था। दक्षिण भारत में कुल श्रमिक शक्ति का ४० प्र० श० काफी तथा २५ प्र० श० रबड़ बागों में वयस्क कामगारिनों के रूप में था।

इन बागों में स्त्रियों की उक्त विशाल प्रतिशतक संख्या का क्या कारण है? पहला कारण यह है कि इन बागों में जो काम करना पड़ता है वह खेतीबारी की तरह का ही होता है; इसमें कम कौशल की आवश्यकता पड़ती है; इसलिए गांवों की स्त्रियां इसे सहज में अपना सकती हैं। दूसरा कारण यह है कि इन बागों में कामगारों की भरती परिवार-सहित कर ली जाती है। ये बाग प्रायः ऊसर-बंजर भूमि में लगाये गये थे जो बस्तियों से बहुत दूर और ऊंची-ऊंची पहाड़ियों पर होते थे। वहां स्थानीय मजदूर मिलना कठिन था। इसलिए मजदूरों की भरती दूर-दूर जाकर की जाती थी। बागों के मालिक यथासंभव स्थायी श्रमिक शक्ति का प्रबंध करना चाहते थे। वे मजदूरों के परिवारों तक को नौकरी देना चाहते थे ताकि नये रंगरूट घर-गृहस्थी से बेफिक्र होकर दिल से काम में जुट जाएं। उन्होंने मजदूरों की स्त्रियों और बच्चों तक को काम दिया और बागों पर बसने के लिए उत्साहित किया। तीसरा कारण यह है कि बागों में कम मजदूरी मिलती है। इसलिए संपूर्ण परिवार के गुजारे के लिए मजदूर, उसकी स्त्री और बच्चे तक को नौकरी देना जरूरी है।

अन्य उद्योगों में स्त्रियां — बागों के अतिरिक्त, स्त्रियां भवन बनाने तथा अन्य निर्माण-कार्य में काम करती दिखायी देती हैं। वे नगरपालिकाओं की सेवाओं में भी लगी रहती हैं। इन अंचलों की नौकरियों के पूर्ण आंकड़े मिलते हैं और उनसे मालूम होता है कि इनमें स्त्रियों का अनुपात काफी है। सितंबर १९५३ में केंद्रीय लोकनिर्माण विभाग (Central Public Works Department) में २,९५,०४५ जन काम करते थे जिनमें

१४ प्र० श० अर्थात् ४१,६५८ स्त्रियां थीं। इन स्त्रियों में ३७,१२८ स्त्रियां ठेकेदारों द्वारा काम पर लगायी गयी थीं।

भारत में स्त्रियां खेतीबारी, फैक्टरियों तथा अन्य अंचलों में काम करती हैं। इस विषय में एक बात मार्के की है। उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में स्त्रियां श्रमिक शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गयी हैं। फैक्टरियों में स्त्रियों की संख्या पर इस बात के उल्लेख से बेहतर प्रकाश पड़ता है कि हम ज्यों ज्यों उत्तर से दक्षिण की ओर बढ़ते जाते हैं, कामगारिनों की संख्या बढ़ती जाती है। आगे सारणी नं० १८ में विभिन्न राज्यों में नौकरी करने वाली स्त्रियों की संख्या के आंकड़े दिये गये हैं।

सारणी नं० १८

यू० पी०	१%	प० बंगाल	८·८%	मध्य प्रदेश	२०·६%
दिल्ली	१·१%	बंबई	१०·६%	हैदराबाद	२१ १%
भोपाल	२·३%	अजमेर	१०·७%	उड़ीसा	२१·९%
पैप्सु	४·६%	मध्य भारत	१०·७%	मद्रास	२४ १%
पंजाब	४·८%	मैसूर	१२·३%	तिरुवांकुर-कोचीन	४३·३%
बिहार	६·८%	असम	२०·१%	सौराष्ट्र	२०·५%

स्त्रियों के काम

स्त्रियों को प्रायः उन कामों पर लगाते हैं जिनमें किसी विशेष दक्षता की आवश्यकता नहीं होती है अथवा जिनमें उनकी स्वाभाविक रुचि होती है। इस दृष्टि से भारत उन देशों से बहुत पिछड़ा हुआ है जहां स्त्रियां कला-कौशल के व्यवसायों को धड़ाधड़ अपना रही हैं। भारत के सूती कपड़ा मिलों मे पहले औरतों को प्रायः वाइंडिंग तथा रील बनाने के काम में लगाते थे। इसी करण इनको लोग "स्त्रियों के काम" कहने लगे थे। अहमदाबाद के सूती कपड़ा मिलों में वाइंडिंग विभाग की लगभग ५४ प्र० श० तथा रीलिंग विभाग की लगभग ७७ प्र० श० कामगार-संख्या स्त्रियों की है। इंदौर में वाइंडिंग विभाग के ९३ प्र० श० कामगार स्त्रियां हैं और रीलिंग विभाग में तो ८० प्र० श० स्त्रियां हैं। त्रिचूर में इन विभागों में सोलहों आने स्त्रियों का राज्य है। जूट मिलों के रोइंग डिपार्टमेंट (rowing department) में फीडिंग (feeding) और रिसीविंग (receiving) दोनों कामों के लिए स्त्रियां हैं। वे बैंचिंग

(batching), प्रिपेयरिंग (preparing) और फिनिशिंग (finishing) विभागों में भी काम करती हैं। कलकत्ता जूट मिलों का सबसे महत्त्वपूर्ण केंद्र है। यहां इन विभागों में ८० से १०० प्र० श० कामगारिनें ही हैं। रेशम उद्योग के वाइंडिंग (winding) विभागों में प्राय: स्त्रियां काम करती हैं।

बीड़ी उद्योग में लगभग ३० प्र० श० श्रमिक शक्ति स्त्रियों की है। वे प्राय: अपने घरों में बैठकर काम करती हैं। वे बीड़ी लपेटने की पत्तियां काटती और साफ करती हैं। बहुत-सी स्त्रियां बीड़ी भी बनाती हैं। काजू-उद्योग का मुख्य केंद्र केरल है। इसमें लगभग ५०,००० स्त्रियां लगी हुई हैं। वास्तव में इस उद्योग में लगभग ९५ प्र० श० श्रमिक शक्ति स्त्रियों की है। भुने हुए काजुओं का छिलका हटाने, साफ करने तथा छांटने का काम प्राय: स्त्रियां ही करती हैं।

स्त्रियां खानों के ऊपर तथा खुले स्थानों में काम करती हैं। वे कोयला-खानों में कोयला लादने, राख साफ करने, ढेर लगाने, ईंट ढोने तथा सफाई के काम करती हैं। अनेक मालिकों का मत है कि स्त्रियां इन कामों को अधिक अच्छी तरह करती हैं। मैंगनीज की खानों में स्त्रियां टब तथा वेगन में माल लादने तथा माल को धरने-उठाने और साफ करने का काम करती हैं। किंतु अभ्रक की खानों में स्त्रियां प्राय: खदानों (pits) से मिट्टी-कूड़ा उठाती रहती हैं।

बागों में स्त्रियों को काम अधिक रुचिकर प्रतीत होता है क्योंकि वह खेती से मिलता-जुलता प्रतीत होता है। वे उसे सहज में कर लेती हैं। इन बागों में वे चाय की पत्तियां चुनने तथा काफी के पके फरफोटे तोड़ने में लगी रहती हैं। वे इन कामों को बखूबी करती हैं। वे चाय, काफी और रबड़ के बागों में निराई भी करती हैं। कुछ स्त्रियां आधी-परधी कुशलता का काम भी करती हैं जैसे चाय की पत्तियों को कतरना (pruning) और रबड़ के बागों के पेड़ों में छेद (tapping) करना। खेतीबारी के क्षेत्र में स्त्रियां फसल काटने, बीज बोने, निराई करने, धान रोपने, खाद देने, सिंचाई करने और खलिहान उठाने में लगी रहती हैं। कभी-कभी वे जोतने और पटेला चलाने, गुड़ाई करने, सीढ़ीदार खेत बनाने, आदि का काम भी कर देती हैं।

नयी भरती और प्रशिक्षण

औद्योगिक कारखानों में नौकरी के लिए स्त्रियों को सीधा भरती कर लिया जाता है। जो मालिक इसके लिए सरकारी काम दिलाऊ कार्यालयों का दरवाजा खटखटाते हैं उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। कपड़ा मिलों के अधिकारी मिलों में स्त्रियों की भरती अपनी रोजगार ब्यूरो से सीधी कर लेते हैं। किन्हीं-किन्हीं केंद्रों पर मुकद्दमों-जैसे मध्यस्थों से काम चलाते हैं। कितने ही मिल

श्रम अथवा कल्याण अधिकारियों की मार्फत भरती करते हैं जिनके पास उम्मीदवारों की पंजी होती है। कलकत्ते के जूट मिल अपनी श्रमिक ब्यूरो की मार्फत नये मजदूरों की भरती करते हैं। खानों में नयी भर्ती सिरदार या मुकद्दमों की मार्फत होती है। बागों में परिवार-के-परिवार भरती किये जाते हैं तथा कामगारों की पत्नियों और लड़कियों तक को भरती कर लिया जाता है।

असम के चाय-बागों में काम करने के लिए रंगरूटों की भरती चाय जिला प्रवासी श्रमिक अधिनियम के अंतर्गत की जाती है। यह भरती कलकत्ता के चाय जिला श्रमिक संघ (Tea Districts Labour Association) के मार्फत होती है जो पश्चिम बंगाल के लिए भी अधिकांश श्रमिक भरती करता है। दक्षिण भारत के बागों के लिए मजदूरों की भरती प्राय: कंगानियों द्वारा की जाती है जो सामान्यत: कामगारों में से चुने जाते हैं।

सरकारी काम-दिलाऊ कार्यालयों की मार्फत जिन स्त्रियों की भरती होती है उनकी संख्या अभी सीमित ही है। १९५४-५५ में नौकरियों के लिए ६१,८२९ स्त्रियों का नाम पंजी में चढ़ाया गया जिनमें केवल ८,०५७ को ही काम मिल सका। मद्रास और बंबई में पंजीकृत स्त्रियों की संख्या अन्य राज्यों से कहीं अधिक है। नर्सों (उपचारिकाओं), आयाओं, दाइयों, डाक्टरों, शीघ्रलिपिकों तथा प्रशिक्षण प्राप्त अध्यापकों के पदों के लिए स्त्रियों की कमी होती है। लिपिकों (क्लर्कों) अर्थात् बाबुओं के काम के लिए स्त्रियों की भरमार बनी रहती है। एक और कठिनाई है। स्त्रियां अपने घर से दूर जाकर काम नहीं करना चाहती हैं। उनमें कितनी ही स्त्रियों को प्रशिक्षण प्राप्त नहीं और कितनों को अध्यापक तथा उपचारिका के काम की अधूरी ट्रेनिंग प्राप्त है। पहले तो उनके लिए चलफिर कर काम-धंधा ढूंढ़ना एक समस्या बन गयी है, और जहां काम मिल सकते है वहां उनके निवास की व्यवस्था न होने से उनके चलफिर कर नौकरी करने के मार्ग में एक अड़ंगा पड़ जाता है। कम आकर्षक मजदूरी तथा सेवा की शर्तों के कारण भी स्त्रियां घर से दूर जाकर नौकरी करना पसंद नहीं करती हैं। काम-दिलाऊ कार्यालयों का कहना है कि स्त्रियां देहाती क्षेत्रों में नौकरी करने को इच्छुक नहीं होती हैं। कुछ नौकरीदाता स्त्रियों को नौकर नहीं रखना चाहते हैं क्योंकि उनके लिए विशेष प्रबंध करना पड़ता है।

उपलब्ध जानकारी से ज्ञात होता है कि मालिकों ने कामगारिनों के प्रशिक्षण के लिए कभी कोई विशेष प्रबंध नहीं किया है। पुनर्वास और नियोजन के महानिर्देशक ने स्त्रियों के व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए प्रबंध अवश्य किया है। १९४६ में श्रम मंत्रालय ने विघटित सैनिक कर्मचारियों के लिए एक प्रशिक्षण-परियोजना बनायी थी। स्त्रियों का प्रशिक्षण इसी परियोजना का एक अंग है। इस परियोजना के अंतर्गत उन स्त्रियों को प्रशिक्षण दिया जाता

था जो पहले सशस्त्र सेनाओं की सहायक सेवाओं में काम करती थीं। उन्हें शिल्पकला, हस्तकला, क्लर्की तथा वाणिज्य-संबंधी कामों की शिक्षा दी जाती थी। यह परियोजना १९४८ में समाप्त ही हुई थी कि विस्थापित स्त्रियों का प्रशिक्षण कार्यक्रम उपस्थित हो गया। इस समय प्रौढ़ नागरिक प्रशिक्षण परियोजना चालू है जो १९५० में शुरू हुई थी। यह सभी श्रेणियों की आवेदन-कर्त्रियों के लिए उपयोगी है। प्रशिक्षण निम्नांकित विषयों में दिया जाता है : बुनाई (हाथ तथा मशीन से), हाथ से उत्तम श्रेणी के धागों की बुनाई, कपड़े को धोना और रंगना, बेलबूटे तथा जरी का काम, खेलकूद के सामान का निर्माण, शीघ्रलिपि (stenography), कपड़ा काटना तथा सीना-पिरोना, फल और सब्जी का संरक्षण तथा मिठाइयां बनाना। इस समय स्त्रियों के लिए चार प्रशिक्षण केंद्र चालू हैं—इनमें दो मद्रास में, एक दिल्ली में तथा एक देहरादून में है। सितम्बर १९५१ में इन शालाओं में ४९८ स्त्रियां प्रशिक्षण प्राप्त कर रही थीं। इसके अतिरिक्त ५९ स्त्रियां उन अन्य प्रतिष्ठानों अथवा केंद्रों में प्रशिक्षण पा रही थीं जो केवल स्त्रियों के लिए ही सुरक्षित नहीं हैं। "शिल्पकार प्रशिक्षण परियोजना" (Craftsmen Training Scheme) के अंतर्गत जिन ५५८ स्त्रियों के प्रशिक्षण ग्रहण करने का उल्लेख हो चुका है, उनमें ५५२ ने जुलाई १९५५ में परीक्षा दी थी जिनमें ५३२ सफल हुईं और अब तक सफल स्त्रियों की संख्या १,९८३ तक पहुंच चुकी है। इसके अतिरिक्त पुनर्वास तथा नियोजन के महानिर्देशालय के कुछ अन्य केंद्रों पर भी स्त्रियों को प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

जब मई १९५५ में नयी दिल्ली के स्त्रियों का औद्योगिक प्रशिक्षण प्रतिष्ठान (Industrial Training Institute for Women) में उक्त परियोजना का सूत्रपात किया गया तब स्त्रियों को शिल्पकला का अध्यापक बनाने के प्रशिक्षण की व्यवस्था सामने आयी। इस परियोजना के अंतर्गत, हाथ अथवा मशीन से कपड़े की कटाई तथा सिलाई, बेलबूटे तथा जरी के काम जैसे लोकप्रिय व्यवसायों का प्रशिक्षण दिया जाता था। सितम्बर १९५५ के अंत में यहां २१ स्त्रियां अध्यापक बनने का प्रशिक्षण पा रही थीं।

मजदूरी

पुरुषों की भांति स्त्रियों के लिए भी मजदूरी का सवाल बहुत महत्त्वपूर्ण है। पश्चिमी देशों के विपरीत, भारत में स्त्रियां सामान्यत: काम के लिए काम नहीं करना चाहती हैं; वे तो केवल मजदूरी पर अपनी दृष्टि रखती हैं। वे केवल "कुछ मिल गया तो मिल गया" के उद्देश्य से काम नहीं करती हैं जैसा कि स्त्रियां पश्चिमी देशों में "आकस्मिक व्यय-पूरक धन" कमाने के लिए काम

करती हैं। भारत में स्त्रियां धन उपार्जन करके अपने परिवार की अपर्याप्त और अल्प आय को बढ़ाने की चेष्टा करती हैं। पराश्रित स्त्रियां तथा विधवाएं अपने और अपने बच्चों के गुजारे के लिए कमाती हैं।

ये स्त्रियां कितना कमाती हैं और मजदूर-वर्ग के परिवारों की आय में उनकी कमाई की क्षमता कितना योगदान करती है, इस विषय पर भारत सरकार की १९४४-४६ की परिवार-बजट जांच से प्रकाश पड़ता है।

अखिल भारतीय खेतिहर मजदूर जांच के निष्कर्षों के अनुसार, १·५३ अर्जनकर्ताओं के एक औसत खेतिहर परिवार में ०·३५ अथवा २२·९ प्र० श० कामगारिनें थीं।

सामान्यत: स्त्रियों को मजदूरी पुरुषों से कम मिलती है। इसका कारण यह है कि उनके काम का सापेक्षिक मूल्य कम होता है या वह पुरुषों से भिन्न प्रकार का होता है; अथवा कुछ ऐसी ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां बन गयी हैं जिनसे काम क्या है, इसकी पर्वाह न करके, स्त्रियों को पुरुषों से कम मजदूरी दी जाती है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के एक प्रतिवेदन में लिखा गया है : "निःसंदेह, स्त्रियों की नौकरी की कितनी ही समस्याएं उनके पारिश्रमिक के सापेक्षिक स्तर पर निर्भर हैं।... उनके पारिश्रमिक के स्तर पर एक सबसे निश्चित और: थायी प्रभाव इस बात का पड़ता है कि उनकी व्यावसायिक शिक्षा अनेक प्रकार से पुरुषों की व्यावसायिक शिक्षा से निम्न कोटि की होती है। वे स्वयं अपनी व्यावसायिक कुशलता को सुधारने में पुरुषों की भांति चित्त नहीं लगाती हैं। इसलिए जहां नौकरी देने में 'पूर्ति और मांग" का प्रश्न सामने आता है वहां स्त्रियों का मामला खटाई में पड़ना स्वाभाविक है। यही कारण है स्त्रियों को न्यून मजदूरी-दर पर भरती किया जाता है। जिन उद्योगों और व्यवसायों में स्त्रियों को भरती करने की परंपरा चली आ रही है उनमें, निःसंदेह, अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा उन्हें कम मजदूरी मिलती है। जिन उद्योगों और व्यवसायों में स्त्री और पुरुष, दोनों काम करते हैं, उनमें स्त्रियों की न्यून मजदूरी-दर होने के कारण पुरुषों की मजदूरी भी अपेक्षाकृत न्यून हो गयी है। यह मानना होगा कि सामाजिक रीति-रिवाजों तथा पूर्वागत धारणाओं के कारण भी कामगारिनों को न्यून वेतन देने का ढर्रा चल पड़ा है।"* इस प्रतिवेदन में लिखा है कि श्रम की उत्पादिता बढ़ाने के लिए जनशक्ति के साधन का वैज्ञानिक प्रयोग करके जिस सामाजिक प्रगति का सूत्रपात हुआ है तथा

---

* *Equal Remuneration for Men and Women Workers for Work of Equal Value,* Report V (1, 33rd Session of the I.L.O.) published in 1949, pp. 98-9.

सामान्य सामाजिक अवस्थाओं में जो सुधार हुआ है, उनके कारण श्रम-हाट में स्त्रियों की स्थिति पर प्रभाव पड़ा है और उनका पारिश्रमिक बढ़ गया है।

सारणी नं० १९

भारत के गिनेचुने नगरों में कामगारिनों की अर्जन-शक्ति का विवरण

नगर या क्षेत्र	प्रति प्ररिवार पीछे कुल अर्जन-शक्ति	प्रौढ़ स्त्री की औसत अर्जन-शक्ति	परिवार की कुल आय की तुलना में कामगारिनों की आय का प्रतिशतक
१ अहमदाबाद	१·५६	०·१६	८·०६
२ अजमेर	१·१६	०·०१	०·१६
३ बंबई	१·५३	०·२४	नदारद
४ बरहमपुर	२·०५	०·४५	,,
५ कलकत्ता	१·४३	०·०९	२·२६
६ कटक	१·४५	०·०१	नदारद
७ डेहरी-ऑन-सोन	१·६४	०·१५	१·६०
८ दिल्ली	१·३४	०·११	२·४२
९ जमशेदपुर	१·३३	०·०९	नदारद
१० झरिया	२·०२	०·७३	२९·११
११ जलगांव	१·६६	०·२८	४·९३
१२ गौहाटी	१·३२	०·०९	१·६५
१३ खड़गपुर	१·५७	०·१२	६·०२
१४ अकोला	१·८४	०·४४	२२·९२
१५ लुधियाना	१·३४	०·०७	१·०६
१६ मुंगेर और जमालपुर	१·५७	०·०६	नदारद
१७ जबलपुर सिटी	१·६६	०·२९	४·७३
१८ सिलचर	१·४०	०·०३	१·३२
१९ तिनसुकिया	१·२१	०·०७	नदारद
२० शोलापुर	१·८५	०·३९	७·३७

मूल-स्रोत : एस० आर० देशपांडे का परिवार बजट जांच प्रतिवेदन (Family Budget Enquiry Reports)।

पिछले कुछ दिनों तक भारत के बड़े-बड़े संगठित उद्योगों तक में समान काम के लिये स्त्रियों और पुरुषों को समान मजदूरी देने का सिद्धांत स्वीकार नहीं किया गया था। इसलिए स्त्रियों और पुरुषों के वेतनों तथा आय में काफी अंतर देखने में आता था। लगभग सभी उद्योगों में स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम मजदूरी देने की प्रथा चालू थी। ऐसा नहीं कि केवल भारत में ही स्त्रियों को कम मजदूरी देने का चलन है। ब्रिटिश कामगारों को, जो हाड़ पेलकर हाथ से काम करते हैं, प्रति घंटे २ शि० ६ पैं० से लेकर ३ शि० ६ पैं० तक मजदूरी मिलती है। यह उनकी मजदूरी का मानदंड है। इसी प्रकार ब्रिटिश स्त्रियों को १ शि० ९ पैं० या इससे कुछ अधिक मजदूरी मिलती है।* १९५० में आस्ट्रेलियन कामनवैल्थ विवाचन और सुलह न्यायालय (Australian Commonwealth Court of Arbitration and Conciliation) ने स्त्रियों को पुरुष की मजदूरी का ७५ प्र० श० देने का निर्णय किया था। अभी हाल में वहां के मालिकों ने यह मजदूरी ६० प्र० श० करवाने की कोशिश की थी जिसे न्यायालय ने अस्वीकार कर दिया।†

१९४४ में श्रम जांच समिति (Labour Investigation Committee) द्वारा संग्रहीत सूचना के अनुसार, भारत में कामगारिनों की मजदूरी एक ही व्यवसाय में नौकरी करने वाले पुरुषों की मजदूरी से कम थी। एक ही उद्योग के मुख्य-मुख्य केंद्रों में कुछ गिने-चुने व्यवसायों में लगे कामगारों और कामगारिनों की औसत दैनिक कमाई की सारणी सामने के पृष्ठ पर दी गई है।

औद्योगिक न्यायालयों, औद्योगिक अधिकरणों, आदि के निर्णयों तथा पंचाटों के कारण उद्योगों का मजदूरी-ढांचा बहुत-कुछ सुधर गया है—अब उसका एक मानक बन गया है और अधिकांश औद्योगिक केंद्रों में स्त्रियों और पुरुषों की मजदूरी समान हो गयी है। पश्चिम बंगाल में, स्त्रियों को पुरुषों की मजदूरी का केवल तीन-चौथाई मिलता है। औद्योगिक अधिकरणों (Industrial Tribunals) ने जूट मिल उद्योग में स्त्रियों और पुरुषों की मजदूरी का भेद घटाकर बहुत कम कर दिया है। जिन व्यवसायों में मुख्य रुप से स्त्रियों

---

* *Britain—An Official Handbook,* Central Office of Information, London, 1954, p. 224.

† "The Basic Wage and Standard Hours Enquiry in Australia, 1952-53," *International Labour Review,* June 1954.

को ही नौकर रखा जाता है उनमें न्यूनतम मूल मासिक मजदूरी २६ रु० हो गयी है।

खानों में भी स्त्रियों को पुरुषों से कम मिलता है। १९५१ में खानों में स्त्रियों और पुरुषों की मजदूरी का दिग्दर्शन सारिणी नं० २१ से हो सकता है :

सारणी नं० २१

दिसम्बर १९५१ में खानों में काम करने वाली स्त्रियों और पुरुषों की औसत दैनिक नकद आय

	खुले में काम		ऊपर	
	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
खानें	रु० आ०	रु० आ०	रु० आ०	रु० आ०
कोयला				
बिहार	१-१०	१-४	१-१४	१-२
पश्चिम बंगाल	१-८	१-१०	१-१५	१-३
अभ्रक				
बिहार	१-७	१-६	१-११	१-८
आंध्र	१-५	१-०	१-७	१-५
मैंगनीज				
मध्य प्रदेश	१-७	१-४	१-५	१-३
कच्चा लोहा				
बिहार	१-४	१-२	१-८	१-२
सोना				
मैसूर	...	...	३-४	२-७

कोयला खानों में स्त्री पुरुष के काम की खुदरा मजदूरी (उजरत) समान होती है। बिहार और पश्चिम बंगाल की कोयला खानों में काम करने वाले मजदूरों—स्त्री और पुरुष दोनों—को जिस न्यूनतम समय दर (अमानी) पर रखा जाता है, वह समान होती है। यह दर आठ आने प्रति दिन होती है। किंतु मध्य प्रदेश में स्त्री को ६ आने तथा असम में स्त्री को ७ आने मिलते हैं जबकि पुरुष को उन राज्यों में आठ आने दिये जाते हैं। हैदराबाद में पुरुष को १० आने और स्त्री को ९ आने मिलते हैं। मध्य प्रदेश की मैंगनीज-खानों

में स्त्री को १४ आने और पुरुष को १ रु० २ आ० मिलते हैं। मैसूर की सोने की खानों में अनसीखे पुरुष की न्यूनतम मूल मजदूरी १३ आने प्रति दिन तथा स्त्री की केवल ९ आने प्रति दिन है।

अधिकांश राज्यों में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (Minimum Wages Act) के अंतर्गत बागों में काम करने की मजदूरी दी जाती है। स्त्री और पुरुष की जो मजदूरी दरें निर्धारित हैं उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है। स्त्रियों को फसल काटने, गाहने-मीजने के लिए उजरत दी जाती हैं। इसमें स्त्री और पुरुष को समान मजदूरी मिलती है और बहुधा स्त्रियां पुरुषों से भी अधिक कमाई कर लेती हैं।

सारणी नं० २२

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के अंतर्गत निर्धारित न्यूनतम मजदूरी

	पुरुष (रु० आ० पा०)	स्त्री (रु० आ० पा०)
असम (चाय)	०-१५-० से १-२-०	०-१४-० से १-०-०
मद्रास (चाय, काफी और रबड़)	१-५-०	१-०-०
पंजाब	०-११-०	०-८-६
पश्चिम बंगाल (चाय)	०-१५-० से १-३-०	०-१४-० से १-१-०
मैसूर	१-०-०	०-१३-०
कुर्ग (काफी)	१-२-०	०-१४-०
तिरुवांकुर	१-९-६	१-३-३

खेतीबारी में समान काम के लिए स्त्रियों को पुरुषों से कम मजदूरी मिलती है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि उनके काम के घंटों में अंतर होता है तथा खेती के कितने ही कामों में मेहनत का सवाल उठने के कारण स्त्रियां पुरुषों के बराबर परिणाम उपस्थित नहीं कर सकती हैं।

न्यूनतम मजदूरी—न्यूनतम मजदूरी अधिनियम १९४८ के अंतर्गत कितने ही राज्यों में न्यूनतम मजदूरी-दरें निर्धारित हैं। अनुसूचित नौकरियों को देखने से मालूम होता है कि कितने ही कामों में स्त्री और पुरुष के वेतनों में अंतर नहीं होता है। कुछ उद्योगों में काम-धंधों के रंग-ढंगों में अंतर होने के कारण, कितने ही राज्यों ने यद्यपि अनुसूचित कार्यों के लिए स्त्री और पुरुष की न्यून-

तम मजदूरी बराबर ही निर्धारित की है, फिर भी अन्य काम-धंधों की मजदूरियों में भेदभाव बरता गया है। निम्नांकित सारणी में फैक्टरियों के कुछ काम-धंधों में मजदूरी का यह अंतर दिखायी देगा :

सारणी नं० २३

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के अंतर्गत निर्धारित न्यूनतम मजदूरी

उद्योग	स्त्री और पुरुष के लिए समान वेतन-दर नियत करने वाले राज्य		स्त्री और पुरुष के लिए विभिन्न वेतन-दर नियत करने वाले राज्य		
	राज्य संख्या	दैनिक निर्धारित भृति-दर	राज्य संख्या	दैनिक निर्धारित भृति-दर पुरुष	स्त्री
चावल, आटा और दाल मिल	१०	१ रु. से २ रु. ५ आ.	३	१२ आ. से १ रु. २ आने	८ आ. से १२ आ.
तेल मिल	८	१ रु. से २ रु. ५ आ.	२	१ रु. से १ रु. १५ आ.	१२ आ. से १ रु. ९ आ.
चमड़ा कमाना, चमड़े की चीजें	७	१ रु. से २ रु. ६ आ.	२	१ रु. से १ रु. ५ आ.	१२ आ. से १ रु. १ आ.
लाख	१	१ रु.		१५ आ. से १ रु. ४ आ.	१४ आ. से १ रु.
तंबाकू	१५	(१) १२ आ. से २ रु. २ आ. (२) १० आ. से २ रु. ८ आ.*			

* प्रति १,००० बीड़ियां पीछे।

कार्यावस्थाएं

अब स्त्रियों के फैक्टरियों, खानों और बागों में काम के घंटों, छुट्टियों और अवकाश, कार्यस्थल के चारों ओर की अवस्थाओं तथा अन्य शर्तों का नियमन

राजकानूनों द्वारा होता है। प्रौढ़ स्त्रियों और पुरुषों, दोनों के लिए काम के अधिकतम घंटे नियत हो गये हैं। खानों और फैक्टरियों में अधिकतम साप्ताहिक घंटे ४८ और चाय, आदि के बागों में ५४ होते हैं। स्त्रियों से फैक्टरियों और खानों में प्रति दिन अधिक-से-अधिक ९ घंटे का काम लिया जा सकता है और यह समय क्रमशः १०½ और १२ घंटों की अवधि तक लंबा फैलाया जा सकता है। बागों में काम के दैनिक घंटे नियत नहीं हैं किंतु उनका फैलाव १२ घंटों से अधिक लंबा नहीं होना चाहिए। फैक्टरियों, खानों और बागों में स्त्रियों को रात में काम पर नहीं बुलाया जा सकता है। अनिवार्य साप्ताहिक छुट्टियों और वार्षिक अवकाश के लिए वेतन देना पड़ेगा।

अ० भा० खेतिहर मजदूर जांच के आंकड़ों के अनुसार स्त्रियां पुरुषों से कम घंटे काम करती हैं। उदाहरण के लिए, वे मध्यप्रदेश में ६ घंटे, असम और बंगाल में ७ से ७½ घंटे प्रति दिन काम करती हैं जबकि आदमी को ८ घंटे काम करना पड़ता है।

जब हम उद्योगों में काम करने वाली स्त्रियों के विषय पर विचार करते हैं तब हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वे परंपरा और चलन के अनुसार अपनी गृहस्थी का भार भी संभालती हैं। हम मानते हैं कि फैक्टरियों में उनके काम के घंटे पुरुषों से अधिक नहीं होते हैं, फिर भी उसके अतिरिक्त उन्हें घर-गृहस्थी का टप्पर उठाना, बच्चों की देखभाल करना, और स्वजनों के कपड़ों की मरम्मत करनी पड़ती है। इस प्रकार भारतीय कामगारिन सचमुच आवश्यकता से अधिक काम करती हैं।

सामाजिक अवस्थाएं

उद्योगों में जो स्त्रियां काम करती दिखती हैं उनमें अधिकांश आर्थिक दशा से लाचार होकर अपने माता-पिताओं, पतियों अथवा अन्य संबंधियों के साथ वहां आ गयी हैं। इस प्रवास से पहले, वे खेतिहर तथा शिल्पकार वर्गों में थीं और उनकी पृष्ठभूमि तथा दृष्टि ठोस रूप से ग्रामीण थी। औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश करने पर, उनका पिछला संस्कार यों ही विलुप्त नहीं हो गया। उनकी चाल-ढाल, सामाजिक आदतों, रीति-नीति और वातावरण पर प्रवास पूर्वकालिक छाप दिखायी देती है। मजदूरों में छोटी-आयु में विवाह कर लेने का काफी चलन है।

स्त्रियां २० वर्ष की होने से पहले प्रायः नौकरी नहीं करती हैं। इसका कारण प्रायः भारत की धार्मिक और सामाजिक परंपराएं बतायी जाती हैं जिससे युवतियां तथा विशेषकर अविवाहित कुमारियां पुरुषों से मिलना-जुलना

पसंद नहीं करती हैं। निम्नांकित सारणी में औद्योगिक नौकरियां करने वाली स्त्रियों की आयु पर प्रकाश डाला गया है :

सारणी नं० २४

कपड़ा तथा जूट उद्योगों की स्त्रियों की आयु का वितरण

आयु-वर्ग	कामगारिनों का प्रतिशतक*	
	कपड़ा मिल (बंबई)	जूट मिल (कलकत्ता)
— २५	५·६	७·४
२६ से ३०	१२·२	१९·२
३१ से ३५	१८·६	२१·४
३६ से ४०	२०·९	१६·४
४१ से ४५	१७·१	१४·०
४६ से ५०	१२·७	९·१
५१ से ५५	८·१	६·१
५५ से ऊपर	४·८	६·४

* कपड़ा मिलों की कुल १८,४२६ स्त्रियां तथा जूट मिलों की कुल १,७२८ स्त्रियां ली गयी हैं।

कागज तथा रसायन उद्योगों के तीन कारखानों में क्रमशः ४६८ और ६६९ स्त्रियां काम करती थीं। उनकी आयु-क्रम का वितरण निम्नांकित है :

सारणी नं० २५

आयु-वर्ग	कागज मिल %	रसायन उद्योग %
२० से नीचे	३·२	०·९
२० से २९	३८·०	५५·१
३० से ३९	३४·२	३५·९
४० से ऊपर	२४·६	८·१

तीन नगरपालिकाओं में काम करनेवाली स्त्रियों का आयु-क्रम का विवरण सारणी नं० २६ में अंकित है :

सारणी नं० २६

आयु-वर्ग	बंबई		अहमदाबाद		कानपुर	
	संख्या	प्र० श०	संख्या	प्र० श०	संख्या	प्र० श०
३० से नीचे	१,५४१	५२.८	३९७	३७.६	२८८	३४.०
३१ से ४०	८४३	२८.९	४२६	४०.४	३०७	३६.२
४० से ऊपर	५३६	१८.३	२३२	२२.०	२५३	२९.८
जोड़	२,९२०	१००	१,०५५	१००	८४८	१००

इससे प्रत्यक्ष है कि भारत में अधिकांश मजदूरिनें अधेड़ आयु की होती हैं। श्रीलंका में भी अधिकांश कामगारिनें अधेड़ आयु की देखी जाती हैं। किंतु जापान में ऐसी बात नहीं है। वहां प्रायः युवतियां काम करती मिलेंगी। १९४९ में जो पूछताछ हुई थी उससे पता चलता है कि कामगारिनों की औसत आयु २३.८ वर्ष थी और उनमें ७६ प्र० श० स्त्रियां २५ वर्ष से कम की थीं।*

भारत में विवाहित स्त्रियां और विधवाएं प्रायः उद्योगों में काम करती मिलेंगी। इसका कारण भारतीय धार्मिक तथा सामाजिक परंपराएं हैं जिससे अविवाहिताएं काम करने को स्वच्छंद नहीं होती हैं।

बंबई के कपड़ा मिलों में जो कामगारिनें काम करती हैं उनमें केवल २.७५ प्र० श० को अक्षर-ज्ञान है। मध्य भारत के छह कपड़ा मिलों में काम करने वाली साक्षर कामगारिनों की संख्या शून्य से २.१ प्र० श० थी। दक्षिण भारत के कपड़ा मिलों की कामगारिनों में साक्षरता १८ प्र० श० बतायी जाती थी। कलकत्ता के जूट मिलों में लगभग ०.४ प्रतिशत स्त्रियां साक्षर थीं। बंबई महानगरपालिका की कर्मचारियों में ४ प्र० श० और अहमदाबाद महानगरपालिका की कर्मचारिनों में ८.४ प्र० श० साक्षर बताते थे।†

मजदूर संघ-वाद (Trade Unionism)

औद्योगिक कामगारों में अपने अधिकारों के प्रति कहां तक चेतना उत्पन्न हो गयी है, उसी का नाम मजदूर संघ-वाद (श्रमिक संघता) है। इस दृष्टि से

* "Women's Employment in Asian Countries," *International Labour Review,* September 1953.

† *Economic and Social Status of Women Workers in India,* Labour Bureau, Government of India, pp. 59-60.

भारतीय स्त्रियों में वर्गवादी चेतना दिन-पर-दिन बढ़ रही है। १९२७-२८ में स्त्रियां मजदूर संघों में १·२ प्र० श० थीं। किंतु १९५१-५२ में उनकी यह संख्या ६·३ प्र० श० हो गयी। चाय, आदि के बागों तथा सूती कपड़ा मिलों की कामगारिनों में मजदूर संघ-वाद दृढ़ता से पनप उठा है। किंतु स्त्रियों में मजदूर संघ आंदोलन का अंकुर फूटने में अभी काफी समय लगेगा। यद्यपि फैक्टरियों, खानों और बागों में कामगारिनों की संख्या कुल श्रम शक्ति का क्रमशः १२·३, २०·५ और ४६·६ प्र० श० है फिर भी उन क्षेत्रों के मजदूर संघों में उनकी सदस्यता क्रमशः ७·२, २०·१ और २१·६ प्र० श० ही है। मजदूर संघों की कुल सदस्य-संख्या तथा उनमें स्त्रियों की संख्या नीचे दी हुई सारणी नं० २७ से प्रकट होती है :

सारणी नं० २७

उद्योग	कुल सदस्यता	स्त्रियों की संख्या
खेती तथा तत्संबंधी काम	२,००,५७१	४९,२८२
खान खोदना तथा पत्थर निकालना (Mining and quarrying)	१,९३,५३५	४८,६४२
मेनुफैक्चरिंग (माल बनाना)	८,९०,६७७	८२,०१५
निर्माण (Construction)	४०,७००	६११
विजली, गैस और सफाई सेवा	६०,७९२	६,७०६
वाणिज्य	८८,५०९	७९४
परिवहन, भंडार और संचार	४,९३,७८१	१,४८६
सेवाएं (Services)	७१,८०१	४,९९०
विविध	७०,८५२	३,५१८
जोड़	२१,०६,०४२	१,७६,४५५

१९५३-५४ में, भारत के मजदूर संघों में ८·४ प्र० श० सदस्य स्त्रियां थीं। ब्रिटेन में (१९५३)* उनकी यह संख्या १८ प्र० श० से अधिक और जापान में (१९५१) लगभग २४ प्र० श० थी।†

* *Labour Relations and Working Conditions in Britain*, 1953, Central Office of Information, London, p. 16.

† "Women's Employment in Asian Countries," *International Labour Review*, September 1953.

सारणी नं० २८

मजदूर संघों की सदस्यता १९५३-५४

राज्य	कुल सदस्य संख्या	स्त्रियों की संख्या
केंद्रीय मजदूर संघ		
पार्ट A राज्य	१,३६,६२३	१,१७७
पार्ट B राज्य	२३,०००	...
पार्ट C राज्य	१,०५,३०२	१२०
जोड़	२,४१,९४८	१,२९७
राज्य मजदूर संघ		
पार्ट A राज्य		
आंध्र	३१,२३२	५,७९५
असम	१,४९,७९८	२६,३२५
बिहार	२,६३,५३९	३०,९५६
बंबई	४,०१,५९४	३१,११०
मध्य प्रदेश	३३.१३३	३,०१५
मद्रास	१,३८,९९८	१९,०८०
उड़ीसा	१७,४२४	१४७
उत्तर प्रदेश	१,४३,४९६	१,६९८
पश्चिम बंगाल	४,००,८१४	१९,६३९
जोड़	१६,११,०६५	१,४२,३९५
पार्ट B राज्य		
हैदराबाद	२२,३६९	२,५७८
मध्य भारत	१४,९००	८०९
मैसूर	३६,०७५	२,५०१
पैप्सू	२,२३९	...
राजस्थान	७,८८८	८८४
सौराष्ट्र	१२,८६९	१,७३९
तिरुवांकुर-कोचीन	८५,१२५	२१,१७३
जोड़	१,८१,४६५	२९ ६८४
पार्ट C राज्य	७८,२१७	३,०९१
कुल जोड़	२१,१२,६९५	१,७६,४६७

स्वास्थ्य और कल्याण

स्त्रियों और पुरुषों के स्वास्थ्य तथा कल्याण की समस्याएं बहुत दूर तक समान होती हैं। स्वास्थ्य के जोखिम और चिकित्सा की सुविधाएं स्त्रियों और पुरुषों के लिए भिन्न-भिन्न नहीं हो सकती हैं। हां, यह ठीक है कि "गर्भकाल में स्त्रियों को अनेक खतरों से सावधान रहना चाहिए। प्रसवकाल में माताओं के मरने के खतरे के प्रति विशेष ध्यान देना होगा, आदि।"* खानों और बागों में काम करने वाली स्त्रियों की स्वास्थ्य-स्थिति से भी स्वास्थ्य की समस्या पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

कोयला-खानों में मलेरिया का प्रकोप बहुत अधिक देखने में आता है। असम, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में मलेरिया का रोग बहुत होता है। जिन अन्य रोगों से स्त्रियों को कष्ट झेलना पड़ता है वे हैं रक्तहीनता (anaemia), ओस्टिओमेलेसिया (osteomalacia), फोड़ा-फुंसी, और एवीटामिनोसिस (avitaminosis)। ये रोग प्रायः आहार में पौष्टिक तत्त्व की कमी के कारण पैदा होते हैं।

असम के बागों में काम करने वाले कामगारों को मलेरिया, पेचिश और रक्तहीनता के रोग प्रायः धर-दबोचते हैं। असम के बागों में काम करने वाली स्त्रियों के स्वास्थ्य के बारे में मेजर लॉयड जोन्स ने लिखा है कि इन स्त्रियों को मलेरिया, पेचिश तथा हुकवॉर्म (hook-worm) के अतिरिक्त हाइपोक्रॉमिक (hypochromic) तथा माइक्रोसाइटिक एनीमिया (microcytic anaemia) होना एक गौण बात है।† आवश्यक पौष्टिक आहार की कमी तथा गर्भ के कारण माइक्रोसाइटिक एनीमिया प्रायः उन्हें हो जाता है जिससे कितनी ही माताएं मौत के मुंह में चली जाती हैं। अधिक संतानोत्पादन भी चाय-बागों की स्त्रियों की रक्तहीनता तथा दुर्बलता का मुख्य कारण है। अभी एक नवजात से पूरी तरह छुटकारा भी न मिला था कि स्त्री ने दूसरा गर्भ धारण कर लिया।

कुछ बागों में, विशेषकर दक्षिण भारत में, कामगारिनों की प्रसव से पहले और बाद में विशेष रूप से देखभाल की जाती है। इसके अंतर्गत, भावी माताओं को कॉड मछली के कलेजे का तेल तथा शार्क के कलेजे का तेल और

---

* *Report of the Health Survey and Development Committee,* 1946, Vol. 1, p. 7.

† *Standards of Medical Care for Tea Plantations in India,* E. Lloyd Jones, pp. 8-9.

दूध दिया जाता है। गर्भवती को यथोपलब्ध अस्पतालों में भर्ती करके उनकी प्रसवकाल के बाद तक पूरी-पूरी सेवा-सुश्रूषा की जाती है। "अधिकांश बागों में काम करने वाली स्त्रियों को प्रसवकाल के बाद पांच से दस दिन तक के लिए एक परिचारिका दी जाती है। शिशु-जन्म से पहले भावी माताओं को दो या तीन महीने तक अस्पताल में रखने का यह परिणाम देखने में आया है कि जातक का जो वजन १९३० में केवल तीन पौंड का होता था वह ५ पौंड ४ औंस होने लगा और उससे बढते-बढ़ते १९४४ में ६ पौंड १२ औंस तक पहुंच गया।* स्त्रियों की भ्रांत धारणाएं धीरे-धीरे काफ़ूर हो रही हैं और जहां कहीं अस्पताली सुविधा उपलब्ध हैं वे उससे लाभ उठाने में नहीं चूकती हैं।

भारत में प्रसव-वेदना से कितनी अधिक माताएं इस दुनिया से चल बसती हैं, यह सभी को विदित है। मार्गरिट आई. बालफोर का कहना है कि प्रसव-वेदना से कामगारिनी-माताओं की मृत्यु-दर सामान्य माताओं की अपेक्षा अधिक है। उसने लिखा है कि "यद्यपि भारत में औद्योगिक कामगारिनें गरीब होती हैं और उनके आसपास भीड़भाड़ रहती है, फिर भी सामान्य भारतीय माताओं से कहीं अधिक आराम से वे प्रसूतिकाल बिताती हैं और उनकी मृत्यु-दर उनसे कम है।"† इसका कारण कदाचित् यह है कि कामगारिनों को इधर-उधर घूमने का अवसर मिलता है और उनका जीवन काहिली से भरा न होकर गतिमान रहता है। बंबई में ५७६ स्त्रियों के जीवन का अध्ययन करके वह इस निष्कर्ष पर पहुंची थीं कि १००० कामगारिनों में प्रसव के कारणों से १·७ की मृत्यु होती है जबकि सामान्य माताओं की मृत्यु-दर प्रति हजार १६ है। कलकत्ता में प्रसूतिकालिक सहायता परियोजना के प्रलेखों से पता चला है कि १९३१ में जिन २,३८० कामगारिनों ने बालकों को जन्म दिया उनमें प्रति १००० हजार पीछे ७·९ माताओं की मृत्यु हुई जबकि उसी वर्ष में सामान्य मातओं की मृत्यु-दर प्रति सहस्र २० थी। मेजर लायड जोन्स के मतानुसार, असम, पश्चिम बंगाल और दक्षिण भारत के चाय-बागों में, १९४७ में, औसत मृत्यु-दर क्रमशः ३३·८, १४·८ और ६·५ थी।

इस देश में प्रसूताओं की मृत्यु-दर अब भी अधिक होने का एक कारण यह है कि वे समुचित चिकित्सा की सुविधाएं सुलभ होने पर भी "दाइयों" की पुरानी प्रथा का अनुशीलन करती आ रही हैं। कुछ समय पहले पश्चिम बंगाल

---

* I. L. O. Committee on Work on Plantations, 2nd Session—Havana, 1953—*Health and Social Services on Plantations*, p. 10.

† Margaret I. Balfour, *Indian Women in Industry*, p. 15.

के जूट मिलों की स्त्रियों का जो सर्वेक्षण किया गया था उससे पता चला है कि अब भी स्त्रियों की एक विशाल संख्या दाइयों की सेवा का मुंह ताकती रहती है। कुछ नौकरीदाता कामगारिनों को अस्पतालों (प्रसूतालयों) की उपयोगिता से अवगत कराते रहते हैं। इस प्रचार का अच्छा प्रभाव पड़ रहा है।

कामगारिन माताओं के शिशुओं और बच्चों की देखभाल की व्यवस्था भी महत्त्वपूर्ण है। इसलिए जहां कहीं भी स्त्रियां नौकर हैं वहां कानून द्वारा उसकी व्यवस्था कर दी गयी है। फैक्टरियों और बागों में, जहां ५० से अधिक स्त्रियां काम करती हों, छह वर्ष से नीचे की आयु के बच्चों के लिए दिन-कालिक बालगृह (creches) बनवाने होते हैं। इन बालगृहों का आकार-प्रकार जगह-जगह भिन्न-भिन्न होता है।

कामगारिनों के लिए कुछ सरकारी तथा गैर-सरकारी अभिकरणों ने जो विशेष कल्याणकारक सुविधाएं प्रदान की हैं उनका भी उल्लेख होना चाहिए। बंबई के कुछ कपड़ा मिलों ने निम्नांकित सुविधाओं का प्रबंध किया है: (क) भावी माताओं और प्रसूताओं के लिए मुफ्त में दूध तथा औषधियां, तथा (ख) पढ़ाने-लिखाने, वाचनालयों, तथा सिलाई और बुनाई, आदि की कक्षाओं की व्यवस्था; कहीं-कहीं तो सैर-सपाटे तथा फिल्म दिखाने का भी प्रबंध है। एक मिल में विशेष कल्याणकारक उपचारिका का प्रबंध किया गया है जो "प्रत्येक कामगारिन की व्यक्तिगत समस्याओं का अध्ययन करके उसकी दैनिक कठिनाइयों में मदद करने तथा राह दिखाने की कोशिश करती है।" यद्यपि समिष्ट रूप में स्त्रियां मिल सहकारी ऋण समितियों (Mill Cooperative Credit Societies) में भाग लेने के लिए झिझक-झिझक कर आगे बढ़ रही हैं, फिर भी बंबई के मिलों में ऐसी स्त्रियों की संख्या काफी है जो उक्त समितियों की सदस्य बन चुकी हैं। दक्षिण भारत में भी कुछ मिलों ने अपने यहां, अन्य चीजों के अतिरिक्त, स्त्रियों की प्रौढ़ शिक्षा, बाल-कल्याण, सीने-पिरोने तथा बेल-बूटे काढ़ने की शिक्षा का प्रबंध किया है।

भारतीय जूट मिल असोसियेशन (Indian Jute Mills Association) ने जूट उद्योग में कुछ कल्याण-कार्य का प्रबंध किया है। उसने पांच कल्याण-केंद्र खोले हैं और एक स्त्री श्रम-अधिकारी नियुक्त की है। उसने एक महिला क्लब खोला है। दो कल्याण-केंद्रों में सीने-पिरोने की कक्षाएं तथा एक केंद्र में पाकशास्त्र की शिक्षा दी जाती है। कुछ केंद्रों में दुर्बल माताओं और बच्चों को बिना मूल्य के दूध दिया जाता है। इस असोसियेशन ने एक महिला कल्याण समाज (Women's Welfare Society) की स्थापना की है जो बारी-बारी से मिलों में सामाजिक मनोरंजन का कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। यह समाज वार्षिक स्वास्थ्य सप्ताह भी मनाता है। इसमें

मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद कार्यक्रमों के अतिरिक्त शिशु-प्रदर्शनी भी होती है। भारतीय चाय असोसियेसन (Indian Tea Association) ने भी बागों में कल्याण-केंद्र खोलने की योजना बनायी है। असम में स्त्रियों के लिए तीन कल्याण-केंद्र पहले ही खोले जा चुके हैं।

सरकारी अभिकरणों द्वारा कल्याण-केंद्रों की स्थापना के बारे में यहां यह बताना आवश्यक होगा कि १९५३ में बंबई में श्रमिक कल्याण बोर्ड (Labour Welfare Board) के अंतर्गत उक्त प्रकार के ५४ केंद्र काम कर रहे थे। ये केंद्र स्त्रियों, पुरुषों और बालकों, सभी की सेवा कर रहे थे। इनमें कुछ केंद्रों पर महिला कल्याण-कार्यकर्ताएं सीने-पिरोने और बेल-बूटे काढ़ने का काम सिखाती थीं। कार्यकर्त्ताओं के लिए विशेष चर्खा-सिखाई कक्षाओं तथा मनोरंजन कार्यक्रमों, सैर-सपाटों, आदि का प्रबंध भी था। दो बालगृह और छह शिशु-सदन (nurseries) इन केंद्रों के लिए खुले हुए थे। उत्तर प्रदेश के ३८ केंद्रों में से २५ "ए" और "बी" टाइप के कल्याण-केंद्रों में नर्सों और दाइयों (midwives) का प्रबंध था। ये नर्सें और दाइयां प्रसव से पहले माताओं की जांच करती हैं जो केंद्रों में भर्ती होने आती हैं। वे प्रसव से पहले कामगारों के क्वार्टरों पर पहुंच कर स्त्रियों के प्रसवपूर्व तथा प्रसवोत्तर सावधानी बरतने तथा शिशु की देखभाल करने के तरीके बताती हैं। उपलब्ध सूचना के अनुसार १९५० में इन केंद्रों में ९,०१७ स्त्रियों को ६९,००० सेर दूध बांटा गया। उसी वर्ष इन केंद्रों में १,४४,५१२ स्त्रियों की डाक्टरी परीक्षा की गयी और उनका उपचार किया गया। इनमें २० केंद्रों में सिलाई की मशीनों का प्रबंध है और कामिनों को सीने-पिरोने, फीता बनाने, मोजे-सूटर, आदि बुनने की शिक्षा दी जाती है। १९५० में ३,९१७ स्त्रियों को शिक्षा मिल रही थी और उनकी औसत उपस्थिति प्रति दिन ५६० थी।

कोयला खान श्रमिक कल्याण निधि संगठन (Coal Mines Labour Welfare Fund Organisation) ने कोयला खानों में अप्रैल १९४७ में एक महिला कल्याण विभाग की स्थापना की थी जिसका उद्देश्य कामगारिनों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाना तथा उनके बच्चों में "शिक्षा के प्रति सम्मान" उत्पन्न करना था। १९५३ में विभिन्न खानों में ३१ महिला कल्याण केंद्र काम कर रहे थे। प्रत्येक केंद्र में कामिनों (women workers) की दैनिक औसत उपस्थिति १९५२-५३ में १२ थी। इन केंद्रों में कामिनों को बुनने, सलाइयों से बुनने, बेल-बूटे काढ़ने, फटे कपड़ों की मरम्मत करने, आदि का काम सिखाया जाता है। इन कल्याण केंद्रों के क्षेत्रीय कार्यकर्ता प्रतिदिन धोवड़ों (dhowrahs) में जाकर कामिनों को सफाई से रहना सिखाते हैं और भोजन पकाने के कम खर्चीले तरीके बताते हैं।

बंबई, हैदराबाद और बंगलौर जैसी नगरपालिकाओं ने अपने कर्मचारियों—स्त्रियों और पुरुषों दोनों—के लिए कल्याण केंद्र खोले हैं। बंबई और हैदराबाद के कल्याण-केंद्रों में सीना-पिरोना, बुनना (knitting) तथा बेल-बूटे काढ़ना, आदि सिखाया जाता है। बंबई में कामिनों की शिक्षा तथा मनोरंजन के लिए सैर-सपाटे, गरबा (लोकनृत्य), फिल्म दिखाने, आदि की व्यवस्था की जाती है।

स्त्रियों के कल्याण के लिए वैधानिक व्यवस्था—निर्मम मालिकों द्वारा कामिनों तथा बच्चों की शोषण से रक्षा करने की जो इच्छा राज्य के मन में थी उसके कारण भारत में श्रम-विधान का जन्म हुआ। सबसे पहले स्त्रियों और बच्चों के काम के घंटे नियत किये गये। किंतु काम के घंटों का कानून कितने ही दशकों तक कागज पर ही पड़ा रहा। इसके बाद अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के कारण भारतीय श्रमिकों का महान उपकार हुआ। स्त्रियों के बारे में उसने काफी जागरुकता दिखाई है: प्रसूतिकालिक देखरेख, रात को काम, भूगर्भ में काम तथा समान वेतन के बारे में उसके अभिसमयों (conventions) से स्त्रियों की कार्यावस्थाओं में बहुत सुधार हुआ है। भारत ने भी रात्रिकालिक काम तथा भूगर्भस्थ काम के बारे में उक्त अभिसमयों को स्वीकार कर लिया है। यद्यपि भारत ने मातृत्व-संबंधी अभिसमय स्वीकार नहीं किया है, फिर भी उसकी भावना उसके श्रम-विधान में समाहित है। स्त्रियों के बचाव और कल्याण के लिए जो मुख्य कानूनी व्यवस्थाएं हैं, उनका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

नियोजन (employment)—फैक्टरी अधिनियम १९४८, खान अधिनियम १९५२ तथा उद्यान श्रमिक अधिनियम १९५१ के अंतर्गत, रात में स्त्रियों से काम नहीं लिया जा सकता है। राज्य-सरकारें यह प्रतिबंध मछली का अचार बनाने तथा मछलियों को डिब्बों में बन्द करने के व्यवसाय में लगी हुई कामगारिनों के प्रति ढीला कर सकती हैं बशर्ते वे कच्चा माल सड़ने-गलने का खतरा अनुभव करती हों। फैक्टरी अधिनियम का अनुभाग ८७ राज्यों द्वारा स्त्रियों को जोखिम के कामों में लगाने का वर्जन करता है। यह अधिनियम जोखिमपूर्ण कामों में स्त्रियों की नौकरी का निषेध करता है। इस अधिनियम के कारण स्त्रियां फैक्टरियों में रुई धुनने के काम में नहीं लगायी जा सकतीं जहां कॉटन ओपनर (cotton opener) मशीन चालू हो। इसी प्रकार खान अधिनियम (Mines Act) ने केंद्रीय सरकार को यह अधिकार दिया है कि वह जोखिम-भरे कामों में स्त्रियों को नौकर रखने से रोक दें अथवा मना कर दे अथवा उनकी नौकरी पर अंकुश रखे। खान अधिनियम का अनुभाग ४६ कमेरियों को भूमि के भीतर घुस कर काम करने से रोकता है।

असम के चाय-बागों को छोड़कर, भारत में अन्यत्र बागों में स्त्रियों को काम करने से नहीं रोका जा सकता है। चाय जिला प्रवासी श्रमिक अधिनियम, १९३२, के अंतर्गत किसी भी विवाहित स्त्री को, जो अपने पति के साथ रहती है, बिना अपने पति की स्वीकृति के असम जाने के लिए मदद नहीं दी जा सकती है।

काम के घंटे—सभी वयस्कों के लिए फैक्टरियों, खानों और बागों में काम के घंटे समान ही हैं; अर्थात् फैक्टरियों तथा खानों में ९ घंटे प्रति दिन अथवा ४८ घंटे प्रति सप्ताह, और बागों में ५४ घंटे प्रति सप्ताह काम करना पड़ता है। उद्यान श्रमिक अधिनियम में दैनिक काम के घंटों का कोई उल्लेख नहीं है। हां, इतना उसमें अवश्य कहा गया है कि काम के घंटों का दैनिक फैलाव १२ घंटे से अधिक न होना चाहिए।

अधिकतम बोझ—फैक्टरी अधिनियम तथा खान अधिनियम ने सरकारों को यह अधिकार दिया है कि एक स्त्री को अधिक से अधिक कितना बोझ उठाना चाहिए ताकि भारी वजन उठाने से उसको हानि न पहुंचे, वे इसको निर्धारित कर सकती है। सामान्यतः यह अधिकतम बोझ वयस्कों के लिए ६५ पौंड तथा किशोरों के लिए ५० पौंड तय किया गया है।

स्नान और कपड़े धोने की सुविधाएं—फैक्टरियों, खानों और बागों में काम करने वाली स्त्रियों और पुरुषों के लिए अलग-अलग पाखानों और पेशाबघरों का प्रबंध करना पड़ता है। फैक्टरियों में स्त्रियों के लिए कपड़ा धोने के स्थानों की भी व्यवस्था करनी पड़ती है। खानों में, मालिकों को स्त्रियों तथा पुरुषों के स्नानागारों का पृथक् प्रबंध करना पड़ता है। ये स्नानागार खदानों के पास होने चाहिए और उनमें फव्वारे लगे हों तथा किवाड़ भी हों।

बाल-गृह (creches)—जिन फैक्टरियों और बागों में ५० या इससे अधिक स्त्रियां काम करती हों उनमें ६ वर्ष से कम आयु के शिशुओं के लिए बाल-गृह होने चाहिए। खान अधिनियम में भारत सरकार को इस बारे में नियम बनाने का अधिकार दिया गया है कि जहां स्त्रियां काम करती हैं वहां वह मालिकों से बाल-गृह बनवाये। राज्य सरकारों ने फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत जो नियम बनाये हैं उनमें लिखा है कि मालिक शिशुओं के लिए दूध तथा अन्य पोषणकारी खाद्य का प्रबंध करें और कामिनों को अतिरिक्त विश्राम दें ताकि वे अपने शिशुओं को खिला-पिला सकें।

प्रसूतिकालिक सहायता—राज्य सरकारों ने जो कानून बनाये हैं उनके अंतर्गत स्त्रियों को प्रसूतिकालिक सुविधा मिलती है। अधिकांश औद्योगिक राज्यों ने प्रसूतिकालिक सुविधा-विधान स्वीकार कर लिया है। यह आर्थिक सहायता विभिन्न राज्यों में ७ से १२ सप्ताह तक प्रसूता को दी जाती है और वह ८ आने से १२ आने प्रति दिन तक होती है। खानों में काम करनेवाली

स्त्रियों को केंद्रीय सरकार के खानकर्मिणी प्रसूति-सुविधा अधिनियम (Mines Maternity Benefit Act) १९४१ के अंतर्गत ८ सप्ताह तक १२ आने प्रति दिन की आर्थिक सहायता मिलती है। उद्यान श्रमिक अधिनियम १९५१ के अनुभाग ३२ के अनुसार स्त्रियों को अपने मालिकों से प्रसूतिकालिक आर्थिक सहायता लेने का अधिकार प्राप्त है। यह सहायता कितने दिनों तक और कितनी मात्रा में दी जाए, इस बारे में उक्त अधिनियम के अंतर्गत नियम बनने चाहिए।

भारत में समाजवादी ढंग के समाज की रचना का दृढ़ संकल्प किया जा चुका है। यह समाज लोकतंत्रीय सिद्धांतों के व्यापक आधारों पर टिका होगा। वयस्क मताधिकार के चलन के कारण राज्यों के विधानमंडलों तथा देश की संसद में स्त्री प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ गयी है। संपत्ति में उत्तराधिकार के विधान तथा तलाक-संबंधी कानूनों के कारण स्त्रियों की सामाजिक स्थिति सुदृढ़ बन गयी है। पुरुषों की भांति स्त्रियां भी सरस्वती के मंदिर का द्वार खटखटाने लगी हैं। अब विद्या-मंदिर के पट उनके लिए पुरुषों की भांति ही खुल गये हैं। विद्यमान सेवा-क्षेत्रों के अतिरिक्त, वे अब अन्य क्षेत्रों में भी अपना पग बढ़ा रही हैं। इस प्रकार, वे देश के सामने प्रस्तुत समस्याओं के हल में अधिकाधिक हाथ बटाने के लिए मैदान में कूद पड़ी हैं। पहले यह कहा जाता था कि स्त्रियों को केवल चूल्हे-चकिया के प्रबंध के लिए छोड़ दिया जाए, किंतु अब यह परंपरागत धारणा मिटती जा रही है; और अब जबकि देश की जनशक्ति को आंका जाता है तब स्त्रियों की सेवाओं को पुरुषों की भांति ही उपयोगी माना जाता है। जो भारतीय स्त्रियां कभी पराधीन कही जाती थीं, वे आज के युग में गुलामी की बेड़ियां काटकर पुरुषों के साथ समान पद पर आरूढ़ हो रही हैं और "समान काम के लिए समान वेतन" के उस सिद्धांत को मूर्तिमान करने में सचेष्ट हैं जिसका समावेश भारतीय संविधान में पहले ही किया जा चुका है।

अध्याय १४

खेतिहर मजदूर

प्रस्तावना

खेती पर निर्भरता—भारत की अधिकांश जनता खेती से अपना पेट पालती है। १९५१ की जनगणना के प्रतिवेदन से मालूम होता है कि इस देश के गांवों में जो २९ करोड़ ९० लाख लोग रहते हैं उनमें २५ करोड़ खेती से निर्वाह करते हैं। १८८० में अकाल आयोग (Famine Commission) ने लिखा था कि इस देश की खेती जितने लोगों का भरण-पोषण कर सकती है उससे कहीं बहुत अधिक उस पर बोझ पड़ा हुआ है। इसके ५० वर्ष बाद, राजकीय श्रम आयोग ने लिखा था कि भारत के विस्तृत भाग में खेती पर जितनी जनसंख्या निर्भर है उसका टप्पर उठाना उसके सामर्थ्य से बाहर है। इतने अधिक लोगों को यह खेती भली-भांति नहीं संभाल सकती है।

अभी हाल में यह अनुमान लगाया गया है कि प्रत्येक परिवार के पास जो खेती है यदि उसी की दृष्टि से देखा जाए तो इस समय उसमें जितने लोग लगे हैं उनमें ६५ प्र० श० से ७५ प्र० श० लोगों से अधिक की आवश्यकता नहीं है। दूसरे शब्दों में, इस समय भी उसमें एक-चौथाई से लेकर एक-तिहाई जन-शक्ति वेशी चिपटी हुई है। इसमें संदेह नहीं है कि फसल काटने के दिनों में अन्य देशों की भांति यहां भी अधिक आदमी खपते हैं।

ग्रामीण श्रमजीवी-वर्ग का प्रादुर्भाव—जन-संख्या की वृद्धि से खेतिहर कामगारों (कृषि-श्रमिकों) की समस्या टेढ़ी बन गयी है। इन पचास वर्षों में, अर्थात् १९०१ से १९५१ तक, भारत के कामगारों की संख्या में लगभग २५० लाख लोगों की बढ़ोतरी हुई है। दूसरे शब्दों में, ये कामगार १,१७० लाख से बढ़कर १,४२० लाख हो गये हैं। ये वृद्धि एकदम खेतिहर क्षेत्र में हुई है, जहां श्रमिकों की संख्या ७३० लाख से बढ़कर ९८० लाख हो गयी है। अ-खेतिहर काम-धंधों की श्रमिक-संख्या इस शताब्दी के प्रारम्भ में भी उतनी ही थी जितनी आज है। इस प्रकार नगरीय क्षेत्रों में अ-खेतिहर लोगों को रोजगार मिलने से जो सुविधा उत्पन्न हुई थी उसका रंग देहाती क्षेत्रों में बेकारी बढ़ने से फीका

पड़ गया। कहना न होगा कि इस शताब्दी के आरंभ में, श्रमिक-शक्ति का ६२·५ प्र० श० अंश खेती में लगा था। किंतु, १९५१ में, यह अंश ७० प्र० श० हो गया। इससे प्रकट होता है कि खेती पर निर्भर रहनेवाले लोगों की संख्या बढ़ गयी है। इसका कारण यह है कि ग्राम्य अर्थतंत्र में सामान्य अधिकारों का अवसान हो गया है, सामूहिक प्रयास की इतिश्री हो चुकी है, भूमि के बटते चले जाने से छोटे-छोटे टुकड़े हो गये हैं, लगान लेनेवालों की संख्या बढ़ गई है, भूमि के हस्तांतरण करने और गिरवी रखने से स्थिति बिगड़ गयी; और कुटीर उद्योगों का ह्रास हो गया है।

धरती पर जनसंख्या का दबाव—जनसंख्या की वृद्धि, खेती पर लगभग ७० प्र० श० लोगों के अविराम भार तथा पिछले कुछ दशकों में खेती के साधनों का उचित विकास न होने से खेतिहर-मजदूरों की समस्या विकट बन गयी है। पिछले ५० वर्षों से, विशेषकर १९२१ से, इस देश की जनसंख्या निरंतर बढ़ रही है और प्रति व्यक्ति पीछे भूमि अथवा प्रति व्यक्ति पीछे उपयोगी भूमि कम होती जा रही है। उपयोज्य भूमि समूची भौगोलिक भूमि का लगभग ६३ प्र० श० अंश है जबकि केवल ४३ प्र० श० भूमि खेती के काम में आ रही है।

१९२१ की तुलना में १९५१ में खेती के क्षेत्र में अधिक प्रगति हुई। जबकि १९२१ की तुलना में १९५१ में जनसंख्या में ४१ प्रतिशत की वृद्धि हुई, जुताई-योग्य भूमि केवल ७ प्र० श०, सिंचाई वाली भूमि ११ प्र० श० तथा दो फसलें पैदा करने वाली भूमि १५ प्र० श० ही बढ़ी। इस प्रकार, देश की जनसंख्या खेतिहर भूमि से कहीं अधिक बढ़ गयी।

यदि भारत में खेती के अतिरिक्त अन्य उद्योगों का विकास इतनी तेजी से हुआ होता कि उनमें देश का वेशी श्रम खप जाता तो प्रति व्यक्ति भूमि की कमी नहीं खटक सकती थी। किंतु ऐसा नहीं हुआ। इसके विपरीत, हम देखते हैं कि पिछले तीस वर्षों में भूमि पर जनसंख्या के दबाव में तनक भी कमी नहीं हुई। केवल देश की कुल जनसंख्या की तुलना में ही खेती की मात्रा में कमी हुई है।

खेती की विशेषताएं—खेती को अन्य उद्योगों से भिन्न मानना होगा क्योंकि वह अंत में प्राकृतिक विकास पर ही निर्भर होती है। खेती की अधिकांश आर्थिक और सामाजिक समस्याएं उस समय की अवधि पर अवलंबित होती हैं जो बीज बोने से फसल काटने तक, बीच में आता है। खेती में ठीक समय पर आवश्यक काम करना ही पड़ता है। जहां सभी किसानों की फसल एक ही समय पर घर आती है, वहां उनकी अपनी-अपनी उपज तथा सप्लाई की विधि में अंतर होता है—यह भी खेती के उद्योग की एक विशेषता है।

इन बातों को छोड़िए। यहां खेती की स्थिति में कुछ ऐसी बातें होती हैं जिनका प्रभाव कितने ही खेतिहर श्रमिकों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से पड़े बिना नहीं रहता है। १९४७ में नयी दिल्ली में जो एशियाई संपर्क सम्मेलन (Asian Relations Conference) हुआ था उनमें अन्य बातों के अतिरिक्त ये विशेष बातें भी बतायी गयी थीं : (१) स्वामित्व और खेत-जोताई के बीच की चौड़ी खाई, तथा भूमिस्वामित्व का बोलबाला; (२) प्रति एकड़ कम उपज; (३) आर्थिक दृष्टि से अवांछनीय छोटे-छोटे खेत; (४) वैज्ञानिक तरीकों और यंत्रों का अभाव, तथा पुराने औजारों का प्रयोग; (५) उर्वरक या खाद का कम प्रयोग; (६) खेती के लिए भारी ऋणों का बोझा; (७) असली भूमि-जोतने वाले को खेती के उत्पादन के कुल मूल्य में केवल थोड़ा-सा भाग मिलना; (८) मूल उपज तथा कच्चे माल का अधिक निर्यात करना तथा इससे खेती की उपज के मूल्यों तथा आय में अस्थिरता का होना; (९) भूमि पर भारी जनसंख्या का दबाव तथा इससे खेती में अल्प रोजगारी का अस्तित्व; तथा (१०) योग्य आदमियों का गांवों से नगरों को पलायन तथा नगरों की तुलना में गांवों में निवास की सुविधाएं न होने के कारण नगरीय पढ़े-लिखे लोगों की गांवों में जा बसने की अनिच्छा।

इन कारणों से खेतिहर कामगारों की समस्या बड़ी उलझनपूर्ण बन जाती है जिसका केवल ग्राम्य अर्थतंत्र पर ही नहीं बल्कि समस्त देश की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के विकास पर व्यापक प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ तथा खेतिहर मजदूर—१९२३ में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की सलाहकार कृषि-समिति (Advisory Agricultural Committee) का पहला सत्र हुआ था। तब से वह खेतिहर मजदूरों की समस्याओं में बहुत रुचि दिखाने लगा है। जो एशियाई प्रादेशिक सम्मेलन १९५० में श्रीलंका में हुआ था उसमें "आद्य उत्पादकों की कृषि-संबंधी मजदूरी तथा आयों" पर विचार-विनिमय किया गया था तथा कुछ मार्गदर्शक सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए एक प्रस्ताव पास हुआ था। खेती के लिए एक ऐसे तंत्र की स्थापना करने की सिफारिश की गयी थी जिसमें मालिकों और कामगारों के समान प्रतिनिधित्व मिले और जिसका ध्येय इस प्रकार हो :

(१) पुरस्कार समेत इतनी मजदूरी निर्धारित कर देना जिससे खेतिहर कामगार और उसके परिवार की आवश्यकताएं पूरी हो सकें;

(२) कार्य-कुशलता के अनुसार मजदूरी की भिन्नक दरें नियत करना;

(३) जिन्स की शकल में मजदूरी भुगतान का नियमन।

"खेती में न्यूनतम मजदूरी निर्धारक तंत्र" (minimum wage fixing machinery) के बारे में एक अभिसमय तथा एक सिफारिश की गयी थी जो १९५१ में स्वीकार कर ली गयी।

कृषि-श्रमिक जांच

विश्वसनीय आंकड़ों का अभाव—भारत में कृषि-श्रमिकों के बारे में अभी तक जो आंकड़े मिलते आये थे वे न-बराबर थे। इस दशा में, अर्थात् विश्वसनीय आंकड़ों के अभाव में, खेती के मजदूरों की कार्यावस्थाओं तथा जीवन का सुधार कैसे हो सकता था? इसलिए, १९४३ तक देश की जनसंख्या के इस महत्त्वपूर्ण अंग की ओर ध्यान नहीं दिया गया। भाग्यवश, इसी वर्ष त्रिदलीय श्रम-सम्मेलन ने श्रम की अवस्थाओं की जांच की सिफारिश करते हुए यह सुझाव दिया कि खेतीबारी में लगे हुए मजदूरों की अवस्था की भी जांच की जाए। १९४७ में भारत के स्वाधीन होने पर, खेतिहर मजदूरों (कृषि-श्रमिकों) की ओर अधिक ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। इसलिए १९४८ में जो न्यूनतम मजदूरी अधिनियम लागू हुआ उसके अंतर्गत अन्य कामगारों के साथ खेतीबारी में लगे हुए मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का सवाल सामने आ गया। किंतु इसके मार्ग में एक बड़ी अड़चन यह थी कि कृषि-श्रमिक की आर्थिक अवस्थाओं के बारे में विश्वसनीय आंकड़े ही उपलब्ध न थे।

कृषि-श्रमिक जांच—इसका उद्देश्य कृषि-श्रमिक की आर्थिक अवस्थाओं की जांच करके उसके विषद आंकड़े एकत्र करना था ताकि खेतिहर मजदूरों की दशा सुधारने का कदम उठाया जा सके।

खेतिहर मजदूर तथा खेतिहर मजदूर परिवार की परिभाषाएं—जनगणना के उद्देश्य से किसान और खेतिहर मजदूर में भेद करना पड़ा है। किसान वह व्यक्ति माना गया है जो खेती के काम के संचालन का दायित्व ग्रहण करता है। मोटे रूप से, सभी खेतिहर मजदूर किसान की नौकरी करते हैं। ग्राम्य क्षेत्र में अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं, चाहे वे किसान हों या कारीगर या मजदूर, जिन्हें अपना पेट भरने के लिए एक से अधिक धंधा करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, वहां एक ही व्यक्ति किसान और मजदूर या कारीगर और मजदूर दोनों हो सकता है। जब जैसा समय आता है तब वह वैसा बानक बना लेता है।

इस ढर्रे को ध्यान में रख कर कृषि-श्रमिक जांच ने खेतिहर मजदूर की परिभाषा बनायी थी जिसे यद्यपि बिलकुल निर्दोष नहीं कहा जा सकता है फिर भी उससे यथार्थमूलक अवस्था का काफी ज्ञान हो सकता है। उसकी इस परिभाषा

के अनुसार, खेतिहर मजदूर वह व्यक्ति है जो वर्ष के आधे से अधिक दिनों तक खेतीबारी की मजदूरी में लगा रहता है।

परिवारों का प्रादेशिक वितरण—यद्यपि खेतिहर मजदूरों के परिवारों की संख्या संपूर्ण परिवारों की संख्या का लगभग ३० प्र० श० है फिर भी यह अनुपात देश के विभिन्न प्रदेशों में समान नहीं है। उनकी जन-गणना से पता चलता है कि उनके इस वितरण की विषमता के कई कारण हैं। जन-संख्या की असमान वृद्धि, भूमि व्यवस्था के विभिन्न स्वरूपों, जोतों के विभिन्न आकार-प्रकारों, फसलों की विभिन्नता, आदि ने उनकी संख्या में हेर-फेर कर दिया है। यह सभी जानते हैं कि विभिन्न फसलों के लिए विभिन्न संख्या में मजदूरों की आवश्यकता पड़ती है।

छोटी-छोटी जोतें और मजदूरों की सीमित खपत—इस जांच से विदित हुआ कि देश भर में किसान की औसत जोत का क्षेत्रफल लगभग ७·५ एकड़ है। जब कि एक भूमिधर और एक किसान (काश्तकार) परिवार की औसत जोत का क्षेत्रफल क्रमशः ११·४ तथा ७·७ एकड़ है, एक अ-खेतिहर परिवार तथा एक खेतिहर मजदूर-परिवार के पास उससे कहीं कम भूमि है, अर्थात् उनकी औसत जोत क्रमशः ३·१ एकड़ और २·९ एकड़ है। ७·५ एकड़ की औसत जोत में से केवल ६·६ एकड़ भूमि में खेती होती है। शेष भूमि बंजर पड़ी रहती है। इसके अतिरिक्त उक्त ६·६ एकड़ भूमि में केवल १·४ एकड़ भूमि को सिंचाई की सुविधा प्राप्त है। लगभग ५० प्र० श० जोतें अपने ७·५ एकड़ के औसत क्षेत्रफल से छोटी हैं। इन सब से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि खेतीबारी में बाहरी मजदूर की कितनी कम खपत संभव है।

परिवारों का आकार और कार्य-क्षमता—इस जांच से भूमिधर तथा काश्तकार (आसामी) के परिवारों की तुलना में खेतिहर मजदूरों के परिवारों की विशेषताओं पर भी प्रकाश पड़ता है। इससे प्रकट होता है कि खेतिहर मजदूर का परिवार अपेक्षाकृत छोटा होता है, उसमें कमानेवालों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक और आश्रितों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है तथा हाथ-पांव की मेहनत में स्त्रियां अपेक्षाकृत अधिक सहयोग देती हैं।

ग्रामीण मजदूर और किसनई-इतर पेशे—देहाती क्षेत्रों में मजदूरी करने वाले लोग सदा अपने पारिवारिक पेशे को ही नहीं अपनाते हैं, अर्थात् वे वही काम हमेशा नहीं करते हैं जो उनके परिवार का बड़ा-बूढ़ा करता आ रहा है। उक्त जांच से पता चला है कि देहाती मजदूर अपनी रोटियों के लिए खेती या किसनई पर अपेक्षाकृत कम निर्भर होता है। इसका कारण शायद यही है कि खेतीबारी में मजदूरी से कम पैसे उठते हैं।

सहायक काम-धंधों की लंगड़ी स्थिति—उक्त जांच के अनुसार, लगभग २१ प्र० श० खेतिहर मजदूर सहायक काम-धंधों में संलग्न थे हालांकि उनकी आय इस मजदूरी से कम होती थी। जो मजदूर उपांगीय व्यवसाय करते थे उनमें लगभग ५० प्र० श० किसनई ही करते थे। शेष ५० प्र० श० मजदूर कृषिइतर धंधे करते थे, जैसे गाड़ी चलाना, घर बनाना, मरम्मत करना और साग-सब्जी बेचना। इससे प्रकट होता है कि उपांग-व्यवसायों की हालत कमजोर थी।

नौकरी और बेकारी—खेती के क्षेत्र में नौकरी जब-तब मिलती है। प्रायः वह फसल पर मिलती है। फसल पर नौकरियों की भरमार हो जाती है क्योंकि खेती का काम एक निर्धारित अवधि के भीतर ही पूरा करना पड़ता है। बाद में मंदा समय होने पर कामगार को उपांगीय काम-धंधा तलाश करना पड़ता है जिसकी, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, गुंजाइश कम होती है। खेती में व्यस्त समय कब तक चालू रहता है, यह फसल की किस्म तथा खेती के तरीके पर अधिक निर्भर होता है।

इस देश में कुल खेतिहर मजदूरों की संख्या ३॥ करोड़ बताते हैं जिनमें ५५ प्र० श० पुरुष, ४० प्र० श० स्त्रियां और ५ प्र० श० बालक हैं। इन खेतिहर मजदूरों में अधिकांश अर्थात् ८५ प्र० श० मजदूर समय-समय पर काम करनेवाले मजदूर हैं, तथा १५ प्र० श० मजदूर ऐसे हैं जो भूमिधरों के साथ रहते हैं और उनका काम करते हैं। समय-समय पर काम करने वाले मजदूर (casual workers) फसल काटने, निराई करने, जोतने-बोने, आदि का काम करते हैं।

सभी वयस्क खेतिहर मजदूर (पुरुष) वर्ष में औसतन २१८ दिन काम में लगे रहते हैं जिनमें उनके १८९ दिन खेतों पर श्रम करने में बीतते हैं। वर्ष के शेष दिनों में ये लोग या तो बेकार रहते हैं या अपना काम करते हैं, या मजदूरी के अतिरिक्त और कोई धंधा अपनाते हैं। वास्तव में, ये वर्ष में ८२ दिन बेकार बताये जाते हैं और उनका अपना धंधा उन्हें मुश्किल से स्वल्प-आय प्रदान करता है। संक्षेप में, इन खेतिहर मजदूरों को वर्ष में लगभग ७ मास मजदूरी मिलती है; वे तीन मास से कुछ अधिक समय तक पूरी तरह बेकार रहते हैं; तथा उनका दो मास से कुछ कम समय अपना धंधा करने में कटता है।

कामगारिनें (स्त्री) प्रायः समय-समय पर काम करती हैं। वे वर्ष भर में १३४ दिन काम करती हैं, जिनमें उनके १२० दिन खेतीबारी के काम में बीतते हैं तथा १४ दिन अ-खेतिहर कामों में। गृहस्थी का भार संभालने के कारण, स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा काम करने में अधिक अनियमित हैं। देश के कुछ भागों में स्त्रियां मजदूरी करने में लज्जा अनुभव करती हैं। इसके अलावा, प्रकृति ने उन्हें इस योग्य नहीं बनाया है कि वे खेती का प्रत्येक प्रकार का

काम कर सकें। वास्तव में, स्त्रियां गरीबी से मजबूर होकर मजदूरी की तलाश में बाहर निकलती हैं। बालक वर्ष में १६५ दिन काम करते हैं जिनमें वे १५० दिन खेतीबारी के श्रम में तथा १५ दिन कृषि-इतर श्रम में काटते हैं।

यहां यह लिखना ठीक होगा कि बेकारी और अर्ध-रोजगारी (under-employment) को निम्नांकित श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है : संभाव्य, विकृत, प्रत्यक्ष, स्वाभाविक या फसली। जांच की अवधि में बेकारी के जो आंकड़े इकट्ठे किये गये थे उनका संबंध प्रत्यक्ष बेकारी से है। जब मजदूर जितने समय काम करता है उससे कहीं अधिक समय तक वह काम करने को तैयार है किंतु उसका उतना समय नहीं खपाया जा सकता है, तब उसे प्रत्यक्ष बेकारी कहेंगे। वास्तव में, औसतन १६ प्र० श० वयस्क मजदूर वर्ष के प्रत्येक मास में पड़े मिलेंगे।

जांच से यह भी पता चलता है कि खेतिहर मजदूरों के लिए काम-धंधे के अधिक अवसर जुटाना परम आवश्यक है।

मजदूरी—९४·५ श्रमिक-दिवसों की मजदूरी (अमानी) समय-दर से तथा शेष ५·५ श्रमिक-दिवसों की मजदूरी (उजरत) काम के आधार पर दी जाती थी। खेतीबारी में लगे मजदूरों को प्रचलित भत्ते और पुरस्कार भी मिलते हैं। जिन्स तथा नकद पुरस्कार सबको मिलाकर वयस्क मजदूर की जो औसत दैनिक कमाई है वह १ रु० १ आ० ६ पा० बैठती है। यह औसत समस्त मजदूरी-पद्धतियों की छानबीन करने के बाद निकाला गया है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में मजदूरी की विभिन्न प्रथाएं चालू हैं। इसलिए मजदूरी-दरों की आपसी तुलना करना कठिन हो गया है। इसके अतिरिक्त, विभिन्न मजदूरी-पद्धतियों का अपना इतिहास है और उनका विकास अनेक पीढ़ियों में चलन के बाद हुआ है। इसलिए, न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करते समय, उन पद्धतियों पर उचित ध्यान देना आवश्यक है।

आय—खेतिहर मजदूर परिवार की आय के विभिन्न स्रोतों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है :

(१) किसनई-संबंधी श्रम
(२) अ-किसनई संबंधी श्रम
(३) अन्य किसनई-इतर धंधे
(४) खेतों की जुताई
(५) खेती के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय
(६) अन्य विविध प्रकार के काम

उसकी आय का मुख्य स्रोत खेतीबारी तथा खेती-इतर धंधों में किया जाने वाला श्रम है। गरीबी तथा साधनहीनता के कारण, खेतिहर मजदूर परिवार

खेतीबारी की परिधि के बाहर किसी धंधे में हाथ नहीं डाल पाते हैं क्योंकि ऐसा करने के लिए पूंजीगत परिव्यय की आवश्यकता पड़ती है।

प्रत्येक मजदूर परिवार की औसत वार्षिक आय ४४७ रु० है। इस धन-राशि का ७५ प्र० श० भाग मजदूरी — ६४ प्र० श० खेती की मजदूरी तथा लगभग १२ प्र० श० अ-कृषि मजदूरी—से उपार्जित होता है; और खेतीबारी से १३ प्र० श० आय तथा अन्य संपूर्ण साधनों से ११ प्र० श० आय होती है। इससे फिर स्पष्ट हो जाता है कि उपांग-धंधों की स्थिति कमजोर ही है।

खेतिहर मजदूर परिवारों की संपूर्ण वार्षिक आय अनुमानतः ७९० करोड़ रुपये है। १९५०-५१ की राष्ट्रीय आय ९,५३० करोड़ रुपये थी। यहां यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि खेतिहर मजदूर परिवारों की संख्या भारत के नगरीय और ग्राम्य क्षेत्रों के संपूर्ण परिवारों का केवल २२·७ प्र० श० है किंतु उनकी आय राष्ट्रीय आय का केवल ८·३ प्र० श० ही है।

खेती करने वाले परिवारों की औसत वार्षिक प्रति-व्यक्ति आय १०४ रु० है जबकि देहाती और नगरीय क्षेत्रों की समस्त जनसंख्या की प्रति-व्यक्ति राष्ट्रीय आय २६४ रु० है।

इन आंकड़ों से खेतिहर मजदूरों की तरस खाने योग्य गरीबी का चित्र आंखों के सामने भली-भांति खिंच जाता है।

रहन-सहन का स्तर — ४४७ रु० की औसत वार्षिक आय के नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मजदूर परिवार के सामने पेट भरने की समस्या कठिन बन गयी है। उसे एक-एक पैसे की चिंता करनी पड़ती है ताकि उसकी हांडी खदबदाती रहे। जीवन की सुविधाओं की बात सोचना तो उसके लिए एक दुःस्वप्न होगा। उसे तो चूल्हा रूठने का ही भय सताये रहता है। वास्तव में, मजदूर परिवार का औसत वार्षिक व्यय ४६८ रु० है जिसमें सात रुपयों की वह राशि भी सम्मिलित है जिसे वह उत्सवों पर व्यय कर सकता है। इस प्रकार उसका बजट घाटे का बजट होता है। उसे अनिवार्य मदों पर ४६१ रु० व्यय करना पड़ता है; वह ८५·३ प्र० श० खाद्य पर और ६·३ प्र० श० कपड़ों और जूतों पर व्यय करता है। इस दशा में भी उसका भोजन प्रायः रूखा-सूखा ही होता है : उसमें चावल और गेहूं के अतिरिक्त ५० प्र० श० मोटा अन्न होता है। पुरुष लुंगी धारण करते हैं और स्त्रियां साड़ी बांधती हैं, तथा बच्चे तो अधनंगे रहते हैं। १·१ प्र० श० आय ईंधन तथा प्रकाश पर और ०·८ प्र० श० आय घर के भाड़ों तथा उसकी मरम्मत पर खर्च होती है।

विभिन्न मदों पर, जिनमें तंबाकू, नशा, पान-सुपारी, कपड़ा धोने का साबुन तथा हजामत शामिल हैं, ६·५ प्र० श० खर्च होता है। मनोरंजन, शिक्षा या औषधि पर तो मुश्किल से एक पाई व्यय होती होगी।

प्रति दिन प्रत्येक उपभोग-यूनिट* पर २०.३ औंस अथवा प्रति दिन प्रति व्यक्ति १६.३ औंस अन्न उठता है।

खेतिहर मजदूर परिवारों के ३६ प्र० श० परिवारों में प्रत्येक उपभोक्ता-यूनिट की वार्षिक अन्न खपत १०१ रु० से १५० रु० तक की है। २६.४ प्र० श० परिवारों में यही व्यय १०० रु० का है। ज्यों-ज्यों जीवन का स्तर ऊंचा होता जाता है, त्यों-त्यों उपभोक्ता-यूनिटों की दृष्टि से परिवार का आकार घटता जाता है। इसका अर्थ यह है कि जीवन-स्तर ऊंचा होने से उन लोगों की संख्या कम होने लगती है जिनका उदर पोषण करना पड़ता है।

उक्त जांच से यह भी प्रकट होता है कि उच्चतर जीवन-स्तर होने के कारण अन्न जैसी आधारभूत आवश्यकताएं बढ़ जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि निम्नतर स्तरों पर अन्न की मांग संतोषजनक नहीं है।

१९४९-५० के राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण के अनुसार, खेतिहर मजदूर परिवारों में प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक व्यय १०७ रु० था जबकि सभी ग्रामीण परिवारों में (इनमें खेतिहर मजदूर परिवार भी शामिल हैं) प्रति व्यक्ति पीछे यही व्यय २०४ रु० था। इससे फिर प्रकट हो जाता है कि खेतिहर मजदूर परिवारों की हालत बड़ी दयनीय है।

खेतिहर मजदूर परिवारों तथा ग्रामीण परिवारों के व्यय की समीक्षा करने से प्रकट होता है कि मजदूर परिवार खाद्य पर अधिक प्रतिशतक व्यय करते हैं। मजदूर परिवार ८५.३ प्र० श० तथा ग्रामीण परिवार ७१.३ प्र० श० अन्न पर व्यय करता है। इससे मजदूर परिवार के निम्नतर जीवन-स्तर का आभास फिर मिल जाता है । ग्रामीण परिवार खाद्यों पर बहुत अधिक धन-राशि

---

* उपभोग-यूनिटों की संख्या के आधार पर परिवार की सदस्य संख्या द्वारा परिवार उपभोग-व्यय को विभक्त करने से प्रति उपभोग-यूनिट पीछे उपभोग-व्यय आता है। जैसे एक परिवार में एक पुरुष और उसकी एक पत्नी और दो बच्चे हैं। इनका उपभोग व्यय होगा :

वयस्क पुरुष	=१.००
,, स्त्री	=०.८३
छह वर्ष से बड़ा बच्चा	=०.७३
,, ,, से छोटा बच्चा	=०.५०
४ सदस्य	=३.०६

∴ उपभोग-यूनिट $= \frac{३.०६}{४}$

=०.७६५

खरचते हैं। उनका यह धन दालों, साग-सब्जियों, भक्ष्य चिकनाई, दूध, दूध के पदार्थों जैसे पोषक खाद्यों पर अधिक व्यय होता है। इस क्षेत्र में ग्रामीण परिवार और खेतिहर मजदूर परिवार की स्थिति में आकाश और पाताल का अंतर है।

उदाहरण के लिए, ग्रामीण परिवार उक्त पदार्थों पर औसतन १७ रु० व्यय करता है जबकि खेतिहर मजदूर परिवार इस दिशा में एक रुपये से भी कम खरचता है। अब अन्य पदार्थों को लीजिए : खेतिहर मजदूर परिवार वस्त्रों और जूतों पर ६·७ रु० व्यय करता है जबकि ग्रामीण परिवार इस मद पर २७·३ रु० खरचता है। इसी प्रकार खेतिहर मजदूर परिवार का प्रति व्यक्ति पीछे विविध व्यय ७ रु० है जबकि ग्रामीण परिवार का यही व्यय २२·६ रु० है।

ऋण का भार—ग्रामीण जनता चिरकाल से ऋण के भार तले दबी जा रही है। उसके शरीर को इससे घुन लग गया है। कृषि-श्रमिक जांच ने उसके ऋण के आंकड़े भी इकट्ठे किये थे। खेतिहर मजदूर परिवारों में ४५ प्र० श० ऋण-ग्रस्त हैं और प्रत्येक परिवार पर औसतन १०५ रु० का ऋण है। इन ऋणों में ७८ प्र० श० ऋण उपभोक्ता-वस्तुओं की खरीद के लिए लिया गया है। इससे खेतिहर मजदूरों की आर्थिक दुरवस्था का पता चलता है।

खेतिहर मजदूर प्रायः महाजनों, नौकरीदाताओं, दूकानदारों, मित्रों और संबंधियों से ऋण लेते हैं। सहकारी समितियों का नाम तो उन्हें बहुत ही कम मालूम है। वास्तव में महाजन तथा नौकरीदाता उनसे क्रमशः ३६ प्र० श० और २१ प्र० श० व्याज लेते हैं। दूकानदारों तथा सहकारी समितियों द्वारा जो ऋण उन्हें दिये गये हैं उनकी राशि उनके संपूर्ण ऋण की राशि का क्रमशः ६ प्र० श० और १ प्र० श० है।

कृषि-श्रमिक जांच अपने ढंग की सबसे व्यापक सामाजिक-आर्थिक जांच थी जिसे विशेषज्ञों की सेवाएं प्राप्त थीं। उसने भारत के खेतिहर मजदूरों की अवस्थाओं और उनके जीवन के विभिन्न अंगों पर विश्वसनीय आंकड़े संग्रह किये हैं। उसने यह भी बताया है कि देश के भावी विकास में खेतिहर कामगारों का महत्त्व कितना अधिक है। खेतिहर कामगारों के लिए कोई भी कार्यक्रम बनाते समय इस जांच के परिणामों पर ध्यान गये बिना नहीं रह सकता है।

इस जांच ने यह भी बताया है कि कृषि-क्षेत्र में खेतिहर मजदूरों को अपनी जीविका कमाने का केवल सीमित अवसर प्राप्त हैं क्योंकि जोतें छोटी-छोटी हैं, सिंचाई की सुविधाएं कम हैं, दो फसलें पैदा करने वाली भूमि थोड़ी है, खेती पुराने ढंग से की जाती है और भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने के लिए आवश्यक उपायों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है।

अभीष्ट कार्यक्रम

आवश्यक सुधार—वर्तमान भूमि-व्यवस्था की एक बड़ी कमी और अस्थिरता यह है कि उसमें ऐसे खेतिहर कामगार एक बड़ी संख्या में मिलते हैं जिनके रोजगार का तार अटूट नहीं रहता है और जिनके सामने सामाजिक कठिनाइयों प्रायः मुंह फैलाये खड़ी रहती हैं। अखिल भारतीय राष्ट्रीय आयोजन समिति (All-India National Planning Committee) ने १९३८ में इस मामले में हाथ डाला था और खेतिहर कामगारों की दशा सुधारने के लिए निम्नांकित सुझाव पेश किये थे :

(१) भूमि के स्वामित्व और पट्टे तथा उसकी जुताई में परिवर्तन किया जाए;
(२) सरकारी आधार पर संपूर्ण किसान के जीवन का पुनर्गठन किया जाए;
(३) कृषि-संबंधी ऋणों का भार हटाया जाए;
(४) उपज के लिए लाभप्रद तथा उचित हाट की व्यवस्था की जाए;
(५) छोटे और बड़े बहु-उद्देश्यीय नदी प्रशिक्षण परियोजनाओं का कार्यान्वय किया जाए;
(६) देश के पशुधन की रक्षा और उन्नति की जाए;
(७) खेतिहर मजदूरों का संगठन किया जाए;
(८) किसान के जीवन और कार्य की प्रत्येक आकस्मिक घटना से रक्षा करने के लिए एक राष्ट्रव्यापी खेतिहर बीमा परियोजना होनी चाहिए।

प्रथम पंचवर्षीय योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि-उत्पादन, भूमि-सुधार, सहकारी आधार पर गांवों के पुनर्गठन, ग्राम्य उद्योगों के विकास और नये कार्यों के निर्माण के संबंध में कार्यक्रम बनाने का पर्यादेश दिया गया था। इन सब कार्यक्रमों का उद्देश्य खेतिहर मजदूरों के लिए अधिकाधिक काम-धंधे की व्यवस्था करना था। प्रथम पंचवर्षीय योजना ने जिन ठोस बातों की सिफारिश की थी उनमें से कुछ नीचे दी जा रही हैं :

(१) विद्यमान गांवों और गांवों के परिवर्धित क्षेत्रों में घर की भूमि पर स्वामित्व का अधिकार प्रदान करना; यथासंभव सागबाड़ी के लिए छोटी-सी जगह देने की कोशिश भी की जानी चाहिए;
(२) भूमिदान के लिए चुने गये भूमिहीन कामगारों को भूमि दिलाने के

लिए भूमिदान आंदोलन का अनुसमर्थ विशेष रूप से करना चाहिए; भूमिदान को ग्राम-विकास का एक स्थायी अंग मानना चाहिए;

(३) जहां तक संभव हो, श्रमिक सहकारी समितियों को अधिक-से-अधिक संगठित करना चाहिए और स्थानीय सिंचाई की व्यवस्था करने तथा अन्य कार्य करने में उनका उपयोग करना चाहिए;

(४) नयी तोड़ी हुई भूमि तथा खेती के योग्य बंजर भूमि के खंडों को अलग रखना चाहिए और जहां संभव हो, उन पर सहकारी आधार पर भूमिहीन खेतिहर मजदूरों तथा छोटे-छोटे कम-उपजाऊ भूखंडों के मालिकों को बसा देना चाहिए;

(५) भूमिहीन कामगारों के सहकारी समुदायों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए। उन्हें इस सहायता का उपयोग घर बनाने, बैल खरीदने, औजार मोल लेने तथा जिन सहायक उद्योगों का प्रशिक्षण उन्होंने ग्रहण किया है उनको चालू करने में करना चाहिए;

(६) शिक्षा के लिए छात्रवृत्ति तथा व्यावसायिक और प्रविधिक प्रशिक्षण के लिए विशेष सहायता दी जानी चाहिए;

(७) किसानों की भांति खेतिहर मजदूरों की सेवा भी ग्राम्य विस्तार कार्यकर्ताओं को करनी चाहिए। उन्हें खेतिहर मजदूरों के कल्याण तथा नियोजन का दायित्व वहन करना चाहिए। ग्राम पंचायतों को तो खेतिहर कामगारों के कल्याण-कार्य के लिए विशेष रूप से जिम्मेदार बनाना चाहिए।

खेतिहर मजदूर ग्राम-समाज के ही एक अंग हैं। इसलिए उनकी आर्थिक दशा कृषि-अर्थव्यवस्था की समृद्धि पर निर्भर होती है। स्मरण रहे कि प्रथम पंचवर्षीय योजना में काफी कृषि-उत्पादन बढ़ाने पर ध्यान दिया गया था।

जिस भूमि में खेती बहुत होती है उसी पर खेतिहर मजदूर भी केंद्रित हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अ-खेतिहर अंचलों की अर्थव्यवस्था के विकास के लिए मजदूरों का अभाव खटकने लगता है। ऐसे अंचलों को सामुदायिक विकास परियोजनाओं के अंतर्गत लेने से खेतिहर मजदूरों के पुनर्वास की दिशा में एक सराहनीय कार्य हो रहा है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक कार्यक्रम, परिवहन तथा अर्थतंत्र के अन्य क्षेत्रों से संबंधित कार्यक्रम थे। इनके अतिरिक्त, योजना में खादी-प्रचार और ग्राम्यउद्योगों के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम भी थे जिनसे अ-खेतिहर मजदूरों को प्रत्यक्ष रूप से लाभ हुआ है। इस योजना में पिछड़े वर्गों के लोगों की दशा सुधारने पर विशेष ध्यान दिया गया था। कहना न होगा कि खेती का

काम न करनेवाले मजदूरों में पिछड़े वर्गों के लोगों की एक प्रचुर संख्या मिलती है।

भूमिहीन श्रमिकों का पुनर्वास—प्रथम पंचबर्षीय योजना में कुछ भूमिहीन मजदूरों को बसाने की चेष्टा की गयी थी। मद्रास और आंध्र तथा कुछ अन्य राज्यों में ऐसा किया गया है। भोपाल में १०,००० एकड़ के एक फार्म पर हरिजनों को बसाया गया है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में एक लाख एकड़ भूमि में २०,००० परिवारों को बसाने की योजना बनायी गयी है।

अधिकतम जोत निर्धारित करने से पुनर्वास के लिए कुछ भूमि इकट्ठी हो जाएगी। इसके अतिरिक्त, भूदान-यज्ञ से भी कुछ भूमि इकट्ठी हो रही है। किंतु यहां पर यह ध्यान रखना होगा कि राज्य तथा भूदान-यज्ञ जैसी संस्थाओं ने जिन भूमिहीन लोगों को जो भूमि दी है उसके कारण उन्हें भूस्वामी न बन जाना चाहिए; और वैयक्तिक रूप से नये स्वामी तथा नये शोषक बनाने के द्वार न खुलने चाहिए।

किसान का स्वामित्व-अधिकार—किसान का स्वामित्व-अधिकार कहीं जमींदारी का निंद्य रूप धारण न कर ले, इससे सावधान रहना होगा क्योंकि यह घृणित जमींदारी फिर भूमिहीन मजदूरों को चूसने लगेगी। इसलिए वर्तमान किसान परिवार की परिभाषा स्वीकार करनी होगी जिससे उसकी खेती का फार्म इतना बड़ा न हो जिससे वह बाहरी मजदूरों को नौकर रखे। यह फार्म इतना ही बड़ा होना चाहिए ताकि उसके किसान को राज्य से ऋण की सुविधाएं तथा कर-मुक्ति मिलती रहे। उन गांवों में ही सामूहिक खेती चालू होनी चाहिए जहां भूमिहीन लोगों की संख्या कुल जन-संख्या का एक दर्शनीय भाग हो।

सहकारी खेती—भूमिहीन मजदूरों द्वारा सहकारी खेती के लिए भूमि कहां से इकट्ठी की जाए? इसका उत्तर यही है कि जिस भूमि पर किसी का दखल नहीं है और जोतने लायक है, जो भूमि इस समय जोतने लायक नहीं है किंतु यंत्रीकृत तथा वैज्ञानिक साधनों से भविष्य में हल के नीचे लायी जा सकती है, जिस भूमि में बन-बीहड़ साफ करके हल चलाया जा सकता है, जिस भूमि का स्वामी अनुपस्थित है तथा जो भूमि अधिकतम जोत निर्धारित होने के कारण बच रही है, उस सबको सहकारी खेती के लिए इकट्ठा करना चाहिए। इस संग्रहीत भूमि को यथेष्ट विस्तार के सहकारी फार्म बना देने चाहिए। इन सहकारी खेती सोसाइटियों को सरकार की ओर से, निःशुल्क रूप से, प्रविधिक विशेषज्ञों और मार्गदर्शकों की सेवाएं मिलनी चाहिए। इन सहकारी सोसाइटियों से अपनी-अपनी भूमि अलग कर लेने का अधिकार कठोरता से बहुत सीमित कर देना चाहिए।

देहाती क्षेत्रों को ऋण—रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया में एक विशेष विभाग है जिसका काम कृषि-ऋण की देखभाल करना है। सहकारी सोसाइटियां भी इस ओर ध्यान दे रही हैं। लेकिन इस समय प्रश्न प्रायः ऋण की राशि को उपलब्ध करने का नहीं होता है। मुख्य प्रश्न तो यह है कि जो ऋण दिया जा रहा है वह फार्मों की उत्पादिता बढ़ाने पर लगाया जाता है या नहीं। क्या वह खेती के अच्छे औजार खरीदने, बढ़िया बीज मोल लेने या खेती का विस्तार करने पर व्यय किया जाता है? जब तक किसान अकेले ही अपने छोटे-छोटे और आर्थिक दृष्टि से अ-लाभकारी खेतों में लगा हुआ है तब तक उसकी झड़ उन लोगों से कैसे मिल सकती है जो विनियोजित पूंजी का समुचित प्रतिफल चाहते हैं; और जहां इसकी गुंजाइश नहीं होगी वहां लोग पूंजी लगाने की बात तक नहीं सोच सकते हैं?

राष्ट्रीकरण—राष्ट्रीकरण का प्रश्न भूमि-व्यवस्था की क्रांति से जुड़ा हुआ है। देश की संपूर्ण भूमि-व्यवस्था का पुनर्गठन और पुनरुत्थापन इसके अंतर्गत आता है। दूसरे शब्दों में, अभी भूमि पर किसी-न-किसी प्रकार के निजी स्वामित्व का जाल बिछा हुआ है जिसका उद्देश्य है लाभ कमाना और भूमि को मन-माने ढंग से बरतना। किंतु इसके स्थान में द्रुतगामी राष्ट्रीकरण की कोई पद्धति अपनानी होगी जिससे भूमि का स्वामित्व सामूहिक लाभ के लिए समाज के हाथ में चला जाए।

चकबंदी—भूमि की कम उपज ने भारत में खेती को एक अ-लाभकारी धंधा बना दिया है। इस कम उपज का एक मुख्य कारण है भूमि का छोटे-छोटे खेतों में बिखरा हुआ होना। ऐसे छोटे-छोटे खेत प्रायः देश के इस कोने से उस कोने तक बिखरे पड़े हैं। पिछले वर्षों में कुछ भूमि-सुधार हुए हैं जिनसे जमींदारी-पद्धति की कपालक्रिया हो गयी है और किसानों को अपने खेतों पर कानूनी कब्जा मिल गया है। भूदान आंदोलन से भी कुछ भूमि-सुधार-संबंधी कार्यों को प्रेरणा मिली है। किंतु इतना होने पर भी, भूमि-व्यवस्था के संपूर्ण वर्तमान दोषों के उन्मूलन में अभी काफी समय लग सकता है।

खेतों की चकबंदी करके उनको लाभकारी फार्मों के रूप में बदलने की कितनी आवश्यकता है उस पर जितना ही लिखा जाए, थोड़ा होगा। देश के गांवों के पुनर्निर्माण की किसी भी योजना में सबसे ऊंचा स्थान भूमि की पुनर्व्यवस्था को देना होगा। यदि आवश्यकता पड़े तो इसके लिए देशव्यापी सहकारी निगम (cooperative corporations) भी स्थापित कर देने चाहिए जो समूचे ग्राम-समाज का पूर्ण कायापलट कर सकें। ऐसे निगम प्रत्येक गांव या प्रत्येक ग्राम-समूह के लिए बनाये जा सकते हैं। इनका काम किसानों से गहन कृषि करवाना होगा। वास्तव में, यदि इस देश में भूमि के स्वामित्व का

पूर्ण राष्ट्रीकरण नहीं किया जाता है और खेतीबारी को सरकारी उद्यम का स्वरूप नहीं दिया जाता है—सरकारी उद्यम से यहां अभिप्राय वही है जो सामूहिक या सहकारी खेती की प्रणालियों के रूप में विद्यमान है—तो हमारी समस्या हल होने की कोई आशा नहीं है।

श्रमिक सहकारी समितियां—सहकारी विभाग के कर्मचारी मंडल की सहायता से सिंचाई, भवन, सड़क, बन तथा कृषि विभागों और अन्य सरकारी अभिकरणों को गांव के मजदूरों की सहकारी समितियां बनाने की कोशिश करनी चाहिए। इन सहकारी समितियों को निश्चित निर्माण-कार्यों के ठेके अपने हाथ में लेने चाहिए और उनको इस क्षेत्र में प्रविधिक सहायता अधिकारियों द्वारा दी जानी चाहिए। बंबई में बन श्रमिक सोसाइटियों (forest labourers' societies) तथा अन्य स्थानों में इसी प्रकार की संस्थाओं ने जो सफलता प्राप्त की है उससे साबित होता है कि यदि श्रमिकों को उचित सहायता और उत्साह दिया जाए तो उनकी सहकारी संस्थाएं बहुत-कुछ काम कर सकती हैं। उनसे देहाती क्षेत्रों में बेकारी की समस्या हल करने में योग मिल सकता है तथा इस प्रकार कल्याणकारी परियोजनाओं और अन्य सहायताकारी कार्यों में सरकारी सहायता मिलने का रास्ता साफ हो सकता है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत छोटे और बड़े निर्माण-कार्यों पर काफी व्यय हो रहा है। इन निर्माण-कार्यों में ठेकेदारों के स्थान में श्रमिक सहकारी संगठनों को यथासंभव अधिक अवसर देना चाहिए। इन सहकारी संगठनों के कारण देहातों में काम-धंधों की संख्या बढ़ सकती है और उनमें भूमिहीन मजदूरों को रोजगार मिल सकता है। यदि श्रमिक सहकारी संगठनों के निर्माण की आवश्यक चेष्टा की जाए तो कोई कारण नहीं है कि उनकी स्थापना न हो जाए और उनके पास आवश्यक औजार, साज-सामान और अपने निजी परिवहन न हो जाएं। आरंभ में इन संगठनों को प्रबंध तथा प्रविधिक ज्ञान-संबंधी सहायता देनी होगी और साथ में उन्हें आवश्यक औजार और साज-समान खरीदने के लिए ऋण भी देना होगा।

ग्राम-सहकारी संगठन—गांवों में दृढ़ तथा व्यवस्थित सहकारी संगठनों की स्थापना से अनेक देहाती समस्याएं हल हो जाएंगी। ये संगठन उद्योग चालू कर सकते हैं जिनमें फसल कटने के बाद खाली बैठने वाले मजदूरों को काम मिल जाएगा। ये उद्योग ऐसे होने चाहिए जिन्हें विकास की योजनाओं का अंग बनाया जा सके।

खेतिहर मजदूर संघ—भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के संघ बनाने का एक विकट प्रश्न सामने आ सकता है। भारत के ग्राम्य अर्थतंत्र के लिए यह एक समस्या होगी। इस समय देश में कृषि-श्रमिकों का कोई उल्लेखनीय मजदूर

संघ नहीं है। औद्योगिक मजदूरों के संगठित मजदूर संघ हैं जो उनके हितों की रक्षा में रात-दिन लगे रहते हैं। किंतु खेतिहर मजदूरों ने अभी तक अपना कोई संगठन नहीं बना पाया है क्योंकि वे कितने ही गांवों में इधर-उधर छिन्न-भिन्न पड़े हुए हैं। मजदूर नेताओं तथा ग्राम-हितैषियों को उनकी ओर ध्यान देना और लोकतंत्रीय कृषि-श्रमिक संघों का संगठन करना चाहिए ताकि उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ श्रमिक-वर्ग के आधारभूत अधिकारों की सुरक्षा भी संभव हो जाए। ये संघ देहाती मजदूरों के अधिकारों की चौकसी रखेंगे। वे वहां न्यूनतम मजदूरी विधान लागू करवाएंगे, विधि-विहित वेतन-बोर्ड स्थापित कराएंगे, काम के घंटे नियत और सेवा की शर्तों का नियमन कराएंगे तथा कार्यावस्थाओं को संतोषजनक बनवाएंगे।

न्यूनतम मजदूरी विधान—इस समय १९४८ के न्यूनतम मजदूरी अधिनियम की छत्र-छाया में ही खेतिहर मजदूर पनप रहे हैं। इसमें उन्हें अपने श्रम का न्यूनतम पुरस्कार मिलने की गारंटी प्राप्त है। इससे उन क्षेत्रों के मजदूरों की भृति बढ़े बिना नहीं रह सकती जहां अब भी उन्हें कम मजदूरी मिल रही है और उनका शोषण जारी है। किंतु भूमि पर निर्भर जनसंख्या के बाहुल्य तथा मजदूरों के आधिक्य के कारण, न्यूनतम मजदूरी निर्धारण की समस्या टेढ़ी बन गयी है। फिर भी उक्त अधिनियम से देहाती मजदूरों की मजदूरी-दर में कुछ-न-कुछ सुधार होगा ही। यहां यह बताना अनुचित न होगा कि खेतिहर मजदूरों की मजदूरी-दर सब जगह समान कर देना अव्यावहारिक और अनुपयुक्त होगा क्योंकि एक प्रदेश की आर्थिक दशा दूसरे प्रदेश से भिन्न होती है और इस अवस्था में एक प्रदेश की न्यूनतम मजदूरी दूसरे प्रदेश के लिए व्यावहारिक नहीं हो सकती है।

अभी तक एक तदर्थ आधार पर ही खेतिहर मजदूरों की मजदूरी निर्धारित करने की चेष्टा की गयी है क्योंकि इस बारे में नियंत्रित अवधि के आंकड़े उपलब्ध न थे। यदि नवीनतम आंकड़ों का संग्रह समय-समय पर नहीं किया जाता है और देहाती क्षेत्रों के उचित उपभोक्ता-मूल्य-सूचकांक तैयार नहीं किये जाते हैं तो कृषि श्रमिक जांच का अब तक का महत्त्वपूर्ण कार्य धूल में मिल जाएगा। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस संबंध में जो स्कीम सम्मिलित की गयी थी उसने कोई संतोषजनक प्रगति नहीं की है और अब उसे तत्परता से आगे बढ़ाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने तथा समय-समय पर मजदूरी की दरों में हेरफेर करने का काम बुरी तरह पिछड़ जाएगा।

न्यूनतम मजदूरी नियत होने के बाद, जो सबसे महत्त्वपूर्ण काम सामने आता है वह उसको लागू करने का होता है। देहाती मजदूरों का अपना संग-

ठन न होने तथा आर्थिक अवस्थाएं गड़बड़ होने के कारण, निर्धारित मजदूरी का कार्यान्विय कोई सरल काम नहीं है। इसलिए, इसके लिए निरीक्षक-तंत्र पर भरोसा करना पड़ेगा। निदान, निरीक्षक-तंत्र की संतोषजनक व्यवस्था होनी चाहिए।

अतिरिक्त सेवा के अवसर—यह ठीक है कि न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के लिए तथा समय-समय पर उसमें संशोधन करने के लिए घोर परिश्रम किया जा रहा है। किंतु इस दिशा में इतना करना ही अलम न होगा। कृषि श्रमिक जांच से प्रकट होता है कि देहातों के मजदूरों में बेकारी, अर्ध-रोजगारी तथा गरीबी की विकट समस्याएं मौजूद हैं। उनके रहन-सहन के नीचे स्तर का कारण है उनकी स्वल्प कमाई तथा नौकरी के अवसरों की कमी। इसलिए उनको नौकरी के अधिक अवसर प्रस्तुत करने का मुख्य प्रयास करना चाहिए।

यह दूसरी बात है कि इन देहाती मजदूरों को काम-धंधा कहां दिया जाए—खेतीबारी में ही दिया जाए या अन्यत्र ? इस विषय पर अभी सोच-विचार की बागें ही ढीली की गयी हैं। प्रायः यह देखने में आता है कि जहां पंचवर्षीय योजनाओं के कारण भूमि की सिंचाई की प्रचुरता हुई है और जहां दोहरी फसलें पैदा होने लगी हैं वहां भले ही खेतीबारी में अधिक मजदूर खपाये जा सकते हैं, अन्यथा नहीं।

इससे स्पष्ट है कि मजदूरी के अवसर पैदा करने के लिए किसी अ-खेतिहर अंचल का द्वार खटखटाना होगा। कृषि श्रमिक जांच से विदित होता है कि दस प्रतिशत खेतिहर मजदूर अपना पेट भरने के लिए खेती को छोड़कर दूसरे सहायक व्यवसाय करते थे। वे प्रायः घर बनाने, सड़क बनाने और मरम्मत करने के उन कामों में, जिनमें दक्षता की जरूरत नहीं होती है, तथा गाड़ी चलाने में लगे हुए थे। अस्तु, खेतिहर मजदूरों के लिए काम-धंधे चाहिए। उन्हें रोटी कमाने का अवसर मिलना चाहिए। इसलिए योजनाओं के अंतर्गत जहां कहीं कुशलता रहित कार्यों को करवाने का अवसर आए वहां सबसे पहले इन देहाती मजदूरों को काम देना चाहिए। उन्हें लघु उद्योगों, कताई-बुनाई के विकेंद्रित उद्योगों तथा अन्य इसी प्रकार के काम-धंधों में लगाया जा सकता है।

प्रायः खेतीबारी का काम फसल पर ही होता है। भारत में तो यह बात सोलहो आने सच है क्योंकि यहां खेतीबारी मॉनसून की कृपा पर निर्भर होती है। भारत में किसान वर्ष के अधिकांश दिनों में निकम्मा बैठा रहता है जबकि फसल पर तीन-चार महीने उसे दम लेने की फुरसत नहीं होती है। खेतीबारी के काम को मुख्य तथा सहायक धंधों समेत वैज्ञानिक तथा क्रमिक ढंग से संगठित करने पर अच्छी तरह ध्यान नहीं दिया गया है ताकि किसान वर्ष भर

नियमित रूप से काम-धंधें में लगा रहे। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक ऐसी योजना बनानी चाहिए जिसमें खेतीबारी को मुख्य उद्योग माना जाए और उसके सहायक काम-धंधों और व्यवसायों को उसके साथ नत्थी कर दिया जाय जिससे समस्त योजना एक सर्वांगीण योजना बन जाए। जो भूमि-सुधार किया जाए उसमें भूमि पर निर्भर जन-संख्या में कमी करने पर ध्यान दिया जाए ताकि ग्राम क्षेत्रों में अर्धरोजगारी की दशा में सुधार हो सके और ग्रामीण शिल्पों तथा अन्य धंधों के लिए जनशक्ति उपलब्ध हो सके।

ग्राम्य उद्योग—ग्राम्य शिल्पों और कुटीर उद्योगों के उत्पादन को संरक्षण देना आवश्यक है, जैसे हथकरघों को धोती बनाने का भार सौंप दिया जाए। यदि ऐसा नहीं होगा तो जब तक उक्त उद्योगों के संगठन और उत्पादन-प्रविधि में तरक्की नहीं होती है तब तक वे बड़े उत्पादकों की प्रतियोगिता की टक्कर नहीं झेल सकते हैं। वास्तव में, जैसा कि स्विटजरलैंड और जापान में देखने में आता है, कुटीर उद्योगों को बड़े उद्योगों का प्रदाय-उद्योग मानना चाहिए।

देहाती कारखाने (rural workshops)—गांवों या ग्राम-समूहों में कुटीर उद्योगों के अतिरिक्त, छोटी-छोटी वर्कशॉपें (कारखानें) भी खोलने चाहिए ताकि उनसे बढ़इयों, बुनकरों और अन्य शिल्पकारों को आधुनिक औजार और सामान मिल सके। फिर समय बीतते वह अवसर भी आयेगा जबकि जो गांव आज नगरों से अपनी आवश्यकताओं का सामान खरीद रहे हैं, वही कल नगरों को सामान सप्लाई करते दिखायी देंगे।

प्रशिक्षण-केंद्र—इसके अतिरिक्त गांवों में व्यावसायिक तथा प्रविधिक शिक्षा के लिए प्रशिक्षण-केंद्रों का जाल बिछा होना चाहिए। ये केंद्र समय बीतते बेकार तथा अप्रशिक्षित लोगों को कमाऊ और प्रशिक्षित कामगारों में बदलने की क्षमता रखते हैं। जो जन-शक्ति आज देश की छाती पर भार बनी हुई है वह कल राष्ट्र के लिए एक निधि बन जाएगी।

कुटीर उद्योगों के दोष—सभी जानते हैं कि भारत में कुटीर उद्योग पंगु बना आ रहा है। इसके अनेक कारण हैं। इनके विश्लेषण से निम्नांकित मुख्य बातें सामने आती हैं।

(१) कम दामों पर सहज में कच्चा माल उपलब्ध करने में कठिनाई;
(२) मानक स्थिर करने तथा डिजाइनें (आकल्पन) बनाने में पथप्रदर्शन की कमी;
(३) उन वस्तुओं को बनाने में प्रविधिक ज्ञान का अभाव जो आवश्यकता पड़ने पर बड़े उद्योगों से प्रतियोगिता कर सकें;
(४) पूंजी की कमी तथा उपयुक्त हाट-व्यवस्था का अभाव।

उक्त दोषों को दूर करना होगा। इसके अतिरिक्त, सरकारी अभिकरणों द्वारा कुटीर उद्योगों के लिए संगठन, साज-सामान, कच्चे माल तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए। जिस प्रकार बड़े उद्योगों में बिजली का उपयोग करते हैं उसी प्रकार कुटीर उद्योगों में भी उसका अधिक-से-अधिक उपयोग करना होगा।

एक संतोषजनक बात यह है कि यहां छोटे और बड़े उद्योगों में आपसी होड़ की जगह आपसी सहयोग की भावना पायी जाती है। फिर भी यदि उन दोनों के बीच कोई मतभेद हो तो उसे दूर करने के उपाय निकालने चाहिए क्योंकि हमें यह न भूलना चाहिए कि समूचे देश के आर्थिक उत्थान में दोनों उद्योग एक-दूसरे के अनुपूरक हैं।

घर—इसमें तनक भी अत्युक्ति नहीं है कि खेतिहर कामगारों के रहने के घरों की हालत बहुत बुरी है। गांवों में जो टूटी-फूटी झोपड़ियां दिखायी देती हैं वे प्रायः इन्हीं मजदूरों की होती हैं। इनकी दशा सुधारनी चाहिए। सबसे पहले उन्हें अपने मकान की भूमि पर, जिस पर उन्हें केवल अस्थायी अधिकार प्राप्त होता है, कब्जा-दखिलकारी दे देना चाहिए। जहां मकान की यह भूमि गांव-पंचायत की संपत्ति हो, और उस पर खेतिहर कामगार का कब्जा चला आ रहा हो, वहां पंचायत को वह भूमि उसे बे-पैसे दे देनी चाहिए। और जहां यह भूमि किसी व्यक्ति की जायदाद हो और उस पर कामगार का कब्जा चला आ रहा हो, वहां उसकी अनुनय-विनय द्वारा तथा यदि आवश्यकता पड़े तो कानून बनाकर, वह भूमि भूमिहीन कामगार को दिलानी चाहिए।

कितने ही राज्यों ने कानून अथवा नियम-विनियम बनाकर खेतिहर मजदूरों के लिए गांवों में गृह-निर्माण की भूमि की व्यवस्था का द्वार खोल दिया है। अब यह ग्राम-समाज का कर्तव्य है कि वह भूमिहीन खेतिहर मजदूरों को बिना मूल्य लिये मकान बनाने के प्लॉट दे। किसी-किसी दशा में स्थानीय सामग्री देकर उनके लिए मकान बनवाने में कुछ हद तक सहायता की जा सकती है।

उपसंहार

खेतिहर मजदूरों की क्या समस्याएं हैं, इनका संकलन पिछले पृष्ठों में किया गया है और उनको हल करने के उपाय भी बताये गये हैं। इन मजदूरों की समस्या कितनी गंभीर है उसकी ओर से आंखें नहीं मूंदी जा सकतीं। देश में उनकी संख्या ३½ करोड़ है जिनमें स्त्रियों का अनुपात उन स्त्रियों के अनुपात से कहीं अधिक है जो देश में फैक्टरियों के २८ लाख मजदूरों के बीच में काम करती हैं।

खेतिहर मजदूरों की संख्या देश के समस्त मजदूरों की संख्या का एक बड़ा अंश है। ग्राम-अर्थतंत्र में यह वर्ग सबसे नीचे पड़ा हुआ है। उसका जीवन-स्तर ऊंचा उठाना आज हमारे देश की एक सबसे बड़ी आर्थिक और सामाजिक समस्या बन गयी है।

खेतिहर कामगार की दशा सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि सामंतीय अधिकारों, भू-स्वामित्व के दोषपूर्ण वितरण, शोषणकारी मजदूरी-दरों और प्रत्येक प्रकार की सामाजिक निर्योग्यताओं का अंत कर देना चाहिए। ग्राम-समाज में भूमिधारियों और भूमिहीनों के बीच का अंतर मिटाकर सबको समान अवसर देना चाहिए। ग्रामोन्नति की परियोजनाओं को कार्यान्वित करते समय सबसे पहले अधिक ध्यान कम रियायतें-प्राप्त तथा कम आय-वाले लोगों को लाभ पहुंचाने पर देना चाहिए। गांवों में किसान की खेतिहर भूमि या फार्म या जोत की अधिकतम सीमा निश्चित होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त ग्रामीण विकास-कार्य समूचे ग्राम-समाज की भलाई के लिए होना चाहिए।

कार्य की रूपरेखा — जब उन खेतिहर कामगारों की संख्या बढ़ जाएगी, जिनके पास जोतने के लिए भूमि होगी, तब उनका सामाजिक मान भी ऊंचा उठ जाएगा और निःसंदेह उनके आर्थिक अवसर भी बढ़ जाएंगे। यहां पर एक बात कहना आवश्यक है: कृषि श्रमिक जांच से प्रकट होता है कि ५० प्र० श० खेतिहर मजदूरों के पास प्रति परिवार लगभग तीन एकड़ भूमि है। किंतु उनके उपभोग-मानक और जिनके पास भूमि नहीं है उनके उपभोग-मानक में काफी अंतर है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भूमिहीनों में भूमि का बंटवारा करने से सामाजिक और आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है, किंतु जीवन-स्तर ऊंचा उठाने और रोजगार की स्थिति में विस्तार करने में कोई अधिक सफलता नहीं मिली है। इसलिए नीचे लिखी चीजें करनी चाहिए:

(१) खेती के उत्पादन, पशु-धन तथा उद्यान-आरोपण में वृद्धि करना;
(२) ग्राम अर्थतंत्र का विकास करना, अर्थात् ग्राम के विकास कार्यों में अधिक परिश्रम करना, छोटे उद्योगों तथा खेतीबारी की प्रक्रिया पर अधिक ध्यान देना;
(३) खेतिहर कामगार की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाना और उसे इस योग्य बनाना कि उसमें आत्मविश्वास की भावना अधिक हो चले, भूमि के फिर से बंटवारे से जो आर्थिक अवसर सामने आएं उनका लाभ उठाने की योग्यता उसमें पैदा हो सके, उसको शिक्षा की सुविधाएं और दूसरी रियायतें दी जाएं;
(४) खेतिहर कामगारों की निर्वाह-अवस्थाओं में सुधार करना।

देश की गरीबी को जड़-मूल से खोदने के लिए जिन बुनियादी बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए वे हैं खेतीबारी की पैदावार बढ़ाना, आर्थिक हलचलों का फैलाव बढ़ाना, भूमि को फिर से बांटना और खेतिहर मजदूरों को सामाजिक सुविधाएं देना। गांवों में विभिन्न फसलें उगाने तथा खेतीबारी में अधिक परिश्रम का उपयोग करने और विविध प्रकार के काम-धंधे चालू करने से खेतिहर मजदूरों के लिए रोजगार के नये-नये अवसर पैदा हो जाएंगे। राष्ट्रीय विस्तार खंडों तथा सामुदायिक परियोजनाओं के क्षेत्रों में समाज के दुर्बल अंगों अर्थात् छोटे-छोटे किसानों, भूमिहीन काश्तकारों, खेतिहर मजदूरों तथा कारीगरों की सेवा पर अधिक ध्यान देने से खेतिहर मजदूरों की स्थिति अपने-आप सुधरने लगेगी। शिक्षा और स्वास्थ्य-सेवाओं के प्रसार से भी खेतिहर मजदूरों तथा समाज के अन्य दुर्बल अंगों को लाभ पहुंचेगा और उनमें नये अवसरों से लाभ उठाने की शक्ति का संचार होने लगेगा।

पिछले कुछ दशकों में जनसंख्या, आधुनिक उद्योगों, व्यवसायों और व्यापार में जो बढ़ोतरी हुई है तथा ग्रामीण क्षेत्र के परंपरागत आर्थिक ढांचे की जो चूलें हिल गयी हैं, उनका खेतिहर मजदूरों पर क्या प्रभाव पड़ा है? इससे दो मुख्य बातें सामने आयी हैं—सामाजिक ढांचे में हेरफेर हुआ है और नौकरियों के नये द्वार खुल गये हैं। जो खेतिहर मजदूर परिगणित जातियों तथा पिछड़े वर्गों के थे उनकी सामाजिक निर्योग्यताओं में काफी संशोधन हो गया है। कितनी ही निर्योग्यताएं मिट गयी हैं। किंतु काम-धंधों की स्थिति, जिससे आर्थिक समस्या हल हो सके, पहले से विकट हो चली है।

विशाल बहु-उद्देश्यीय नदी घाटी योजनाओं से देहाती क्षेत्रों की प्रचुर ऊसर-बंजर भूमि में खेती होने तथा कितने ही छोटे-बड़े-मंझले उद्योगों का सूत्रपात होने की आशा की जाती है। इससे लाखों-करोड़ों लोगों को काम-धंधे मिलने लगेंगे। सिंचाई और बिजली की योजनाओं, नलकूपों के निर्माण, राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खंडों तथा सामुदायिक परियोजनाओं, आदि से आशा बंधी है कि खेती की उपज बढ़ जाएगी जिससे देहाती क्षेत्रों के जीवन के प्रत्येक अंग पर प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। परिणाम यह होगा कि गांवों और नगरों, दोनों में दिन-पर-दिन नये-नये फूल खिलने लगेंगे।

इन विकास योजनाओं से नयी-नयी समस्याएं पैदा होने लगी हैं। उदाहरण के लिए, खेतीबारी में आधुनिक यंत्रों का प्रयोग शुरू हो जाने से उसमें नयी पूंजी-विनियोग की आवश्यकता उत्पन्न हो गयी है। किसान के लिए सिंचाई की बड़ी योजनाओं तथा बिजली की शक्ति की व्यवस्था होने से, खेती में आधुनिक यंत्रों, औजारों तथा अधिक परिश्रम का उपयोग होना स्वाभाविक है। ऊसर-बंजर भूमि को हल के नीचे लाने से खेती का विस्तार

बढ़ रहा है और उसके साथ निचली तराई से पानी निकालने, नयी बस्तियां बसाने, परिवहन तथा हाट-व्यवस्था करने जैसी कितनी ही उलझनपूर्ण समस्याएं पैदा हो गयी हैं। खेती की तकनीक सुधारने का प्रश्न तो सदा अनुपेक्ष्य है।

प्रत्येक क्षेत्र की स्थानीय दशाओं तथा आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर वहां के खेतिहर मजदूरों तथा दलित लोगों के उद्धार के लिए हरेक कोशिश की जानी चाहिए। सामान्यतः, प्रत्येक पांच गांवों के समुदाय अथवा ५०० परिवारों के लिए एक बहुद्देश्यीय सहकारी समिति होनी चाहिए जो उनकी आवश्यकताओं और सुविधाओं पर ध्यान दे सके। यह समिति उनके लिए रेडियो, उद्यानों, व्यायामशालाओं या अखाड़ों तथा नाट्यशालाओं का प्रबंध कर सकती है।

भारत लोकतंत्रीय भावना से प्रेरित होकर मंगल-राज्य की स्थापना के लिए बीड़ा उठा चुका है और अपने चरम लक्ष्य की ओर दृढ़ता से पग आगे बढ़ाता जा रहा है। भारत की धरती से रजवाड़े उठ गये हैं; जमींदारी-पद्धति का दीपक बुझ चुका है; किसान की अधिकतम जोत निर्धारित करने का प्रस्ताव सामने रखा हुआ है; और सामुदायिक परियोजनाएं चालू हैं जिनको यदि ठीक ढंग से योजनानुसार कार्यान्वित कर दिया गया तो इस देश के ग्राम्य जीवन का कायापलट हो जाएगा। इसके अतिरिक्त यहां बहुद्देश्यीय सहकारी समितियों का संगठन जारी है जिसका लक्ष्य है सहकारी कामनवैल्थ (सार्वधन) की स्थापना करना; और इसकी देन यह होगी कि विभिन्न वर्गों की आपसी तू-तू, मैं-मैं कम हो जाएगी। देश में मृत्यु-कर, संपत्ति-कर तथा अधिकर भी लागू हो चुके हैं; भूमि-जोतनेवाले को भूमि का वास्तविक स्वामी मान लिया गया है; कृषि तथा उद्योग के राष्ट्रीकरण तथा सामाजीकरण और निजी उद्योगों को सरकारी उद्योगों में रूपांतरित करने की क्रमिक प्रक्रिया चल रही है। ये सब चीजें निःसंदेह देश में अभीष्ट समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना कर देंगी।

प्रव्रजन, दुनिया के बाजारों की आपसी होड़ तथा छोटे राज्यों को बड़े राज्यों की अधीनता से मुक्त करने की लोकतंत्रीय भावना का उल्लेख किया जा सकता है। १८२५-२६ के संकट के कारण श्रमिकों में जो असंतोष की लहर दौड़ गयी थी उससे कितने ही राष्ट्रीय मजदूर संघों को बढ़ावा मिला था। इनमें इंग्लैंड की ग्रांड नेशनल कॉसोलीडेशन ऑव ट्रेड यूनियन्स (Grand National Consolidation of Trade Unions) तथा संयुक्त राज्य की नेशनल ट्रेड यूनियन्स (National Trade Unions) के नाम गिनाये जा सकते हैं। कितने ही गुप्त क्रांतिकारी तथा समाजवादी संगठन फ्रांस की भूमि पर पनप उठे थे। इन राष्ट्रीय मजदूर संघों के केंद्रों ने श्रम के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप के पोषण के लिए हिंडोले का काम दिया।

अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन के इतिहास की पहली दुर्घटना १८३६ में हुई जबकि ब्रुसेल्स के एक कामगार को अपने साथियों की सभा करने के कारण गिरफ्तार करके जेल का दंड दिया गया। इस सभा का उद्देश्य मजदूरों की सामान्य परिवेदनाओं पर बातचीत करना था। इस गिरफ्तारी और कारावास के दंड से सनसनी फैल गयी और लंदन कामगार संघ (London Workingmen's Association) ने विलियम लॉवेट के नेतृत्व में बेल्जियम के कामगारों के नाम एक अंतर्राष्ट्रीय "अभिभाषण" जारी किया जिसमें बेल्जियम सरकार के उक्त एकतंत्रवादी कृत्य का घोर विरोध किया गया था। यह पहला अवसर था जबकि एक देश के राष्ट्रीय श्रमिक गुट ने अपनी राष्ट्रीय सीमाओं को लांघ कर दूसरे देश के कामगारों की अवस्था पर चिन्ता प्रकट की थी। इस प्रकार एक दृष्टांत सामने आ गया। १८३८ में लॉवेट ने यूरोप के श्रमिक वर्गों का इन शब्दों से आह्वान किया था: "पूंजी का उत्पादन करने वाले साथियो! यह देखकर कि हम पर अत्याचार करने वाले संगठित हैं, हम स्वयं क्यों संगठित नहीं हो जाते और हम अपने दिलों में वह पवित्र उत्साह क्यों पैदा नहीं करते जिससे हम युद्ध के अन्यायों, निरंकुश शासन की बर्बरताओं और उनसे अपनी जाति पर टूटने वाली विपत्तिओं के पहाड़ों के रहस्य का भंडाफोड़ कर सकें।"

लॉवेट के शब्दों में प्रगतिशील समाजवाद तथा श्रमिक भावनाओं की वह आवाज गूंज रही है जिसकी उन दिनों कल्पना तक न की जा सकती थी! उसे एक भविष्यद्रष्टा मानना होगा जिसको एक शताब्दी पहले ही एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की रचना की झलक मिल गयी थी जो मजदूरों के सामान्य कष्टों का सामना संगठित रूप से कर सके और मजदूरों की सामान्य सैद्धांतिक आस्था पर अडिग बना रहे। लॉवेट-सरीखे पुरुषों के विचारों ने श्रमिकों की विचारधारा में तीव्र उत्तेजना पैदा कर दी; और उस दशक का अंत

होते-होते, फ्रांस और इंग्लैंड में श्रम-तत्त्व-चिंतकों के अनेक छोटे-छोटे गुट बन गये जिनमें समाजवादियों (Socialists), ओवेनपंथियों (Owenites), क्रांतिकारी लोकतंत्रवादियों (Revolutionary Democrats) और साम्यवादियों (Communists) के नाम गिनाये जा सकते हैं। इन सबने मिलकर श्रमिक वर्गों के उद्धार के लिए एक "अंतर्राष्ट्रीय समाज" बनाने की योजना का एक स्वर से अनुसमर्थन किया था। इस योजना को ठोस रूप देने के लिए लंदन में एक सम्मेलन बुलाने की तैयारी होने लगी थी किंतु चर्टिस्ट-आंदोलन (Chartist Movement) की आकस्मिक विफलता तथा लॉवेट और अन्य प्रमुख आंदोलनकारियों की गिरफ्तारी के कारण वह सम्मेलन नहीं हो सका। इन आंदोलनकारियों को एक आम हड़ताल की कोशिश करने के आरोप में पकड़ लिया गया था। किंतु, उस समय तक इस अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक आंदोलन में कितने ही गण्यमान्य नेता शामिल हो चुके थे जिनका साहस इस प्रकार की आरंभिक असफलताओं से नहीं टूट सकता था। अंत में उन्होंने पेरिस में सम्मेलन किया और वे अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन बनाने के लिए दिन-पर-दिन अथक प्रयास करते रहे।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र (Communist Manifesto)—१८४० और १८४७ के बीच में, श्रम-तत्त्वज्ञों अर्थात् कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स, माइकेल बाकूनिन, फेसना ट्रष्टान, विलियम लॉवेट, आगस्टा ब्लांग्री तथा डेनियल ली ग्रांड ने समस्त श्रम विचार पद्धति की रचना की। इसमें सबसे बड़ा योगदान कार्ल मार्क्स का था जिन्होंने एंगेल्स की सहायता से सुप्रसिद्ध कम्युनिस्ट घोषणापत्र का डंका बजाया। यह घोषणापत्र (Manifesto) मूलतः कम्युनिस्ट संघ (Communist League) के लिए तैयार किया गया था जो कार्ल मार्क्स के प्रभाव के अंतर्गत "लीग ऑव दि जस्ट" (League of the Just) के उदर से निकलकर बन गया था। जो निर्वासित जर्मन क्रांतिकारी पेरिस, स्विटजरलैंड और ब्रुसेल्स में रहते थे वे इस लीग ऑव दि जस्ट को पिछले १५ वर्षों से चला रहे थे। जिस पुस्तिका में साम्यवाद के आचारों का वर्णन किया गया है वह मार्क्सवादी उपदेशों की बाइबिल बन गयी है।

लीग के पुरातन उद्घोष "सब मनुष्य भाई-भाई हैं" को तिलांजलि दे दी गयी। इसका स्थान एक अन्य उद्घोष ने ग्रहण कर लिया जो आगे चलकर जगह-जगह युद्ध घोष का काम देने लगा। यह उद्घोष है: "सब देशों के काम करने वाले मजदूरों, एक हो जाओ। इसमें आपका कुछ भी न जाएगा! और यदि आपका कुछ जाएगा ही तो जाएंगी आपके पैरों की ये बेड़ियां और बदले में आपको मिलेगी यह सब दुनिया।"

इस घोषणापत्र ने उन विचारों में नयी रूह फूंक दी जो लगभग एक दशक से समाजवादी और क्रांतिकारी क्षेत्रों में पैंग मार रहे थे। उसने पूंजी और श्रम के संघर्ष पर वर्ग-युद्ध का रंग चढ़ा दिया; उसने पूंजीवादी पद्धति के सिद्धांत पक्ष और व्यवहार पक्ष दोनों को विकृत बताया क्योंकि उससे फिर-फिर कर संकट पैदा होते रहते हैं। पूंजी और श्रम में आपसी द्वेष होना स्वाभाविक है, इसलिए उसने निजी संपत्ति के पूर्ण उत्सादन तथा समाज के कम्युनिस्ट स्वरूप की स्थापना करने का प्रस्ताव किया। यह कार्यक्रम तभी सफल हो सकता है जबकि देश की राजनीतिक सत्ता कामगारों के हाथ में आ जाए। इसकी सफलता अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक वर्ग की कार्रवाई पर भी निर्भर है।

इस नूतन घोषणापत्र से कम्युनिस्ट विचारधारा एक निश्चित दिशा में मुड़ गयी। यही इसका महत्त्व है। इसके प्रकाशन से पहले श्रम-नेताओं के मस्तिष्क में धुधले विचार थे। इसने अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक आंदोलन का ध्येय निश्चित कर दिया—कम्युनिस्ट क्रांति तथा श्रमिकों की संयुक्त कार्रवाई।

यह घोषणापत्र १८४७ में लंदन-सम्मेलन में पढ़ा गया और उसको पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया। प्रचार तथा रचनात्मक कार्य की योजना बनायी गयी और घोषणापत्र के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए अगला सम्मेलन १८४८ में ब्रुसेल्स में बुलाने की घोषणा की गयी। किंतु १८४८ की क्रांतिकारी लहर से इस आशा पर पाला पड़ गया। तब तक इंग्लैंड में अधिकार-पत्रवाद (Chartism)* भी धराशायी हो गया तथा फ्रांस में द्वितीय गणतंत्र की स्थापना हो गयी।

प्रथम अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज (First International) — अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन का द्वितीय चरण १८४८-१८८९ में विकसित हुआ। इसकी कहानी प्रथम अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज (फर्स्ट इंटरनेशनल) की रचना, उन्नति और अवसान की कहानी है। उक्त अवधि के प्रथम सोलह वर्षों में यह भावना राख के ढेर में चिनगारी की भांति भले ही छिपी रही हो, ऊपर से चारों ओर काहिली और निष्क्रियता ही दिखती रही। १८४८ की क्रांतिकारी लहर के बाद जो सन्नाटा छा गया था उसने केलीफोर्निया में सोने की खानों की खोज, खेती की तकनीक में उन्नति, रेलमार्गों के विस्तार तथा महासागरीय परिवहन के कारण और भी विकट रूप धारण कर लिया। इससे औद्योगिक उन्नति और समृद्धि का युग आ गया और बौद्धिक क्षेत्र में अनुदारवादी प्रवृत्ति की तूती बोलने लगी। प्रबल विपक्षी भी फिलहाल संतुष्ट और

* १८३७-४८ में सुधार-आंदोलन चला था। यह नाम लोकतंत्रीय घोषणापत्र "पीपुल्स चार्टर" से लिया गया था।

चुप हो रहे। अब सामाजिक समस्याएं उत्तेजना फैलाने में असमर्थ थीं। वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में अपने-अपने देश को आगे बढ़ाने की होड़ ने उन्हें एक कोने में धकेल दिया।

निदान, अनेक यूरोपीय घटनाओं ने श्रमिकों के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप के विकास का मार्ग साफ करना आरम्भ कर दिया। लगभग १८६० में इटली की प्रथम संसद की बैठक टूरिन में हुई। रूस में दासता के उन्मूलन की घोषणा से एक नये सुधारवादी युग का श्रीगणेश हुआ। जर्मनी में राजनीतिक प्रगति के लिए फिर से उदारतापूर्ण मांगें पेश की जाने लगीं। इन घटनाओं से कामगारों की आंखें खुल गयीं और यूरोपीय महाद्वीप के मजदूरों ने इंग्लैंड के मजदूरों के साथ अपना संपर्क कायम कर लिया। एक बार फिर अंतर्राष्ट्रीय भावना उभर आयी और कामगारों के "अभिभाषणों" से आकाश गूंज उठा। सब जगह यही आवाज सुनने में आती थी "दुनिया के मजदूरो! एक हो जाओ।" पश्चिमी यूरोप के प्रमुख देशों के मजदूर नेताओं का एक सम्मेलन १८६४ में सेंट मार्टिन हाल, लंदन में हुआ जिसने अंतर्राष्ट्रीय कामगार संघ (International Workmen's Association) की रचना के लिए ठोस कदम उठाया। इसी अं० का० संघ को आमतौर पर प्रथम अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज (First International) कहते हैं। एक प्रतिनिध्यात्मक अंतर्राष्ट्रीय समिति बना कर उसको इस समाज का कार्य-भार सौंपा गया। कार्ल मार्क्स ने इसमें जो उद्‌घाटन-अभिभाषण किया था उसमें उन्होंने उसके कार्यक्रम और नीति पर प्रकाश डाला था। इस अभिभाषण की भाषा बड़ी प्रांजल और प्रौढ़ थी। वास्तव में इस सम्मेलन में विभिन्न श्रम-विचारधाराओं के नेता पधारे थे। उसमें कट्टर साम्यवादी से लेकर सामान्य सुधारवादी तक उपस्थित थे। मार्क्स के उक्त अभिभाषण में सबको संतुष्ट रखने का ख्याल किया गया था। उसमें सामान्य श्रमिकों की महत्त्वपूर्ण एकता पर अवश्य बल दिया गया था; किंतु साथ ही निजी संपत्ति हड़पने तथा क्रांति द्वारा राजसत्ता हथियाने जैसे विवादास्पद विषयों को छेड़ने की कोशिश तक नहीं की गयी थी।

उक्त अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज (इंटरनेशनल) विभिन्न देशों के कामगार-संगठनों के लिए एक केंद्रीय सूचना कार्यालय-सा बन गया। स्थानीय तथा राष्ट्रीय कामगार समाज उसके सदस्य बन सकते थे। उनको अनुभाग (sections) कहते थे। प्रत्येक अनुभाग को अपने ढंग से अपना संगठन करने की पूरी छूट थी किंतु वार्षिक सम्मेलन में उनको अपने प्रतिनिधि भेजने पड़ते थे। ये प्रतिनिधि एक महापरिषद् (general council) का चुनाव करते थे। इस महापरिषद् का कार्य कोरा कागजी था अर्थात् वह अपने सदस्यों को विभिन्न देशों में श्रम-बाजार की स्थिति बताती थी, श्रम की कार्यावस्थाओं का

अध्ययन करती थी, संसार के कामगारों की दृष्टि सामान्य समस्याओं की ओर खींचती थी, आंकड़े इकट्ठे करती और राष्ट्रीय श्रमिक संगठनों को मजबूत बनाने के लिए उत्साह देती थी।

प्रथम अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज (इंटरनेशनल) का जन्म १८६४ में हुआ और १८७० में वह युवक बन गया। इसके सम्मेलन कार्ल मार्क्स के व्यक्तिगत नेतृत्व और अधीक्षण में जेनेवा, ब्रुसेल्स, बाल तथा अन्य स्थानों में हुए, जिससे उसकी प्रतिष्ठा और ख्याति में आशातीत वृद्धि हो गयी। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, हालैंड, बेल्जियम, इटली और स्विटजरलैंड के प्रमुख राष्ट्रीय मजदूर संघों ने "इंटरनेशनल" की धाक और नेतृत्व को स्वीकार कर लिया। किंतु कुछ भीतरी और बाहरी कारणों से उसका पतन १८७१ में आरंभ हो गया। १८७० में फ्रांस-प्रशिया युद्ध छिड़ गया, और श्रमिक वर्ग के आंदोलनकारियों ने पेरिस कम्यून (Paris Commune) नामक विद्रोह खड़ा कर दिया। किंतु थीयर्स के नेतृत्व में स्थापित फ्रांसीसी गणतंत्र की अस्थायी सरकार ने विद्रोह को पूरी तरह कुचल डाला। थीयर्स ने "गुंडों की भीड़" से पेरिस को छुटकारा दिलाया और उसने प्रत्येक विभाग के प्रमुख अधिकारियों को जो तार-संदेश भेजा था वह यह है : "उनके (गुंडों के) शवों से भूमि ढक गयी है; यह भीषण दृश्य एक चेतावनी बन जाएगा।"

जो लोग लड़ाई में जूझ गये, जिन्हें जेल के सीखचों के भीतर ठूंस दिया गया और जिन्हें काला पानी भेजा गया उनमें अधिकांश कामगार थे। इस कम्यून (सस्वामित्व) विद्रोह की चिनगारी अपने-आप फूट पड़ी थी। लोगों की इच्छा एक अनुदार गणतंत्र की अपेक्षा एक सामाजिक गणतंत्र की स्थापना करने की थी। कहा जाता है कि कार्ल मार्क्स ने इसकी पीठ थपथपायी थी किंतु ब्रिटिश मजदूर-संघी-जन इससे बहुत ही घृणा करते थे। इस प्रकार जो संघ मुख्य रूप से आर्थिक मामलों का झंडा उठा रहे थे और जो राजनीतिक दांव-पेंच चल रहे थे उनमें फूट पैदा हो गयी।

इस जलती आग में मार्क्स और बाकूनिन के मतभेद ने आहुति का काम किया। बाकूनिन एक विख्यात रूसी अराजकतावादी था जो बम फेंकने की बातें किया करता था। बाकूनिन और उसके अराजकपंथी मजदूर संघ स्वामित्व-वादी (Anarcho-Syndicalist) लोगों ने विकासवादी तरीकों की निंदा करके पूर्ण वैयक्तिक स्वतंत्रता का बिगुल बजा दिया था जिस पर केवल नैसर्गिक नियम का अंकुश ही ग्राह्य था। वे सभी वैधानिक तरीकों का विरोध करते थे और श्रमिकों के हिंसात्मक कार्यों को भड़काते थे। आंदोलन को कोई भारी ठेस न पहुंचने पाये इसलिए कार्ल मार्क्स जो सावधानी बरतते थे उसकी इन लोगों को पर्वाह न थी। वे क्रांतिकारी विचारों में शांतिपूर्ण प्रचार को

कतई स्थान नहीं देते थे और विद्रोह करने तथा मोर्चा लगाने की हांक देते रहते थे। उनका कहना था कि जन-साधारण और विशेष स्थिति वाले लोगों के बीच संघर्ष भड़काने के लिए सभी हथकंडों से काम लेना चाहिए। उन्होंने अगस्त १८७४ में इटली में विद्रोह खड़ा करने का षड़यंत्र किया किंतु सरकार ने उन्हें रंगे हाथ पकड़ लिया। फिर क्या था, देश में मुकदमेंबाजी का बाजार गर्म हो गया जिससे कितने ही षड़यंत्रकारियों को जेल का दंड भुगतना पड़ा। सुतरां, १८७६ में बकूनिन के परलोक सिधारने से पहले ही अराजकतापंथी मजदूर संघ स्वामित्ववादियों के हाथ से इटली में मजदूर आंदोलन की बागडोर छिन गयी। बाकूनिन के अनुयायियों से बचने के लिए "फर्स्ट इंटरनेशनल" का प्रधान कार्यालय जब १८७२ में न्यूयार्क भेज दिया गया तभी से वह संस्था मृतप्राय हो गयी। किंतु उसकी औपचारिक अंत्येष्टि १८७६ में फिलाडेल्फिया में की गयी।

द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज (Second International)—१८७२ और १८८९ के बीच में विभिन्न श्रमिक दलों—मार्क्सपंथी समाजवादियों, बाकूनिनपंथियों (जो बाकूनिन की मृत्यु के बाद अपने को कम्युनिस्ट अराजकतावादी कहने लगे थे), फेबियनपंथियों, आदि में तू-तू, मैं-मैं का बोलबाला हो गया। ये परिवर्ती दल वामपंथी थे और समाजवादी दल दक्षिणपंथी था। सामान्य "मजदूर संघवादी" दक्षिणपंथी समाजवादियों को तंग करते थे। इस खींचतान के बावजूद, १८८९-१९१४ की अवधि में शांति और प्रगति के दर्शन होते हैं। नये देशों की औद्योगिक उन्नति, दुनिया के अनिर्धारित क्षेत्रों, बड़ी शक्तियों द्वारा अपने प्रभाव के क्षेत्रों के परिसीमन तथा छोटे राष्ट्रों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं ने कई बार राजनयिक संकट और छोटे-छोटे युद्ध उपस्थित कर दिये थे। किंतु इन हलके-फुलके विस्फोटों से इस काल का वह मुख्य रूप नहीं बिगड़ सका जिससे क्रांतिकारी प्रगति को उत्तेजना मिल रही थी। इस समय कितने अंतर्राष्ट्रीय संगठन बने जिनमें द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज, अंतर्राष्ट्रीय क्रिश्चियन श्रमिक संघी श्रम कार्यालय (International Labour Secretariat of Christian Labour Associations) तथा अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक विधान संघ (International Association of Labour Legislation) के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें द्वितीय "इंटरनेशनल" का नाम सबसे पहला आता है। इसका कारण उसका प्रभाव और उसकी श्रम-योगक्षेत्र की योजनाएं थीं।

प्रथम अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज (इंटरनेशनल) भंग होने पर अनेक छिन्न-भिन्न श्रमिक दल प्रकट हो गये। इन श्रमिक दलों में समाजवादी सबसे अधिक संगठित थे। समाजवादियों ने प्रथम इंटरनेशनल की सेवा सबसे अधिक की थी; इसलिए उन्होंने उसकी परम्पराओं के उद्धार का बीड़ा उठा लिया।

पेरिस के नरमदली (moderate) समाजवादियों तथा ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने १८८३ और १८८६ में कुछ आरंभिक चेष्टाएं कीं किंतु १८९९ में फ्रांसीसी समाजवादियों के एक गुट ने पेरिस में मजदूर नेताओं की एक सभा आयोजित की। इसमें विचार करने के बाद द्वितीय "इंटरनेशनल" (Second International) की स्थापना के लिए कदम उठाये गये। इस इंटरनेशनल ने अपनी पूर्वज "इंटरनेशनल" की भांति १८९९ से १९१४ तक वार्षिक सम्मेलन किये। अपने काल की एक अत्यंत शक्तिशाली और सुसंगठित अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संस्था होने के कारण, उसके हाथ में तत्कालीन व्यवस्थित मजदूर आंदोलन की नकेल पहुंचनी स्वाभाविक बात थी। उसने उत्पादन के साधनों के समाजीकरण, कामगारों के अंतर्राष्ट्रीय संगठन तथा वर्ग के आधार पर अंत में सर्वहारा वर्ग (proletariat) द्वारा राजसत्ता हथियाने जैसे समाजवादी सिद्धांतों का प्रचार आरंभ कर दिया। जिन अल्पकालीन ध्येयों को प्राप्त किया जा सकता था उनकी भी अवहेलना नहीं की गयी थी और इंटर-नेशनल ने मजदूरों के कामों तथा अवस्थाओं में व्यापक सुधार करवाने तथा अंतर्राष्ट्रीय श्रम-कानूनों द्वारा उनका बचाव करने के कार्यक्रम पर बल दिया था। इस ध्येय को पूरा करने के लिए इंटरनेशनल ने एक उपाय यह किया कि सरकारी यंत्र को लोकतंत्रीय बनवाने की आवाज उठायी तथा उसके अंतर्गत संगठन-स्वतंत्रता, भाषण-स्वतंत्रता, दलबंदी-स्वतंत्रता, निःशुल्क-शिक्षा तथा वयस्क-मताधिकार के अधिकारों की उपलब्धि का प्रयास आरंभ किया।

प्रथम "इंटरनेशनल" से द्वितीय इंटरनेशनल ने एक सीख यह पायी थी कि जो श्रमिक गुट चीं-चपड़ करें और उसकी रीति-नीति पर अंगुली उठाएं, फिर चाहे वे समाजवाद के मुख्य सिद्धांतों के पुजारी ही क्यों न हों, उनको संस्था की सदस्यता से दूर रखा जाए। इस सावधानी के बावजूद, संस्था में दक्षिण-पंथी और वामपंथी दलों के अंकुर फूट ही पड़े; और मार्क्सपंथी समाजवादी इन दोनों पक्षों के बीच में डट गये। दक्षिणपंथी दल अपने संगठनों का विकास मजदूर संघों के पदचिह्नों पर करना चाहते थे और सबसे पहले अल्पकालिक ध्येयों को पूरा करने पर जोर देते थे। किंतु वामपंथी दल (Syndicalists) उग्र नीति को अपनाने के कारण संसदीय तरीकों को ठुकरा कर "सीधे संघर्ष" के लिए ताल ठोंकते थे। इस दलबंदी से इंटरनेशनल दुर्बल हो गयी किंतु फिर भी वह १९०४ तक श्रमिक-जगत को बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करती ही रही। इसके बाद वह विभिन्न संघर्षात्मक प्रवृत्तियों का एक लचर महासंघ-सा बन गयी। १९१० में कोपेनहेगन के सम्मेलन में इसकी पोल आंखों के सामने आ गयी और १९११ के इटली-टर्की युद्ध, १९१२ के बल्कान युद्ध तथा कुछेक अन्य छोटे युद्धों के कारण इसका प्रभाव निरंतर घटता गया। इन युद्धों के कारण जहां

एक ओर राष्ट्रीयता की भावना बढ़ने लगी वहां दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय भावना को भीषण धक्का पहुंचा और उसने उस वर्ग-निष्ठा की जड़ खोद डाली जो इंटरनेशनल का सबसे सुदृढ़ स्तंभ था। अंत में १९१४ के महासमर ने इसकी कपालक्रिया कर दी।

प्रथम महासमर से ठीक पहले इंटरनेशनल के १२० लाख सदस्य थे जो २७ समाजवादी दलों में संगठित थे जिनका २२ विभिन्न देशों में जाल-सा बिछा हुआ था। आरंभ में युद्धक देशों के श्रमिक कुछ दिनों तक राष्ट्रीय निष्ठा पर वर्ग-निष्ठा को वरिष्ठता देते रहे। उन्होंने युद्ध की लपटों से दूर खड़े होने की सच्ची कोशिश की। किंतु उनकी यह कोशिश कुछ महीनों में ही असफल हो गयी। जो समाजवादी (Socialists) जुलाई १९१४ में युद्ध को गला फाड़-कर संसारव्यापी साम्राज्यवादी अग्रधर्षण बता रहे थे वही दूसरे महीने अगस्त से अपनी-अपनी सरकारों की पीठ थपथपाने लगे। फिर क्या था, राष्ट्रीय नारों से उनकी वाणी गूंज उठी और उनकी आत्माएं राष्ट्रवाद के क्लोरोफॉर्म से सुन्न हो गयीं। वे अपने-अपने देश की गोलाबारूद की फैक्टरियों और खाइयों में जाकर डट गये और जुझारू राष्ट्रवाद के इंगित पर हंस-हंसकर प्राण निछावर करने लगे। कितने आश्चर्य की बात थी कि वे आमने-सामने खाइयों में डटे हुए अपने पिछले कामरेडों (साथियों) की छाती पर गोली चलवाने के लिए मदद करने में न झिझकते थे! निदान, कुछ ही उग्रवामपंथी श्रमिक ऐसे थे जिन्होंने इस रक्तमेध में हाथ नहीं डाला था। अतः लेनिन और ट्रॉटस्की के नेतृत्व में रूस में, कार्ल लीब्क्नेक्ट तथा रोज़ा लूक्षेम्बर्ग के नेतृत्व में जर्मनी में, फ्रेडरिक एड्लर के नेतृत्व में आस्ट्रिया में तथा मोनाट्टा और मेरीटियम के नेतृत्व में फ्रांस में ये उग्रपंथी युद्ध विरोधी श्रमिक दलों के रूप में अलग बने रहे। किंतु वे निरंतर अपनी घात में थे। उन्होंने युद्ध से पैदा होनेवाली क्रांतिकारी अवस्थाओं का लाभ उठाकर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र (dictator-ship) की स्थापना करने की कोशिश की जिसके लिए कम्युनिस्ट चिरकाल से स्वप्न देख रहे थे। कुछ मध्यमार्गी-समाजवादी, जिनमें जर्मनी के कार्ल कॉटस्की और बर्न्स्टीन, फ्रांस के जीन लॉगस्त तथा इंग्लैंड के रेमजे मैकडोनल्ड थे, समाजवादी युद्ध-विरोधी सिद्धांतों पर अटल रहे। उन्होंने श्रमिकों को जगाया और शांति की स्थापना के लिए काम में जुट जाने की प्रेरणा दी।

तृतीय अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज (Third International)—यह सच है कि प्रथम महासमर की संकटकालिक अवधि में द्वितीय इंटरनेशनल का कामकाज ठप्प हो गया। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन मर गया था। प्रथम महासमर शुरू होने से पहले सात दशकों में श्रम के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप की भावना ने लोकहृदय में अपना घर कर लिया था

और आंदोलन में संघटनात्मक शक्ति आ गयी थी। द्वितीय इंटरनेशनल के दिनों में जो विभिन्न सहायक-संगठन बन गये थे, उनके तथा अंतर्राष्ट्रीय कार्यालयों (International Secretariats) तथा मजदूर संघों के अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं में मजदूरों की निष्ठा उत्पन्न हो गयी थी। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मजदूरों के सम्मिलित प्रयास से जब-तब जो विविधमुखी लाभ प्राप्त हो गये थे उनकी याद से मजदूरों के हृदयों को अब भी उत्साह मिल रहा था। इसलिए युद्धक-देशों के मजदूर-गुट युद्ध के कारण अस्त-व्यस्त हो गयी। युद्धपूर्वकालिक इंटर-नेशनलों के पुनर्निर्माण तथा प्रगतिशील श्रम-कार्यवाही को फिर से आरंभ करने की प्रेरणा दे रहे थे। श्रम की हलचलों की दो धाराएं बन जाना स्वाभाविक बात थी क्योंकि केंद्रगत समाजवादियों तथा वामपक्षियों, अथवा क्रांतिकारी और युद्ध-विरोधी समाजवादियों (यह नाम बाद में दिया गया) में भेद-भाव पैदा हो गया था।

दोनों पक्षों ने अपने-अपने अनुसमर्थकों की संख्या बढ़ानी आरंभ कर दी। इसके लिए शांति-सभाओं तथा विवाद-सभाओं के मंचों का प्रयोग किया जाने लगा। विवाद के विषय होते थे श्रम के भावी कार्यक्रम, रीति-नीति, आदि। प्रथम शांति-सभा १९१५ में जिनवालड (Zinwalad) में हुई जिसका आयोजन क्रांतिकारी समाजवादियों ने किया था। उसने सरकारों और उनकी गुप्त कूटनीति, मालिकों के संगठनों, गिरजाघरों (churches) और पूंजी-वादी समाचार-पत्रों की तीव्र निंदा की तथा अपने सिद्धांत-पथ से डगमगाने के लिए समाजवादियों को कड़ी फटकार दी। यह शांति-सभा निम्नांकित नारे के साथ समाप्त हुई थी : "कोई प्रदेश नहीं हड़पा जाएगा; कोई हानि-पूर्ति न ली जाएगी।" केंद्रीय समाजवादियों ने १९१७ में स्टाकहॉल्म में एक सम्मेलन करने का प्रस्ताव किया था किंतु साथी देशों द्वारा प्रतिबंध लगाये जाने के कारण वह नहीं हो सका।

नवंबर १९१७ में लेनिन और उनके बोलशेविक साथियों ने, जिन्होंने उस वर्ष सोवियत क्रांति को सफलता के शिखर पर पहुंचा दिया था, राजसत्ता पर अधिकार कर लिया। ट्रॉटस्की द्वारा जर्मनी से शांति-वार्ता करने के बाद, मार्च ३, १९१८ को ब्रेस्ट-लिटोवस्क संधि पर हस्ताक्षर हो गये। जून में बोल-शेविक सरकार ने रूस के आर्थिक जीवन के राष्ट्रीकरण की आज्ञप्ति जारी कर दी और मार्च १९१९ में मास्को में प्रथम अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट कांग्रेस हुई। इस कांग्रेस में तृतीय इंटरनेशनल (अथवा कम्युनिस्ट इंटरनेशनल) का जन्म हुआ। यह सुधारवादी राजनीतिक समाजवाद के विरोधस्वरूप उत्पन्न हुई थी।

तृतीय इंटरनेशनल हिंसात्मक क्रांति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र की स्थापना की पोषक थी। राष्ट्रीय संपत्ति के समुचित बंटवारे के लिए उसने

निजी संपत्ति के उत्सादन तथा आर्थिक जीवन के राष्ट्रीकरण का प्रस्ताव किया। सत्ता का नियंत्रण संसदीय राज्य के हाथ में न होकर मजदूरों के संगठनों अर्थात् सोवियतों के हाथ में होना चाहिए। इसका उद्देश्य तुरंत ही देश में एक आदर्श-सरकार की स्थापना करना था जो समान अवसर और आय के स्वर्णिम सिद्धांत पर टिकी हो। यह सिद्धांत बड़ा ही होनहार था। किंतु व्यवहार में उसका ऊंचा मानक घटाना पड़ा। आर्थिक प्रक्रियाओं ने कम्युनिस्टों को पूंजीवाद से समझौता करने के लिए लाचार कर दिया। लेनिन ने जिस नवीन आर्थिक नीति का सूत्रपात किया उसमें संक्रांति-काल में पूंजीवाद को सदोष बताते हुए भी उससे कुछ हद तक समझौता करने की बात मान ली गयी थी। उसमें कुछ हद तक उत्पादन से लाभ कमाने के प्रलोभन को भी ग्रहण किया गया है। १९३४ में समान आय का सिद्धांत त्याग दिया गया और उसके स्थान में उत्पादन-उद्दीपक को अपनाया गया जिसे फल के अनुसार मजदूरी अथवा उजरती दर कहते हैं। यह मजदूरी देने का एक तरीका होता है जो पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में प्रचलित तरीके से बहुत मेल खाता है।

द्वितीय इंटरनेशनल का पुनरुद्धार—जब १९१९ में तृतीय इंटरनेशनल की स्थापना हुई तब उसे केंद्रवर्ती समाजवादियों ने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सितंबर १९१८ में लंदन में तथा १९१९ में बर्न में अपने सम्मेलन किये। उन्होंने बर्न-सम्मेलन में द्वितीय इंटरनेशनल का पुनरुद्धार किया जिसके अंतर्गत विभिन्न देशों में बिखरे-पड़े समाजवादी संगठित हो गये। यह उनका केंद्रीय अंतर्राष्ट्रीय संगठन बन गया। बर्न-सम्मेलन ने शांति-संधि में सम्मिलित करने के लिए एक श्रमिक अधिकारपत्र तैयार किया और एक राष्ट्रसंघ (League of Nations) तथा एक अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office) की स्थापना की मांग की जिससे क्रमशः संसार की शांति की रक्षा तथा श्रमिकों के आर्थिक हितों की देखरेख की जा सके। उसने मजदूर संघों का अंतर्राष्ट्रीय महासंघ (International Federation of Trade Unions) फिर से बनाने का कदम उठाया। यह महासंघ १९०१ में स्थायी रूप से बनाया गया था किंतु वह प्रथम महासमर के एक ही धक्के से गिर गया था।

अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान
(International Trade Union Federations)

(१) अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान—१९०१ में अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान की स्थापना हुई। इससे विभिन्न देशों के मजदूर संघों का आबद्धन करके एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन तैयार हो गया। दूसरे शब्दों में, यह समाजवादी किस्म

का एक अंतर्राष्ट्रीय महासंघ था जिसके अंतर्गत कितने ही राष्ट्रीय केंद्र विभिन्न देशों में खुले हुए थे। इसके लगभग ३० अंतर्राष्ट्रीय व्यावसायिक कार्यालय विभिन्न देशों में काम करते थे जिससे इसके दृढ़ संगठन और शक्ति का अनुमान सहज में लग सकता है। ये व्यावसायिक कार्यालय विभिन्न शिल्पों के अंतर्राष्ट्रीय कार्यालय थे जिनमें अंतर्राष्ट्रीय परिवहन कामगार संघ (International Transport Workers' Federation), अंतर्राष्ट्रीय धातु कामगार संघ (International Metal Workers' Federation) और अंतर्राष्ट्रीय भवन तथा काष्ठ कामगार संघ (International Federation of Building and Wood Workers) के नाम उल्लेखनीय हैं।

किसी देश के एकाधिक मजदूर संघ अपने संबंधित अंतर्राष्ट्रीय व्यावसायिक कार्यालय से आबद्ध हो सकते थे बशर्ते उनके सदस्य अपने देश के उसी निर्दिष्ट उद्योग के सदस्य हों। इसी प्रकार कोई भी राष्ट्रीय संघ, जिसके सदस्य विभिन्न उद्योगों में काम करते हों, एक से अधिक अंतर्राष्ट्रीय व्यावसायिक कार्यालय के सदस्य बन सकते थे। किंतु अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान ने प्रत्येक देश के एक ही राष्ट्रीय केंद्रीय संगठन को, भले ही उसके सदस्य विभिन्न उद्योगों में काम करते थे, अपना सदस्य बनाया।

(२) *मजदूर और समाजवादी इंटरनेशनल* (Labour and Socialist International)—अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान का केंद्रीय कार्यालय एम्स्टर्डम में था जिसका नाम अंतर्राष्ट्रीय कार्यालय (International Secretariat) था। मजदूर और समाजवादी इंटरनेशनल का मुख्यालय भी एम्स्टर्डम में था। समाज के सभी वर्गों के लोग इस संस्था के सदस्य थे जिसका प्रभाव राजनीति निर्धारित करने में अनुपेक्ष्य था। यह एक राजनीतिक संस्था थी।

मजदूर और समाजवादी इंटरनेशनल की सदस्यता और कार्य का क्षेत्र अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान से कहीं अधिक व्यापक था। इसके कार्यक्षेत्र के भीतर वे विषय भी आते थे जिन्हें प्रायः मजदूर संघों की परिधि से बाहर समझा जाता है। यद्यपि इसने समाजवाद का लक्ष्य स्वीकार किया है फिर भी वह समाज के रूपांतर के लिए क्रमिक विकासवादी प्रक्रिया पर भरोसा करता है और हिंसात्मक-क्रांतिकारी उपायों से कोसों दूर है। उसकी दृष्टि में हिंसात्मक क्रांति न तो लाभदायक होती है और न वांछनीय ही है। इसलिए उसका मुख्य काम आर्थिक और सामाजिक सुधारों को बढ़ावा देने का है। उसने कामगारों को उद्योगों में उत्तरोत्तर अधिक दायित्व दिलाने की चेष्टा की तथा दूकान-समितियों (shop committees), फैक्टरी परिषदों (factory

councils) और औद्योगिक न्यायालयों (industrial courts) की आर्थिक नीति की रचना में अधिक लगन दिखायी। उसका आदर्श यह है कि कभी भविष्य में वह दिन आएगा जबकि संसार में जगह-जगह स्वतंत्र समाजवादी राष्ट्रों की स्थापना हो जाएगी और इस प्रकार एक जगद्व्यापी समाज बन जाएगा। किंतु निकट भविष्य में क्या करना चाहिए? इसके लिए उसने आर्थिक सहयोग, लोकतंत्र तथा शांति पर बल दिया है। विश्व की अर्थ व्यवस्था में इसने आर्थिक स्थिरता, कच्चे माल के अंतर्राष्ट्रीय उपयोग की व्यवस्था तथा लेने-लेजाने और व्यापार की स्वतंत्रता के सिद्धांतों की वकालत की है। उद्योग में इसने औद्योगिक वैज्ञानिकन (rationalization) का अनुमोदन उस सीमा तक किया है जहां तक सेवा, मजदूरी तथा कार्यावस्थाओं पर उसका कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। संसार की राजनीति में उसने राष्ट्र-संघ को सहयोग दिया जिसे वह लोकतंत्रीय विश्व संघ का बीजस्वरूप मानता था। श्रम के विषयों में वह बर्न श्रम अधिकारपत्र (Berne Labour Charter) का पक्षपाती था जिसको प्रथम महासमर की शांति-संधि पर प्रभाव डालने के लिए बनाया गया था। वह अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का दृढ़ समर्थक था।

यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान (International Federation of Trade Unions) का काम मुख्यत: औद्योगिक और श्रमिक तथा समाजवादी इंटरनेशनल (Labour and Socialist International) का काम मुख्यत: राजनीतिक था, फिर भी ज्यों-ज्यों समय बीतता गया यह बात साफ हो गयी कि उन दोनों के कार्य क्षेत्रों की विभाजन-रेखा का परिपालन व्यावहारिक दृष्टि से असंभव हो गया है। इसलिए समय आने पर इन दोनों संगठनों की संयुक्त समितियां बनायी गयीं ताकि वे दोहरा काम करने से बच जाएं और उनकी रीति-नीति आपस में न टकराने लगे। प्रथम महासमर के दिनों में ये दोनों संगठन धराशायी हो गये किंतु युद्ध समाप्त होने पर वे फिर उठ खड़े हुए। प्रथम तथा द्वितीय महासमरों के बीच की अवधि में उन्होंने प्राय: औद्योगिक, सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों को अपने हाथ में लिया। उन्होंने सामाजिक सुरक्षा प्रणाली तथा बेरोजगारी मिटाने के तरीकों पर बल दिया। इससे उन्होंने बड़ा नाम कमाया। जनवरी १९२८ में अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान के सदस्यों की संख्या १ करोड़ ३० लाख थी। किंतु जर्मनी में नाजीवाद के उदय होने से वह इस संघ से अलग हो गया जिससे उसकी सदस्य संख्या में कमी आ गयी।

अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान औद्योगिक विवाद-ग्रस्त मजदूर संघों को आर्थिक सहायता दिया करता था। उदाहरण के लिए, उसने १९२६ में कोयला

उद्योग की कामबंदी तथा आम हड़ताल के दिनों में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस (British Trades Union Congress) को सहायता दी थी; प्रथम महासमर के बाद उसने आस्ट्रेलिया और रूस के कामगारों को राहत पहुंचाने का कार्य किया था; मुद्रास्फीति के कारण १९२३ में पीड़ित जर्मन मजदूर संघों के सदस्यों की मदद की थी; तथा जर्मनी, इटली और स्पेन में फासिस्ट सरकारों के दमन से व्याकुल मजदूरों की सहायता की थी।

(३) *अंतर्राष्ट्रीय कर्मीजन संघ संधान* (International Federation of the Working Peoples' Association)—प्रथम महासमर से पहले एक और अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन बना था। इसका नाम अंतर्राष्ट्रीय कर्मीजन संघ संधान था। यह मजदूर संघी स्वामित्ववाद (Syndicalism)* के आधार पर खड़ा हुआ था। कामगार संघों को स्वामित्व देने का सिद्धांत तथा क्रांतिकारी औद्योगिक मजदूर संघ-वाद एक ही थैली के चट्टे-बट्टे थे। ये मजदूर संघों के आधार पर अथवा उनकी मार्फत समाज का क्रांतिकारी संघटन करना चाहते थे। अंतर्राष्ट्रीय कर्मीजन संघ संधान मजदूर संघों को केवल कुछ काम करने के लिए एक सीमित संगठन नहीं मानता था। उसकी दृष्टि में वह एक संस्था थी जो समाज के हाथ में हाथ मिलाकर चलती थी। इसका आदर्श औद्योगिक सार्वधन (industrial commonwealth) की स्थापना करना था जिस पर कामगारों का नियंत्रण हो और जो कामगारों के हितों के प्रति जागरूक रहे। वह शिल्पिक संघ-वाद का विरोधी था क्योंकि उनसे कामगारों के संगठन खंड-खंड हो जाते हैं, छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट जाते हैं। उसने सुधारवादी अथवा राजनीतिक समाजवाद को भी आड़े हाथ लिया था। उसे किसी प्रकार के राजनीतिक राज्य (political State) का विचार भी स्वीकार न था।

संघी स्वामित्ववादी (Syndicalists) समाजवादियों की अपेक्षा कम्युनिस्टों के अधिक निकट थे। किंतु वे कम्युनिस्टों की सर्वहारावर्ग की तानाशाही के भी विरोधी थे। उन्हें राजनीतिक दलों से कुछ भी सरोकार न था। राज्य के स्थान में उनकी उन मजदूर संघों तथा आर्थिक संगठनों से काम लेने की योजना थी जिनमें कामगार ही सामाजिक मूल्यों के जन्मदाता तथा उत्पादक प्रतीत होते थे। वे संसदीय चुनावों, विधानमंडलों तथा न्यायालयों का मखौल उड़ाते थे। वे सामाजिक विधान को कामगारों को फंसाने का केवल एक जाल

---

* सिंडीकलिज्म (Syndicalism) उन औद्योगिक कामगारों का एक आंदोलन है जो यह कहते हैं कि उत्पादन के साधनों तथा वितरण को वर्तमान स्वामियों से छीनकर कामगार संघों के हाथ में दे दिया जाए। वे इस ध्येय की पूर्ति के लिए आम हड़ताल के अस्त्रका सहारा लेते हैं।

मानते थे। उन्होंने राष्ट्रसंघ तथा अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का तिरस्कार किया था। वे अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान को सुधारवादी बताकर तथा लाल अंतर्राष्ट्रीय मजदूर यूनियन संघ (मास्को) को उसी की एक अधकचरी लंगोटिया संस्था कह कर, उन दोनों पर ताना मारते थे।

प्रथम महासमर के कारण यह अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन छिन्न-भिन्न हो गया। किंतु १९१९-२० की उथल-पुथल से उसमें नये जीवन का संचार हो गया और फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल, हालैंड तथा कुछेक अन्य देशों में इस बार उसके सदस्यों की संख्या पहले से कहीं अधिक हो गयी। अंतर्राष्ट्रीय कर्मीजन संघ संधान (International Federation of the Working Peoples' Association) का मुख्यालय मेड्रिड में था और १९२८ में इसके सदस्यों की संख्या १ लाख ६२ हजार थी जबकि यही संख्या १९२६ में २ लाख ६० हजार और १९२४ में ३ लाख ९३ हजार थी। बाद में यह संख्या घटती ही चली गयी और आज तो उसकी कमर टूट चुकी है, यहां तक कि श्रमिकों पर अब समाजवादियों और कम्युनिस्टों का प्रभाव छाया हुआ है। इस संघ ने अपना सारा जीवन आलोचना करने में लगा दिया किंतु उसके हाथ कुछ नहीं लगा।

(४) *अंतर्राष्ट्रीय क्रिश्चियन मजदूर संघ संधान* (International Federation of Christian Trade Unions)—१९२० में अंतर्राष्ट्रीय क्रिश्चियन मजदूर यूनियन संघ नामक एक नया अंतर्राष्ट्रीय संगठन बना जिसका मुख्यालय यूट्रेख्ट (Utrecht) में था। यह पूर्णतः नया संगठन था। इसको कोई भी विरासत नहीं मिली थी। इसके अपने राष्ट्रीय केन्द्र थे और विभिन्न देशों में क्रिश्चियन सिद्धांतों पर आधारित मजदूर संघों की निष्ठा इसे प्राप्त थी। केथोलिक और प्रोटेस्टेंट, दोनों ही इसके सदस्य बन सकते थे। किंतु केथोलिकों का सदा ही बहुमत बना रहा।

इस संघ ने घोषणा की कि उदारपंथियों, समाजवादियों, कम्युनिस्टों तथा संघ स्वामित्ववादियों, सभी के विचार गलत है कि सामाजिक समस्या विशुद्ध रूप से आर्थिक उलझनों और सामाजिक झंझटों का प्रश्न होता है। उसने श्रम की समस्याओं पर आध्यात्मिक रंग चढ़ा कर पूंजीवाद की खाई और समाजवाद के कुएं, दोनों से बचने की कोशिश की। उसने अपने ढंग से एक मध्य-मार्ग अपनाना चाहा। उसने कामगारों को एक वर्ग विशेष के रूप में मान लिया। उसने यह भी मान लिया कि उनके अपने विशेष हित हैं। किंतु उसने वर्ग-संघर्ष की आवश्यकता का खंडन किया और वर्ग भेदों का समन्वय करना चाहा। उसने उस आचार पद्धति को प्रश्रय दिया जिसके अंतर्गत सभी वर्गों के शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की व्यवस्था संभव हो। इसके मतानुसार उद्योगों का उद्देश्य लाभ कमाने का होकर, सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होना

चाहिए। उसने समाजवादियों की भांति, औद्योगिक गुट बनाने की स्वतंत्रता, मजदूर संघों को मान्यता देने, फैक्टरियों के निरीक्षण, स्त्रियों और अल्प-वयस्कों के बचाव के विधान बनाने, काम के घंटों में कमी, सामाजिक बीमा तथा उचित न्यूनतम मजदूरी की मांग की। यद्यपि उसने हड़ताल के अधिकार का अंत करने की वकालत नहीं की फिर भी उसने साफ तौर से कह दिया कि वह इसके प्रति बहुत सजग है और इसके स्थान में मध्यस्थता (mediation), विवाचन (arbitration), औद्योगिक न्यायालय, दूकान समितियां और कहां तक कहा जाए, औद्योगिक परिषदें होनी चाहिए। उसका कहना था कि राज्य सामाजिक कार्यक्रम को अमल में लाने के लिए कामगारों की मदद करे।

१९३० तक अंतर्राष्ट्रीय क्रिश्चियन मजदूर संघ संधान की जड़ें जम गयीं। अब उसके १४ कार्यालय काम कर रहे थे। यह देखने में आया कि एक ही व्यवसाय अथवा उद्योग के कुछ मजदूर समाजवादी संघों के सदस्य बन गये और कुछ एक क्रिश्चियन संघ में शामिल हो गये। यद्यपि अधिकांश देशों में क्रिश्चियन संघों के सदस्यों की संख्या समाजवादी संघों के सदस्यों की संख्या की तुलना में बहुत कम थी फिर भी उन्होंने अपने राष्ट्रीय केंद्र अलग खोले। हालैंड में उनकी संख्या लगभग बराबर थी। जर्मनी में हिटलर के सत्तारूढ़ होने पर सभी मजदूर संघों का दीपक बुझ गया, किंतु उससे पहले क्रिश्चियन संघों की सदस्य संख्या काफी बड़ी थी। फिर भी वह समाजवादियों के सामने बहुत थोड़ी थी। नाजी-सत्ता के उन्मूलन के बाद मजदूर संघी नेताओं ने पुराने संघों का उद्धार न करके विश्व मजदूर संघ संधान (World Federation of Trade Unions) की स्थापना की।

(५) *विश्व मजदूर संघ संधान*—प्रथम महायुद्ध के अंत में दो अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संस्थाएं पैदा हो गयीं जो मजदूर जगत् की निष्ठा का दावा करती थीं। इनमें एक संस्था थी तृतीय इंटरनेशनल* (Third International) जिसमें कम्युनिस्टों का बोलबाला था। दूसरी थी द्वितीय इंटरनेशनल (Second International) जिस पर समाजवादी छाये हुए थे। इस समय कम्युनिस्ट और समाजवादी अलग-अलग हो गये। इसके आगामी दशक में जो घटनाएं हुईं उनसे कम्युनिस्टों और समाजवादियों के बीच की खाई और चौड़ी हो गयी। संसदीय पद्धति के अनुयायी समाजवादी बोलशेविकों के हिंसात्मक उग्रपंथ को अधिक दूर तक स्वीकार नहीं कर सकते थे। वे मार्क्सवाद की वर्ग-संघर्ष की बात भले ही मानते थे। अतः उनका आपसी मतभेद द्वितीय महासमर के आरंभ होने तक चलता रहा। इस युद्धकाल में भी अंतर्राष्ट्रीय

* तृतीय अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज।

मजदूर संघ-वाद धड़ाम हो गया। जर्मनी ने अधिकांश यूरोपीय देशों पर कब्जा कर लिया था जिससे मजदूर संघ-वाद की नींव ही हिल गयी। किंतु निर्वासित मजदूर नेताओं ने साहस से काम लिया। वे चुपचाप लंदन में इकट्ठे हुए और उन्होंने अब एक अधिक विस्तृत आधार पर उस भवन को फिर खड़ा करने का विचार किया। उनके ख्याल से, नाजी-शक्ति का विनाश करने के लिए रूस का ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य से जो गठजोड़ हो गया था उसने कम्युनिस्ट तथा अ-कम्युनिस्ट कामगारों को एक विश्वव्यापी संगठन में इकट्ठे करने का अवसर उत्पन्न कर दिया था।

अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघी एकता के लिए पहले जो प्रयास किया गया था वह निःसंदेह धूल में मिल गया था। पूंजीवादी देशों के मजदूर संघ-वाद पर से कम्युनिस्टों का विश्वास उठ गया था। कम्युनिस्ट तथा अ-कम्युनिस्ट देशों में मजदूर संघ के उद्देश्यों और कार्यप्रणालियों में सचमुच अंतर था। द्वितीय इंटर-नेशनल ने पुनरुज्जीवित होकर जिस अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान की स्थापना की थी उसकी स्थिति साफ थी : उसे राष्ट्रीय केंद्रों (national centres) पर किसी प्रकार का शासनादेश का प्रभुत्त्व प्राप्त न था। किंतु कम्युनिस्ट इंटरनेशनल (Red International) राष्ट्रीय मजदूर संघों के स्वशासना-धिकार को मानने को तैयार न थी। इस कारण एकता की बातचीत व्यर्थ हो गयी और १९३० के बाद उनके सहयोग के लिए फिर कोई कोशिश नहीं की गयी।

किंतु द्वितीय महासमर के बाद सभी देशों के मजदूर संघी रिक्तता (vacuum) से डरते थे और इस कारण अपने आपसी तथा सैद्धांतिक मतभेदों को भुलाकर एकता के लिए तैयार थे। इसलिए, फरवरी १९४५ में लंदन में विश्व मजदूर यूनियन सम्मेलन में विश्व मजदूर संघ संधान की रचना की गयी। अक्तूबर १९४५ में पेरिस में विश्व मजदूर संघ कांग्रेस (World Trade Union Congress) की समाप्ति पर इस नये संगठन के लिए कामचलाऊ आधार मिल गया और संधान ने १९४६ के प्रारंभ से अपना कामकाज शुरू कर दिया।

विश्व मजदूर संघ संधान की रचना का संवाद पाकर मजदूर दुनिया के कोने-कोने में उल्लास से उछल पड़े थे। यह मजदूरों के दीर्घकालिक इतिहास का चरमोत्कर्ष था जबकि उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय मजदूर जगत में मजदूरों की वास्तविक एकता के लिए हाथ फैलाया। संसार के भिन्न-भिन्न देशों के मजदूर कितने वर्षों से अंतर्राष्ट्रीय मजदूर एकता का स्वप्न देखते आ रहे थे। उनका यह स्वप्न अब पूरा हो गया। इससे पहले ऐसी प्रतिनिध्यात्मक और व्यापक अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संस्था कभी देखने में नहीं आयी थी। युद्धकाल में जर्मनी

के नाजीवाद, इटली के फासिस्टवाद तथा जापान के साम्राज्यवाद के विरुद्ध जो आवाज उठायी गयी थी उसके कारण यह अनोखी सफलता प्राप्त हुई। हिटलर के राष्ट्रीय समाजवाद तथा मुसोलिनी के फासिस्टवाद (तथा फ्रांको के फैलेंग-वाद) ने अपने-अपने देशों में मजदूर संघों को दफना दिया था। संसार के मजदूर आंसू-भरी आंखों से इन फासिस्टवादी सरकारों के पाशविक अत्याचारों को देखते रहते थे और मजदूरों की अंतर्राष्ट्रीय एकता के अध:पतन पर खेद प्रकट करते थे जिसके बिना कोई भी प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाही संभव नहीं थी। युद्ध के भीषण विनाश और नरसंहार के बाद उक्त संधान (फेडरेशन) को इस धरती पर शांति का एक शक्तिशाली साधन और मानवता की सद्भावना का स्रोत माना जाने लगा। सैनिक विजय के उल्लास में इस विश्वास ने चार चांद लगा दिये कि अब सामाजिक न्याय और मानव कल्याण का युग संसार भर में फैलने जा रहा है।

(६) *अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र मजदूर संघ महासंधान* (International Confederation of Free Trade Unions)—दिसंबर १९४८ में विश्व मजदूर संघ संधान (World Federation of Trade Unions) के सदस्यों की संख्या ७ करोड़ ४० लाख थी। प्राय: सभी देशों में इस संगठन का जाल बिछा हुआ था और ऐसा अन्य कोई संगठन न था जो इसके आगे टिक सकता। किंतु समय बीतते ही कम्युनिस्टों और अ-कम्युनिस्टों के आपसी पुराने संदेहों, अविश्वासों और संघर्षों ने फिर से सिर उठाना आरंभ कर दिया।

जनवरी १९४८ में विश्व मजदूर संघ संधान की कार्यसमिति (Executive Bureau) के सत्र में ब्रिटिश मजदूर संघ कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पेश किया कि विश्व मजदूर संघ संधान के सम्मेलन की कार्यवाही स्थगित कर दी जाए। किंतु कार्यसमिति ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। ४ मार्च १९४९ को ब्रिटिश मजदूर संघ कांग्रेस ने उक्त संघ से अपना नाता तोड़ लिया। २२ मार्च १९४९ को हालैंड की एन. वी. वी. (Netherlands N. V. V.) ने ब्रिटिश मजदूर संघ कांग्रेस के पदचिन्हों का अनुसरण किया। संयुक्त राज्य की औद्योगिक संगठन कांग्रेस (Congress of Industrial Organisations) ने विश्व संघ (World Federation) के गठन में बहुत हाथ बटाया था। जब उसने यह देखा कि उस पर कम्युनिस्टों का प्रभाव छा गया है और वह अमेरिकन विदेशनीति तथा मार्शल योजना (Marshall Plan) के विरुद्ध है तब उसने भी उसका साथ छोड दिया। एक बार विश्व के मजदूरों की पंक्ति में फिर गहरी दरार पड़ गयी जिससे अ-कम्युनिस्ट नेताओं ने एक अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र मजदूर संघ महासंधान बनाने का बीड़ा उठा लिया। आज मजदूर-जगत

फिर दो गुटों में बंट गया है जो एक-दूसरे को ललकारते रहते हैं। अब दुनिया के दो राजनीतिक खंड हो गये हैं जिनमें आपसी लाग-डांट बनी रहती है।

अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र मजदूर संघ महासंधान के कार्य इस मंतव्य से प्रेरित होते हैं कि सभी देशों के उद्योगों के कामगारों की समस्याएं अनेक प्रकार से मिलती-जुलती हैं। वह मजदूरों के संगठन की स्वतंत्रता, सामूहिक सौदे के अधिकार तथा हड़ताल के अधिकार की उपलब्धि और रक्षा करने में चौकस रहता है। उसे यह आशा है कि वह इन अधिकारों के उपयोग से मजदूरों की कार्यावस्थाओं, पद-प्रतिष्ठा तथा सामाजिक सुरक्षा में सुधार करने में सफल होगा। उसकी सामान्य मांगों में वे चीजें शामिल हैं जिनसे श्रमिकों के अंतर्राष्ट्रीय न्यूनतम मानक को बल मिलता। उसकी ८ घंटे के काम की मांग तो एक स्पष्ट मांग है। वह आर्थिक आयोजन, बेरोजगारी, औद्योगिक दुर्घटनाओं और रोगों, संयुक्त सोचविचार, श्रमिकों के स्थानांतरण, कामगारों की शिक्षा तथा सार्वजनिक समितियों में कामगारों के प्रतिनिधित्व की समस्याओं का ढोल पीटता रहता है। वह अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का पक्का अनुयायी है और उसने कितने ही प्रस्ताव सामने रखे हैं। वह पिछड़े देशों में मजदूर संघ बनाने की भावना को उसकाता है। उसने ५ नवंबर १९५२ को कलकत्ता में एक एशियाई मजदूर संघ महाविद्यालय (Asian Trade Union College) की स्थापना की। यह अपने ढंग का पहला कालेज है जिसने विकास की दृष्टि से इस उदीयमान महाद्वीप में सक्रिय मजदूर संघी कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देना आरंभ किया है।

अंतर्राष्ट्रीय तनाव के दिनों में संबंधित देशों को युद्ध-सामग्री लादने और भेजने पर प्रतिबंध लगाना उपयोगी सिद्ध हुआ और युद्ध के विरुद्ध आम हड़ताल करना तो एक प्रभावशाली अस्त्र माना गया था। किंतु पिछले १२५ वर्ष के अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन के इतिहास से यह बात साफ हो जाती है कि जब राष्ट्रीय भावनाएं भड़कती हैं तब अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक सार्वधन का आदर्श काफूर हो जाता है।

इसलिए अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र मजदूर संघ महासंधान को अतीतकालिक इन सब अनुभवों पर ध्यान देना होगा, दंभपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय नीतियों को बरकना होगा तथा अंतर्राष्ट्रीय श्रम-कार्यवाही के लिए केवल यथार्थमूलक और व्यावहारिक योजनाएं बनानी होंगी। निःसंदेह दुनिया के मजदूर इन योजनाओं को पहले समाजवाद की कसौटी पर कसना चाहेंगे। यह नहीं कहा जा सकता है कि इस महासंधान में भी कोई कमी निकल आये जैसी कि पिछले अंतर्राष्ट्रीय संगठनों अर्थात् इंटरनेशनलों (Internationals) में विद्यमान थी जो युद्धकाल में राष्ट्रीय भावनाएं उभरने के कारण अंतर्राष्ट्रीय समाजवाद के प्रति मजदूरों की निष्ठा को जीवित न रख सके।

मजदूर संघ-वाद तथा अन्य विचारधाराएं

समाजवाद—समाजवादी इंटरनेशनल के बारे में ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है उससे साफ हो जाता है कि समाजवाद कोरा दार्शनिक सिद्धांत न होकर एक ऐतिहासिक आंदोलन भी है। सामान्यतः समाजवाद शब्द के अनेक अर्थ लगाये जाते है किंतु इसका अभिप्राय प्रत्येक प्रकार की उदारता से है। इसलिए समाजवाद, मजदूर संघ-वाद तथा अराजकतावाद के बीच अंतर जानना आवश्यक हो जाता है। यूटोपियनिज्म (Utopianism), क्रिश्चियन समाजवाद (Christian Socialism), स्टेट सोशलिज्म (State Socialism), फेब्रियनवाद (Fabianism), श्रेणी-समाजवाद या गिल्ड सोशलिज्म (Guild Socialism) तथा साम्यवाद (Communism), समाजवाद के ही विभिन्न रूप हैं और उनमें मौलिक अंतर है जिसे जानना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ आंदोलनों ने समाजवादी प्रवृत्तियों का चेहरा लगा रखा है; जैसे आर्थिक जीवन के निगमित संगठन, सहकारिता, सरकारी स्वामित्व (public ownership) तथा नयी आर्थिक व्यवस्था (New Dealism), आदि को ठेठ समाजवाद से पृथक मानना होगा।

समाजवाद का अभिप्राय प्रायः लोकतंत्रीय ढंग के समाजवाद से होता है। यह दलगत अधिनायकवाद स्वीकार नहीं करता है। इसके दो कारण हैं : पहला, यह अधिनायकवाद आवश्यक नहीं है; और दूसरा, अधिनायकवाद व्यवहार की दृष्टि से, यहां तक कि सिद्धान्त की दृष्टि से, अपनी इच्छा के अनुसार नीति का निर्माण और संचालन करने लगता है, यद्यपि सिद्धान्ततः अधिनायकवाद के विलुप्त होने की कल्पना की गयी है।

समाजवाद कामगारों के सार्वधन (कामनवैल्थ) की स्थापना में विश्वास करता है जिसे शोषण और अन्याय की हवा तक छूकर न निकल सके। इसका उद्देश्य उत्पादन, वितरण और विनिमय के समस्त अभिकरणों का प्रबंध करना तथा सामाजिक स्वामित्व का प्रतिष्ठा करना है। वह संपत्ति और आय का भी समान वितरण चाहता है। इसके अनुसार, औद्योगिक, व्यापारिक और आर्थिक संस्थानों पर समाज का स्वामित्व होना चाहिए और उनका प्रबंध लाभ कमाने के हेतु नहीं बल्कि उपयोगिता के हेतु लोकतंत्रीय ढंग से किया जाना चाहिए। समुचित अवधि के भीतर गरीबी से छुटकारा दिलाकर एक समृद्धिशाली अर्थतंत्र स्थापित करने की उसकी एक निश्चित योजना होती है। इसके अंतर्गत साम्राज्यवाद अथवा उस राष्ट्रवाद की शरारतों पर अंकुश रखने की कोशिश की जाती है जिससे फासिस्टवाद सिर उठाने लगता है और असामाजिक और अलोकतंत्रीय बन जाता है।

मजदूर संघ-वाद (Trade Unionism)—मजदूर संघ-वाद (श्रमिक संघता) अपने कार्यक्रम की दृष्टि से निःसंशय यथार्थमूलक और व्यावहारिक है। यह औद्योगिक कार्यवाही तथा संसदीय प्रतिनिधित्व द्वारा मजदूरी पाने वाले श्रमिक वर्ग की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति सुधरवाने का प्रयास करता है। इसके सदस्य संभवतः व्यक्तिगत रूप से समाज का पुनर्गठन समाजवादी तरीके से करने की टेक निबाहते हैं। किंतु स्वयं मजदूर संघ आंदोलन सैद्धांतिक दृष्टि से क्रांतिकारी नहीं कहा जा सकता। पिछले १२५ वर्षों का इतिहास इसका साक्षी है कि यह आंदोलन जितना ही विकासवादी बन गया है उतना ही अधिक सफलता इसे प्राप्त हुई है।

अराजकतावाद—प्राउढन ने आरंभिक चरणों में जिस अराजकतावाद की व्याख्या की है वह एक तर्कसंगत विचारधारा है। यह सिद्धांत मानव हृदय के स्वैच्छिक परिवर्तन पर आधारित है। इसमें कहा गया है कि मनुष्य स्वैच्छिक हृदय परिवर्तन द्वारा समाज की नयी व्यवस्था कर दे। किंतु मैक्स स्टिर्नर, जीन ग्रेव, रेक्लुस, बाकूनिन और क्रोपोट्किन ने इस सिद्धांत को एक भयंकर विनाशात्मक रूप दे दिया। यदि इसकी ठीक-ठीक व्याख्या की जाए तो यह किसी प्रकार का समाजवाद न होकर उदार तथा सामाजिक आदर्शों का एक मिश्रित स्वरूप है। इसके अंतर्गत राज्य तथा प्रत्येक प्रकार की सत्ता की जो आलोचना की गयी है तथा उनके उत्सादन पर जो बल दिया गया है ताकि व्यक्ति की आरंभिक शक्ति भलीभांति पनप सके और इसमें निजी संपत्ति और प्रत्येक प्रकार के शोषण के लिए जो विरोध प्रकट किया गया है उससे उसका उक्त स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है।

अराजकतावादी का विश्वास है कि समाज एक प्रकृति-दत्त और स्थायी चीज है तथा समाज का मनुष्य पर मानवीय उदार प्रभाव पड़ता है। उसकी दृष्टि में "व्यक्ति" और "समाज" दोनों शब्द समानवाची हैं। उसका कल्पित अराजकतावादी समाज उन स्वतंत्र संगठनों का एक संघ था जिसमें सम्मिलित होने अथवा जिसको छोड़ने की सबको पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। उसके मतानुसार ये विपुल संगठन प्रत्येक क्षेत्र में वर्तमान प्राधिकारवादी संस्थाओं का स्थान ग्रहण करते हैं और प्रत्येक प्रकार की सत्ता के केंद्रीकरण की प्रवृत्ति की दृढ़ता से रोकथाम करते हैं। इस अराजकतावादी समाज में किसी व्यक्ति द्वारा स्वतंत्रता के संभाव्य दुरुपयोग के विरुद्ध उसका कहना यही है कि "स्वतंत्रता के अस्थायी अतिभोग का सर्वोत्तम उपचार फिर भी स्वतंत्रता है।"

अराजकतावादी सभी प्रकार के प्राधिकार की निंदा करते हैं, फिर चाहे वह प्राधिकार व्यक्तिगत हो अथवा सरकारी अथवा राज्य का। उनकी दृष्टि में राज्य समस्त प्राधिकार का चरमोत्कर्ष होता है। वह शोषकों का सबसे बड़ा

अभिकर्ता होता है। और राज्य लोगों की स्वतंत्रता का निषेध करनेवाली संपूर्ण शक्तियों की मूर्ति होती है। राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में मानवीय अधिकारों तथा जाति-वर्ण के भेदभाव बिना सभी मनुष्यों के प्रति आदर भावना की मान्यता पर आधारित तथा आचार के उच्च मानदंड और नैतिक अथवा बौद्धिक विकास की कसौटी पर खरी उतरने वाली व्यक्तिपूजा, अराजकतावादियों की देन है। अराजकतावादी निजी (खासगी) संपत्ति को बुराइयों की जड़ तथा सभी विशेषाधिकारों का स्रोत मानते हैं तथा उसको तुरंत खत्म करने का अनुरोध करते हैं।

निस्संदेह, इन अराजकतावादियों का एक उग्रपंथी दल भी है जो विद्यमान समाज के सभी अंगों को बिना हिचकिचाहट या झिझक के "विष देकर, छुरा घोंपकर और तलवार मारकर" नष्ट कर देना चाहता है; जो समस्त राष्ट्रीय पुरातत्त्व संग्रहालयों को आग की भेंट चढ़ा देना और अधिकार-प्रमाणिपत्रों को चिराग दिखा देना चाहता है; जो वैध न्यायालयों को भंग कर देना और सेना तथा आरक्षी को हटा देना चाहता है। किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अराजकतावादी सिद्धान्त एक कोरी ध्वंसात्मक और विप्लवात्मक विचारधारा थी। अराजकतावादी प्राकृतिक संतुलन कायम करना चाहते थे—वर्तमान समाज शोषण, संपत्ति और प्राधिकार पर टिक रहा है; वे उसके स्थान में ऐसे स्वतंत्र आदमियों का एक संगठन स्थापित करना चाहते थे जो "न किसी ईश्वर के और न किसी स्वामी" के आगे गर्दन झुकाएं बल्कि अपनी ही संकल्प-शक्ति का अनुसरण करें।

अराजकतावादियों का उद्देश्य श्रम की अवस्थाओं में सुधार करके उत्पादिता बढ़ाना था। वे मानवजाति की उन्नति के लिए एकमात्र विज्ञान पर भरोसा करते थे। विज्ञान की सहायता से उत्पादन में वृद्धि करके वे श्रमिकों के काम के घंटों में कमी कर देना और श्रमिकों के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा करना चाहते थे।

यूरोप में अराजकतावादियों का दल १८८० और १८९५ के बीच में विद्यमान था। कॉनफेदारेशिओं ज़ेनेरल दु त्रावाई बहुत दिनों तक अराजकतावादियों के प्रभाव में रहा। प्रथम महासमर छिड़ते ही अराजकतावाद का सूर्य ढलने लगा।

यूटोपियनिज्म (Utopianism)—यूटोपियन समाजवादियों (अथवा Associationists) का कहना था कि मानव सुख और सामाजिक न्याय सामाजिक प्रगति का उचित लक्ष्य है। उनका यह भी कहना था कि वर्तमान व्यक्तिवादी व्यवस्था से कुछ विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियों को ही लाभ पहुंचता है। वे आदर्श सार्वधन के मौलिक सिद्धांतों तथा आचारों पर बल देते थे। उन्होंने फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका में कम्युनिस्ट समाज की स्थापना की चेष्टा

की। किंतु रॉबर्ट ओवेन ने न्यू लानार्क (स्कॉटलैंड) तथा न्यू हार्मनी (इंडियाना) में जिन उपनिवेशों को उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में बसाने की कोशिश की वे थोड़े दिनों बाद ही उजड़ गयीं। किंतु उनमें फ्रांस के काउंट हेनरी सेंट साइमन (१७६०-१८२५), फ्रांसिस नोएल बेल्यूफ (१७६४-१७९७), चार्ल्स फाउरियर (१७७२-१८३७), ऐटीयेन कैबेट (१७८८-१८५६) और लुई ब्लांक (१८११-१८८२) तथा ब्रिटेन के रॉबर्ट ओवेन (१७७१-१८५८) जैसे सामाजिक स्वप्नद्रष्टाओं के "यूटोपियन" विचार छिपे हुए थे। परिवर्ती समाजवादी विचारधाराएं यूटोपियनों से अपने को दूर बताने लगे।

क्रिश्चयन समाजवाद (Christian Socialism)—उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में क्रिश्चियन समाजवाद पश्चिमी यूरोप की क्रिश्चियन विचारधारा पर हावी हो गया था। क्रिश्चियन समाजवाद को समाजवादी प्रोटेस्टेंटिज्म (Protestantism) कहते हैं और उसकी समाजवादी कैथोलिक-मत से नोंकझोंक है। फ्रांसिस ह्वेट (Francis Huet) ने क्रिश्चियन सोशलिज्म (क्रिश्चियन समाजवाद) शब्द का प्रयोग १८५३ में पहली बार किया था। इंग्लैंड में समाजवादी प्रोटेस्टेंटिज्म को १८५० से ही, जबकि उसका प्रादुर्भाव हुआ था, क्रिश्चियन समाजवाद कहने लगे थे। किंग्सले, मॉरिस, लुडलो, ह्यूस और वंसीटार्ट नील इसके पक्के प्रचारक थे।

क्रिश्चियन समाजवादियों ने उत्पादकों के संघों द्वारा कामगारों का संगठन किया। किंतु रोशडेल (Rochdale) मॉडल के मजदूर संघ आंदोलन तथा उपभोक्ता सहकारी समितियों की ओर उनका झुकाव नहीं हुआ। उनका प्रगतिशील श्रम विधान-रचना आंदोलन का परिणाम ही १८५२-६२ का इंडस्ट्रियल तथा प्रॉवीडेंट सोसाइटीज एक्ट (Industrial and Provident Societies Act) था। इंग्लैंड में क्रिश्चियन समाजवादियों ने उस अन्यायपूर्ण भूमि-व्यवस्था की तीव्र आलोचना की जिससे भूमि कुछ धनवानों के हाथ में ही केंद्रित हो जाती थी। उन्होंने उत्पादक-संघों की अपेक्षा निजी संपत्ति के पुनर्गठन पर अधिक ध्यान देना आरंभ किया।

फ्रांस में क्रिश्चियन समाजवादियों को अधिक सफलता नहीं मिल सकी। किंतु १८८९ में अमेरिका के बोस्टन नगर में उनका आविर्भाव हुआ और उन्होंने देश में अपने संगठनों का एक जाल-सा बिछा दिया।

क्रिश्चियन समाजवादी क्रिश्चियानिटी को भी समाजवाद का समानवाची शब्द मानने लगे। उनका कहना था कि समाजवाद क्रिश्चियन जीवन का आर्थिक स्वरूप है और "ईश्वर के राज्य" (Kingdom of God) की जो चर्चा की गयी है वह अर्थशास्त्र के शब्दों में "सहकारी सार्वधन (cooperative commonwealth) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" कुछ क्रिश्चियन

समाजवादियों की दृष्टि में समूहीकरणवाद (collectivism) भी रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी है। वे ईसामसीह की तुलना में मार्क्स को एक कठोर टोरी (पुरातनपंथी) ही मानते हैं।

क्रिश्चियन समाजवाद के निम्नांकित चार शील थे: प्रतियोगिता से विरक्ति, पूंजीवाद से विरोध, सहयोग पर बल तथा व्यक्तिवाद के प्रति उदारता।

क्रिश्चियन समाजवादियों का कहना था कि वर्ग-संघर्ष, अंतर्राष्ट्रीयता तथा उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीकरण ईसाईमत से मेल खाते हैं। वे व्यक्ति के विकास पर बहुत बल देते थे।

राज्य-समाजवाद (State Socialism) राज्य-समाजवाद का स्रोत जर्मनी है। १८७२ में आइजनाख (Eisenach) की कांग्रेस के कारण यह एकबारगी संसार की आंखों के सामने आ गया और सभी विरोधियों का उन्मूलन हो जाने पर हिटलरवाद की छत्रच्छाया में इसकी जड़ें मजबूत हो गयीं। राज्य-समाजवाद को मानवता की रक्षा और शिक्षा के लिए राज्य पर निर्भर रहना पड़ता है। और राज्य उसकी दृष्टि से एक महान नैतिक संस्था होती है। वह राज्य की नियंत्रणकारी शक्ति का अनुसमर्थन करता है क्योंकि उसके विचार से राज्य, विद्यमान सामाजिक व्यवस्था के मौलिक स्वरूप में व्यापक परिवर्तन किये बिना ही मुनाफाखोरी, स्वार्थी, किराया तथा मजदूरी जैसी चीजों में आवश्यक सुधार कर सकता है। वह निजी (खासगी) संपत्ति की छूट देता है किंतु उसकी सीमा निर्धारित करने और नियंत्रण रखने का दायित्व सरकार को प्राप्त होगा। इसके अंतर्गत यह निजी संपत्ति सामाजिक प्रगति में योगदान करती है। राज्य-समाजवाद मूल उद्योगों पर सरकारी स्वामित्व और विशुद्ध पूंजीवादी प्रशासन के अंतर्गत तथा उसके ढांचे के भीतर ही राज्य के कार्यों का विस्तार चाहता है। इस प्रकार के समाजवाद का प्रभाव आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, स्वीडन, जर्मनी तथा अन्य अनेक देशों के रक्षात्मक समाजवादी विधान पर परिलक्षित होता है। सचमुच "मंगलकारी राज्य" का आधुनिक सिद्धांत और स्वरूप इसी आधार पर टिक रहा है।

फेबियनवाद (Fabianism)—इस समाजवादी दर्शन के मूल में जिस ठोस निष्क्रिय भावना का हाथ है वह इन शब्दों में व्यक्त की जा सकती है: "समाजवाद के स्वाभाविक दर्शन में ऊष्मा के स्थान में प्रकाश अधिक महत्त्वपूर्ण है।" फेबियन शब्द फेबिन्स् कोन्क्टेटोज (Fabins Conctatos) से निकला है। सिडनी और बीट्रिस वेब्ब, जी० बी० शॉ, एच० जी० वेल्स तथा ग्राहम वालेस जैसे बुद्धिजीवी संयुक्त रूप से इस विशिष्ट इंगलिश समाजवाद के प्रणेता थे। यह फेबियनवाद राज्य-समाजगाद के निकट है और वह केंद्रीय, प्रांतीय अथवा नगरीय सरकार की सत्ता पर भरोसा करता है जो उद्योगों का संगठन

कर सकती है तथा भूमि की आर्थिक आय और पूंजी का उचित विनियोजन कर सकती है। उसके मतानुसार, यह सरकार फैक्टरी अधिनियम, कर्मचारी देनदारी अधिनियम, जैसे प्रगतिशील कानून भी बनवा सकती है तथा मनुष्य को राज्य के संरक्षण में राष्ट्र की सेवा करने का प्रशिक्षण भी दे सकती है।

फेबियनों का कहना है कि समाजवाद का कल्याण इसी में है कि समाज धीरे धीरे एक जागृत और उदार सहकारी सार्वधन में बदल जाए। फेबियनपंथी मार्क्सवाद तथा अराजकतावाद की क्रांतिकारी विचारधाराओं के विरोधी हैं। वे मार्क्सवादियों के वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत का तिरस्कार और अराजकतावादियों की सिर-फुटौव्वल क्रांतियों की भर्त्सना करते हैं। कामगारों और मालिकों के लिए उनके आर्थिक और राजनीतिक फार्मूले अलग-अलग नहीं हैं। वे क्षेत्र और वर्ग की संकीर्ण परिधियों को चीर कर समूचे समाज के हित और कल्याण की दृष्टि से अपनी योजनाएं बनाते हैं। फेबियनवाद वह सिद्धांत है जो समस्त आर्थिक समस्या का एक वैज्ञानिक भाष्य प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। लोगों का कहना है कि फेबियन समाजवाद पूंजीवादी लोकतंत्र का एक विस्तृत संस्करण है। इसका उद्देश्य सर्वहारा वर्ग के प्रभुत्व की स्थापना करके पूंजीवादी वर्ग के प्रभुत्व का उन्मूलन करना नहीं है; इसका उद्देश्य मजदूरी-प्रणाली के चंगुल से कामगार को छुटकारा दिलाना भी नहीं है; इसका उद्देश्य तो समस्त समाज के हित को सामने रख कर उद्योगों का संगठन-मात्र करना है। यह समाजवाद न तो सीमित है और न समाज के किसी अंग के विरुद्ध है। इसके विपरीत, यह तो सबके लिए समान अधिकारों और अवसरों का द्वार खोल देता है।

उन्नीसवीं शताब्दी पूंजी के केंद्रीकरण का बेजोड़ युग था। फेबियनवादी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। फिर भी उनका कहना है कि इस पूंजी से जो लाभ कमाया जा रहा था उसमें उत्तरोत्तर कमी होती जा रही थी तथा उद्देश्यात्मक राजकीय हस्तक्षेप के कारण किराये तथा ब्याज से आय में काफी कमी हो रही थी।

श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism)—टेलर, हॉब्सन और कोल द्वारा विकासित श्रेणी समाजवाद, क्रांतिकारी मार्क्सवाद और कामगार संघ-स्वामित्ववाद (Syndicalism) के बीच सेतुबंधन करता है। किंतु राज्य के प्रति उसके विचार दोनों से भिन्न हैं। श्रेणी समाजवाद का कहना कि राज्य को एक सहकारी शक्ति के रूप में कुछ निश्चित आर्थिक कार्यों के संपादन के लिए बनाये रखना चाहिए।

श्रेणी समाजवाद एक आर्थिक एकतंत्रवादी सिद्धांत है जिसके अनुसार समाज को व्यावहारिक आधार पर उत्पादकों और व्यवसायियों की स्वशासी,

विकेंद्रित इकाइयों में बांट देना चाहिए। किंतु व्यवहार में यह देखने में आया है कि दो पृथक्-पृथक् प्रणालियां श्रेणी समाजवाद में हिलमिलकर काम करती हैं और समाज में पूर्ण रूप से सुचारु व्यवस्था बनाये रखती हैं। ये हैं राज्य-प्रणाली और श्रेणी प्रणाली—दोनों की सरकारें अलग-अलग होती हैं; दोनों की नागरिकता, चुनाव पद्धतियां और विधानमंडल अलग-अलग होते हैं। वास्तव में, यह एक राजनीतिक बहुतंत्रवाद (pluralism) है जहां न तो एक का दूसरे पर राजनीतिक प्रभुत्व है और न आर्थिक दासता ही।

निदान, हॉब्सन राज्य की शक्ति बढ़ाने के पक्ष में हैं क्योंकि वे उसे समाज की उच्चतम नैतिक और सांस्कृतिक सफलता का प्रतीक मानते हैं। और उनकी दृष्टि से, इस प्रकार मानव प्राचीन एकतंत्रवाद की ओर फिर मुड़ता है जिसके अनुसार राज्य मुख्यतः एक राजनीतिक सत्ता का प्रत्यक्ष स्वरूप है।

अपनी पुस्तक "गिल्ड सोशलिज्म रिस्टेटेड" (Guild Socialism Restated) में जी० डी० एच० कोल ने राष्ट्रीय परिषद (National Council) का उल्लेख किया है जिसके अंतर्गत तीन प्रकार के संगठन काम करते दिखायी देते हैं। इनमें एक प्रकार का संगठन औद्योगिक श्रेणी है जो उत्पादनकर्ताओं और व्यवसायिकों के वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है; दूसरे प्रकार के संगठन हैं विशेष पदार्थों के उपभोक्ताओं की सहकारी परिषद् तथा पानी, बिजली और गैस-जैसी सामान्य सर्वोपयोगी चीजों के उपभोक्ताओं की एक सामूहिक उपयोगिता परिषद्; और तीसरे प्रकार के संगठन हैं नागरिक श्रेणियां जो सांस्कृतिक परिषद्, स्वास्थ्य परिषद् तथा इसी प्रकार की अन्य परिषदों के हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं। राष्ट्रीय परिषद् का कार्य विभिन्न कार्यकर्ता-इकाइयों के अधिकार क्षेत्र का निर्णय करना है तथा उसे सेना और नौसेना पर नियंत्रण रखने और मूल्य, आय तथा अन्य संबंधित आर्थिक प्रश्नों को तय करने का अधिकार प्राप्त होता है।

श्रेणी समाजवादियों (Guild Socialists) का उद्देश्य आर्थिक स्वराज और औद्योगिक स्वतंत्रता के स्तंभों पर समाज की रचना करना है।

अन्य समाजवादी आंदोलन—अनेक समाजवादियों के ख्याल से बड़े-बड़े निगमों तथा न्यासों का निर्माण एकीकरण की एक प्रक्रिया है जिससे समय आने पर पूंजीवाद के सिंहासन को उलटने में सहायता मिलेगी। उनकी दृष्टि से, रक्षात्मक सामाजिक विधान पूंजीवाद के प्रतिरक्षात्मक गढ़ को ढाहने में मदद करते हैं। उनके विचार से, सहकारी आंदोलन का अनुसरण करके सहकारी सार्वधन के चरम लक्ष्य पर पहुंचना संभव है। नगरपालिकाओं द्वारा पानी, बिजली, प्रकाश, आदि के वितरण जैसे कार्य, जिनसे सरकारी स्वामित्व की दिशा में प्रगति होती है, समाजवाद के मार्ग के पांवड़े माने जा सकते थे। इनमें कुछ समाज-

वादियों का कहना है कि अमेरिका में प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने १९३२ में जिस "न्यू डील" (New Deal) का सूत्रपात किया था उसके अंतर्गत सामाजिक सुरक्षा बोर्ड (Social Security Board), टेनेसी घाटी प्रशासन (Tennessee Valley Authority) और राष्ट्रीय श्रमिक संबंध बोर्ड (National Labour Relations Board) जैसी चीजें बेरोकटोक समाजवाद का मार्ग प्रशस्त करती थीं। किंतु इनमें कहीं भी संपत्ति को व्यक्तियों के हाथ से छीन कर समाज को सौंपने की ठेठ बात पर बल नहीं दिया गया है। इसलिए दूसरे लोगों का कहना है कि इन व्यवस्थाओं से पतनोन्मुख पूंजीवाद की लीपापोती करने, शोषण-दोहन के लड़खड़ाते पैरों को सहारा देने, तथा प्रचंड सामाजिक परिवर्तनों और पुर्नव्यवस्थाओं के आगमन को स्थगित करने की चेष्टा की गयी है।

विभिन्न देशों में श्रम की अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप

अमेरिका — विभिन्न देशों में श्रम के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप के सिद्धांत का वर्णन करते समय अमेरिका के प्रश्न पर विशेष ध्यान देना आवश्यक होगा। इंगलैंड और फ्रांस के साथ ही अमेरिका में मजदूर संघ-वाद का प्रादुर्भाव हुआ था। १८८१ में शिल्पों के आधार पर एक अमेरिकन मजदूर संघ (American Federation of Labour) की स्थापना हुई थी और इसके नेताओं का पहले यूरोपीय मजदूर आंदोलन से संपर्क रह चुका था। इसके अध्यक्ष (प्रेसीडेंट) सेमुअल गोम्पर्स ने प्रथम महासमर की संधि के अनुभाग १३ की रचना में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था जिसमें अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ (International Labour Organisation) का अधिकारपत्र था। उन्होंने १९१९ में एम्स्टर्डम में अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान (International Federation of Trade Unions) को पुनर्जीवित करने में भी बहुत सहारा दिया था।

उन दिनों संयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त जिस अन्य अमेरिकन देश में मजदूर आंदोलन का अंकुर फूट निकला वह मैक्सिको था। अमेरिकन श्रमिक संघ तथा राष्ट्रीय मैक्सिको श्रमिक संघ की आपसी बातचीत के परिणाम-स्वरूप प्रथम सर्व-अमेरिकन श्रम सम्मेलन नवंबर १९१८ में टैक्सास राज्य के लारेडो नगर में हुआ। सात देशों के ७२ प्रतिनिधियों ने इसमें भाग लिया। इस सम्मेलन ने एक सर्व-अमेरिकन श्रमिक संघ (Pan-American Federation of Labour) को जन्म दिया। इस संघ का उद्देश्य एक देश से दूसरे देश में जा-बसने वाले श्रमिकों के लिए बेहतर कार्यावस्थाएं

बनाना तथा श्रमिक आंदोलनों और सर्व-अमेरिकन गणतंत्रों के लोगों में आपसी मैत्री के संबंध उत्पन्न करना था।

यूरोप की भांति लैटिन अमेरिका में भी १९१९-२० की उथल-पुथल ने मजदूर संघों में फूट पैदा कर दी और वे समाजवादियों, मजदूर-संघ-स्वामित्व-वादियों (Syndicalists), साम्यवादियों (Communists) तथा अन्य गुटों में बिखर गयीं। १९२१ में कम्युनिस्टों ने सी० जी० टी० (C. G. T.) नाम का एक संघ बनायी जो लाल अंतर्राष्ट्रीय मजदूर यूनियन संघ (Red International of Labour Unions) से आबद्ध थीं। बाद में मजदूर संघ-स्वामित्ववादियों का सी० जी० टी० में बहुमत हो गया और फिर उन्होंने मास्को से नाता तोड़ दिया। फूट डालनेवाली प्रवृत्तियों को उखाड़ फेंकने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका और मैक्सिको ने १९२३ में एक प्रकार के श्रम-संबंधी मोनरो सिद्धांत (Monroe Doctrine) की उद्‌घोषणी की। उन्होंने कहा कि यदि यूरोपीय श्रमिक वर्ग पश्चिमी गोलार्द्ध के श्रमिकों की प्रभुसत्ता में अपनी नाक घुसेड़ेगा तो वे उसको शत्रुतापूर्ण कार्य मानेंगे। यह मैक्सिको-अमेरिकन श्रमिक संधि अमेरिकन मजदूर आंदोलन का एक प्रबल स्तंभ मानी जा सकती है जो दूसरे महासमर की चिनगारी फूटने तक दृढ़ बनी रही। मैक्सिको ने १९३१ में तथा संयुक्त राज्य ने १९३४ में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ में प्रवेश किया। कनाडा के संगठित मजदूर आंदोलन बहुत कुछ ब्रिटेन के मजदूर आंदोलन का ही अंग मानना होगा। उसने सर्व-अमेरिकन श्रमिक संघ में प्रवेश नहीं किया किंतु अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान से आबद्ध हो गया। अमेरिकन श्रमिक संघ १९३७ में अंतर्राष्ट्रीय संधान (International Federation) से आबद्ध हुआ।

१९३८ में जब संयुक्त राज्य में औद्योगिक संगठन कांग्रेस (Congress of Industrial Organisations) की रचना शिल्पिक आधार के स्थान में उद्योगों के आधार पर हुई तब वहां अमेरिकन श्रमिक संघ का एक प्रबल प्रतिद्वंद्वी संगठन पैदा हो गया। याद रहे कि अमेरिकन श्रमिक संघ शिल्प-संघों का संघ है जिसमें प्रायः कुशल कामगारों को जगह मिलती है। बड़े-बड़े उद्योगों के मजदूर संघों और उनके उद्देश्यों के सामने वह कहां टिक सकता था। इसलिए औद्योगिक संगठन कांग्रेस के सामने एक लंबा-चौड़ा मैदान पड़ा हुआ था। आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में इस संस्था से जो आतंक छा गया उससे देश में कम्युनिस्टों के लुक-छिपकर घुसने का द्वार खुल गया। अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान की नीति किसी भी देश के एक ही राष्ट्रीय संघ को मान्यता प्रदान करने की थी। इसलिए औद्योगिक संगठन कांग्रेस के कितने ही अमेरिकन सदस्य अंतर्राष्ट्रीय संधान (फेडरेशन) में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने से वंचित रह गये।

गत महासमर के प्रथम चरण में जब जर्मनी और आंग्लो-फ्रेंच साथी देश मैदान में एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े थे तब अमेरिका और इंगलैंड में कम्युनिस्टों ने मजदूरों को युद्ध-प्रयास में अपनी-अपनी सरकारों का साथ न-देने के लिए फुसलाने की कोशिश की। उनका नारा था : "साम्राज्यवादी-फासिस्ट युद्ध से दूर रहो।" किंतु, जब १९४१ में नाजी जर्मनी रूस पर चढ़ दौड़ा तब सब कम्युनिस्ट मजदूर संघों का स्वर बदल गया। इनमें अनेक संघ औद्योगिक संगठन कांग्रेस से आबद्ध थे। अब उन्होंने रूस और इंग्लैंड की मदद करने के नारे लगाने आरंभ किये। जब १९४१ में जापान ने अमेरिका पर धावा बोल दिया तब औद्योगिक संगठन कांग्रेस तथा अमेरिकन श्रमिक संघ ने फासिस्ट धुरी (Fascist Axis) के विरुद्ध अपनी सरकार का साथ देने का वचन दिया।

दूसरे महासमर के समाप्त होने पर औद्योगिक संगठन कांग्रेस ने विश्व मजदूर संघ संधान (World Federation of Trade Unions) की स्थापना के बारे में बड़ा उत्साह दिखाया। किंतु जब १९४९ में लोकतंत्रीय देशों के अधिकांश मजदूर संघों ने विश्व संधान का परित्याग करके अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र मजदूर संघ प्रसंधान (International Confederation of Free Trade Unions) बनाना चाहा तब औद्योगिक संगठन कांग्रेस ने अपने यहां से कम्युनिस्टों को निकालना आरंभ कर दिया जिससे लगभग २५,००० सदस्य निकाले गये। अमेरिकन श्रमिक संघ ने विश्व स्वतंत्र मजदूर संघ संधान में शामिल नहीं हुआ किंतु अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र मजदूर संघ प्रसंधान (महासंघ) की रचना के प्रारंभिक काल में अमेरिका में दोनों संगठनों ने मिलकर काम किया। धीरे धीरे दोनों के संबंध मधुर हो चले। १९५५ में दोनों संघों के मिलकर एक हो जाने की अफवाह फैल गयी और १९५६ में दोनों का विलय हो गया।

सोवियत समाजवादी गणतंत्र संघ—अस्थायी सरकार की उदार छत्र-छाया के अंतर्गत रूस में मजदूर संघों, जिन्हें व्यवसायिक संघ कहते थे, तेजी से पनप उठीं। यद्यपि फैक्टरियों पर राज्य का अधिकार हो गया था फिर भी आरंभ में उनका काम अपने-अपने कामगारों की कार्यावस्थाओं में सुधार करवाना था।

मजदूर संघ-वाद १९२८ में समाजवाद की नीति के अनुकूल सांचे में ढाल दिया गया और मजदूर संघों का यह ध्येय समाप्त हो गया कि वे कामगारों की कार्यावस्थाओं को सुधरवाने के लिए कामगारों की प्रतिनिधि-मात्र हैं। अब वे सरकार की सहायक संस्थाएं बन गयी हैं जिनका उद्देश्य श्रमिकों में अनुशासन बनाये रखना तथा उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न सफल बनाना है। वे कामगारों की योग्यता और कार्य-क्षमता में सुधार करवाती तथा फैक्टरियों में वैज्ञानिकन का ढर्रा चलवाती हैं।

रूसी मजदूर संघों का संगठन औद्योगिक आधार पर हुआ है। प्रत्येक संघ का आधार फैक्टरी समिति या स्थानीय समिति होती है जिसे उत्पादक अथवा प्रशासकीय इकाई के सदस्य गुप्त मतदान द्वारा चुनते हैं। प्रत्येक आरंभिक समिति उच्चतर जिला (मजदूर संघ) सोवियत के लिए प्रतिनिधि चुनकर भेजती है जो आगे चलकर प्रांतीय सोवियत के लिए तथा वहां से देश के अंग-भूत गणतंत्र के मजदूर संघ सोवियत के लिए प्रतिनिधि चुने जाते हैं। इनकी सर्वोच्च संस्था मजदूर संघों की अखिल-संघ परिषद् की सर्वोच्च साधारण सभा (Supreme Common Assembly) है जो देश के मजदूरों के हितों के प्रति निरंतर जागरूक रहती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि रूस का मजदूर आंदोलन विश्व मजदूर संघ संधान से आबद्ध है।

जो रूस पहले कुछ इनेगिने सोवियत लोगों के अल्पतंत्रीय शासन के नीचे दबा जा रहा था उसने १९३६ में एक लोकतंत्रीय सरकार की स्थापना करके द्विसदनीय विधान मंडल को स्वीकार किया। स्टालिन की मृत्यु के बाद, सोवियत नेताओं ने उनके व्यक्तित्व पर जो आक्षेप किये हैं उनसे जान पड़ता है कि उस अधिनायक की नीति पर प्रभाव डालने तथा वोट द्वारा उसके विचारों पर मत प्रकट करने की बहुत ही कम गुंजाइश थी। अब परिवर्ती सोवियत अधिनायक अथवा सामूहिक अधिनायकवाद लोकतंत्रीय पद्धति की ओर रुझान दिखाएगा या नहीं, यह अभी नहीं कहा जा सकता है। फिर भी यह स्पष्ट है कि सोवियत गणतंत्र तथा तृतीय "इंटरनेशनल" (अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज) की स्थापना के समय कम्युनिस्ट प्रचार से जो क्रांतिकारी झंझावात फूट पड़ा था वह बहुत कुछ मंद पड़ गया है। ऐसी बात नहीं कि इसका कारण न हो। मध्य यूरोप में एक बार हिटलर और मुसोलिनी के कारण जिस प्रचंड फासिस्टवाद का उदय हुआ था तथा एशियाई देशों ने उसके प्रति जो उपेक्षा दिखायी थी उससे शिक्षा ग्रहण करके सोवियत रूस ने भी फूंक-फूंक कर पांव रखना ही बेहतर समझा है। सोवियत रूस की राजनीतिक और आर्थिक जिम्मेदारियां बढ़ जाने के कारण उसे १९३४ में राष्ट्रसंघ और अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का सदस्य भी बनना पड़ा—ये बातें भी उसकी नीति पर प्रभाव डालती हैं। स्टालिन किसी एक देश में साम्यवाद (कम्युनिज्म) की स्थापना से ही संतुष्ट थे, किंतु ट्रॉटस्कीवादी आलोचक "स्थायी" विश्वव्यापी क्रांति को चरम लक्ष्य मानते थे; इन आलोचकों पर स्टालिन की जो विजय हुई उसे इतिहासकार अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद (International Communism) पर राष्ट्रवाद की विजय मानते हैं। सुतरां, जब सोवियत संघ १९३४-३९ में राष्ट्रसंघ का सदस्य था, वह अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का सदस्य भी बना रहा। उसने १९५४ में अ० श्र० संघ की सदस्यता फिर स्वीकार कर ली।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ में रूस के फिर प्रवेश करने पर कुछ देशों ने उसे उससे निकालने का प्रयत्न किया है क्योंकि वह एक वामपंथी अधिनायक तंत्रीय देश है। किंतु दक्षिण अफ्रीका जैसे दक्षिणपंथी अधिनायक तंत्रीय देशों को भी उस संस्था में अनुसमर्थन प्राप्त है। यदि रंगभेद की नीति बरतने वाले दक्षिण अफ्रीका को अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ में स्थान मिला हुआ है तो फिर ऐसा कोई कारण नहीं दीखता कि रूस जैसे देशों को उसमें न रहने दिया जाए।

यदि उभय प्रकार के अधिनायकवादी देश अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ में बने रहेंगे तो यह संस्था संसार भर की श्रम-नीति पर व्यापक प्रभाव डालने में सक्षम रहेगी। यही कारण है कि अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने उन उपनिवेशों के प्रतिनिधिमंडलों को भी स्वीकार कर लिया है जहां अभी लोकतंत्र की स्थापना तक नहीं हुई है।

जापान—दूसरे महासमर से पहले जापान में "सोडोमेइ" अर्थात् जापान श्रमिक संघ एक प्रमुख अ-कम्युनिस्ट केंद्रीय संगठन था। इसका उद्घाटन १९१२ में हुआ था; और समय बीतने पर उसके तथा उसके साथियों—मजदूर संघ-वादियों तथा समाजवादी लोकतंत्रियों के दक्षिण पक्ष—के झंडे तले २,६०,००० मजदूर इकट्ठे हो गये। दूसरे शब्दों में, समूचे जापान के ७० प्र० श० संगठित मजदूर उसमें सम्मिलित थे। यह संगठन अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान (International Federation of Trade Unions) से आबद्ध था। किंतु कम्युनिस्ट और फासिस्ट, दोनों के प्रहार से इसका प्रभाव क्षीण हो चला था। जब फरवरी १९४० में जापान सरकार ने यह घोषणा की कि "साम्पो" आंदोलन को उठाव देकर वह मजदूर संघ आन्दोलन को अनावश्यक बना देना चाहती है तब, जुलाई १९४० में, उक्त संगठन का अन्त हो गया।

"साम्पो" आंदोलन का उद्देश्य उद्योगों द्वारा राज्य की सेवा करना था और उसका श्रीगणेश जुलाई १९३८ में हुआ। १९३८ के अंत तक उसकी शाखाएं ११५८ कारखानों और फैक्टरियों में स्थापित हो गयीं। जब १९४२ में प्रशांत क्षेत्र में युद्ध की चिनगारी फूट पड़ी तब देश में "साम्पो" की १,६३,७४० शाखाएं थीं जिनके ५५,१४,३२० कामगार और मालिक सदस्य बन चुके थे। फिर नाजी जर्मनी तथा फासिस्ट इटली की भांति ही जापान की सैनिक सरकार ने भय और धमकी द्वारा देश में मजदूर संघ-वाद को जड़-मूल से उखाड़ दिया।

जापान के बिना शर्त आत्मसमर्पण तथा साथी देशों के उस पर १९४५ में अधिकार के बाद, देश में मजदूर संघों के पुनरुद्धार का आंदोलन शुरू हो गया। कम्युनिस्टों और "सोडोमेइ" से संबंधित युद्धपूर्वकालिक मजदूर संघों ने इस आंदोलन में बड़ी लगन से काम किया। युद्धपूर्वकालिक नेताओं ने "सोडोमेइ" के

नमूने पर मजदूर संघों का पुनर्गठन आरंभ कर दिया। किंतु, दो वर्षों के भीतर ही इन मजदूर संघों में कम्युनिस्टों की हांक सुनायी देने लगी और उन्होंने उनको कम्युनिस्ट पार्टी का राजनीतिक मंच और अस्त्र बनाना आरंभ कर दिया। कम्युनिस्ट-प्रभाववर्ती राष्ट्रीय औद्योगिक संघ कांग्रेस (सामबेत्सु) ने, जिसके लगभग १५ लाख सदस्य थे, हड़ताल की नीति अपना ली जिससे देश में सामाजिक और आर्थिक असंतोष की लहर दौड़ गयी। इसलिए साथी सेनाओं के सर्वोच्च सेनापति को मजदूरों से हड़ताल करने का अधिकार छीन लेना पड़ा हालांकि बातचीत द्वारा समझौते करने का अधिकार अछूता बना रहा।

१९४९ बीतते ही, मजदूर संघ आंदोलन में "सामबेत्सु" का प्रभाव ढल चला और उसके सदस्यों की संख्या बहुत घट गयी। उन दिनों जिन संघों ने कम्युनिस्ट नेतृत्व को धता बता दिया था वे स्वयं अपने केंद्रीकरण के लिए एक राष्ट्रीय केंद्र बनाने लगीं। उसी समय, विश्व मजदूर संघ संधान (World Federation of Trade Unions) में जो फूट फैल गयी थी तथा अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र मजदूर संघ प्रसंधान (International Confederation of Free Trade Unions) की रचना के लिए जो प्रारंभिक गतिविधि जारी हो गयी थी उससे उक्त कार्यवाही (केंद्र स्थापना) के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न हो गया। दिसम्बर १९४९ में जब लंदन में अंतर्राष्ट्रीय प्रसंधान का उद्घाटन हुआ तब जापानी मजदूर संघों ने उससे अपना नाता जोड़ लिया और जापानी मजदूर संघों की एक संयुक्त परिषद बन गयी।

कोरिया के मामले तथा जापानी शांति संधि पर मतभेद होने के कारण जापानी श्रमिकों में फूट फैल गयी है और उग्रवादी श्रमजीवी जन दल (Proletarian Mass Party) का प्रभाव बढ़ गया है जो जापानी कम्युनिस्ट पार्टी से भी अधिक वामपंथी है और जिसका राष्ट्रीय मजदूर संघ परिषद (सोहयो) पर नियंत्रण है। "सोहयो" के जुलाई १९५१ के वार्षिक सम्मेलन ने एक मामूली बहुमत से वामपंथी समाजवादी राजनीतिक विचारधारा स्वीकार करने की घोषणा की थी।

सोवियत रूस तथा उसके साथियों को छोड़कर, जापानी शांति संधि पर लगभग सभी देशों के हस्ताक्षर हैं। वामपंथी मजदूर संघी नेता इस पर सोवियत रूस और कम्युनिस्ट चीन सरकार के हस्ताक्षर भी करवाना चाहते थे। किंतु दक्षिणपंथी मजदूर संघी नेताओं का कहना था कि यदि निकट भविष्य में सब देशों के नेताओं के साथ शांति संधि होना संभव न हो तो जो देश संधि के लिए तैयार हैं उन्हीं के साथ हस्ताक्षर हो जाने चाहिए। जब यह जापान-विषयक विवाद चल रहा था तभी कोरिया का युद्ध छिड़ गया। १९५१

के अंत में, जापानी सरकार ने संसद में जो "तोड़-फोड़ हलचल विरोधी विधेयक" पेश किया था उस पर भी चीं-चपड़ आरंभ हो गयी। यद्यपि सभी गैर-"सोह्यो" मजदूर संघों ने इस विधेयक का विरोध करने में "सोह्यो" का साथ दिया फिर भी वे संसद द्वारा विधेयक पर विचार के दौरान में सरकार-प्रणीत विधेयक के विरुद्ध किसी प्रकार की औद्योगिक हलचल न छेड़ना चाहते थे। किंतु उनमें से कुछ सरकार की राजनीतिक नीतियों के विरुद्ध औद्योगिक संघर्ष अवश्य करना चाहते थे। ये संघ अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र मजदूर संघ प्रसंधान के प्रबल अनुसमर्थक थे। किंतु 'सोह्यो" गुट अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र मजदूर संघ प्रसंधान को पानी पी-पी कर कोसता था और उसे आंग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवाद का पिट्ठू बताता था। उसने अपने १९५२ के वार्षिक सम्मेलन में एक विशाल बहुमत से यह भी निर्णय किया कि वह अंतर्राष्ट्रीय प्रसंधान (महासंघ) से आबद्ध न होगा।

अफ्रीका—दक्षिण अफ्रीका सरकार ने "देसी" (Native) लोगों को जिस राजनीतिक पराधीनता में जकड़ रखा है उसके कारण अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन वहां अधिक प्रगति नहीं कर पाया है। इन कामगारों की आंखें अब केवल अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ पर लगी रहती हैं जो संगठित अथवा असंगठित श्रमिकों के सामान्य हित की रक्षा में चौकस है। जो देश अ० श्र० संघ के सदस्य हैं उनका कर्तव्य है कि वे स्वीकृत अभिसमयों अथवा करारों को शासनादेश प्राप्त प्रदेशों, उपनिवेशों तथा अन्य क्षेत्रों में लागू करें। दूसरा महासमर छिड़ने से पहले, अफ्रीका के जिन देशों में संगठित मजदूर आंदोलन चल रहा था वे मिश्र और दक्षिण अफ्रीका थे। मिश्र के १,५०,००० संगठित कामगार अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान से जुड़े हुए थे। किंतु दक्षिण अफ्रीका के २४,८९८ संगठित कामगार किसी से आबद्ध न थे। न तो उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान से नाता जोड़ा था और न अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ से। वे स्वतंत्र थे।

ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड—अतीत में आस्ट्रेलिया में और कुछ दूर तक न्यूजीलैंड में भी, अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान की तूती बोलती रही। फिलहाल, इन दोनों देशों में वह दिन भी आया जब कम्युनिस्ट और अ-कम्युनिस्ट तत्त्वों के कारण इन मजदूर संघों के भीतर रस्साकशी होने लगी और कम्युनिस्टों की चढ़ती देखकर सरकारों को हस्तक्षेप करना पड़ा।

चीन—जापान, चीन और भारत ऐसे तीन एशियाई देश हैं जिनमें मजदूर संघों का विकास हुआ है और उनके अंतर्राष्ट्रीय संपर्क कायम हैं। जनवादी चीन की स्थापना से चीनी मजदूर आंदोलन विश्व मजदूर संघ संधान (World Federation of Trade Unions) के प्रभाव में चला गया है।

भारत—भारत में मजदूर आंदोलन की कहानी एक पृथक अध्याय में लिखी जा चुकी है। संक्षेप में अखिल भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस (All-India Trade Union Congress), जो एक राष्ट्रीय संगठन है, १९२१ में स्थापित हुई। जब सरकार अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की विभिन्न समितियों और सम्मेलनों के लिए कामगारों के प्रतिनिधियों का चुनाव करती थी तब वह इस संस्था का परामर्श लेती थी। श्रम-नीति की उद्घोषणा के लिए इसके मंच का प्रयोग किया जाता था और वह भारत तथा यूरोप के मजदूर संघ-वाद के बीच कड़ी जोड़े रहती थी।

१९२५ तक अ० भा० मजदूर संघ क्रांग्रेस सैद्धांतिक घिचपिच से अछूती रही और उसका सारा समय कामगारों की सेवा-शर्तों का सुधार करवाने तथा अ० श्र० संघ के सम्मेलनों और समितियों के लिए भारतीय कामगार प्रतिनिधियों का चुनाव करवाने में बीतता रहा। किंतु इसके दो वर्ष बाद, अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक आंदोलन के सैद्धांतिक संघर्षों की छाया अ० भा० मजदूर संघ कांग्रेस पर भी पड़ने लगी। लगभग १९२७ तक इसमें भी दो गुट दीखने लगे—दक्षिणपंथी (जेनेवा और एम्स्टर्डम गुट) और वामपंथी (मास्कोवादी)।

जो सम्मेलन १९२६-२८ के बीच हुए, उनमें अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से आबद्ध होने तथा अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के कार्य में भाग लेने के प्रश्नों पर जबर्दस्त तू-तू, मैं-मैं सुनायी दी। १९२९ में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में, जिसके अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू थे, फूट की अनिवार्य कहानी आंखों के सामने आ गयी।

जिन्होंने तथाकथित दक्षिणपंथी मूल संस्था को छोड़ दिया था उन्होंने एक पृथक् संस्था बना ली जिसे अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फैडरेशन (All-India Trade Union Federation) कहने लगे। निदान, मजदूर संघी एकता उसी नागपुर में अप्रैल १९३८ में स्थापित हो गयी जहां से पहले फूट का बीज बोया गया था। इस संयुक्त अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (United All-India Trade Union Congress) नामक नयी संस्था की अन्य शर्तों में एक विकट शर्त यह थी कि उसे अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संधान (International Federation of Labour) तथा लाल अंतर्राष्ट्रीय मजदूर यूनियन संघ (Red International of Labour Unions) समेत अन्य विदेशी संस्थाओं से आबद्ध करने का प्रयास न किया जाएगा।

दूसरे महासमर से भारतीय श्रम-जगत में एक और फूट का अंकुर फूट निकला। कम्युनिस्टों को छोड़कर, संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सभी तत्वों ने स्वाधीनता-संग्राम में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का साथ दिया और उन्होंने इस कारण जेल की यात्राएं की। इस समय कम्युनिस्टों ने पहले उक्त महासमर को साम्राज्यवादी और फासिस्टवादी पुकार कर उसका विरोध किया

किंतु जब उसमें रूस फंस गया तब फिर उन्होंने साथी देशों का पक्ष लेना आरंभ कर दिया। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने कम्युनिस्टों को जेल से रिहा कर दिया और उन्होंने मौका पाते ही संयुक्त अ० भा० ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर कब्जा कर लिया। परिणामतः भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राजनीतिक विचारों की पृष्ठपोषक है, स्थापित की गयी। आज इस संगठन की सदस्य संख्या सबसे अधिक है। इसके अतिरिक्त एक और अखिल भारतीय मजदूर संस्था है जिसमें समाजवादियों का बोलबाला है। इसका नाम हिंद मजदूर सभा है जिसके उद्देश्य कम्युनिस्टों के उद्देश्यों से बिल्कुल विपरीत हैं। इन दोनों संगठनों का अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र मजदूर संघ संधान से नाता जुड़ा हुआ है। किंतु अ० भा० ट्रेड यूनियन कांग्रेस विश्व मजदूर संघ संधान से ही आबद्ध है।

इन दोनों के अतिरिक्त एक अन्य अखिल भारतीय संगठन है जिसका नाम यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस है। इसमें वे मजदूर संघ शामिल हैं जो किसी अन्य केंद्रीय संस्था से आबद्ध नहीं हैं।

श्रम अंतर्राष्ट्रीयता के विभिन्न रूप

निचोड़ यह है कि अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन का प्रादुर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के आरंभ में माना जा सकता है। इसका इन १२५ वर्षों का इतिहास घटनाओं से परिपूर्ण है। इस अवधि में उसमें विभिन्न प्रकार के मजदूर संघ-वाद, विभिन्न सिद्धांत, विभिन्न सामाजिक कार्यक्रम, रीति-नीति और रंगढंग देखने में आये हैं। उदाहरण के लिए मजदूर संघ-वाद के प्रमुख मॉडल हैं पूंजीवादी, फासिस्टवादी, राष्ट्रीय समाजवादी, समाजवादी और साम्यवादी (Communist) पद्धतियां जिनका उल्लेख "मजदूर आंदोलन का एक तुलनात्मक-अध्ययन" शीर्षक के अंतर्गत अगले अध्याय में किया जाएगा। क्रिश्चियन टाइप तथा सिंडीकलिस्ट (संघ स्वामित्ववादी) सांचे के दो मजदूर संघ-वादों का उल्लेख इसी अध्याय में पहले हो चुका है।

उक्त जिन्स के मजदूर संघ-वादों में फासिस्टवादी तथा राष्ट्रीय समाजवादी (National Socialist) मजदूर संघ-वादों को तो मजदूर संघ-वाद का विपर्यय कहना होगा। उदाहरण के लिए, इटली, जर्मनी और कुछ सीमा तक जापान में, फासिस्ट शक्तियों ने सच्चे मजदूर संघ-वाद की कब्र खोद दी थी। युद्ध पूर्वकाल में इन देशों में संघ केवल मजदूरों में अनुशासन के रख-रखाव के लिए बनी थीं। उन्हें अपने हितों की प्रतिरक्षा करने अथवा हड़ताल करने का अधिकार न था। इसलिए उन्हें मजदूर संघ कहना न्यायसंगत न होगा।

मजदूर संघों के शेष चार विभेद चार विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रतीकस्वरूप हैं : पहला, अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ संधान (International Federation of Trade Unions) है जिसे समाजवादी किस्म का मजदूर संघ-वाद कहना होगा; दूसरा, सर्व-अमेरिकन श्रमिक संघ (Pan-American Federation of Labour) है जिसे निर्दलीय अथवा पूंजीवादी ढंग का मजदूर संघ-वाद माना जाता है; तीसरा, अंतर्राष्ट्रीय क्रिश्चियन मजदूर संघ संधान (International Federation of Christian Trade Unions) है क्रिश्चियन टाइप से मिलता-जुलता है; और चौथा, अंतर्राष्ट्रीय कर्मीजन संघ संधान (International Federation of the Working Peoples' Association) है जो मजदूर स्वामित्ववादी (Syndicalist) ढंग का है। गत महासमर की परिवर्ती घटनाओं के कारण श्रमिक-जगत में दो मुख्य अंतर्राष्ट्रीय संगठन खड़े हो गये हैं—(१) विश्व मजदूर संघ संधान (World Federation of Trade Unions) और (२) अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र मजदूर संघ संधान (International Confederation of Free Trade Unions)। इन दोनों संगठनों की रीति-नीति में स्पष्टतः वही भेद है जो सोवियत गुट तथा अमेरिकन गुट की राजनीति में अंतर है। इन दोनों संगठनों को एकजीव करने के प्रयास निष्फल हो चुके हैं। निदान, यह आशा है कि आगामी दशक में अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन उक्त खाई को पाटने में सफल हो जाएगा और तब संसार के सभी देशों के सब मजदूर संघों का केवल एक संघ हो जाएगा तथा संसार के सब मजदूरों का एक सामान्य हित-पक्ष बन जाएगा।

अध्याय १६

मजदूर आंदोलन का तुलनात्मक अध्ययन

प्रस्तावना

मजदूर आंदोलन और सामाजिक तत्त्व-दर्शन—मजदूर आंदोलन का ऐतिहासिक तथा विवेचनात्मक अध्ययन मानव-संपर्क का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। संसार भर में मानवीय प्रवृत्ति अभिन्न होती है और सभी जगह सर्वकाल में मानव एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य की यही प्रकृति उसे प्रत्येक क्षेत्र में समाज के संगठन और विकास के लिए प्रेरित और उनके नियंत्रण की ओर अभिमुख करती है। सामाजिक जीवन की कड़ियों में परिवार, कबीलों, राज्य तथा विश्व-संगठनों को क्रमश: गिना जाएगा। यदि मनुष्य को परमाणु-शक्ति से अपना संहार नहीं करवाना है तो उसे विश्व-संगठन की दिशा में बढ़ना होगा।

इस दिशा में आगे बढ़ने के विभिन्न तरीके हो सकते हैं। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति से लेकर अब तक जिन विश्व-संगठनों की रचना हुई है उनके मूल में काम करने वाली सामाजिक भावना की पीठ पर औद्योगिक उत्पादन पद्धति का हाथ रहा है। अतएव आधुनिक औद्योगिक समाज में प्रगतिशील शक्तियों की खोज करने से हम विश्व-संगठन के स्वरूप का अध्ययन करने में सफल हो सकते हैं। औद्योगिक पद्धति में सब जगह लोगों को एक-दूसरे पर निर्भर रहना सिखा दिया है; और सहयोग की कला का महत्त्व निरंतर बढ़ता जा रहा है। इसलिए हमारे जमाने में मजदूर संघ सबसे बड़ी आर्थिक संस्थाएं बन गयी हैं और लोकतंत्र का भविष्य मजदूर संघों के भाग्य से जुड़ गया है।

मजदूर संघों के ध्येय—संसार के विभिन्न भागों में मजदूर संघों की रचना, वास्तव में, एक ही ध्येय को लेकर हुई है। यह ध्येय है मजदूरों (संघों के सदस्यों) के हितों की रक्षा करना तथा उनकी कार्यावस्थाओं को सुधरवाना; उनका व्यावसायिक हित उन्नत करना तथा उनके सामान्य मयार को ऊंचा उठाना। किंतु सिद्धांत और व्यवहार की दृष्टि से मजदूर संघ-वाद (श्रम-संघता) एक प्रकार का आंदोलन है जिसने निजी (खासगी) संपत्ति के अधिकारों के

विरुद्ध मोरचा स्थापित कर रखा है। वास्तव में, मजदूर संघ-वाद का आविर्भाव पूंजीवाद के साथ होता है और उसे पूंजीवादी शोषण-दोहन का जवाब माना जा सकता है। इतिहास की पृष्ठभूमि में उसने कोई क्रांतिकारी कार्यक्रम भले ही उपस्थित न किया हो, फिर भी उसका उद्देश्य सदा यही रहा है कि निजी उद्योगपति का उन्मूलन किया जाए। उसने जिस पद्धति को अपनाया है वह हिंसात्मक अथवा संवैधानिक भी हो सकती है; वह क्रमिक अथवा आकस्मिक भी हो सकती है। इन पद्धतियों से विभिन्न श्रम-विचार-धाराओं का उद्गम हुआ है; विभिन्न वाद चल पड़े हैं और उनमें प्रत्येक सामाजिक अव्यवस्था की समस्या का हल प्रस्तुत किया गया दिखाई देता है। उनका प्रभाव समय-समय पर देश-देश में घटता-बढ़ता आ रहा है। परिवर्तन-शील आवश्यकताओं के अनुसार उनके रूप-रंग में भी परिवर्तन होता आ रहा है। स्त्रियों और पुरुषों की इच्छाओं और विचारों ने उन पर अपनी छाप लगायी है। किंतु उन सबसे एक बात दर्पण की भांति स्पष्ट है कि मनुष्य का स्वभाव संगठन बनाने का है और उसका अंतिम ध्येय निजी सम्पत्ति का उत्पादन करना है। इसलिए सभी राजनीतिक दलों और सामाजिक तत्त्वदर्शियों ने आधुनिक औद्योगिक समाज में मजदूर संघों के महत्त्वपूर्ण स्थान को स्वीकार किया है। क्रांतिकारी कार्यक्रम को जीवित रखने के लिए मालिक-मजदूर संघर्ष में जो उग्रता दीखती है उसके मूल में मजदूर संघों की वही सामरिक प्रवृत्ति परि-लक्षित होती है, तथा लोकतंत्र की परंपरा की रक्षा के लिए वही उक्त संघर्ष की बागडोर थामे रहता है।

लोकतंत्रीय देशों में मजदूर संघ बने हुए हैं और उन्हें अपने अस्तित्व के रख-रखाव और काम करने का अधिकार प्राप्त है। उन्हें अपना संगठन करने और काम करने का अधिकार है, किंतु उन पर कुछ कानूनी अंकुश भी होता है। सत्तारूढ़ दल सदा उन्हें अच्छी दृष्टि से नहीं देखता है। चाहे वे सरकारी नीति के विरुद्ध न अड़ रही हों, फिर भी सरकार सदा उन पर अपनी कृपा-दृष्टि नहीं रखती है।[1] वर्तमान दशाब्दी में, ये मजदूर संघ इटली और फ्रांस में सरकारों से निरंतर लोहा लेते रहे हैं। ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया में मजदूर संघ सत्तारूढ़ सरकार का विरोध करते दिखायी देते हैं; और इसमें विचित्र बात यह है कि वे साथ ही अपनी राष्ट्रनिष्ठा की घोषणा गला फाड़कर करते हैं। किंतु स्कॅंडेनेवियन देशों में श्रमिकों और सरकारों में हार्दिक सहयोग जारी है।

ब्रिटेन में मजदूर संघों ने, एक शताब्दी संघर्ष करके, युद्ध के पश्चात् देश की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक रीति-नीति के निर्माण में बहुत-कुछ हाथ बटाया। उस समय लोग आशा करने लगे कि वह समय दूर नहीं है जबकि ब्रिटेन का मजदूर संघ आंदोलन सरकार को निजी सम्पत्ति के विरुद्ध बड़े पैमाने

अमेरिका के १९वीं और २०वीं शताब्दी के इतिहास से पता चलता है कि अमेरिकन जनता में एकाधिपत्य-विरोधी तथा क्रांति विरोधी भावनाएं बात-की-बात में भड़क उठती हैं। अमेरिकन समाज में जो सामाजिक तथा आर्थिक अनुदार भावनाएं देखने में आती हैं। उनके कारण अमेरिकन दोनों प्रकार के उग्रवादियों से आत्मरक्षा के लिए एकदम उठकर खड़ा हो जाता है। संकट-काल में भी, कोई सत्तारूढ़ अमेरिकन सरकार इनमें से किसी उग्रवादी का पक्षपात नहीं कर सकती है। स्पष्ट है कि अमेरिकन जनता को अमेरिकन सरकार में विचित्र प्रकार का अविश्वास रहता है। इसी कारण, श्रमिक भी अमेरिकन सरकार को इतनी कार्यांगीय शक्ति नहीं देना चाहते जो समय पड़ने पर उनके विरुद्ध प्रयुक्त की जा सके। उन्हें भी सरकार के आश्वासनों पर भरोसा नहीं है। वे जानते हैं कि मध्यवर्ग श्रमिकों के किसी क्रांतिकारी कार्य-क्रम के विरुद्ध हो गया तो सरकार संकट काल में, अर्थात् किसी महत्त्वपूर्ण उद्योग में हड़ताल की आशंका के काल में भी, श्रमिकों का परित्राण करने में असमर्थ होगी। १८९० में चिकागो अराजकतावादियों (Chicago Anarchists) की भगदड़ तथा युद्धकालिक लेवेल एक्ट (Level Act) इस बात के दो मुख्य प्रमाण हैं कि अमेरिका का विशाल तथा आत्मनिर्भर मध्यवर्ग जिधर चाहे उधर पासा पलट सकता है। फिर भी अमेरिका के बारे में कोई भ्रांति उत्पन्न न हो जाए, इसलिए यहां कहना होगा कि वहां सर-कारी स्वामित्व की प्रणाली भले ही न हो, वहां मानवीय उदारता का कल्पवृक्ष तो जोरों से फलफूल रहा है।

मार्क्सवाद से प्रेरित होकर मजदूर आंदोलन का जो स्वरूप बना है उसमें अमेरिकन मजदूर संघ आंदोलन ने मेख ठोंक दी है। इस अमेरिकन आंदोलन के कारण उसमें कमियां दिखने लगी हैं। स्पष्ट हो गया है कि मार्क्सवाद पर आधारित श्रमिक आंदोलन में पूंजीवाद की प्रतिरोधात्मक शक्ति को कम कूत लिया गया है और श्रमिकों की क्रांतिकारी भावना को बढ़ाचढ़ा कर देखा गया है। यद्यपि अमेरिकनों के मजदूर संघ की उक्त विशेष भावना के पीछे उनके इतिहास का हाथ है किंतु यह भी मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि उसके मूल में वे मानवीय स्वभाव और भावनाएं काम कर रही हैं जो बहुत गहरी होती हैं और जिनका अस्तित्व इस संसार में अमिट है।

अस्तु, अमेरिका में श्रम को एक निरोधात्मक वातावरण में से निकलना पड़ रहा है। वह उस देश में अल्पसंख्यकों के समर्थन टिका हुआ है। एक शताब्दी तक संघर्ष करने के बाद, उसे श्रमिक आंदोलन की आधारभूत परंपरा-गत समाजवादी वर्ग-चेतना का हाथ छोड़ देना पड़ा है। उसके स्थान में "काम और मजदूरी" की चेतना से प्रेरित शक्तिशाली मजदूर संघ-वाद पैदा हो

गया है। यह स्पष्ट है कि जब मजदूर आंदोलन काम-धंधे की नींव पर खड़ा होता है तभी वह दृढ़ होता है; मजदूरी से पेट भरने वालों को संघ का बिल्ला ही एकता के धागे में पिरोता है। यह एकता राजनीति और सामाजिक विचारधाराओं से नहीं बनायी जा सकती है। दार्शनिक, मजदूर संघों के संगठनकर्ता और अंतर्राष्ट्रीय-संपर्कवादी वे पुरुष हैं जो पहले यहां आकर बसे थे। वे इस विचारधारा के अनुसमर्थक हैं, कि मजदूर संघों के बिना काम नहीं चल सकता है। उनका कहना है कि समाजवाद के संघर्ष में इन संघों से प्रेरणा मिलेगी। किंतु अमेरिकन श्रमिक और लोकमत केवल एकाधिपत्य-विरोधी आंदोलन तक ही सीमित रहते हैं और यदि कोई नेता उस पर राजनीतिक रंग चढ़ाने का प्रयास करता है तो वे उसे मजदूर संघ आंदोलन से बाहर धकेल देते हैं। इस दशा में उनके समाजवादी आंदोलन की ओर पग बढ़ने की ओर बात सोचना व्यर्थ होगा। इसलिए अमेरिका के समाजवादियों का बहुमत मजदूर संघों के उस कार्यक्रम से ऊब गया है जिसमें क्रांति करने की कोई शक्ति नहीं दिखती है। उसने समाजवादी आंदोलन से अपना हाथ खींच लिया है तथा अब वह मजदूर संघों की सेवा में ही लग गया है।

अमेरिका में सामूहिक सौदाकारी का चलन है। यह उनकी एक रचनात्मक सामाजिक विशेषता है। संभव है कि इस प्रक्रिया से वे धीरे-धीरे औद्योगिक स्वराजी का आदर्श वरण कर सकें। यह सभी मानते हैं कि सामूहिक सौदाकारी न तो औद्योगिक जीवन की स्वाभाविक क्रिया है और न भावनात्मक। यह तो बुद्धिजन्म क्रिया है जो सहयोग के लिए विवश करती है। इसलिए एक गुण उपार्जित किया जाता है। सामूहिक सौदाकारी का विकल्प है कि नियम-विनियमों द्वारा औद्योगिक नियंत्रण सरकार के हाथ में रहे। उनसे सेवा की शर्तें निश्चित की जाएं। जबकि अनेक देशों में आर्थिक मामलों का नियंत्रण सरकार के हाथ में जा रहा है, अमेरिका में सामूहिक सौदाकारी की प्रक्रिया का अध्ययन किया जा रहा कि यह एक "लोकतंत्रीय प्रक्रिया है।" श्रमिक तथा प्रबंध दोनों पक्षों ने इसके महत्त्व को स्वीकार किया है और वे आशा करते हैं कि इस पद्धति के परिपक्व ज्ञान से औद्योगिक झगड़ों का निपटारा शांतिपूर्ण समझौतों द्वारा हो जाया करेगा और वह औद्योगिक स्वशासन का निखरा हुआ स्वरूप प्रस्तुत कर सकेगा। सचमुच मजदूर संघवाद का पूंजीवादी मॉडल, जैसा कि अमेरिका में देखने को मिलता है, तटस्थ अथवा निर्दली ढंग का है जिसका मूलसिद्धांत यह है कि मजदूरों को अपनी मजदूरी का ख्याल अवश्य रखना चाहिए और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें सामूहिक सौदाकारी की नीति पर भरोसा करना चाहिए तथा उन्हें राजनीतिक विचारधाराओं से कोई सरोकार न रखना चाहिए।

फासिस्टवादी मॉडल—१९२२ में बेनिटो मुसोलिनी ने लोकतंत्रीय पद्धति के विकल्प में फासिस्टवाद (अधिनायकवाद) का सूत्रपात किया। फासिस्टवाद का दर्शन लोकतंत्र का पूर्ण विलोप है। लोकतंत्र की विचारधारा में राज्य-समेत एक ऐसे समाज की परिकल्पना की गयी है जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता को स्थान प्राप्त है और जिसका लक्ष्य सभी के कल्याण और सुख की साधना होता है। लोकतंत्र में राज्य व्यक्तिगत लक्ष्यों तथा मानवीय व्यक्तित्व के गौरव तथा स्वतंत्रता के परिपोषण का एक साधन होता है। इसमें बहुमत को शासन का अधिकार तथा अल्पमत को उसके शासन के औचित्य तथा क्षमता को चुनौती देने का अधिकार प्राप्त होता है; इससे लोकप्रिय प्रभुसत्ता, समान अवसर तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसी चीजें उद्भूत हुई हैं। परिणामतः लोकतंत्र में राज्य को व्यक्तिगत स्वतंत्रता में हाथ डालने से प्रायः दूर रखा जाता है ताकि समाज के सामान्य कल्याण तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता, दोनों का परित्राण निरापद् संभव हो सके।

इसके विपरीत फासिस्टवाद का कहना है कि व्यक्तिगत ध्येय सामाजिक ध्येय की वेदी पर पूरी तरह निछावर कर देने चाहिए तथा व्यक्ति को बिना चीं-चपड़ राज्य की आज्ञा का पालन करना तथा उसके उद्देश्यों के आगे गर्दन झुका देना चाहिए। वह राजनीतिक अधिकारों के उपयोग तथा राजनीतिक शक्ति के प्रयोग में बहुमत की पद्धति में आस्था नहीं रखता है। युद्धक फासिस्टवादी अल्पमत स्वयं राज्य के स्वरूप का निर्णय करता है तथा राज्य को ही सर्वोपरि मानता है। फासिस्टवाद की दृष्टि में व्यक्ति साधन है और समाज लक्ष्य है। उसका उद्देश्य सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को साधन के रूप में प्रयोग करना होता है। जहां वैयक्तिक अधिकार राज्य के अधिकारों का पोषण होता है वहां तक ही उसे स्वीकार किया जाता है।

फासिस्टवाद के अंतर्गत जिस सरकार की रचना होती है उसमें योग्य व्यक्ति होते हैं जो राज्य के हित के लिए अपने स्वार्थों की परवाह नहीं करते हैं। फासिस्टवाद का चरम रूप वह है जिसमें एक अल्पसंख्यक युद्धक दल के अंतर्गत कोई एक व्यक्ति देश का अधिनायक बन बैठता है। राष्ट्र की प्रशासकीय परिषदों में जनता को कोई स्थान नहीं मिलता है क्योंकि वह अपने स्वार्थ से ऊपर उठने तथा समझबूझकर निर्णय देने में असमर्थ होती है। फासिस्टवाद का कहना है कि प्रशासन की योग्यता बहुत दुर्लभ है और बहुत ही कम लोगों में देखी जाती है।

फासिस्टवाद शांति की निंदा करता है तथा युद्ध को अच्छा बताता है। वह राष्ट्रीकरण को श्रेयस्कर तथा राष्ट्र को महान बनाने के लिए साम्राज्यवाद को उपयोगी कहता है। वह शक्ति को सामाजिक ध्येय प्राप्त करने के लिए एकमात्र

उपकरण मानता है; इसलिए उसे राष्ट्र को युद्ध करने के लिए सदा कमर कसे खड़ा रखना पड़ता है। इस प्रकार के कार्यक्रम में शांति की कोई उपयोगिता नहीं बल्कि उससे उन्नति के मार्ग में रोड़ा पड़ता है।

संसृष्ट फासिस्ट राज्य में संपत्ति पर निजी स्वामित्व को प्रोत्साहन दिया जाता है। निजी उद्यम तथा प्रयास का आदर किया जाता है। किंतु राष्ट्रीय हित सर्वोपरि मानने के कारण, राज्य जब चाहे तब आर्थिक उत्पादन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अथवा कानून बनाकर हस्तक्षेप कर सकता है। उसमें पूंजी तथा श्रम को सामाजिक प्रगति का साधन माना जाता है और उनको अपने आपसी मतभेद हिलमिलकर तय कर लेने चाहिए; या राज्य उनको जो आज्ञा दे उसे शिरोधार्य करना चाहिए। वहां वर्ग-संघर्ष घृणित माना जाता है।

फासिस्ट श्रमिक अधिकारपत्र, १९२६, ने पूंजी तथा श्रम दोनों को उत्पादन अथवा कार्य करने में मनमाने ढंग बरतने से रोक दिया। इसका उद्देश्य एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना करना था। निजी उद्योगों को आर्थिक क्षेत्र का सबसे प्रभावशाली स्तंभ माना गया किंतु उसे राज्य के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया। कामगार आर्थिक उद्योगों के लुढ़कते हुए पहिए अवश्य थे किंतु उनका संचालन मालिकों के इंगित पर होता था, जब तक कि यह दायित्व राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वयं सरकार ग्रहण न कर ले।

हड़तालें और तालेबंदियां बंद कर दी गयीं। मालिकों और कामगारों को कानून का उल्लंघन करने पर जुर्माना देना पड़ता था। दोनों पक्षों के बीच का झगड़ा श्रमिक न्यायालय निबटाते थे। मालिकों और कामगारों ने अपनी कानूनी समानता अक्षुण्ण रखने के लिए अपने-अपने व्यावसायिक संघ बना लिये थे ताकि कार्य-पद्धति और उत्पादन में सुधार हो सके। निगमों को राज्य का ऐसा साधन माना जाता था जो देश के विभिन्न आर्थिक हितों को संगठित कर सके। मालिकों पर राज्य के शोषण और दबाव का पंजा रहता था। इस दशा में न तो मालिकों को और न कामगारों को ही संगठन की यथेष्ट स्वतंत्रता प्राप्त थी। इसलिए इटली में फासिस्टवादी प्रशासन के नीचे मजदूर संघ आंदोलन सरकार के लिए एक कान-पकड़ा बकरा बन गया। वह सरकार के संकेत पर नाचने लगा और सत्तारूढ़ दल की विचारधारा के राग अलापने लगा।

राष्ट्रीय समाजवादी मॉडल—एडोल्फ हिटलर ने १९३३ में जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवाद का सूत्रपात किया जिसके अंतर्गत श्रम-संबंधों में फासिस्टी सिद्धांतों का समावेश था हालांकि उनके कार्यान्वय का ढंग कुछ भिन्न था। देश में जितने स्वतंत्र मजदूर संघ थे उनकी जगह एक संगठन "श्रमिक मोरचा" बना दिया गया जिसका सदस्य बनना व्यवहारतः सब मजदूरों के लिए अनिवार्य था। इसी प्रकार मालिकों के लिए भी एक ही संघ बनाया गया जिसका नाम

था उद्योग और व्यापार सम्पदा (Estate of Industry & Trade)। इन संगठनों का उद्देश्य उभय पक्षों में सद्भावना और सहयोग उत्पन्न करना था जिससे उत्पादन की मात्रा और कोटि में सुधार हो सके।

प्रत्येक जिले में एक सरकारी प्रतिनिधि श्रम-प्रन्यासी (labour trustee) होता था जिसे श्रम-संबंधों में सरकारी अधिकार प्राप्त होते थे। प्रबंधकों और नेताओं द्वारा शक्ति के दुरुपयोग से उद्योगपतियों को कोई खतरा पैदा न हो जाए, इसलिए प्रत्येक संस्थान में एक परिषद होती थी। इन गोपनीय विषय परिषदों (confidential councils) पर श्रम-प्रन्यासी निगाह रखते थे; श्रम-संबंधों तथा अवस्थाओं के बारे में सामान्य नियम जारी करते थे; मजदूरी दरें निश्चित करते थे; यदि किसी भी संस्थान में १० प्र० श० से अधिक श्रमिक बर्खास्त कर दिये जाएं तो उसकी छानबीन करते थे; और श्रम-मंत्रालय के पास अपना प्रतिवेदन भेजते थे। प्रत्येक जिले में प्रन्यासी की मदद के लिए १६ सदस्यों की एक स्थायी परिषद होती थी। किसी भी प्रन्यासी द्वारा सेवा-संबंधों तथा मजदूरी सूची के बारे में जो न्यूनतम व्यवस्था की जाती थी वह मालिकों को अनिवार्यतः मान्य होती थी। प्रन्यासी यह व्यवस्था लागू करने से पहले उद्योगपतियों का परामर्श ले सकता था। किंतु उसको बनाने तथा लागू करने का पूरा दायित्व उसी पर होता था।

सामाजिक प्रतिष्ठा-न्यायालयों (Courts of Social Honour) को मालिक और मजदूरों के मतभेद निपटाने के लिए स्थापित किया गया। चाहे वह मालिक हो या मजदूर, अपना-अपना काम ईमानदारी से करना आत्म-प्रतिष्ठा का विषय बन गया था। प्रत्येक जिले में सामाजिक प्रतिष्ठा-न्यायालय होता था जिसमें एक अध्यक्ष और दो सहायक होते थे। इन सहायकों में एक उद्योगपति तथा दूसरा गोपनीय विषय परिषद का सदस्य होता था। सामाजिक प्रतिष्ठा का उल्लंघन करने पर चेतावनी दी जाती थी तथा १०,००० राइखमार्क तक का जुर्माना भी किया जा सकता था या नेतृत्व से अपदस्थ और गोपनीय विषय परिषद की सदस्यता से हटा दिया जाता था तथा नौकरी से बर्खास्त भी किया जा सकता था। युद्धपूर्वकालिक जर्मनी में इस प्रकार कामगारों तथा मालिकों को एक निश्चित सांचे पर ढाल दिया गया था जिसे फ्यूहरर ने राज्य के लिए उपयोगी ठहराया था। दूसरे शब्दों में, नाजी जर्मनी में सच्चा मजदूर संघ आंदोलन आंखों के सामने से विलुप्त हो गया था हालांकि उसकी असली चिनगारी राख के ढेर में तब भी छिपी रही।

इस प्रकार राष्ट्रीय समाजवादी मॉडल में राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कामगारों को जकड़बंद कर दिया गया और सरकार के आधिपत्य में विभिन्न संघों को मिलाकर एक राष्ट्रीय मजदूर संघ बना दिया गया था।

समाजवादी मॉडल—मार्क्सवाद का मुख्य ध्येय जनता को शोषण से बचाना है। इसलिए वह निजी संपत्ति, स्वतंत्र प्रयास अथवा प्रतियोगिता में विश्वास नहीं करता है। उसका कहना है कि जिस पद्धति में निजी संपत्ति और स्वतंत्र प्रतियोगिता को स्थान प्राप्त है। वह आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विषमता को जन्म देती है। मार्क्सवाद के अनुसार, फासिस्टवाद पूंजीवादी विकास का चरमोत्कर्ष होता है; इसलिए फासिस्टवाद के बाद पूंजीवाद का ह्रास हो गया है। उसका यह भी विचार है कि पूंजीवाद का ऐतिहासिक लक्ष्य समाजवाद का मार्ग प्रशस्त करना ही था।

आरंभ में पूंजीवाद स्वत: सुलभ बाजारों तथा स्वतंत्र प्रतियोगिता के रूप में विद्यमान था। तदनंतर, उसने सामूहिक पूंजीवाद का रूप धारण कर लिया जिसके अंतर्गत दैत्याकार उद्योग-गुट स्थापित किये गये जो औद्योगिक, व्यापारिक तथा आर्थिक कारखानों और सार्थों का संचालन करते थे। इसके अतिरिक्त एक और आर्थिक पद्धति चल पड़ी जिसको अंतर्राष्ट्रीय लूट-खसोट तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार ने सनकार दिया था। यह पूंजीवाद दम तोड़ ही रहा था कि अचानक फासिस्टवाद ने उसको सहारा देकर राष्ट्रीय गौरव तथा शोषणकारी साम्राज्यवाद के स्तंभों पर खड़ा कर दिया। अब धन और दरिद्रता दोनों साथ-साथ उस हद तक बढ़ गयी है कि फासिस्टवाद के विरुद्ध विस्फोट होनेवाला है तथा एक नयी सामाजिक व्यवस्था, जो व्यक्तिगत रूप की नहीं बल्कि सामूहिक रूप की होगी, प्रकट होने वाली है।

आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स के मुख्य सिद्धांतों में यह स्पष्ट कहा गया है कि संसार समाजवाद का सिद्धांत अपनाये बिना नहीं रह सकता है। किंतु जब उन्होंने यह देखा कि उनकी कल्पना के अनुसार स्थिति यथा समय नहीं बदल रही है तब उन्होंने मजदूरों की वर्तमान स्थिति सुधारने के लिए उनका संगठन आरंभ कर दिया। दूसरे शब्दों में, जब तक समाज का ढांचा पूंजीवादी और लोकतंत्रीय उदारतावाद पर निर्भर होगा तब तक उन्होंने भी नियमित मजदूर संघ आंदोलन की आवश्यकता और महत्त्व को स्वीकार किया है।

यद्यपि समाजवाद अंतिम ध्येय निश्चित और स्पष्ट है फिर भी उसके विभिन्न प्रणेताओं में उसके साधनों के बारे में मतैक्य नहीं हो पाया है। सामूहिक प्रयास को समाजवाद का एक साधन इसलिए माना जाता है कि आधुनिक अवस्थाओं को देखते हुए वह एक क्रांतिकारी पग है। किंतु अनेक समाजवादियों का मत है कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हिंसात्मक साधनों का ही सहारा लिया जाए। समाजवाद एक उच्च ध्येय है और उसका मार्ग बनाने के लिए गड़बड़ी पैदा करना ठीक नहीं होगा। यदि लोग समाजवाद को

स्वीकार करते हैं तो उन्हें लोकतंत्रीय साधनों तथा यंत्रों की सहायता द्वारा कानूनी और शांतिपूर्ण ढंग से सामूहिक प्रयास को अपनाना चाहिए। यह लक्ष्य सीधे संघर्ष से प्राप्त हो सकता है या नहीं कहना कठिन है; किंतु सीधे संघर्ष में प्राय: हिंसा होने लगती है, यह सभी जानते हैं। यह भी ठीक है कि हिंसा से समाज-विरोधी तत्त्व पनपने लगते हैं तथा सामूहिक आत्मघात का खतरा पैदा हो जाता है। इसके अतिरिक्त उस पथ से विचलित होने की नीति सर्वनाश का कारण बन सकती। इसलिए प्रतियोगिता के स्थान में सहकारिता के सिद्धांत का सूत्रपात तथा संसदीय समाजवाद द्वारा समाजवाद के लक्ष्य का वरण करना श्रेयस्कर होगा। इसे जनता की सहमति द्वारा क्रांति कहा जा सकता है। इसे हिंसात्मक क्रांति के स्थान में आदर्शवादी सार्वधन (कामनवेल्थ) का प्रारंभिक स्वरूप कहना होगा।

किसी ऐसी क्रांति का नमूना आज तक नहीं देखा सुना गया है जो कि सभी देशों में समान रूप से लागू हो सके। इस दिशा में प्रगति जनता पर ही अधिक निर्भर होती है। देश विशेष की राजनीतिक संस्थाओं और सापेक्षिक सामाजिक जागृति का भी ध्यान रखना होगा।

मजदूर संघ-वाद के स्वतंत्र मॉडल का समाजवाद लोकतंत्रीय समाजवाद के सिद्धांतों पर आधारित होता है। इसके मुख्य स्वरूप ये हैं: औद्योगिक तथा मिश्रित संगठन तैयार किये जाते हैं; मालिकों के साथ सामूहिक करार करने में आस्था होती है; युद्धक हथियार का प्रयोग अंत में ही किया जाता है; कार्यावस्थाओं तथा मजदूरी-दरों के नियंत्रण पर बल दिया जाता है; रक्षाकारी श्रम-विधान तथा सामाजिक बीमा की मांग करते हैं; तथा श्रम को वैधानिक और आर्थिक पद्धति का एक अंग मनवाने की इच्छा होती है। इन लक्ष्यों पर पहुंचने के लिए यह समाजवाद अन्य राजनीतिक, श्रमिक तथा समाजवादी गुटों से सहायता लेने को तैयार रहता है।

साम्यवादी (कम्युनिस्ट) मॉडल—साम्यवाद समाजवाद का सबसे उग्र रूप है और उसके सामाजिक पुनर्निर्माण का स्वरूप बिलकुल भिन्न है। किंतु उसका वही लक्ष्य है जो सामान्य समाजवाद का होता है, अर्थात मजदूरों की कामनवेल्थ (सार्वधन) स्थापित करना। किंतु एक ही लक्ष्य की स्वीकृति का अर्थ यह नहीं है कि उसकी प्राप्ति का साधन भी समान हो। साम्यवाद पूंजीवाद का विनाश बल-प्रयोग द्वारा करना चाहता है और जहां संभव हो वहां श्रमजीवी वर्ग (proletariat) की तानाशाही, जैसी कि रूस में देखने को मिलती है, स्थापित करना चाहता है। दूसरे शब्दों में, कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही स्थापित करना उसका ध्येय है जो प्रतिक्रांति का निरोध कर सके और पूंजीवाद के अंतिम चिन्हों को जड़-मूल से खोदकर फेंक सके। समाजवाद

के विकास का पहला चरण वह होता है जबकि उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों पर आंशिक रूप से समाजवादी ढर्रा लागू कर दिया जाता है और व्यक्ति अपनी योग्यता तथा उत्पादन-मात्रा के आधार पर वेतन पाने लगता है। इसका दूसरा और अंतिम चरण विशुद्ध साम्यवाद होता है जबकि विशुद्ध साम्यवादी जीवन का यह स्वर्णिम नियम — "अपनी योग्यता के अनुसार काम करो; अपनी आवश्यकताओं के अनुसार मजदूरी पाओ," को दृढ़तापूर्वक अमल में लाया जाता है।

मार्क्सपंथियों का कहना है कि संसार के इतिहास में ऐसा एक भी दृष्टांत न मिलेगा जबकि शांतिपूर्ण सांविधानिक पद्धतियों से निजी संपत्ति का अंत कर दिया गया हो। उनका कहना है कि संपत्ति-धारी वर्ग सदा शासक वर्ग होता है और वह सहज में शक्ति का परित्याग नहीं कर सकता। इसलिए उनकी उद्घोषणा यह है कि सामाजिक क्रांति अर्थात् एक वर्ग से शक्ति छीनकर दूसरे वर्ग को देने में शक्ति का प्रयोग करना ही पड़ेगा। उनका यह भी कहना है कि शक्ति-हस्तांतरण के बाद, राज्य में अधिनायकवाद की स्थापना होनी चाहिए जो प्रतिक्रांति से राज्य को सुरक्षित रख सके और बिना हिचकिचाहट के सामाजिक पुनर्निर्माण का कार्य आगे बढ़ा सके।

साम्यवाद में एक ऐसी विश्वव्यापी व्यवस्था की परिकल्पना की गयी है जिसमें पृथक-पृथक, राष्ट्रों का कोई स्थान नहीं होता है। उसमें राज्य का अस्तित्व ग्रहण किया गया है जिसमें श्रमिक वर्ग का अधिनायकवाद होता है। किंतु यह अधिनायकवाद अस्थायी होता है और धीरे-धीरे वह विलुप्त हो जाता है। इस राज्य की नागरिकता का आधार जन्म अथवा सम्पत्ति नहीं; उसका आधार उत्पादन करने तथा अन्य प्रकार की उपयोगी सेवा होती है। प्रत्येक व्यक्ति को उन उद्योगों के प्रसाशन में भाग मिलता है जिनमें वह काम करते हैं। प्रत्येक उद्योग के सदस्यों को अपने दल के काम की देखरेख का अधिकार आवश्यकता के अनुसार प्राप्त होगा। इस क्षेत्र में भौगोलिक अड़चनों को कोई स्थान नहीं दिया जाएगा। अंत में एक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के आविर्भाव की कल्पना की गयी है।

प्रथम महासमर के बाद कहीं-कहीं कम्युनिस्ट मजदूर संघ-वाद का स्वरूप सामने आया। यह स्वैच्छिक संस्था और राज्य-संस्था के बीच का एक मध्यवर्ती मार्ग है। इसकी सदस्यता सिद्धांत रूप से स्वैच्छिक होती है। राज्य ने इसका काम व्यवहार रूप से निश्चित कर दिया है। उस पर श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षा करने तथा मजदूर वर्ग के अधिनायकवाद के लिए उसे तैयार करने का भार है। यह सब आर्थिक और राजनीतिक ढांचा उसी तरह का होना चाहिए जैसा कि सोवियत रूस में देखने को मिलता है।

भारत में अंतर्राष्ट्रीय अनुभव का प्रयोग

समाजवादी ढंग का समाज—भारत ने दिसंबर १९५४ में समाजवादी ढंग से समाज की स्थापना का संकल्प किया। इसके बाद एक ही वर्ष के भीतर उसके बारे में समस्त शंकाओं का समाधान कर दिया गया। अब यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि भारत ने समाजवाद का मार्ग अपना लिया है। प्रधान मंत्री ने भी उद्घोषणा कर दी है कि भारत में ही नहीं बल्कि दुनिया में समाजवाद की स्थापना होना अनिवार्य है। भारत में लोकतंत्रीय ढंग का समाजवाद होगा, इसलिए भारत के मजदूर संघों की रचना राज्य की राजनीतिक विचारधारा पर आश्रित होनी चाहिए। समाजवादी लोकतंत्र में एक-दलीय शासन का कोई स्थान नहीं होता है। चाहे औद्योगिक सहकारी समितियों के कामगार हों या किसान सहकारी समितियों के कामगार हों या मजदूर संघों के कामगार हों, उनको अपनी इच्छा के अनुसार, विभिन्न राजनीतिक दल बनाने और उनमें स्वतंत्रतापूर्वक काम करने का अधिकार होना चाहिए। मजदूर संघों को पूर्ण भाषण-स्वतंत्रता का अधिकार होना चाहिए और उन्हें राजनीतिक तथा आर्थिक उद्देश्यों को लेकर अपना संगठन करने की छूट होनी चाहिए। उन्हें अपने स्कूल, संस्थाएं तथा रेडियो-केंद्र स्थापित करने की भी छूट होनी चाहिए। ये स्वतंत्र संस्थाएं होनी चाहिए। उन्हें राज्य का अनुसमर्थन करना चाहिए तथा साथ ही उन्हें अपने देश की सरकार पर काफी अंकुश भी रखना चाहिए।

रूस में राज्य कामगारों-का-राज्य है। इसलिए कामगार-वर्ग के सभी संगठन राज्य की इच्छा का अनुसरण करते हैं। किंतु समाजवादी लोकतंत्रीय देश में राज्य और सरकार के बीच में भेद होता है। यही कारण है कि भारत राज्य का आदर्श "समाजवाद" होते हुए भी, देश की सरकार के लिए यह संभव है कि वह कामगारों के हितों की जानबूझकर या अनजान में अवहेलना कर दे या ठुकरा दे। इस दशा में केवल मजदूर संघ ही सरकार को उसकी भूल बता सकते हैं और यदि संभव हो तो उसे ठीक कर सकती है या यदि आवश्यक हो तो सत्तारूढ़ सरकार को बदल सकती हैं।

शिल्पिक संघ बनाम औद्योगिक संघ (craft unions *vs.* industrial unions)—विभिन्न श्रेणी के कामगारों में विभाजन-रेखा खींचना बड़ा कठिन काम है।—ब्रिटिश राष्ट्रीय कोयला बोर्ड ने वाइंडिंग-इंजिनमैन के कुछ जिला संगठनों को मान्यता देना अस्वीकार कर दिया था क्योंकि उसके विचार से राष्ट्रीय खान-कामगार संघ उनका प्रतिनिधित्व अधिक अच्छी तरह करते थे। राष्ट्रीकरण के अंतर्गत ब्रिटिश रेलों ने इंजन-ड्राइवरों और फायर-

मेनों के राष्ट्रीय संघ तथा परिवहन वेतनभोगी कर्मचारियों के संघ को अलग-अलग मानना अस्वीकार कर दिया क्योंकि उनके विचार से ड्राइवरों, फायर-मेनों तथा क्लर्कों के अपने-अपने सुसंगठित संघ हैं जो राष्ट्रीय रेलवे कर्मचारी संघ से कहीं अधिक संगठित हैं।

अमेरिकन श्रमिक संघ में २४ राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संघ सम्मिलित हैं जो शिल्पिक आधार पर अथवा अन्य प्रकार से संगठित किये गये हैं। प्रत्येक शिल्पिक संघ को पूर्ण स्वशासनाधिकार प्राप्त है किंतु इसका अधिकारक्षेत्र अमेरिकन श्रमिक संघ द्वारा स्वीकृत अधिकारपत्र द्वारा नियमित हैं। कहा जाता है, इस संघ के प्रत्येक वार्षिक सम्मेलन में इसी विषय पर चर्चा होती रहती है कि किस-किस ने अधिकारपत्र द्वारा निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन किया है। अक्तूबर १९३८ में अमेरिका में औद्योगिक संगठनों की कांग्रेस की स्थापना हुई। यह कांग्रेस ऑव् इंडस्ट्रियल ऑर्गनाइजेशन्स औद्योगिक यूनियनवाद के सिद्धांत पर बनी थी। इसके अनुसार, एक फैक्टरी, एक वर्कशॉप या एक उद्योग में एक ही मजदूर संघ होता है। ब्रिटेन में मजदूर संघ आंदोलन आरंभ से ही शिल्पिक संघ-वाद के आधार पर खड़ा हुआ है और औद्योगिक संघ-वाद (श्रेणीवाद) का जन्म बाद में हुआ। इस प्रकार ब्रिटिश ट्रेडस यूनियन कांग्रेस में आज दोनों प्रकार के संघ पाये जाते हैं।

नोबुल आर्डर ऑव दि नाइट्स ऑव लेबर (Noble Order of the Knights of Labour) की स्थापना १८६९ में हुई थी। दूसरे शब्दों में, अमेरिकन श्रमिक संघ से १७ वर्ष पहले स्थापित हुआ था। इस संगठन ने एक सामान्य संघ बनाने का आंदोलन किया। इसका उद्देश्य कुशल और अनसीखे, दोनों प्रकार के सभी कामगारों की एकता स्थापित करना था। इसका मत था कि यंत्रों ने कामगारों के बीच की दीवार को ढाह दिया है क्योंकि आज के यांत्रिक युग में कुशल और अनसीखे कारीगर अन्योन्याश्रित हैं। औद्योगिक सरकार का पूर्ण स्वरूप वह है जहां कि किसी भी व्यक्ति की हानि सब की हानि के रूप में ग्रहण की जाए। जब यह संगठन अपने ध्येय की प्राप्ति में विफल हो गया तब विभिन्न मजदूर संघों ने उसकी विफलता के कारणों की समीक्षा करनी आरंभ की और यह स्वीकार किया गया कि उक्त ऑर्डर (व्यवस्था) ने इस सत्य की उपेक्षा की थी कि सभी मजदूरों के हित सामान्य होते हैं।

सत्य यह है कि उनके विभिन्न समुदाय होते हैं और उनके सामुदायिक हित पृथक्-पृथक् होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जहां मजदूरों में वर्ग-भावना थोड़ी है वहां विभिन्न मजदूर संघों को आपस में जरूरत से ज्यादा मिला देना हानिकर होता है और ऐसा प्रयास विफल ही होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से, शिल्पिक संघ-वाद की जगह औद्योगिक संघ-वाद के आविर्भाव में आर्थिक और संगठनात्मक आवश्यकताएं काम करती दिखायी देती हैं। आर्थिक आवश्यकता का कारण फैक्टरी-प्रणाली है जिससे प्रबंध से श्रमिक-वर्ग अलग हो गया, मानवीय श्रम का स्थान यांत्रिक प्रक्रियाओं ने ग्रहण कर लिया, निष्ठुर मालिकों ने श्रमिकों का शोषण आरंभ कर दिया, प्रतियोगिता की भावना निरंतर बढ़ती गयी तथा व्यापारिक इकाइयों का आकार बड़ा होता गया। शिल्पिक संघ आधुनिक निगमों तथा विशाल व्यापारिक इकाइयों के सामने तुच्छ प्रतीत होने लगे। इस कारण पुनर्गठन की आवश्यकता पैदा हुई। इस पुनर्गठन का एक कारण यह भी था कि रचनात्मक क्षेत्र में मनुष्य विकास और संगठन का इच्छुक था। किंतु प्रगति में प्रत्येक मजदूर का हाथ होता है, इसलिए दूसरा कारण पहले कारण पर निर्भर मानना चाहिए। आजकल कितने ही मजदूर नेता औद्योगिक संघ-वाद के पक्ष में हैं क्योंकि जो लाखों मजदूर अभी संघों से अनवगत हैं, उन्हें वे उसके भीतर लाना चाहते हैं।

समाजवादियों को औद्योगिक यूनियन-वाद बनाम शिल्पिक संघ-वाद प्रिय हैं क्योंकि उनके विचार से औद्योगिक संघ-वाद द्वारा ही श्रमिक वर्ग की शक्ति बढ़ सकती है और मजदूर संघ आंदोलन का पांव दृढ़ता से जम सकता है। उनकी दृष्टि में संघों द्वारा मालिकों से कार्यावस्थाओं के बारे में समझौता-वार्ता करना उनका एक गौण ध्येय होता है। उनकी दृष्टि में शिल्पिक संघ-वाद वह पद्धति है जो कामगारों की एकता में खपच ठोंक देना चाहता है और उनको छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटना चाहता है। इस प्रकार उससे कामगार-वर्ग पूंजीवादी मालिक-वर्ग के विरुद्ध दुर्बल हो जाएगा। मार्क्सवादियों के मतानुसार शिल्पिक संघों की अपेक्षा औद्योगिक संघों को अधिक सरलता से संयुक्त किया जा सकता है। इसलिए वे शिल्पिक संघों की जगह औद्योगिक संघों के अनुसमर्थक हैं क्योंकि औद्योगिक संघों से सच्ची क्रांति होने की संभावना है। गैर-मार्क्सवादी औद्योगिक संघों को किसी अन्य कारण से पसंद करते हैं। वे कामगारों को उनमें लोकतंत्रीय शासन का स्वप्न दिखाते हैं जो देश में समाजवादी शासन के भीतर स्थापित किया जा सकता है। इन संघों में रहकर कामगार औद्योगिक शासन को अपने हाथ में ले सकेगा। मजदूर संघ-वादी कहते हैं कि इन औद्योगिक संघों द्वारा श्रमिक-वर्ग की सौदा करने की शक्ति भी बढ़ जाती है।

औद्योगिक मजदूर संघ-वाद के पक्षपाती लोग मजदूर संघों के इन सच्चे उद्देश्यों से इतने प्रभावित हैं कि वे कहते है कि औद्योगिक संबंधों को दृढ़ करने के लिए संघों की सदस्य संख्या बढ़ानी चाहिए। यद्यपि आधुनिक उद्योग की नीति कुशल और अकुशल तथा अर्द्ध-कुशल कामगारों के बीच भेदभाव मिटाने की नहीं है फिर भी उसको कम करने की तो है ही। वास्तव में, बात यह है

कि अर्द्ध-कुशल कारीगरों का वर्ग इतना बढ़ गया है कि वह श्रमिक-संसार में अनुपेक्ष्य बन गया है। इसलिए संघों की सदस्य-संख्या बढ़ने का अर्थ यही होगा कि संघों की शक्ति बढ़ जाएगी।

कहना न होगा कि सर्वहारावर्गी देशों को छोड़कर अन्य देशों में शिल्पिक और औद्योगिक सिद्धांतवादी संगठनों के बीच आपसी खींचतान पैदा होना और बढ़ना अवश्यंभावी है। इन संघर्षों को कम करने और निबटाने के लिए लोकतंत्रीय उपचार आवश्यक हैं। कुछ उद्योगों को कुशल शिल्पिकों और प्रविधिकों की जरूरत होती है ताकि वे स्वतंत्रतापूर्वक अपने हितों की रक्षा कर सकें। उस संघ में भी जहां दस्तकार और कार्यालयीन लिपिक इकट्ठे होते हैं उनमें जिसका बहुमत होता है वह अल्पमत वाले की डाह का शिकार हो जाता है और यह डाह संघर्ष को जन्म देती है। कारण यह है कि क्लर्क अपने अधिसमय का वेतन सरलता से प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी ओर, दस्तकार अपने मूल वेतन के आधार पर बोनस पा जाते हैं। दस्तकार क्लर्कों की अपेक्षा अधिक बोनस मांग सकते हैं क्योंकि उनके चालू मजदूरी और निर्वाह-मजदूरी में काफी अंतर होता है। किंतु क्लर्क भी दस्तकारों के बराबर बोनस पाने का दावा कर सकते हैं। इस स्थिति में, लोकतंत्रीय देशों में दस्तकार अपने संघ अलग बना सकते हैं। वे अपने संघ में सम्मिलित हो सकते हैं और जहां उनके हित सामान्य हों वहां क्लर्कों से सहयोग कर सकते हैं। किंतु जहां संघ क्लर्कों का पक्ष ले रहा हो वहां औद्योगिक संघ-वाद के लिए मार्ग साफ होता है: सामाजिक न्याय और लोकतंत्र को अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करनी होगी।

परस्पर-विरोधी आर्थिक हितों के दो गुटों को मिला देने भर से सामाजिक न्याय की गारंटी नहीं हो जाती है। इन गुटों को संयुक्त दबाव डालने के उद्देश्य से नहीं बल्कि अपने सामर्थ्यानुसार त्याग करने की नीति के आधार पर काम करना चाहिए। यदि किसी संगठन में किसी गुट की शक्ति के आधार पर ही सामाजिक न्याय किया जाता है तो अल्पमत का असंतुष्ट होना अवश्यंभावी है। इस प्रकार के अल्पमत के बचाव का ध्यान रखते हुए, कोई भी औद्योगिक संघ-वाद ही श्रेयस्कर होगा।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि संघों का आविर्भाव मूलतः शिल्पिक अथवा औद्योगिक आधार पर हुआ है। शिल्पिक संघों के उत्पादन से व्यक्तिगत कामगारों के गुटों को ही नहीं बल्कि आमतौर पर लोकतंत्र को भी हानि पहुंचेगी। एक अधिनायकतंत्री देश में मजदूर संघ सरकार के "जी-हुजूर" बन सकते हैं। उदाहरण के लिए, १९२६ में रूस के अखिल-संघ केंद्रीय मजदूर संघ-परिषद (All-Union Central Council of Trade Unions) की सातवीं कांग्रेस ने निर्णय किया था कि राज्य में प्रत्येक आर्थिक संगठन का एक मजदूर

संघ होना चाहिए। परिणाम यह हुआ है कि एक संघ का काम एक मंत्रालय से पड़ता है। इसलिए रूस में जब-जब मंत्रालयों की संख्या में परिवर्तन हुआ तब-तब संघों की संख्या भी अपने-आप बदल गयी। १९३० में २३ मजदूर संघ थे। अगले वर्ष उनकी संख्या ४५ हो गयी। १९३४ में १५४ संघ थे जिनकी संख्या पांच वर्षों में बढ़कर १६८ हो गयी। यही संख्या १९४४ में बढ़कर १७६ हो गयी। इसके बाद राज्य का आर्थिक प्रशासन सुव्यवस्थित हो गया जिसके कारण मजदूर संघों की संख्या केवल ६७ रह गयी।

किंतु लोकतंत्रीय देश में रूस जैसी जकड़बंद संभव नहीं है। साथ ही, एक लोकतंत्रीय किंतु समाजवादी राज्य में वैसे उग्रवादी तत्वों को भी प्रोत्साहन नहीं दिया जा सकता है जैसे अभी हाल में संयुक्त राज्य अमेरिका में देखने को मिले हैं। वहां अमेरिकन श्रमिक संघ और औद्योगिक संगठन कांग्रेस में आपस में टक्कर हो गयी थी।

इसमें संदेह नहीं है कि ब्रिटिश तरीका इन दोनों से अच्छा है। ब्रिटेन में प्रमुख शिल्पिक संघ और औद्योगिक संघ ब्रिटिश ट्रेड्स यूनियन कांग्रेस से आबद्ध हैं। जब कभी वहां शिल्पिक संघों और औद्योगिक संघों में कोई टक्कर होती है तब ब्रिटिश ट्रेड्स यूनियन कांग्रेस (ब्रिटिश मजदूर संघ कांग्रेस) अपने प्रभाव से उनका झगड़ा निपटा देती है।

शिल्पिक संघ बनाम औद्योगिक संघ का प्रश्न हल करने के लिए एक ही उपाय दीखता है। इसके अनुसार, प्रत्येक उद्योग का एक औद्योगिक संघ बनाना चाहिए और फिर इन औद्योगिक संघों के भीतर गैर-सरकारी शिल्पिक संगठनों को बना रहना चाहिए। ये शिल्पिक संगठन अपने सदस्यों की विशेष शिकायतों पर ध्यान दिया करेंगे किंतु वे बिना मुख्य संघ की स्वीकृति के कोई स्वतंत्र निर्णय करने में असमर्थ होंगे। ये शिल्पिक संगठन अलग चंदा वसूल नहीं करेंगे। यदि यह पद्धति चल पड़े तो शिल्पिक संघ और औद्योगिक संघ, दोनों साथ-साथ पनप सकते हैं जिससे मजदूर संघ आंदोलन को समिस्ट रूप से बल मिल सकता है।

राष्ट्रीकरण—जो मजदूर संघ समाजवाद के पथ पर चल रहे हैं उनकी एक मांग यह है कि उद्योगों का राष्ट्रीकरण किया जाए। इस शताब्दी के आरंभ में ब्रिटिश ट्रेड्स यूनियन कांग्रेस ने उद्योगों के राष्ट्रीकरण की मांग का अनुसमर्थन किया था जिनमें खानें और रेलें भी शामिल थीं। उस समय राष्ट्रीकरण से यहां तक आशा की गयी थी कि उससे मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति का अंत हो जाएगा, कामगारों का शोषण बंद हो जाएगा और कामगारों को अपने श्रम का संपूर्ण फल मिलने लगेगा तथा कोई भी व्यक्ति दूसरे की पसीने की कमाई को न हड़प सकेगा। किंतु उसी समय कुछ लोगों ने यह आशंका

व्यक्त की कि जो उद्योग सरकार के नियंत्रण में चले जाएंगे उनकी देखरेख का भार सरकारी नौकरशाही पर होगा जिसे मजदूरों के प्रति सहानुभूति कहां हो सकती है। यह नौकरशाही तो मजदूरों से द्वेष तक रख सकती है। इस दशा में मजदूरों की हालत उससे कहीं अधिक खराब होगी जो निजी पूंजीवाद के अंतर्गत दिखती है। निःसंदेह ब्रिटेन में राष्ट्रीय रेलवे कर्मचारी संघ (National Union of Railwaymen) ने इस शर्त पर राष्ट्रीकरण की मांग की थी कि कामगारों के राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों की गारंटी दी जाएगी, उद्योग के सुचारु संचालन में उनका उचित नियंत्रण और दायित्व रहेगा, तथा राज्य के स्वामित्व से जो लाभ उठेगा उसमें उन्हें उचित भाग मिलता रहेगा।

आजकल ब्रिटेन तथा पश्चिमी यूरोप के लोकतंत्रीय देशों में कितने ही मजदूर संघ ऐसे हैं जो इस बात के पक्ष में नहीं हैं कि मजदूरों को जिन उद्योगों में वे काम करते हैं उनके प्रबंध तथा स्वामित्व में भाग दिया जाए। इसकी जगह उनका कहना यह है कि आधारभूत उद्योगों पर, जिनमें जनोपयोग के उद्योग भी शामिल हैं, राज्य का स्वामित्व और नियंत्रण होना चाहिए जो संपूर्ण समाज की ओर से उनके प्रबंध की जिम्मेदारी उठाये। उनकी इस विचारधारा का प्रेरणा-स्रोत यह है कि समाज में अधिकांश लोग कामगार होते हैं जो हाथ या मस्तिष्क से काम करते हैं। इसलिए उनका प्रभाव समाज पर रहेगा और उन्हें जो नीति पसंद होगी उस पर वे राज्य द्वारा अमल करवा ही लेंगे।

राष्ट्रीकरणवर्ती उद्योगों में मालिक-मजदूर संबंध—भारत सरकार ने अभी हाल में जीवन बीमा का जो राष्ट्रीकरण कर दिया है तथा दूसरी पंच-वर्षीय योजना में सरकारी तथा निजी क्षेत्रों की हलचलों में समन्वय की ओर जो रुख दिखाया गया है उससे मालिक-मजदूर संबंधों की नयी उलझनें सामने आ गयी हैं। विदेशों में सरकारों और जनता ने, क्या करना चाहिए, इस बारे में जो अनुभव प्राप्त किया है, उससे बहुत-कुछ सीखा जा सकता है। एक राष्ट्रीकरणवर्ती उद्योग का संचालन किसी सरकारी विभाग या निगम या किसी ऐसे बोर्ड (मंडल) को सौंपा जा सकता है जो किसी मंत्री के प्रति जिम्मेवार हो और जिसकी जिम्मेदारियां राजनियम द्वारा निर्धारित हों। किंतु यहां एक बात उल्लेखनीय है। जब राष्ट्रीकरणवर्ती उद्योग में विवाद छिड़ता है तब सरकार को, मालिक होने के नाते, उस पर निष्पक्ष रूप से विचार करने में कठिनाई अनुभव होती है और करार या पंचाट से उसका निबटारा करना उलझनपूर्ण बन जाता है। इस दशा में, सरकार यह भी नहीं कर सकती है कि वह एक स्वेच्छाचारी शासक बन जाए, और वह स्वयं अपने मामले का पंच बनकर दो-टूक फैसला कर दे। जहां तक कामगारों का संबंध है, उनकी कार्यावस्थाओं

के बारे में राष्ट्रीकरणवर्ती उद्योगों और निजी उद्योगों में कोई विशेष अंतर देखने को नहीं मिलता है। सरकार से एक आदर्श मालिक बनने की आशा की जाती है। इस दशा में यदि सरकारी उद्योगों में सामाजिक न्याय का स्तर निजी उद्योगों के लिए निर्धारित स्तर से नीचा रहता है तो इसके लिए सरकार की खरी-खरी आलोचना सुनकर किसी को चकित नहीं होना चाहिए।

राष्ट्रीकरणवर्ती उद्योगों में लाभ कमाने का उद्देश्य न होने के कारण, उनके कामगारों को किसी प्रकार का असंतोष होने तथा किसी प्रकार के अन्याय के विरुद्ध शिकायत करने का मौका ही नहीं आ सकता है—ऐसा खयाल करना भूल होगी। जब कभी ऐसी शिकायत सामने आये कि सरकार अपने उद्योगों में उन मानकों को अपनाये जो निजी उद्योगों में लागू हैं तो सरकार को समझौते की बातचीत द्वारा उस शिकायत को तुरंत दूर कर देना चाहिए। राष्ट्रीकरणवर्ती (सरकारी) उद्योगों में लाभ कमाने की भावना को तिलांजलि दे दी गयी है, इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसका संचालन व्यापारिक आधार पर नहीं हो रहा है। हां, यह बात ठीक है कि उसके लाभ का वितरण ऐसे ढंग से नहीं किया जाता है जिससे केवल निजी हिस्सेदारों (शेअरहोल्डरों) को मौज उड़ाने का अवसर मिले। यह लाभ तो समूचे समाज की भलाई की दृष्टि से बांटा जाता है। अतः उपभोक्ताओं को सस्ते मूल्य पर चीजें उपलब्ध करने की वेदी पर मोटा लाभ कमाने की नीति का बलिदान कर देना चाहिए।

निजी क्षेत्र में एक ही उद्योग के विभिन्न संस्थानों के भीतर पृथक्-पृथक् नीतियां देखने को मिलती हैं। इसके विपरीत, राष्ट्रीकरणवर्ती उद्योग में, एक ही मालिक के कारण, सर्वत्र समान नीति बरती जाती है। सब कामगारों को एक ही दृष्टि से देखा जाता है। इसलिए संपूर्ण उद्योग में श्रमिकों की कार्यावस्थाओं में एकरूपता होने की अधिक संभावना रहती है। हां, स्थानीय भत्तों में कमीवेशी अवश्य होती है जिसे निर्धारित करने के लिए स्थानीय समितियां होती हैं और उनमें श्रमिकों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। ऊपर से लेकर नीचे तक, सभी स्तरों पर समझौता कराने के लिए उचित व्यवस्था होनी चाहिए। यद्यपि यह तंत्र बहुत बोझिल हो सकता है फिर भी उसकी अपेक्षा है। यदि यह बात स्पष्ट हो जाए कि अमुक विवाद वस्तुतः औद्योगिक झगड़ा नहीं है और वह सरकार को केवल हैरान करने की एक छिपी हुई साजिश है तो ऐसी स्थिति को छोड़कर अन्य स्थितियों में समझौता की बातचीत विफल होने पर कामगारों को हड़ताल करने की छूट देनी चाहिए।

प्रबंध में सांझा—यह बात संसार भर में मान ली गयी है कि कामगारों के हृदय में अपनी मर्यादा ऊंची करने की प्रबल इच्छा विद्यमान है। इस कारण वे उद्योगों के स्वामित्व और नियंत्रण में सांझेदारी की मांग करते हैं। जहां

मालिक का उद्योग की व्यापारिक नीति और आर्थिक नीति पर पूर्ण नियंत्रण कायम है वहां स्वेच्छाचारी औद्योगिक शासन मानना होगा। किंतु लोकतंत्रीय देशों में स्वेच्छाचारी राजनीतिक शासन तक का अंत कब से ही हो चुका है ! इसलिए अब वहां औद्योगिक स्वेच्छाचारिता कब तक चल सकती है ? उसका भी दीपक बुझना ठीक ही है। ज्यों ही कामगारों की सामूहिक सौदाकारी की शक्ति बढ़ जाएगी और ज्यों ही उन्हें संगठन, मान्यता, सामाजिक सुरक्षा, काम के मानकों तथा बुनियादी उद्योगों के राष्ट्रीकरण के क्षेत्रों में सफलता मिल जाएगी त्यों ही उत्पादन-संगठन के क्षेत्र में उनका घुस पड़ना निश्चित है। इसके अतिरिक्त, ज्यों-ज्यों कामगार-वर्ग शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति करता जाएगा त्यों-त्यों वह अपनी मर्यादा को ऊंचा उठाने और अपनी मानवीय प्रतिष्ठा बढ़ाने का अधिकाधिक दावा करने लगेगा। इस समय भारत में मालिक-मजदूर संबंध और कामगार की शिक्षा-दीक्षा अपने शैशव काल में है। किंतु भारत ने समाजवादी समाज की स्थापना को अपना लक्ष्य बना लिया है, इसलिए कामगारों के कर्त्तव्य और पद के बारे में भी नये सिरे से विचार करना होगा। अब मजदूर संघों को सरकारी मान्यता प्राप्त करने तथा अपनी शिकायतें दूर करवाने के लिए हड़ताल का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। अब संघर्ष के स्थान में सहयोग, तथा संघों की नकेल खींचने के स्थान में उत्पादन की कार्यकुशलता बढ़ाने पर बल देना चाहिए। आपसी मतभेद मिलजुलकर परामर्श द्वारा दूर करने के लिए एक व्यवस्था करनी चाहिए। इस व्यवस्था के मार्ग में किसी प्रकार की अड़चन न डालनी चाहिए।

सभी उद्योगों में कार्यावस्थाओं के बारे में एक ऐसी संहिता बनायी जा सकती है जो सबको स्वीकार हो। किंतु इस संहिता के नियमों का अनुसरण करने के लिए कामगारों और मालिकों में आपसी मतैक्य तथा शील होना चाहिए। इसलिए, जहां झगड़ों को शांतिपूर्ण ढंग से हल करने के लिए एक मजदूर-मालिक संयुक्त तंत्र की आवश्यकता है, वहां औद्योगिक नीति बनाते समय सभी स्तरों पर मजदूरों के प्रतिनिधियों से सलाह लेने के प्रौढ़ तरीकों को भी अपनाना चाहिए। जब तक कामगारों को यह कहा जाएगा कि उत्पादन का दायित्व केवल मालिकों के कंधों पर होता है तब तक वे उन कार्यक्रमों के प्रति अधिक लगाव नहीं दिखा सकते जिनसे किसी प्रकार की सामग्री बरबाद न हो तथा काम करने की क्षमता में वृद्धि हो।

अतीत में कामगारों को "उत्पादन-कुशलता" वाक्यांश पर आपत्ति रही है क्योंकि मालिकों ने इसकी ओट में श्रम-बचत के उन तरीकों का सूत्रपात करने की कोशिश की है जिससे बेकारी बढ़ती है, और इन नये बेहतर तरीकों से जो उत्पादन बढ़ा है उसका फल स्वयं भागीदारों (शेअरहोल्डर्ज) की जेबों में चला

गया है। इस प्रकार कामगारों के लिए वही ढाक के तीन पात बने रहे हैं। उनकी कार्यावस्थाओं में कोई सुधार नहीं हुआ है। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश में, जहां की आर्थिक नीति दीर्घकालिक योजनाओं पर अवलंबित रहती है, वहां यदि निर्दिष्ट लक्ष्य पर पहुंचना है तो कामगारों से पूर्ण सहयोग उपलब्ध करना होगा और इसके लिए उचित कदम उठाना होगा। मालिक जो व्यापारिक और आर्थिक नीति बनाते हैं उसकी मुख्य-मुख्य बातें कामगारों को बतानी होंगी और उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में रचनात्मक सुझाव देने का न्योता देना होगा।

इन प्रारंभिक बातों से कामगारों का हृदय जीता जा सकता है। इससे वे समझ लेंगे कि औद्योगिक रीति-नीति के निर्धारण में उनसे कोई बात नहीं छिपायी जाती है। इसके अतिरिक्त उनका पद भी बढ़ जाएगा क्योंकि उद्योग की नीति बनाते समय कुछ हद तक उसमें उनके प्रतिनिधियों को भी शामिल किया जाएगा। इस स्थिति से उत्पादन और मालिक-मजदूर संबंध, दोनों में सुधार होगा। यह एक स्वाभाविक बात है कि किसी चीज के सुधार से उससे संबंधित दूसरी चीजों में भी सुधार हो जाता है।

यदि किसी कम-उन्नत देश में एक योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था की स्थापना करना है तो किसी प्रकार का औद्योगिक संघर्ष न होना चाहिए। इस ध्येय को पूरा करने के लिए मालिकों और राज्य दोनों को चाहिए कि वे मजदूर संघों को अपनी बातें बताएं और औद्योगिक प्रगति का लाभ उनके सदस्यों को उठाने दें, प्रविधिक तरीकों से जो बेकारी फैलती है उससे उनकी रक्षा करें तथा रोजगार बढ़ाने के उन कार्यक्रमों को बढ़ावा दें जिनसे वैज्ञानिकन व्यवस्था से फैलनेवाली बेरोजगारी रोकी जा सके और सबको रोजगार मिलता रहे। विशुद्ध पूंजीवादी अर्थतंत्र में कामगारों को जो सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं, यदि राष्ट्रीय हित के लिए उनमें कमी करना या उनका परित्याग करना आवश्यक है, तो यह अधिकार-बलिदान या अधिकार-त्याग स्वेच्छापूर्वक होना चाहिए। कामगारों को यह विश्वास दिलाना चाहिए कि सरकारी और निजी क्षेत्रों में कोई नीति कामगार संघों और उनके प्रतिनिधियों से सभी स्तरों पर पहले से सलाह लिये बिना न तो बनायी ही जाएगी और न उसको कार्यपरिणत ही किया जाएगा।

भारत में कामगारों को उद्योगों के प्रशासन में भाग देने की बातचीत पहले ही से सुनने में आ रही है। कुछ लोगों का कहना है कि भारतीय कामगारों में प्रशासन में हाथ बटाने की योग्यता आने की कल्पना अभी कुछ वर्षों तक नहीं की जा सकती है। अन्य लोगों का कहना है कि कामगारों को प्रशासन में कुछ-न-कुछ भाग देना अभी से आरंभ कर देना चाहिए ताकि वे भावी दायित्व उठाने के लिए तैयार हो सकें।

यदि हम देश में सच्चे औद्योगिक लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते हैं तो आर्थिक प्रश्नों पर मजदूर संघों की सलाह लेना आवश्यक है। यदि भारत में औद्योगिक लोकतंत्र का आविर्भाव नहीं होता है तो हमारा राजनीतिक लोकतंत्र कोरा दिखावा और कानूनी खानापूरी-मात्र बना रहेगा। देश के स्वतंत्र नागरिकों को राष्ट्र की केवल राजनीतिक सभाओं के चुनाव में ही मत देने का अधिकार न होना चाहिए बल्कि उन्हें राष्ट्र के आर्थिक मामलों पर भी प्रभाव डालने की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए।

अध्याय १७

भारत और अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ

अंतर्राष्ट्रीय संपर्क के इतिहास में फिलाडेल्फिया का अधिकार पत्र (Philadelphia Charter) आज कल जैसा उपयुक्त प्रतीत होता है वैसा पहले कभी नहीं हुआ होगा। इसके ये शब्द भूमंडल में गूंज रहे हैं: "संसार के किसी भी कोने में फैल रही गरीबी शेष संसार की समृद्धि के लिए खतरा है।" राष्ट्रवाद की "अलगाव" की नीति अब आदर्श नहीं मानी जाती है। संसार के विकसित देशों ने यह अनुभव कर लिया है कि यदि वे उन्नति का सुख भोगना चाहते हैं तो यह तभी संभव है जबकि वे अन्य देशों के साथ हिलमिल कर रहें और आपसी सहयोग से काम लें। सब मानते हैं कि अब कोई राष्ट्र अकेला नहीं रह सकता है। प्रत्येक राष्ट्र इस "एक विश्व" का एक अंग-मात्र है; और यदि संसार के किसी भाग में कोई राजनीतिक और आर्थिक उथल-पुथल पैदा हो जाती है तो उसका शेष संसार पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है। समूचे जन-समूह को संतुष्ट करके जो शांति संसार में उपलब्ध की जा रही है वही विश्वव्यापी होगी; और हमें इसी आदर्श का वरण करना है। सामाजिक न्याय के इस ध्येय की प्राप्ति के लिए अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ वर्षों पहले से स्थापित किया जा चुका है।

अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाही के आरंभिक सोपान—अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की स्थापना से पहले, १९वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय संगठन बनाकर विभिन्न देशों के मजदूरों को इकट्ठा करने की चेष्टा की गयी थी। उन दिनों आर्थिक समस्या श्रम-समस्या का पर्याय मानी जाती थी। इसलिए श्रमिकों की दशा सुधारने का प्रयास मुख्य रूप से किया गया। श्रम को संपूर्ण आर्थिक पद्धति की धुरी और "मूल्य का एक मात्र निर्धारक तत्त्व" मान लिया गया। इसलिए कार्यावस्थाओं के सुधार की समस्या विचारनीय बन गयी।

यूरोप में फ्रांसीसी क्रांति और इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति ने यूरोप के औद्योगिक लोकतंत्र का मार्ग तैयार किया। १८१९ में रॉबर्ट ओवेन ने, जो एक गरीब मजदूर से बढ़ते-बढ़ते कपड़ा मिल का सेठ बन गया था, ब्रिटिश संसद में एक विधेयक पास करवाया जिससे बालकों के कारखानों में काम

करने के घंटे नियत हो गये। ओवेन के श्रम-संबंधी सुधारवादी विचारों तथा न्यू लानार्क की अपनी फैक्टरी के अनुभवों ने यूरोपीय देशों तथा इंग्लैंड को आगामी पचास वर्षों तक श्रमिक विधान बनाने में प्रेरणा दी। किंतु श्रम-समस्याएं हल करने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन बनाने का विचार सबसे पहले बेल्जियम के एडवर्ड डकपेटियो (Edouard Ducpetiaux) के मस्तिष्क से निकला था। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाही का स्रोत उक्त लोगों के मानस से फूट कर निकला फिर भी उनकी योजनाओं को मूर्त रूप देने का श्रेय मार्क्स, एंगेल्स तथा बीसवीं शताब्दी के राजनीतिक नेताओं को ही देना पड़ेगा। १८४७ के कम्युनिस्ट घोषणापत्र में मार्क्स और एंगेल्स ने संसार के मजदूरों से अपने अधिकारों के संघर्ष के लिए एकता स्थापित करने की अपील की थी। इसी समय इंग्लैंड, अमेरिका, फ्रांस तथा अन्य यूरोपीय देशों में मजदूरों के दृढ़ संगठनों का आविर्भाव हुआ। "पहली अंतर्राष्ट्रीय" बैठक १८६४ में लंदन में हुई जबकि विभिन्न देशों के श्रमिक वर्गों के नेताओं ने मजदूरों की कार्यावस्थाओं में सुधार तथा उनकी एकता पर विचार किया। यह अंतर्राष्ट्रीय संगठन अधिक दिनों तक नहीं टिक सका क्योंकि उसके नेताओं में फूट फैल गयी और वह १८७२ में भंग हो गया। अब १८९९ में पेरिस में द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज (Second International) की स्थापना हुई किंतु उसकी भी वही गति हुई। वह १९१४ में प्रथम महासमर छिड़ते ही परलोक सिधार गया क्योंकि विभिन्न देशों की राष्ट्रीयता की चट्टान से टकराकर मजदूर-वर्ग की एकता छिन्नभिन्न हो गयी। किंतु इसी समय कामगारों का एक नया अंतर्राष्ट्रीय संगठन बनाने का आंदोलन चल पड़ा। १९१४ में अमेरिकन श्रमिक संघ (American Federation of Labour) ने शांति सम्मेलन (Peace Congress) के साथ-साथ एक ही स्थान पर अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference) आयोजित करने का प्रस्ताव स्वीकार किया। इसमें उनका मुख्य उद्देश्य यह था कि शांति सम्मेलन में कामगारों की भी आवाज उठायी जाए।

इसी अवधि में, रूस की क्रांति ने संसार के मजदूरों को दिखा दिया कि उसने कामगारों की एकता से कहां तक सफलता प्राप्त की है और कहां तक सफलता प्राप्त की जा सकती है। रूस के उदाहरण से अन्य देशों के मजदूरों की आंखें खुल चलीं। जिन देशों में मजदूरों की निर्वाह अवस्थाएं दीन-हीन थीं उन्होंने पूर्ण सामाजिक और आर्थिक सुधारों की मांग आरंभ कर दी। मार्क्स के सिद्धांतों को उन्होंने अपने मार्ग-दर्शन का आधार मान लिया तथा रूस में जो सफलता मिली थी उसके कारण अन्य देशों को मजदूर मार्क्सवाद को अंतर्राष्ट्रीय प्रयोग के लिए ठीक मानने लगे।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का जन्म—जब वार्साई संधि (Versailles Treaty) पर हस्ताक्षर हुए तब समझौता-वार्ता करने वाले देशों तथा उन अन्य देशों में, जिनके साथ उनके व्यापारिक और औद्योगिक संबंध थे, श्रम की व्यवस्था करने का उल्लेख किया गया। कहा गया कि उनमें श्रमिकों के लिए उचित मानवीय अवस्थाएं उत्पन्न की जाएगी। श्रम को सबसे बड़ी सामाजिक शक्ति मानकर श्रमिकों की कार्यावस्थाओं के सुधार की मांग सबकी ओर से की जा रही थी। शांति सम्मेलन की कार्यवाही के दौरान में, १९१९ में, अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक विधान के लिए एक आयोग (कमीशन) नियुक्त हो गया। आयोग को सेवा की अवस्थाओं की जांच करने, तथा राष्ट्रसंघ (League of Nations) के अंतर्गत तथा उसके सहयोग से इस प्रकार की जांच को भविष्य में जारी रखने के लिए एक स्थायी अभिकरण (agency) स्थापित करने के बारे में सिफारिश पेश करने का काम सौंपा गया था। उसने कामगारों की समस्याओं को निबटाने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने की सिफारिश की। फलतः, १९१९ में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का जन्म हुआ।

मार्के की बात यह है कि द्वितीय महासमर के प्रहार से राष्ट्र संघ तथा अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं चूर-चूर हो गयीं किंतु अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ फिर भी अडिग खड़ा रहा। यही एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था ऐसी थी जो द्वितीय महासमर में विनष्ट होने से बच गयी थी। इसकी सफलताएं दर्शनीय हैं। इसका कारण इसकी त्रिदलीय रूपरेखा है जिसमें मालिकों, कामगारों और सरकारी प्रतिनिधियों के एक ही मेज के चारों ओर बैठने की व्यवस्था की गयी है। इस रूपरेखा में ही उसकी शक्ति का रहस्य है। इस कारण ही अं० श्र० संघ जीवित बना रहा है। यद्यपि समय-समय पर कितने ही देशों में सरकार का रूप-रंग बदलता रहा है फिर भी जो लोग सत्तारूढ़ हुए उन्होंने शांति और समृद्धि के ध्येय से कभी मुख नहीं मोड़ा। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का तो आधार ही अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा का अनुरक्षण करना है; इसलिए इस संस्था पर, हवा का रुख किसी भी दिशा को क्यों न रहा हो, आंच नहीं आने पायी। किसी देश ने कोई भी राजनीतिक विचारधारा क्यों न अपनायी हो, उसने अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ को स्वीकार करने में आनाकानी नहीं की।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के उद्देश्य और लक्ष्य—अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के लक्ष्यों का समावेश हमारे संविधान की प्रस्तावना में है जिसके अनुसार केवल सामाजिक न्याय के आधार पर ही शांति की रक्षा की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, काम के घंटे नियत करने से, बेरोजगारी के फैलाव को रोकने से,

पर्याप्त निर्वाह-मजदूरी, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा की व्यवस्था करने से, बिना भेदभाव समान काम के लिए समान वेतन देने से, तथा संगठन बनाने की स्वतंत्रता का सिद्धांत मानने से, शांति उपलब्ध की जा सकती है।

पिछले दो दशकों में अंतर्राष्ट्रीय अवस्थाओं में भारी परिवर्तन हुआ है और द्वितीय महासमर से नयी-नयी समस्याएं पैदा हो गयी हैं। इसके अतिरिक्त, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ को अपने काम-काज की अवधि में यह अनुभव हुआ है कि इस संस्था में सुधार किया जा सकता है। फिलाडेलफिया में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के २६वें अधिवेशन में उसके उद्देश्यों और लक्ष्यों का पुनर्निरूपण किया गया। इसकी पुष्टि की गयी कि श्रमिक कोई पण्य-पदार्थ नहीं है; और उन्नति तथा प्रगति के लिए संगठन बनाने तथा विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता होना आवश्यक है। हमारे ध्येय हैं सर्व-कल्याण और सर्व-समृद्धि और उनको वरण करना अभीष्ट है।

यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह किसी जाति, धर्म या लिंग (sex) का क्यों न हो, स्वतंत्रता तथा आत्मप्रतिष्ठा और आर्थिक सुरक्षा तथा समान अवसर के वातावरण में अपनी भौतिक समृद्धि तथा आध्यात्मिक विकास की रक्षा करने का अधिकार प्राप्त है—यही राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय नीति का मेरुदंड होना चाहिए।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का ढांचा—अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के तीन अंग हैं। पहला अंग उसका अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन है जो प्रति वर्ष एक बार होता है और जिसमें सदस्य-देशों की सरकारों, उद्योगपतियों तथा कामगारों के प्रतिनिधियों को, बिना उनकी आंतरिक गुटबंदी के, समान हैसियत से स्थान मिलता है। इसका दूसरा अंग है उसकी शासन परिषद् (Governing Body), जिसमें दस प्रमुख औद्योगिक देशों के प्रतिनिधि होते हैं। ये प्रतिनिधि निम्नांकित अनुपात से नियुक्त होते हैं : सरकार २, मालिक १ तथा कर्मचारी १। इसका तीसरा अंग है अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय जो संपूर्ण संघ के कामकाज का संचालन करता है।

विभिन्न अभिसमय (conventions) और सिफारिशें (recommendations) अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के सामने आती हैं। इन अभिसमयों और सिफारिशों (अभिस्तावों) में कुछ भेद होता है। सदस्य-देश द्वारा स्वीकृत होने पर अभिसमय का परिशीलन करना अनिवार्य हो जाता है; किंतु सिफारिश फिर भी उसके लिए एक "सिफारिश" ही रहती है जिसे वह अपनी आर्थिक तथा सामाजिक क्षमता के अनुकूल आंशिक रूप से स्वीकार कर सकता है।

१९५६ के अंत में, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के सदस्य-देशों की संख्या ७६ थी। द्वितीय महासमर के बाद जो मुख्य देश उसके सदस्य बने उनके नाम हैं : जर्मनी गणतंत्र संघ, इटली, जापान और सोवियत रूस।

अं० श्र० संघ और भारत—राष्ट्रसंघ का सदस्य होने के नाते भारत ने प्रथम वाशिंगटन श्रम-सम्मेलन में अपना त्रिदलीय प्रतिनिधिमंडल भेजा था। यह सम्मेलन अक्तूबर १९१९ में हुआ जिसने श्रम-संबंधी प्रस्तावित करारों और सिफारिशों पर विचार किया। अतः जब से अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ बना है तब से ही भारत उसका सदस्य है। भारत संसार के दस बड़े औद्योगिक देशों में गिना जाता है। इस कारण उसे संघ की शासन परिषद् में स्थायी स्थान प्राप्त है।

भारत की दृष्टि से, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की स्थापना विशेष महत्त्वपूर्ण है। अं० श्र० संघ के संविधान में लिखा है कि संघ के सम्मेलन में भाग लेने के लिए कामगारों तथा मालिकों के जो प्रतिनिधि भेजे जाएं उनका चुनाव व्यापक रूप से प्रतिनिध्यात्मक औद्योगिक संगठनों, अर्थात् क्रमशः कामगारों के संगठनों तथा मालिकों के संघों द्वारा किया जाना चाहिए। किंतु जब प्रथम अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन हुआ तब भारत में कामगारों का कोई केंद्रीय संगठन न था। अतः भारत सरकार ने कामगारों से सलाह लिये बिना ही उसके मजदूर-प्रतिनिधि नामजद कर दिये थे। मजदूरों द्वारा इस सरकारी रवैये का विरोध किया जाना स्वाभाविक था। उन्होंने सरकार के इस आचरण को असांविधानिक बताया था। इतना ही नहीं, उन्होंने अब भारतीय श्रमिक-वर्ग को दृढ़ता से संगठित करने का फैसला किया। जब अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के लिए मजदूर-प्रतिनिधि नियुक्त करने का प्रश्न सामने आया तब उस पर विवाद छिड़ गया और इस प्रकार अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की रचना के लिए शीघ्र कदम उठाया गया। किंतु अ० भा० ट्रेड यूनियन कांग्रेस के ध्येय की इतिश्री अं० श्र० संघ के लिए प्रतिनिधि चुनने तक ही नहीं हो जाती थी। उसके सामने इससे कहीं अधिक व्यापक लक्ष्य था। भारत में उसके नेताओं ने ताड़ लिया था कि अं० श्र० संघ के मंच से भारतीय मजदूरों की शिकायतें दूर करवाने तथा उनकी आवाज उठाने का अवसर हाथ लग जाएगा। इसके अतिरिक्त, वे भारत सरकार पर परोक्षरूप से इस बात के लिए दबाव डालना चाहते थे कि संघ का सदस्य होने के कारण यह देश उसके अभिसमयों और सिफारिशों को यथासंभव अधिकाधिक संख्या में स्वीकार कर ले।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ और भारत के आपसी संबंधों पर प्रकाश डालने के लिए उन अभिसमयों और सिफारिशों की संख्या देना पर्याप्त होगा जो भारत ने स्वीकार कर लिये हैं और जिन पर उसने आचरण किया है। अपने जीवन के साढ़े तीन दशकों में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने श्रम-समस्याओं के बारे में कितने ही विभिन्न मानक स्थिर किये हैं। १९५६ के अंत तक अं० श्र० संघ ने १०३ अभिसमयों और ९७ सिफारिशों को स्वीकार किया। भारत ने १९५६ के मध्य तक २३ अभिसमय स्वीकार किये। यद्यपि संख्या की दृष्टि से यह कोई बड़ी

बात नहीं है फिर भी एशियाई देशों में इतनी अधिक संख्या में अभिसमयों (करारों) को स्वीकार करनेवाला देश अकेला भारत ही है, और इस दृष्टि से, संघ के ७६ सदस्य-देशों की सूची में भी भारत का २८वां स्थान है। इसके अतिरिक्त ऐसे कई अभिसमय हैं जिन्हें यद्यपि भारत ने औपचारिक रूप से स्वीकार नहीं किया है फिर भी उसके विधि-विधानों में उनकी भावना अंतर्भुक्त है और उनका अनुशीलन भी हो रहा है। यहां इस विषय में यह भी लिखना आवश्यक होगा कि अं० श्र० संघ के उक्त करारों में कितने ही करारों की रचना उन उपनिवेशों और पराधीन प्रदेशों को ध्यान में रख कर की गयी है जहां विशेष प्रकार की राजनीतिक अवस्थाओं का बोलबाला है और इस कारण स्वाधीन भारत पर वे लागू ही नहीं हो सके।

अं० श्र० संघ के अभिसमयों का भारतीय श्रम पर प्रभाव—स्वाधीनता के बाद भारत में श्रम-विधान में बहुत प्रगति हुई है। दूसरे महासमर से पहले ही भारत में श्रम-संबंधी कानूनों की कमी न थी। अतः उस राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक धरातल पर तेजी से बढ़ने में किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा।

काम के घंटे (उद्योग) अभिसमय (नं० १) [Hours of Work (Industry) Convention (No. 1)] १९१९ को अपनाने से पहले कुछ प्रगतिशील देशों ने कानून बनाकर फैक्टरियों में काम के घंटे नियत कर दिये थे। किंतु उन कानूनों का अनुशीलन उचित रूप से न होता था। फिर भी सभी देश काम के घंटे नियत करने के लिए कानून बनाने का आंदोलन कर रहे थे। उनका कहना था कि इस प्रकार के कानून से ही श्रमिकों का शोषण बंद हो सकेगा। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने जो प्रथम अभिसमय स्वीकार किया वह काम के घंटे नियत करने का था। यह अभिसमय १३ जून १९२१ को स्वीकृत हुआ और इसके अंतर्गत कुछ अपवादों के साथ, सभी सरकारी अथवा निजी उद्योगों में काम करनेवाले लोगों के दैनिक काम के घंटे ८ तथा साप्ताहिक ४८ कर दिये गये। भारतीय फैक्टरी अधिनियम में १९२२ में संशोधन करके उक्त अभिसमय के सारभूत तत्त्व का उसमें समावेश कर दिया गया। इसके बाद फैक्टरी अधिनियम (Factory Act) १९४८ में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के औद्योगिक स्वास्थ्य रक्षा के सारभूत सिद्धांतों का जितना समावेश भारतीय स्थिति के अनुसार किया जा सकता था, उसमें कर दिया गया। १९५४ में उस अभिसमय को भी ग्रहण कर लिया गया जिसके अनुसार स्त्रियों और बालकों को फैक्टरियों में रात को काम नहीं करने दिया जाता है। फिलाडेल्फिया-घोषणा में यह अंकित है कि जिन देशों में सामाजिक सुरक्षा कानून, बुनियादी आय की व्यवस्था तथा व्यापक चिकित्सा-प्रबंध

की आवश्यकता है उनमें ये चीजें उपलब्ध करवाना अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का पवित्र कर्त्तव्य बन गया है। भारत में कर्मचारी राज्य बीमा निगम की स्थापना इसी कारण हुई है। किंतु सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा योजनाओं का देश में इतने बड़े पैमाने पर फैलाव होना चाहिए जिससे संविधान में निर्दिष्ट मौलिक अधिकारों की गारंटी दी जा सके।

पहले कहा जा चुका है कि अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ द्वारा स्वीकृत अभिसमय तथा भारत द्वारा अंगीकृत अभिसमयों के कारण इस देश में मजदूर संघ आंदोलन को बल मिला है। उदाहरण के लिए, जब भारत ने संगठन बनाने की स्वतंत्रता का अभिसमय अंगीकृत कर लिया तब मजदूरों की एक मर्यादा बंध गयी और मजदूर संघों के प्रति व्यवहार करने में पहले से अच्छी समझबूझ दिखायी जाने लगी।

भारतीय श्रमिकों को सांविधानिक गारंटी—भारतीय संविधान ने फिलाडेल्फिया-घोषणा की श्रम-संबंधी अनेक धाराएं स्वीकार कर ली हैं। संविधान के अनुसार, राज्य विशेषकर एक ऐसी नीति का संचालन करेगा जिससे नागरिकों को, स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से, आजीविका के पर्याप्त साधनों का अधिकार प्राप्त रहे, जिससे समाज के भौतिक स्रोतों के स्वामित्व तथा नियंत्रण का वितरण ऐसे उत्तम ढंग से हो कि उससे सर्वसाधारण का भला होता रहे, जिससे आर्थिक प्रणाली का संचालन ऐसा न हो कि पूंजी और उत्पादन के साधनों का केंद्रीकरण सर्वसाधारण की प्रगति को अवरुद्ध कर दे, जिससे समान काम के लिए स्त्रियों और पुरुषों को समान वेतन मिलता रहे, जिससे कामगारों—स्त्रियों और पुरुषों तथा छोटी आयु के बालकों के—स्वास्थ्य तथा बल का दुरुपयोग न हो सके, तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिक उन व्यवसायों को न अपना सकें जो उनकी अवस्था और शक्ति के लिए उपयुक्त नहीं हैं, जिससे बालावस्था और युवावस्था को शोषण का शिकार होने से बचाया जा सके तथा नैतिक और सांसारिक जीवन से पराङ्मुख होने से रोका जा सके।

राज्य ने न्याय्य और मानवीय कार्यावस्था, प्रसूतिकालिक आर्थिक सहायता तथा निर्वाह-मजदूरी के मूलभूत अधिकार की गारंटी दे रखी है। राज्य उचित विधान अथवा आर्थिक संगठन द्वारा अथवा अन्य प्रकार से खेतिहर, औद्योगिक अथवा अन्य प्रकार के सभी कामगारों के लिए निम्नांकित चीजें उपलब्ध करने की कोशिश करेगा : कामधंधा, अच्छे ढंग से जीवन बिताने के लिए उपयुक्त कार्यावस्थाएं, अवकाश तथा सामाजिक और सांस्कृतिक क्रियाकलाप का पूर्ण उपभोग। इसके अतिरिक्त, राज्य विशेष रूप से ग्राम्य क्षेत्रों में व्यक्तिगत अथवा सहकारी आधार पर कुटीर उद्योग बढ़ाने का प्रयास करेगा।

खेतीबारी के प्रति अं० श्र० संघ की नीति—भारत को अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ से यह शिकायत है कि अं० श्र० संघ की संहिता में इस देश के सबसे बड़े उद्योग अर्थात् खेती में कार्यावस्था तथा जीवनावस्था सुधारने के लिए कुछ नहीं कहा गया है। खेती के बारे में कुछ अभिसमय अवश्य हैं किंतु वे भारत की विचित्र अवस्थाओं पर लागू नहीं हो सकते हैं। भारत खेती के इन करारों को अंगीकार क्यों नहीं कर पाया है, इसका कारण है उसकी भूमि-व्यवस्था, जमींदारों (landlords) और किसानों के बीच खेती के ठेकों की प्रणाली, इस उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में विभिन्न सामाजिक अवस्थाएं और उनके कारण प्रशासकीय उलझनें जिससे एक ही कानून सबके लिए पर्याप्त नहीं हो सकता है।

एशियाई समस्याओं पर अं० श्र० संघ का ध्यान—युद्धोत्तर काल में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की एक महत्त्वपूर्ण गतिविधि यह बन गयी है कि उसने एशिया के प्रदेशों की आर्थिक और सामाजिक दशाओं का गहन अध्ययन आरंभ कर दिया है। इस प्रकार वह इन प्रदेशों के अधिक निकट आना चाहता है। दूसरे महासमर से पहले अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की आलोचना इस बात के लिए सदा की जाती थी कि वह अपना अधिकांश समय और ध्यान पश्चिमी देशों पर ही देता है और पूर्व के कम-उन्नत देशों की अवहेलना करता रहता है। नयी दिल्ली में जो आरंभिक एशियाई प्रादेशिक सम्मेलन (Preparatory Asian Regional Conference) १९४७ में हुआ था उसने एशियाई विषयों पर शासन परिषद को सलाह देने के लिए त्रिदलीय आधार पर एक एशियाई सलाहकार समिति (Asian Advisory Committee) बनायी थी। तदनंतर, प्रादेशिक प्रविधिक बैठकें सुधार के कार्यों पर विचार करने और उनका सुझाव देने की दिशा में महत्त्वपूर्ण काम करती रहीं।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ पिछड़े और कम-उन्नत देशों के मजदूरों की स्थिति के सुधार के लिए कहां तक ठोस सेवा कर रहा है, इस ओर पूर्व के अनेक नेताओं का ध्यान जाना स्वाभाविक है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने प्रगतिशील देशों में कामगारों का जो श्रम-मानक स्थिर किया है वह पिछड़े क्षेत्रों में फिलहाल नहीं अपनाया जा सकता है। यह बात बारंबार दोहरायी जा रही है। अं० श्र० संघ के संविधान के १९वें अनुच्छेद में उन देशों का उचित ख्याल किया गया है जिनके जलवायु, अधूरे औद्योगिक संगठन तथा अन्य विशेष परिस्थितियों के कारण औद्योगिक विकास में प्रौढ़ता नहीं आयी है। इन देशों के श्रम-मानक में उसने संशोधन की अनुमति दे दी है। एशिया में अनेक देशों के स्वाधीन होने के बाद, इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है कि प्रगतिशील देशों में समान श्रमिक विधान बनाकर लागू किये जाएं और इस अभीष्ट परिवर्तन के लिए अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने सराहनीय काम किया है।

अं० श्र० संघ की भावी हलचलों का क्षेत्र—अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ आगामी वर्षों में पिछड़े देशों की उन्नति के लिए क्या कर सकता है, इस विषय पर काफी विचार-विनिमय हुआ है। वह पूर्वी गोलार्द्ध में आवश्यक समस्याओं को लगन से अपने हाथ पर लेता आ रहा है, यह जानकर सबको हर्ष हो रहा है। एशियाई प्रादेशिक श्रम सम्मेलन, १९४७, द्वारा उसकी रुझान भारत, चीन और जापान की ओर हो जाने से उसकी नीति में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ आया है। परमाणविक शक्ति के औद्योगिक प्रयोग तथा स्वचालित प्रक्रिया से जो नयी प्रौद्योगिक प्रगति सामने आयी है उसका अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में क्या सामाजिक प्रभाव पड़ेगा उसका अध्ययन किया जा रहा है ताकि समय की गति तालमेल बैठाया जा सके।

कामगारों को शिक्षा देने का भी एक कार्यक्रम होना चाहिए। उन्हें सामाजिक अवस्थाओं और समस्याओं का ज्ञान करवाना चाहिए ताकि वे समुचित रीति से उनका सामना कर सकें। श्रमिकों और प्रबंध के आपसी संबंधों पर जो नया बल दिया जा रहा है, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ उसका गंभीरता-पूर्वक अध्ययन कर रहा है। वह सोच रहा है कि उद्योगों में श्रमिक-प्रबंध सहयोग तथा बेहतर मानवीय संबंधों की उन्नति के लिए कार्यक्रमों में क्या संशोधन करना चाहिए। वे औद्योगिक समितियां जिनमें सरकारों, मालिकों और कामगारों के प्रतिनिधि साथ-साथ बैठकर संसार के बड़े-बड़े उद्योगों की व्यावहारिक समस्याओं पर सोचविचार करते हैं, बहुत उपयोगी प्रमाणित हो रही हैं। इनमें सूती मिलों, रासायनिक द्रव्यों तथा चाय, आदि के उद्यानों जैसे बड़े उद्योगों में उत्पादिता, श्रम-व्यवस्था, सुरक्षा और स्वास्थ्य के विषयों पर विचार किया गया था। एक और अन्य विषय जिस पर अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के विशेषज्ञों ने अत्यंत उपयोगी ज्ञान प्रदान किया है वह है व्यवसायिक प्रशिक्षण।

उपसंहार—यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ एक प्राचीनतम अंतर्राष्ट्रीय संस्था है फिर भी उसे एशिया में अभी तक कोई बड़ा नाम नहीं मिला है; और एशियाई लोकमत अभी तक उसकी पीठ पर बहुत दृढ़ नहीं हो पाया है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि एशियाई देशों में मुख्य व्यवसाय खेतीबारी है और अं० श्र० संघ ने अभी खेतिहर श्रमिकों की स्थिति पर यथेष्ट विचार नहीं किया है। इससे इन देशों के ख्याल से उनके हितों की अवहेलना की जा रही है। इसलिए एक एशियाई प्रादेशिक केंद्र (Asian Regional Centre) स्थापित करने की बड़ी आवश्यकता पैदा हो गयी है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की वर्तमान भारतीय शाखा को उक्त प्रस्तावित एशियाई प्रादेशिक कार्यालय का आरंभिक स्वरूप दिया जा सकता है।

किंतु हमें यह न भूलना चाहिए कि अंतर्राष्ट्रीय श्रमसंघ ने एशिया में, विशेषकर भारत में, श्रम-संबंधी बृहद् योजनाओं को प्रविधिक सहायता देकर बेहतर कार्यावस्थाओं की व्यवस्था करने में बहुत दूर तक हाथ बटाया है। इसलिए यह भारत का कर्तव्य है कि वह राष्ट्रीय तथा अं० श्र० संघ के योगदान का उचित प्रचार करे। एशियाई देशों की सरकारों को भी जानना चाहिए कि वह अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ का अनुसमर्थन एक तरीके से अच्छी तरह कर सकती हैं कि वे अपनी देसी अवस्थाओं को दृष्टि में रखकर संघ के अभिसमयों और सिफारिशों को यथासंभव अधिकाधिक संख्या में अपनाने का प्रयास करें।

अध्याय १८

अतीत और भविष्य

पिछले अध्यायों में भारतीय उद्योगों की श्रम-समस्याओं के विभिन्न स्वरूपों के बारे में काफी लिखा जा चुका है। इस ग्रंथ में मजदूर संघ आंदोलन के आविर्भाव और उत्थान का इतिहास दिया गया है; और साथ ही अंतर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि का वर्णन करते हुए मालिक-मजदूर संबंधों के विकास की कहानी भी कही गयी है ताकि अतीत और वर्तमान काल की घटनाओं का निचोड़ निकालकर उसके सहारे सुखमय भविष्य की नींव डाली जा सके। आशा है कि मजदूर संघ आंदोलन और मालिक-मजदूर संबंधों का विकास कभी उस सीमा पर पहुंच जाएगा कि उससे अंत में "उद्योगों में शांति" स्थापित होकर ही रहेगी। जो देश अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए अपना औद्योगिक ढांचा बनाने में लगे हुए हैं उन्हें इस शांति की सचमुच ही बहुत आवश्यकता है।

पिछले तीन दशकों से भी अधिक काल से भारत में मजदूर संघ आंदोलन पनप रहा है। किंतु इस अवधि में उसकी गति बहुत धीमी रही है। इस तथ्य को सभी स्वीकार कर रहे हैं। इसका कारण अतीत काल में भारत की राजनीतिक पराधीनता बताते हैं जिससे मजदूरों को संघटन की यथेष्ट स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकी। इसका देश की आर्थिक प्रगति पर बुरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त, मालिकों की रुझान भी श्रमिक-एकता की ओर अधिक न थी। वे मजदूर संघों को संदेह और अविश्वास की निगाह से देखते थे। आज भारत के स्वाधीन होने पर भी इस स्थिति में अधिक सुधार नहीं हुआ है। मजदूर संघों का नेतृत्व जिन लोगों के हाथ में है वे विभिन्न राजनीतिक विचार-धाराओं के अनुयायी होने के कारण आपसी तू-तू, मैं-मैं में अधिक फंसे रहते हैं, जिससे रचनात्मक कार्यों की ओर उनका यथेष्ट ध्यान नहीं जाता है। देश के औद्योगिक इतिहास की इस बेला में मजदूर आंदोलन की भीतरी फूट से उसके प्रति सामान्य मजदूर की आस्था को ठेस पहुंचाना स्वाभाविक है। यदि आंदोलन को मजदूरों के प्रति अपना कर्त्तव्य निबाहना है तो उसे लोकतंत्रीय सिद्धांतों के आधार पर सब मजदूरों को संगठित करके शक्तिशाली बनाना चाहिए और उनके योगक्षेत्र के लिए आवश्यक पग उठाना चाहिए।

इस समय मजदूरों को भी यह बात न भूलनी चाहिए कि निष्ठावान नागरिक होने के नाते देश के प्रति उनका भी कुछ कर्त्तव्य है। मालिक-मजदूर संबंध मधुर और शांतिपूर्ण बनाये-रखने के लिए उन मजदूरों के कंधों पर भी मालिकों के समान ही भार है जो उद्योगों की धुरी को धारण किये हुए हैं। उन्हें अधिकारों और रियायतों के उपभोग से पहले कर्त्तव्यों और दायित्वों को निबाहने की चेष्टा करनी चाहिए।

देश के स्वाधीन होने के बाद भारतीय मजदूरों ने औद्योगिक झगड़ों को निबटाने के लिए सामूहिक सौदाकारी तथा स्वैच्छिक समझौता-वार्ता का मार्ग न अपनाकर, अनिवार्य पंचाट अथवा सरकारी हस्तक्षेप का सहारा लिया है। इसका अर्थ यह है कि मजदूर समझौते के लिए आपस में सीधी बातचीत न करके एक बाहरी सत्ता पर भरोसा करने लगे हैं। उनकी इस परमुखापेक्षी प्रवृत्ति को अनुत्साहित करना चाहिए। उन्हें अपने ऊपर भरोसा रखना चाहिए न कि वे दूसरे का मुंह ताकने लगें। हमारे श्रमिक विधि-विधान, विशेषकर मालिक-मजदूर संबंध, ब्रिटिश मॉडल के हैं। इसलिए यही अच्छा होगा कि हम स्वैच्छिक ढंग से समझौता करने की अपनी युद्धपूर्वकालिक पद्धति को फिर अपनाने लगें।

यद्यपि पूंजीवादी प्रणाली में श्रमिक-वर्ग और प्रबंधक के बीच आपसी नोंकझोंक रहना स्वाभाविक है फिर भी भारत में किसी प्रकार का वर्गवादी संघर्ष नहीं दिखायी देता। प्राच्य तत्त्वदर्शन का मेरुदंड सहिष्णुता है। फिर भारत में वर्गवादी संघर्ष का क्या काम है? सचमुच भारतीय मजदूर आपसी कठिनाइयों को समझने और संघर्ष तथा द्वेष को यथाशक्ति बरकाने के लिए पूरी लगन से काम लेता है; और अपनी समस्याएं हल करते समय उसकी मानसिक दशा इसी भावना से अभिप्रेत होती है।

इसलिए श्रमिक विधान ऐसा होना चाहिए जो कामगारों को अपनी बुराइयां दूर करने में बहुत कुछ सहायता दे सके। श्रमिक विधान का काम तो केवल इतना ही होना चाहिए कि वह उनके आपसी समझौतों को, जिन पर वे पहले ही से अमल कर रहे हैं, राज्य कानून का स्वरूप दे दे। श्रमिक विधान तो प्रचलित परंपराओं का केवल कानूनी रूप होना चाहिए। इसमें मजदूर संघ रचनात्मक कार्य कर सकती हैं। वे सुचारु परंपराओं की स्थापना तथा कानूनों का कार्यान्वय ही नहीं कर सकतीं बल्कि कानूनों में सुधार भी करवा सकती हैं।

प्रत्येक उद्योग और उसके प्रत्येक घटक में संयुक्त स्थायी तंत्र की स्थापना से छोटे तथा बड़े औद्योगिक संघर्षों का अंत हो सकता है। वर्ग-संघर्ष को निबटाने वाला गांधीवादी तरीका बहुत सुंदर है और इस देश के उद्योगपति, सरकार और मजदूर संघ आंदोलन उसे एक मॉडल के रूप में अपना सकते

हैं। उन्हें यह बात भलीभांति मान लेनी चाहिए कि झगड़े से कभी लाभ नहीं होता है। उन्हें सहयोग और सेवा-भाव का मूल्य भी जानना चाहिए।

आजकल विभिन्न देशों में कामगारों को उद्योगों के प्रबंध में भाग दिया जा रहा है। यदि श्रमिक-वर्ग इससे अपनी समस्याओं के प्रविधिक और वैज्ञानिक रूप को समझने तथा अपने मामलों को ठीक ढंग से पेश करने लगता है तो यह बहुत अच्छी बात होगी। अन्य देशों की भांति हमारे देश में भी सुदृढ़, वैज्ञानिक और संगठित मजदूर आंदोलन की आवश्यकता है जो केवल श्रम के मामलों पर ही नहीं बल्कि समस्त उद्योगों के मामलों पर साधिकार अभिमत प्रकट कर सके। जब तक मजदूर संघ आंदोलन उक्त प्रकार से प्रबल नहीं हो जाता है तब तक उद्योगों के प्रबंध में मजदूरों को भाग मिलने से क्या लाभ हो सकता है, क्योंकि इस दशा में मजदूर मालिकों के सामने आंख से आंख मिलाकर खड़े नहीं हो सकते हैं और न वे उनके साथ बराबरी का व्यवहार ही कर सकते हैं।

आज भारत में यह सुझाव दिया जा रहा है कि चाहे किसी उद्योग में वेतन-बोर्ड (wage board) की आवश्यकता हो या न हो, अधिकांश उद्योगों में यह स्थापित हो जाने चाहिए। सचमुच, उन उद्योगों में वेतन-बोर्ड नियुक्त करना परम आवश्यक है जिनमें श्रमिकों का कोई दृढ़ संगठन नहीं है और जहां उन पर मजदूरी की मनमानी शर्तें थोप दी जाती हैं। ब्रिटेन तथा अन्य प्रगतिशील देशों के उन उद्योगों में, जिनमें मजदूरों का पसीना बहता रहता है, वेतन-बोर्ड काम करते हैं क्योंकि उनमें मजदूरों की मजदूरी न्यून और उनका संगठन दुर्बल होता है। अत्यंत संगठित उद्योगों में वेतन-बोर्ड की उपस्थिति व्यर्थ है और उससे श्रमिकों तथा प्रबंध के मधुर संबंधों में रोड़ा अटकने लगता है। वेतन-बोर्ड के निर्णय राजनियम द्वारा निर्धारित आदेश जैसे अनिवार्य हो जाते हैं, और ऐसी बात मालिक और मजदूर, दोनों पक्षों में से किसी को नहीं भाती है। इसके अतिरिक्त, जहां किसी बाहरी सत्ता द्वारा अपनी समस्याएं हल करवाने का प्रश्न सामने आता है वहां यह भावना भड़कना स्वाभाविक है कि कहीं वेतन-बोर्ड मजदूर संघ-वाद में मजदूरों की आस्था और निष्ठा की जड़ तो नहीं खोदना चाहता है? इसलिए वेतन-बोर्ड उन्हीं उद्योगों में नियुक्त होने चाहिए जहां कामगारों का संगठन अच्छी तरह मजबूत न हो या बिलकुल न हो; और जहां सरकार यह अनुभव करे कि श्रमिकों का शोषण हो रहा है।

दो-तीन दशकों पहले, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा के सिद्धांतों को कोई नहीं जानता था। छटनी के कारण बेरोजगार होने तथा दुर्घटना से बेकार हो जाने पर न तो मालिक कोई हानि-पूर्ति अथवा आर्थिक सहायता देते थे और न राज्य ही। कामगारों को अपनी बचत की पूंजी अथवा दान

पर गुजारा करना पड़ता था। अब कितने ही यूरोपीय देशों में सामाजिक बीमा चालू हैं। भारत में भी सामाजिक बीमा की कुछ बातें लागू हैं और घर बनाने की सुविधाएं दी जा रही हैं। याद रहे कि अच्छे निवास, रोजगार की सुरक्षा, बीमारी की अवधि में उचित उपचार तथा बेहतर कार्यावस्थाओं से उत्पादिता तथा सुव्यवस्थित कार्य की मात्रा में वृद्धि होती है। संविधान में मौलिक अधिकारों के अंतर्गत जो गारंटी दी गयी है उसके अनुसार, कामगार की (एक नागरिक की भांति) गर्भाधान से लेकर अंत्येष्टि तक मदद करने के लिए सामाजिक बीमा और सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था में विस्तार करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

खेतीबारी के कामगारों की अपेक्षा औद्योगिक कामगारों ने अपना संगठन बनाने और अपनी कार्यावस्थाएं सुधरवाने में अधिक प्रगति की है। इसका कारण मजदूरों के अन्य देशों के साथ अंतर्राष्ट्रीय संबंध तथा औद्योगिक उत्पादनों की अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता है। खेती में कामगारों को पूरे वर्ष भर पर्याप्त काम नहीं मिलता है इसलिए ग्राम्य क्षेत्रों में खेतिहर मजदूरों तथा उनके रोजगार और अर्ध-रोजगार की समस्या हल करना कठिन है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि खेतिहर बस्तियां तथा लघु उद्योग परियोजनाएं इस समस्या को हल करने के साधनमात्र मानी जा सकती हैं।

मजदूर आंदोलन एक विश्वव्यापी आंदोलन है। पिछले महासमर ने नाजीवाद और फासिस्टवाद का बहुत-कुछ सफाया कर दिया है तथा साम्राज्यवाद भी काफी कम हो गया है। आज हम देखते हैं कि पूर्व में अधिकांश देशों ने स्वाधीनता पा ली है तथा पश्चिमी देशों द्वारा राजनीतिक शोषण तेजी से खतम होता जा रहा है। अफ्रीका में आजादी का आंदोलन शुरू हो चुका है और वह दिन दूर नहीं है जबकि वहां के विभिन्न देशों को अपनी चिरवांछित स्वाधीनता मिल जाएगी जिस पर उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

विभिन्न देशों का राष्ट्रवादी दृष्टिकोण निकट भविष्य में बदल जाएगा और आगे जो कुछ वे सोचेंगे या करेंगे उस पर अंतर्राष्ट्रीय भावना की छाप रहेगी। इसलिए, स्पष्ट है कि राष्ट्रीय अलगाव या पार्थक्य की भावना को अनुत्साहित करने का आदर्श सामने रखना चाहिए और इस बात को मान लेना चाहिए कि संसार दिन-पर-दिन एकता की ओर पग बढ़ाता जा रहा है। धीरे-धीरे संकीर्ण राष्ट्रवादिता को तिलांजलि देनी होगी और एक नयी विश्वव्यवस्था की स्थापना करनी होगी जिससे एक विश्व-राज्य की स्थापना हो सके। देशों की राजनीतिक स्वतंत्रता का संघर्ष शीघ्र ही आर्थिक स्वतंत्रता का एक सामाजिक संघर्ष बन जाएगा और इस प्रकार, अंत में, विश्वभर में एक समाजवादी राज्य का संस्थापन मानवजाति का आदर्श और लक्ष्य बन जाएगा। चाहे कुछ

भी हो, एक बात निश्चित है कि अब संघर्ष का कारण आर्थिक विषय होगा और यह संघर्ष अस्तिमानों (haves) और नास्तिमानों (have-nots) के बीच होगा। जो घटनाएं भारत या मिश्र या चीन या रूस में या दूसरी जगह होंगी, चाहे वे पूर्व में हों या पश्चिम में हों, उनका प्रभाव संसार भर पर पड़े बिना नहीं रह सकता है।

निदान, पूर्ण आर्थिक समानता पाने के लिए जनता को संघर्ष करना पड़ेगा। इसलिए भारतीय मजदूर संघ आंदोलन को संसार में अपने-जैसे आंदोलनों से खुले रूप से गठबंधन करना पड़ेगा।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने विभिन्न देशों के श्रमिक-वर्गों, सरकारों और मालिकों के प्रतिनिधियों को एक सामान्य मंच पर इकट्ठा करने का प्रयास किया है। आज संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O.) राष्ट्रों के बीच राजनीतिक एकता और सौमनस्य स्थापित करने की कोशिश कर रहा है। वह दिन दूर नहीं है जबकि विभिन्न देशों की सरकारों को एक आदर्श अर्थात् एक विश्व की परिकल्पना को साकार बनाने के लिए कार्य करना पड़ेगा जिसका उद्देश्य प्रत्येक प्रकार के शोषण-दोहन का अंत करना तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपने मौलिक अधिकारों के उपभोग की गारंटी देना होगा।

इसलिए एक नयी विश्व-व्यवस्था की अविलंब रचना करना आवश्यक है जो प्राचीन व्यवस्था से भिन्न हो और जिसके अंतर्गत विश्वव्यापी पैमाने पर शांति और समृद्धि की गारंटी दी जा सके। उक्त प्रस्तावित नयी दुनिया में संसार के सब राष्ट्रों का ध्येय होगा अंतर्राष्ट्रीय शांति और सहमति। राष्ट्रीय सरकारों को नैतिकता की आचार-संहिता अपनानी होगी तथा बलवान राष्ट्रों को दुर्बल राष्ट्रों पर अधिकार करने तथा उनका शोषण करने की नीति छोड़ देनी पड़ेगी। सब मनुष्य समान हैं, यह सिद्धांत निरपवाद रूप से सबको स्वीकार करना होगा; और संसार में किसी प्रजाति अथवा राष्ट्र के लिए किसी प्रकार के विशेष अधिकारों के उपभोग अथवा अहमन्यता की धारणा बनाये-रखने की छूट न होगी।

यदि संसार भर के मजदूर संगठन जो सर्वसाधारण का प्रतिनिधित्व करते हैं, कंधे से-कंधा मिलाकर उठ खड़े हों और उनकी हलचलों का समन्वय करके उन्हें एक निर्दिष्ट दिशा में मोड़ दिया जाए तो हम निःसंशय इन सब ध्येयों को प्राप्त कर सकते हैं। याद रहे, जब तक सर्वसाधारण संतुष्ट नहीं होगा तब तक विश्व-व्यापी शांति स्थापित नहीं हो सकती है। भारतीय मजदूर संघ आंदोलन को इस महान् कार्य में अपना हाथ अवश्य डालना चाहिए; और वह ऐसा तभी कर सकता है जबकि उसके भीतर एकता हो और उसने देश में पूर्ण समाजवादी लोकतंत्र की स्थापना के लिए अपनी नींव पक्की कर ली हो।

अनुक्रमणिका